प्रकाशकीय

प्रस्तुत प्रकाशन स्वामीजी की एक विशिष्ट राजस्थानी पद्यकृति 'नवपदारथ' का हिन्दी अनुवाद और सटिप्पण विवेचन है।

मूल ग्रन्थ में जैनधर्म के आधारभूत नौ तत्त्व—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष का विशद विवेचन है। जैन तत्त्वों की मौलिक ज्ञान-प्राप्ति के लिए यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है।

तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह के बाद स्वामीजी का द्वितीय चरम महोत्सव दिवस भाद्रपद शुक्ला त्रयोदशी संवत् २०१८ के दिन पड़ता है तथा भाद्र शुक्ला नवमी संवत् २०१८ का दिन आचार्य तुलसीगणि के पट्टारोहण के यशस्वी पचीस वर्षों की सफल-सम्पूर्णता का दिन है। दोनों उत्सवों के इस संगम पर प्रकट हुआ यह प्रकाशन बड़ा सामयिक और अभिनन्दन स्वरूप है।

आशा है पाठक स्वामीजी की विशिष्ट कृति के इस विवेचनात्मक संस्करण का स्वागत करेंगे, एवं इसे अपना कर ऐसे ही अध्ययन पूर्ण प्रकाशनों की प्रेरणा देंगे।

३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट
कलकत्ता—१
भाद्र शुक्ला ९ सं० २०१८

श्रीचन्द रामपुरिया
व्यवस्थापक
तेरापन्थ द्विशताब्दी साहित्य विभाग

प्राक्कथन

पाठकों के हाथों आद्यदेव आचार्य भीखणजी की एक सुन्दरतम कृति का यह सानुवाद संस्करण सौंपते हुए मनमें हर्ष का अतिरेक हो रहा है। आज से लगभग २० वर्ष पहले मैंने इसका सटिप्पण अनुवाद समाप्त किया था। वह 'स्वान्तः सुखाय' था।

एक बार कलकत्ता में चातुर्मास के समय मैं आचार्य श्री की सेवा कर रहा था, उस समय उनके मुखारविंद से शब्द निकले—"नव पदार्थ स्वामीजी की एक अनन्य सुन्दर कृति है, वह मुझे बहुत प्रिय है। उसका आद्योपान्त स्वाध्याय मैंने बड़े मनोयोग पूर्वक किया है।" यह सुन मेरा ध्यान अपने अनुवाद की ओर खिंच गया और उसी समय मैंने एक संकल्प किया कि अपने अनुवाद को आद्योपान्त अवलोकन कर उसे प्रकाशित करूँ।

द्विशताब्दी समारोह के अभिनन्दन में प्रकाशित होनेवाले साहित्य में इसका भी नाम प्रस्तुत हुआ और इस तरह कार्य को शीघ्र गति देने के लिए एक प्रेरणा मिली। जिस कार्य को बीस वर्ष पूर्व बड़ी आसानी के साथ सम्पन्न किया था, वही कार्य अब बड़ा कठिन ज्ञात होने लगा।

मैंने देखा स्वामीजी की कृति में स्थान-स्थान पर बिना संकेत आगमों के सन्दर्भ छिपे पड़े हैं और उनके पीछे गम्भीर-चर्चाओं का योग है। यह आवश्यक था कि उन-उन स्थानों के छिपे हुए सन्दर्भों को टिप्पणियों में दिया जाय तथा चर्चाओं के हार्द को भी खोला जाय। इस उपक्रम में प्रायः सारी टिप्पणियाँ पुनः लिखने की प्रेरणा स्वतः ही जागृत हुई।

अध्ययन उनकी एक बडी विशेषता थी। इस कृति मे वह अध्ययन नवनीत की तरह निखरता हुआ दिखाई देगा।

नव पदार्थो के सम्बन्ध मे नाना प्रकार की विचित्र मान्यताएँ जैनो में घर कर गई थी। स्वामीजी ने नव पदार्थ सम्बन्धी आगामिक विचार-धाराओ को उपस्थित करते हुए उनके विशुद्ध स्वरूप का विवेचन इस कृति में किया है। वह अपने-आप में अनन्य है।

इस कृति मे कुल बारह ढाल हैं। प्रत्येक का रचना-समय तथा दोहो और गाथाओ की सख्या इस प्रकार है -

पदार्थ नाम	ढाल-सख्या	दोहा	गाथा	रचना-काल
१—जीव	१	५	६२	श्री दुवारा, १८५५ चैत्र वदी १३
२—अजीव	१	१	६३	श्री दुवारा, १८५५ वैशाख वदी ५ बुधवार
३—पुण्य	२	५	६०	श्री दुवारा १८५५ जेठ वदी ९ सोमवार
		७	६[illegible]	कोठारया १८४३ कार्तिक सुदी ४ गुरुवार
४—पाप	१	५	५५	श्री दुवारा १८५५ जेठ सुदी ३, गुरुवार
[illegible]	[illegible]	५	३[illegible]	पाली १८५५ आश्विन सुदी १२
		५	[illegible]	" " १[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	नाथ दुवारा १८५६ फाल्गुन वदी १३ गुरुवार

७—निर्जरा	२	१	६६	नाथ दुवारा १८५६ फाल्गुन शुक्ला १० गुरुवार
		७	५७	नाथ दुवारा १८५६ चैत्र वदी २ गुरुवार
८—बंध	१	६	३०	नाथ दुवारा १८२६ चैत्र वदी १२ शनिवार
९—मोक्ष	१	४	२०	नाथ दुवारा १८५६ चैत्र सुदी ४ शनिवार
१०—जीव-अजीव	१			
	१३	५८	५६६	

उपर्युक्त तालिका को देखने से स्पष्ट है कि पुण्य की दूसरी ढाल जो सं० १८४३ में विरचित है, वह संलग्न कृति के साथ बाद में जोड़ी गयी है। यही बात बारहवीं ढाल 'जीव-अजीव' के विषय में भी कही जा सकती है। यह संयोजन कार्य स्वामीजी के समय में ही हो गया मालूम देता है।

एक-एक पदार्थ के विवेचन में स्वामीजी ने कितने प्रश्न व मुद्दों को स्पर्श किया है, यह प्रारंभ की विस्तृत विषय-सूची से जाना जा सकेगा।

टिप्पणियों की कुल संख्या २४४ है। उनकी भी विषय-सूचि एक-एक ढाल के वस्तु-विषय के साथ दे दी गई है।

टिप्पणियाँ प्रस्तुत करते समय जिन-जिन पुस्तकों का अवलोकन किया गया अथवा जिनसे उद्धरण आदि लिये गये हैं उनकी तालिका भी परिशिष्ट में दे दी गयी है। उन पुस्तकों के लेखक, अनुवादक और प्रकाशक—इन सबके प्रति मैं कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

इस पुस्तक का सम्पादन मेरे लिए एक पहाड़ की चढ़ाई से कम नहीं रहा। किन्तु श्री भिक्षु के अनुग्रह ने मुझे निभा लिया।

अनुक्रमणिका

१—जीव पदार्थ पृ० १—४६

आदि मङ्गल (दो० १), नव पदार्थ और सम्यकत्व (दो० २-५), द्रव्य जीव : भाव जीव (गा० १--२), जीव के तेईस नाम—जीव (गा० ३-४), जीवास्तिकाय (गा० ५), प्राण, भूत (गा० ६), सत्त्व (गा० ७), विज्ञ (गा० ७), वेद (गा०८), चेत्ता (गा० ९), जेता (गा० १०), आत्मा (गा० ११), रंगण (गा० १२), हिंडुक (गा० १३), पुद्गल (गा० १४), मानव (गा० १५), कर्त्ता (गा० १६), विकर्त्ता गा० १७), जगत् (गा० १८), जन्तु (गा० १९), योनि (गा० २०), स्वयभूत (गा० २१), ससरीरी (गा० २२), नायक (गा० २३), अन्तरात्मा (गा० २४), लक्षण, गुण, पर्याय भाव जीव (गा० २५) पाच भावो का वर्णन (गा० २६-३४), पाच भावों से जीव के क्या होता है ? (गा० २७-३१), पाँच भाव कैसे होते हैं ? (गा० ३२-३४), भाव-जीवो का स्वभाव (गा० ३५) वे कैसे उत्पन्न होते हैं ? (गा० ३६), द्रव्य जीव का स्वरूप (गा० ३७-४२) द्रव्य जीव के लक्षण आदि सब भाव जीव हैं (गा० ४३) क्षायक भाव : स्थिर भाव (गा० ४४), जीव शाश्वत व अशाश्वत कैसे ? (गा० ४५-४६), नव पर्याये—भाव जीव (गा० ४७) आश्रव भाव जीव (गा० ४८), सवर भाव जीव (गा० ४९) निर्जरा--भाव जीव (गा० ५०), मोक्ष—भाव जीव (गा० ५१) आश्रव, सवर, निर्जरा—इन भाव जीवो का स्वरूप (गा० ५२-५४), ससार की ओर जीव की सम्मुखता व विमुखता (गा० ५५ ५६), सर्व सावद्य कार्य भाव जीव (गा० ५७) सुविनीत अविनीत भाव जीव (गा० ५८), लौकिक और आध्यात्मिक भाव जीव (गा० ५९) उपसंहार (गा० ६१) रचना-स्थान और काल (गा० ६२)।

टिप्पणियाँ

आकाश द्रव्य का स्वभाव जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल को स्थान देना—अवकाश देना है[1]। आकाश जीवादि समस्त द्रव्यों का भाजन—रहने का स्थान है। ये द्रव्य आकाश के प्रदेशों को दूर कर नहीं रहते परन्तु आकाश के प्रदेशों में अनुप्रवेश कर रहते हैं। इसलिये आकाश का गुण अवगाह कहा गया है। आकाश अपने में अनन्त जीव और पुद्गलादि शेष द्रव्यों को उसी तरह स्थान देता है जिस तरह जल नमक को स्थान देता है। फर्क केवल इतना ही है कि जल केवल खास सीमा (Saturation point) तक ही नमक को समाता है परन्तु आकाश के समाने की सीमा नहीं है। जिस तरह नमक जल को हटा कर उसका स्थान नहीं लेता परन्तु जल के प्रदेशों में प्रवेश करता है ठीक उसी तरह जीवादि पदार्थ आकाश को दूर हटा कर उसका स्थान नहीं लेते परन्तु उसमें अनुप्रवेश कर रहते हैं।

धर्म, अधर्म और आकाश के अवगाढ गुण पर प्रकाश डालने वाला एक सुन्दर वार्तालाप इस प्रकार है "एक बार गौतम ने पूछा 'इस धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय में कोई पुरुष बैठने, खडा होने अथवा लेटने में समर्थ है?' महावीर ने उत्तर दिया 'नहीं गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं। पर उस स्थान में अनन्त जीव अवगाढ हैं। जिस प्रकार कोई कूटागारशाला के द्वार बन्द कर, उसमें एक यावत् हजार दीप जलावे, तो उन दीपों के प्रकाश परस्पर मिलकर, स्पर्श कर यावत् एक रूप होकर रहते हैं पर उनमें कोई खाने बैठने में समर्थ नहीं होता हालांकि अनन्त जीव वहाँ अवगाढ होते हैं। उसी तरह धर्मास्तिकाय आदि में कोई पुरुष बैठने आदि में समर्थ नहीं हालांकि वहाँ अनन्त जीव अवगाढ होते हैं[2]'।"

स्वरूप पृ० ८३—काल अरूपी अजीव द्रव्य है काल के अनन्त द्रव्य है काल निरन्तर उत्पन्न होता रहा है · वर्तमान काल एक समय रूप है, १५—काल द्रव्य शाश्वत-अशाश्वत कैसे ? पृ० ८६, १६—काल का क्षेत्र पृ० ८७, १७—काल के स्कंध आदि भेद नही है पृ० ८६, १८—आगे देखिए टिप्पणी २१ पृ० ६१, १६—काल के भेद पृ० ६१, २०—अनन्त काल चक्र का पुद्गल परावर्त होता है पृ० ६२, २१—काल का क्षेत्र प्रमाण पृ० ६३, २२—काल की अनन्त पर्यायें और समय अनन्त कैसे ? पृ० ६४, २३—रूपी पुद्गल पृ० ६४, २४—पुद्गल के चार भेद पृ० ६७, २५—पुद्गल का उत्कृष्ट और जघन्य स्कंध पृ० १०२ २६-२७—लोक मे पुद्गल सर्वत्र हैं। वे गतिशील हैं पृ० १०४ २८—पुद्गल के चारो भेदो की स्थिति पृ० १०४ २६—स्कंधादि रूप पुद्गलो की अनन्त पर्यायें पृ० १०५, ३० पौद्गलिक वस्तुएँ विनाशशील होती है पृ० १०५ ३१—भाव पुद्गल के उदाहरण पृ० १०६—आठ कर्म पॉच शरीर : छाया, धूप प्रभा—कान्ति अन्धकार उद्योत आदि · उत्तराध्ययन के क्रम से शब्दादि पुद्गल-परिणामो का स्वरूप घट, पट वस्त्र, शस्त्र भोजन और विकृतियाँ, ३२—पुद्गल विषयक सिद्धान्त पृ० ११५ ३३—पुद्गल शाश्वत अशाश्वत पृ० १२६, ३४—षट्द्रव्य समास मे पृ० १२७ ३५—जीव और धर्मादि द्रव्यो के उपकार पृ० १२८, ३६—साधर्म्य वधर्म्य पृ० १२६ ३७—लोक और अलोक का विभाजन पृ० १३०, ३८—मोक्ष मार्ग मे द्रव्यो का विवेचन क्यो ? पृ० १३२]

३—पुण्य पदार्थ (ढाल १) पृ० १३३ १६१

कर्मों के उदय में आने पर ही सुख-दुःख होता है। बांधे हुए कर्म शुभ होते हैं तो उन कर्मों का विपाक—फल शुभ—सुखमय होता है। बांधे हुए कर्म अशुभ होते हैं तो काल में उन कर्मों का विपाक अशुभ—दुःखरूप होता है।

कर्म तीव्र भाव से बांधे हुए होते हैं तो उनका फल तीव्र होता है और मन्द भाव से बांधे हुए होते हैं तो फल मन्द होता है।

उदय में आने पर कर्म अपनी मूल प्रकृति के अनुसार फल देता है। ज्ञानावरणीय कर्म अपने अनुभाव—फल देने की शक्ति के अनुसार ज्ञान का आच्छादन करता है और दर्शनावरणीय दर्शन का। इस तरह दूसरे कर्म भी अपनी-अपनी मूल प्रवृत्ति के अनुसार ही तीव्र या मन्द फल देते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से दर्शन का आच्छादन नहीं हो सकता और न दर्शनावरणीय कर्म से ज्ञान का। इसी तरह अन्य कर्मों के विषय में समझना चाहिए। यह नियम मूल प्रकृतियों में ही परस्पर लागू होता है। मूल प्रकृतियाँ फलानुभव में परस्पर अपरिवर्तनशील हैं। पर कुछ अपवादों को छोड़ कर उत्तर प्रकृतियों में यह नियम लागू नहीं पड़ता। एक कर्म की उत्तर प्रकृति उसी कर्म की अन्य उत्तर प्रकृतिरूप परिणति कर सकती है। उदाहरणस्वरूप मतिज्ञानावरणीय कर्म, श्रुतज्ञानावरणीय कर्म में बदल सकता है। और ऐसा होने पर उसका फल भी श्रुतज्ञानावरणीय रूप ही होता है।

उत्तर प्रकृतियों में दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का संक्रम नहीं होता। इसी प्रकार सम्यक् वेदनीय और मिथ्यात्व वेदनीय उत्तर प्रकृतियों का भी संक्रम नहीं होता। आयुष्य की उत्तरप्रकृतियों का भी परस्पर संक्रम नहीं होता। उदाहरणस्वरूप नारक आयुष्य, तिर्यञ्च आयुष्य रूप में संक्रम नहीं करता। इसी तरह अन्य आयुष्य भी परस्पर असंक्रमशील हैं[1]।

१—(क) तत्त्वा० ८.२२ भाष्य

उत्तरप्रकृतिषु सर्वासु मूलप्रकृत्यभिन्नासु न तु मूलप्रकृतिषु संक्रमो विद्यते, उत्तरप्रकृतिषु च दर्शनचारित्रमोहनीययोः सम्यग्मिथ्यात्ववेदनीयस्यायुष्कस्य च ।

(ख) तत्त्वा० ८.२२ सर्वार्थसिद्धि

अनुभवो द्विधा प्रवर्तते स्वमुखेन परमुखेन च । सर्वासां मूलप्रकृतीनां स्वमुखेनैवानुभवः । उत्तरप्रकृतीनां तुल्यजातीयानां परमुखेनापि भवति आयुर्दर्शनचारित्रमोहवर्जानाम्। न हि नरकायुर्मुखेन तिर्यगायुर्मनुष्यायुर्वा विपच्यते। नापि दर्शनमोहश्चारित्रमोहमुखेन, चारित्रमोहो वा दर्शनमोहमुखेन

४२—[1]अप्रत्याख्यानक्रिया आस्रव : संयमघाति कर्म की पराधीनता से पाप से अनिवृत्ति।

जिस तरह आस्रव के २० भेदों में से अन्तिम पन्द्रह का योगास्रव में समावेश होता है उसी तरह ४२ भेदों में सब के सब योगास्रव में समाहित होते हैं। मन-वचन-काय के सर्व कार्य सावद्य योगास्रव हैं। जिन अठारह पापों का पूर्व में उल्लेख आया है वे भी योग रूप ही हैं। विविध कर्मों के बन्ध-हेतुओं में जो भी क्रिया रूप व्यापार हैं उन सब को योगास्रव का भेद समझना चाहिए।

७—आस्रव और संवर का सामान्य स्वरूप (गा० ९-१०)

गा० ३-८ में स्वामीजी ने पाँच आस्रव और साथ ही पाँच संवर की परिभाषाएँ दी हैं। यहाँ पाँच आस्रव और पाँच संवर के सामान्य स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। आस्रव और संवर दोनों जीव-परिणाम हैं। जीव का मिथ्या श्रद्धारूप परिणाम मिथ्यात्व, अत्याग-भावरूप परिणाम अविरति, अनुत्साहरूप परिणाम प्रमाद, क्रोधादिरूप परिणाम कषाय और मन-वचन-काय के व्यापाररूप परिणाम योग हैं। इस तरह पाँचों आस्रव जीव के परिणाम हैं। इसी तरह सम्यक् श्रद्धारूप परिणाम सम्यक्त्व, देश सर्व त्यागरूप परिणाम विरति, प्रमादरहिततारूप परिणाम अप्रमाद, कषायरहिततारूप परिणाम अकषाय और अव्यापाररूप परिणाम अयोग संवर है।

आस्रव और संवर दोनों जीव-परिणाम होने पर भी स्वभाव में एक दूसरे से भिन्न हैं। आस्रव जीव की उन्मुक्तता है। संवर उसकी गुप्ति। आस्रव कर्मों को आने देते हैं। संवर उनको रोकते हैं। आस्रव कर्मों के आने के द्वार—उपाय हैं। संवर उनको रोकने के द्वार—उपाय हैं। श्री अभयदेव लिखते हैं—"जीव रूपी तालाब में कर्म रूपी जल के आने के लिए जो द्वार की तरह द्वार—उपाय हैं वे आस्रव-द्वार हैं। जीव रूपी तालाब में कर्म रूपी जल के आगमन के निरोध के लिए जो द्वार—उपाय हैं वे संवर द्वार हैं। मिथ्यात्व आदि आस्रवों के क्रमशः विपर्यय रूप सम्यक्त्व आदि संवर हैं[2]।"

१—तत्त्वा० ६.६ भाष्य में क्रियाओं के नाम इस प्रकार हैं :

तद्यथा—सम्यक्त्वमिथ्यात्वप्रयोगसमादानेर्यापथा, कायाधिकरणप्रदोषपरितापनप्राणातिपाताः, दर्शनस्पर्शनप्रत्ययसमन्तानुपातानाभोगाः, स्वहस्तनिसर्गविदारणानयनानवकाङ्क्षा आरम्भपरिग्रहमायामिथ्यादर्शनाप्रत्याख्यानक्रिया इति ॥

२—ठाणाङ्ग ५.२.४१८

आश्रवणं—जीवतडागे कर्मजलस्य सङ्गलनमाश्रवः, कर्मनिबन्धनमित्यर्थः, तस्य द्वाराणीव द्वाराणि—उपाया आश्रवद्वाराणीति। तथा संवरणं—जीवतडागे कर्मजलस्य निरोधनं संवरस्तस्य द्वाराणि—उपायाः संवरद्वाराणि—मिथ्यात्वादीनामाश्रवाणां क्रमेण विपर्ययाः सम्यक्त्वविरत्यप्रमादाकषायित्वायोगित्वलक्षणाः

आस्रव पदार्थ (ढाल : २) पृ० ४२८-४८६

आस्रव कर्मद्वार है, कर्म नही (दो० १-२), कर्म रूपी है, कर्मद्वार नही (दो० ३-४), बीसो आस्रव जीव-पर्याय हैं (दो०५), मिथ्यात्व आस्रव (गा० १), अविरति आस्रव (गा० २), प्रमाद आस्रव (गा० ३), कषाय आस्रव (गा० ४), योग आस्रव (गा० ५), प्राणातिपात आस्रव (गा० ६), मृषावाद आस्रव (गा० ७), अदत्तादान आस्रव (गा० ८), अब्रह्मचर्य आस्रव (गा० ९), परिग्रह आस्रव (गा० १०), पचेन्द्रिय आस्रव (गा० ११-१३), मन-वचन-काय-प्रवृत्ति आस्रव (गा० १४-१५), भडोपकरण आस्रव (गा० १६), सूची-कुशाग्र सेवन आस्रव (गा० १७), भावयोग आस्रव है, द्रव्य योग नही (गा० १८), कर्म चतुस्पर्शी है और योग अष्टस्पर्शी, अतः कर्म और योग एक नही (गा० १९-२०), आस्रव एकान्त सावद्य (गा० २१), योग आस्रव और योग व्यापार सावद्य-निरवद्य दोनो है (गा० २२), बीस आस्रवों का वर्गीकरण (गा० २३-२५), कर्म और कर्त्ता एक नही (गा० २६), आस्रव और १८ पाप स्थानक (गा० २७-३६), आस्रव जीव-परिणाम है, कर्म पुद्गल परिणाम (गा० ३७), पुण्य-पाप कर्म के हेतु (गा० ३८-४६), असयम के १७ भेद आस्रव हैं (गा० ४७), सर्व सावद्य कार्य आस्रव है (गा० ४८), सज्ञाएं आस्रव हैं (गा० ४९), उत्थान, कर्म आदि आस्रव हैं (गा० ५०-५१), सयम, असयम, सयमासयम आदि तीन-तीन बोल क्रमशः सवर, आस्रव और सवरास्रव हैं (गा० ५२-५५), आस्रव सवर मे जीव के भावो की ही हानि-वृद्धि होती हैं (गा० ५६-५८), रचना-स्थान और समय (गा० ५९)।

टिप्पणियाँ

[१—आस्रव के विषय मे विसवाद पृ० ४४६, २—मिथ्यात्वादि आस्रवो की व्याख्या पृ० ४४६ ३—प्राणातिपात आस्रव पृ० ४४६, ४—मृषावाद आस्रव पृ० ४४८, ५—अदत्तादान आस्रव पृ० ४४९, ६—मैथुन आस्रव पृ० ४४९ ७—परिग्रह आस्रव पृ० ४५०, ८—पचेन्द्रिय आस्रव पृ० ४५२—श्रोत्रेन्द्रिय आस्रव चक्षुरिन्द्रिय आस्रव : घ्राणेन्द्रिय आस्रव, : रसनेन्द्रिय आस्रव, स्पर्शनेन्द्रिय आस्रव, ९—मन योग, वचन योग और काय योग पृ० ४५४—तीन योगो से भिन्न कार्मण योग है, वही पांचवा आस्रव है, प्रवर्तन योग से निवर्तन योग

पृ० ४६५, १८—पुण्य का आगमन सहज कैसे ? पृ० ४७१, १९—वासठ योग और सत्रह प्रकार के सयम पृ० ४७२, २०—चार सज्ञाएँ पृ० ४७४, २१—उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार-पराक्रम पृ० ४७५, २२—सयती, असयती, सयतासयती आदि त्रिक पृ० ४७६—विरति, अविरति, और विरताविरति : प्रत्याख्यनी, अप्रत्याख्यानी और प्रत्याख्यानी-अप्रत्याख्यानी : सयती, असयती और सयतासयती : पण्डित, वाल और वालपण्डित · जाग्रत, सुप्त और सुप्तजाग्रत : सवृत्त, असवृत्त और सवृत्तासवृत्त धर्मी, अधर्मी और धर्माधर्मी धर्म-स्थित, अधर्म-स्थित और धर्माधर्म-स्थित · धर्म-व्यवसायी, अधर्म-व्यवसायी और धर्माधर्म-व्यवसायी, २३—किस-किस तत्त्व की घट-बढ होती है पृ० ४८४]

६—संवर पदार्थ पृ० ४८७-५४८

सवर पदार्थ का स्वरूप (दो० १-२), सवर की पहचान आवश्यक (दो० ३), सवर के मुख्य पाँच भेद (दो० ४), सम्यक्त्व सवर (गा० १), विरति सवर (गा० २) अप्रमाद सवर (गा० ३), अकषाय सवर (गा० ४), अयोग सवर (गा० ५-६) अप्रमाद, अकषाय और अयोग सवर प्रत्याख्यान से नही होते (गा० ७), सम्यक्त्व सवर और सर्व विरति सवर प्रत्याख्यान से होते हैं (गा० ८ ९), हिंसा आदि १५ योगो के त्याग से विरति सवर होता है, अयोग सवर नही (गा० १०-१३), सावद्य-निरवद्य योगो के निरोध से अयोग सवर (गा० १४-१५), कषाय आस्रव और योग आस्रव के प्रत्याख्यान का मर्म (गा० १६-१७), सामायिक आदि पाँच चारित्र सर्व विरति सवर है (गा० १८-४५), अयोग सवर (गा० ४६-५४), सवर भावजीव है (गा० ५५), रचना-स्थान और सवत् (गा० ५६)।

टिप्पणियाँ

[१—सवर छठा पदार्थ है पृ० ५०४—संवर छठा पदार्थ है सवर आस्रव-द्वार का अवरोधक पदार्थ है : सवर का अर्थ है आत्म-प्रदेशों को स्थिरभूत करना सवर आत्म-निग्रह से होता है मोक्ष-मार्ग की आराधना मे सवर उत्तम गुण रत्न है, २—सवर के भेद, उनकी सख्या परम्पराएँ और ५७ प्रकार के सवर पृ० ५०९—द्रव्य सवर और भाव सवर सवर सख्या की परम्पराएँ . सवर के सत्तावन भेदो का विवेचन, ३—सम्यक्त्वादि बीस सवर एव उनकी परिभाषाएँ पृ० ५२४, ४—सम्यक्त्व आदि पाँच सवर और प्रत्याख्यान का सम्बन्ध पृ० ५२७, ५—अन्तिम पन्द्रह सवर विरति सवर के भेद क्यो ? पृ० ५३३, ६—अप्रमादादि सवर और शंका-समाधान पृ० ५३४, , ७—पाँच चारित्र और पाँच निर्ग्रन्थ सवर हैं पृ० ५३६,

८—सामायिक चारित्र पृ० ५३८ ९—औपशमिक चारित्र पृ० ५३९, १०—यथाख्यात चारित्र पृ० ५४० ११—क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक चारित्रो की तुलना पृ० ५४१, १२—सर्व विरति चारित्र एव यथाख्यात चारित्र की उत्पत्ति पृ० ५४१ १३—सयम-स्थान और चारित्र पर्यव पृ० ५४२ १४—योग-निरोध और फल पृ० ५४४ १५—सवर भाव जीव है पृ० ५४५]

७—निर्जरा पदार्थ (ढाल : १) पृ० ५४९-५८९

निर्जरा सातवाँ पदार्थ है (दो० १), निर्जरा कैसे होती है ? (गा० १-८), निर्जरा की परिभाषा (गा० ८), निर्जरा और मोक्ष मे अन्तर (गा० ९), ज्ञानावरणीय कर्मो के क्षयोपशम से निष्पन्न भाव (गा० १०-१८), ज्ञान, अज्ञान दोनो साकार उपयोग (गा० १८), दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न भाव (गा० १९-२३), अनाकार उपयोग (गा० २४), मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न भाव (गा० २५-४०), अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न भाव (४१-५५) उपशम भाव (गा० ५६-५७), क्षायिक भाव (गा० ५८-६२), तीन निर्मल भाव (गा० ६३), निर्जरा और मोक्ष (गा० ६४-६५), रचना-स्थान और काल (गा० ६६)।

टिप्पणियाँ

(गा० ४१-४५), तपस्या का फल (गा० ४६-५२), निर्जरा निरवद्य है (गा० ५३), निर्जरा और निर्जरा की करनी भिन्न-भिन्न हैं (५४-५६), उपसहार (गा० ५७)।

टिप्पणियाँ

[१—निर्जरा कैसे होती है ? पृ० ६०८—उदय मे आये हुए कर्मो के फलानुभव से, कर्म-क्षय की कामना से विविध तप करने से, कर्म-क्षय की आकाक्षा विना नाना प्रकार के कष्ट करने से, इहलोक-परलोक के लिए तप करते हुए, २—निर्जरा, निर्जरा की करनी और उसकी प्रक्रिया पृ० ६२१, ३—निर्जरा की शुद्ध करनी पृ० ६२५, ४—अनशन पृ० ६२६—इत्वरिक अनशन: यावत् कथिक अनशन: प्रत्याख्यान, ५—ऊनोदरिका पृ० ६३४—उपकरण अवमोदरिका भक्तपान अवमोदरिका : भाव अवमोदरिका, ६—भिक्षाचर्या तप पृ० ६४०, ७—रस-परित्याग पृ० ६४५, ८—काय क्लेश पृ० ६४८ ९—प्रतिसलीनता पृ० ६५१, १०—वाह्य और आभ्यन्तर तप पृ० ६५४, ११—प्रायश्चित तप पृ० ६५६, १२—विनय तप पृ० ६५९,—ज्ञान-विनय : दर्शन-विनय : चारित्र-विनय, १३—वैयावृत्य पृ० ६६४, १४—स्वाध्याय तप पृ० ६६६, १५—ध्यान तप पृ० ६६८, १६—व्युत्सर्ग तप पृ० ६७१, १७—तप, सवर निर्जरा पृ० ६७३,—आत्म-शुद्धि के लिए इच्छापूर्वक की हुई तपस्या किस प्रकार कर्म-क्षय करती है : आत्म-शुद्धि के लिए इच्छापूर्वक तप किसके हो सकता है ? सवर और निर्जरा का सम्वन्ध तप की महिमा, १८—निर्जरा और निर्जरा की करनी दोनो निरवद्य हैं पृ० ६९१]

८—वध पदार्थ पृ० ६९३-७३०

वध पदार्थ और उसका स्वरूप (दो० १ ३), कर्म-प्रवेश के मार्ग : जीव-प्रदेश (दो० ४), वध के हेतु (दो० ५), वध से मुक्त होने का उपक्रम (दो० ६-८), वन्ध आठ कर्मो का होता है (दो० ९), द्रव्य वन्ध और भाव वन्ध (गा० १-३), पुण्य-वन्ध और पाप-वन्ध का फल (गा० ४-५), कर्मो की सत्ता और उदय (गा० ६), वन्ध के चार भेद (गा०७-१२), कर्मो की स्थिति (गा० १३-१८), अनुभाग वन्ध (गा० १९-२१), प्रदेश वन्ध और तालाव का दृष्टान्त (गा० २२-२६), मुक्ति की प्रक्रिया (गा० २७-२८), मुक्त जीव (गा० २९), रचना-स्थल व काल (गा० ३०)।

टिप्पणियाँ

[१—वन्ध पदार्थ पृ० ७०६, २—वन्ध और जीव की परवशता पृ० ७०८, ३—वन्ध और तालाव का दृष्टान्त पृ०७०९, ४—जीव-प्रदेश और कर्म-प्रदेश पृ०

७०६, ५—वन्ध-हेतु पृ० ७१०, ६—आस्रव, सवर, वन्ध, निर्जरा और मोक्ष पृ० ७१४, ७—वन्ध पुद्गल की पर्याय है पृ० ७१५, ८—द्रव्य वन्ध और भाव वन्ध पृ० ७१५, ९—वन्ध के चार भेद पृ० ७१६, १०—कर्मो की प्रकृतिया और उनकी स्थिति पृ० ७१६, ११—अनुभाववन्ध और कर्म फल पृ० ७२३, १२—प्रदेश वध पृ० ७२६, १३—वन्धन-मुक्ति पृ० ७२९]

९—मोक्ष पदार्थ पृ० ७३१-७५४

नवाँ पदार्थ : मोक्ष (दो० १), मुक्त जीव के कुछ अभिवचन (दो० २-५), मोक्ष-सुख (गा० १-५), आठ गुणो की प्राप्ति (गा० ६), जीव सिद्ध कहाँ होता है ? (गा० ७), सिद्धो के आठ गुण (गा० ८-१०), मोक्ष के अनन्त सुख (गा० ११-१२), सिद्धो के पन्द्रह भेद (गा० १३-१६), सब सिद्धो की करनी और सुख समान है (गा० १७-१९), उपसहार (गा० २०) ।

टिप्पणियाँ

[१—मोक्ष नवाँ पदार्थ है पृ० ७४०, २—मोक्ष के अभिवचन पृ० ७४१, ३—सिद्ध और उनके आठ गुण पृ० ७४२, ४—सासारिक सुख और मोक्ष-सुख की तुलना पृ० ७४८, ५—पन्द्रह प्रकार के सिद्ध पृ० ७५०, ६—मोक्ष-मार्ग और सिद्धो की समानता पृ० ७५२ ।

१०—जीव-अजीव पृ० ७५५-७६८

शुद्धि और वृद्धि

१—पृ० ३६ प्रथम अनुच्छेद, द्वितीय पंक्ति 'समदृष्टि, समसिथ्यादृष्टि' के स्थान मे 'मिथ्यात्वी, अवेदनी' करें।

२—पृ० ३६ द्वितीय अनुच्छेद 'मोहनीग' के स्थान मे 'मोहनीय' करे।

३—पृ० १५१ पा० टि० १ मे '६' का अङ्क हटाव

४—पृ० १५१ पा०टि० २ मे '६' का अङ्क हटावें

५—पृ० २०३ अंतिम अनुच्छेद, द्वितीय पंक्ति 'काय योग' के स्थान में 'वचन योग' करें।

६—पृ० २१८ प्रथम पंक्ति 'अ' के स्थान मे 'अर्थ' करें।

७—पृ० २२१ चतुर्थ पंक्ति 'परजूण' के स्थान मे 'परजूरण' करें।

८—पृ० २२१ षष्ट पंक्ति 'जूण' के स्थान मे 'जूरण' करें।

६—पृ० २६१ गा० ६ द्वितीय पंक्ति मे 'सुनने' के बाद 'आदि' हटावें।

१०—पृ० २६५ गा० २३-५ पंचम पंक्ति मे 'उपशम' के स्थान मे 'क्षयोपशम' करें।

११—पृ० २६५ गा० २६ द्वितीय पंक्ति मे 'उत्कृष्ट' के बाद 'प्रत्याख्यान और उससे कुछ कम' जोड़ें।

जीव पदारथ

दुहा

१—नमू वीर सासण धणी, गणधर गोतम साम।
तारण तिरण पुरषा तणा, लीजे नित प्रत नाम॥

२—त्या जीवादिक नव पदारथ तणो, निरणो कीयो भात भात।
त्याने हलुकर्मी जीव ओलखे, पूरी मन री खात॥

३—जीव अजीव ओलख्या विना, मिटे नही मन रो भर्म।
समकत आया विण जीव ने, रूके नही आवता कर्म॥

४—नव ही पदारथ जू जूआ, जथातथ सरदे जीव।
ते निश्चे समदिष्टी जीवडा, त्या दीधी मुगत री नींव॥

५—हिवे नव ही पदारथ ओलखायवा, जूआ जूआ कहू छू भेद।
पहिला ओलखाऊ जीव ने, ते सुणजो आण उमेद॥

ढाल : १

[विना रा भाव सुण सुण गुंजे]

१—सासतो जीव दरव साख्यात, कदे घटे नही तिलमात।
तिणरा असंख्यात प्रदेस, घटे वधे नही लवलेस॥

: १ :

जीव पदार्थ

दोहा

आदि मङ्गल

१—जिन-शासन के अधिपति श्री वीर प्रभु[1] को नमस्कार करता हूँ तथा गणधर गौतम[2] स्वामी को भी। इन तरण-तारण पुरुषों का प्रति दिन स्मरण करना चाहिए।

नव पदार्थ और सम्यक्त्व

२—इन पुरुषों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से जीव आदि नव पदार्थों[3] का स्वरूप-निरूपण किया है। हलुकर्मी जीव इन नव पदार्थों की पूरे मनोयोग पूर्वक ओलख (पहचान) करते हैं।

३—जीव-अजीव की ओलख (पहचान) हुए बिना मन का भ्रम नहीं मिटता, समकित (सम्यक्त्व)[4] आए बिना जीव के नए कर्मों का संचार नहीं रुकता।

४—जो प्राणी नव ही पदार्थों में से प्रत्येक में यथातथ्य श्रद्धा रखते हैं, वे निश्चय ही सम्यग्दृष्टि जीव हैं और उन्होंने मुक्ति की नींव डाल दी।

५—अब नव ही पदार्थ की पहचान के लिये उनका भिन्न-भिन्न स्वरूप बतलाता हूँ। पहले जीव पदार्थ[5] की पहचान कराता हूँ। [illegible] सुनना।

ढाल : १

२—तिणसू दरवे कह्यो जीव एक, भाव जीव रा भेद अनेक।
तिणरो बहोत कह्यो विसतार, ते बुधवंत जाणे विचार॥

३—भगोती वीसमा सतक माय, बीजे उदेशे कह्यो जिणराय।
जीव रा तेवीस नाम, गुण निपन कह्या छै ताम॥

४—जीवे[1]* ति वा जीव रो नाम, आउखा ने बले जीवे ताम।
ओ तो भावे जीव ससारी, तिणने बुधवंत लीजो विचारी॥

५—जीवत्थिकाय[2] जीव रो नाम, देह धरे छै तेह भणी आम।
प्रदेसा रा समूह ते काय, पुदगल रा समूह भेले छै ताय॥

६—सास उसास लेवे छै ताम, तिणसू पाणे[3] ति वा जीव रो नाम।
भूए[4] ति वा कह्यो इण न्याय, सदा छै तिहु काल रे माय॥

७—सत्ते[5] ति वा कह्यो इण न्याय, सुभासुभ पोते छे ताय।
विन्नू[6] ति वा विषे रो जाण, सबदादिक लीया सर्व पिछाण॥

८—वेया[7] ति वा जीव रो नाम, सुख दुख वेदे छै ठाम ठाम।
ते तो चेतन सरूप छै जीव, पुदगल रो सवादी सदीव॥

९—चेया[8] ति वा जीव रो नाम, पुदगल नी रचणा करे ताम।
विवध प्रकारे रचे रूप, ते तो भूडा ने भला अनूप॥

---

* ये अङ्क क्रमशः जीव के २३ नामो के सूचक है।

२—(सर्व जीव असंख्यात प्रदेशों के अखण्ड समुदाय हैं।) इसीसे द्रव्यतः जीव एक कहा गया है। भाव जीव के अनेक भेद हैं। भगवान ने जीव का बहुत विस्तृत वर्णन किया है। बुद्धिमान विचार कर द्रव्य जीव और भाव जीव[६] को जान लेते हैं।

जीव के तेईस नाम

३—भगवती सूत्र के बीसवें शतक के द्वितीय उद्देशक में जिन भगवान ने जीव के गुणानुरूप २३ नाम[७] बतलाये हैं, जो निम्न प्रकार हैं।

१-जीव

४—जीव : जीव का यह नाम आयु-बल होने तथा (तीनों काल में सदा) जीवित रहने से है। यह संसारी जीव—भाव जीव है। बुद्धिमान विचार कर देखें।

२-जीवास्तिकाय

५—जीवास्तिकाय : जीव का यह नाम देह धारण करने से है। प्रदेशों के समूह को काय कहते हैं। देह पुद्गल-प्रदेशों का समूह है। इसे यह धारण करता है।

३-प्राण
४-भूत

६—प्राण : जीव का यह नाम श्वासोच्छ्वास लेने के कारण है। भूत : इसे भूत इसलिए कहा गया है कि यह तीनों काल में विद्यमान रहता है।

५-सत्त्व
६-विज्ञ

७—सत्त्व : यह ही शुभाशुभ का कारण है, इसलिये जीव सत्त्व है। विज्ञ : इन्द्रियों के शब्दादि विषयों का अनुभव करने वाला—जानने वाला होने से विज्ञ है।

१०—जेया[९] ति वा नाम श्रीकार, कर्म रिपू नो जीपणहार।
तिणरो पराक्रम सकत अतत, थोडा मे करे करमा रो अन्त ॥

११—आया[१०] ति वा नाम इण न्याय, सर्व लोक फरस्यो छै ताय।
जन्म मरण कीया ठाम ठाम, कठे पाम्यो नही आराम ॥

१२—रगणे[११] ति वा नाम मदमातो, राग घेप रूप रग रातो।
तिण सू रहे छै मोह मतवालो, आत्मा ने लगावे कालो ॥

१३—हिंडुए[१२] ति वा जीव रो नाम, चिहू गति माहे हीड्यो छै ताम।
कर्म हिलोले ठाम ठाम, कठे पाम्यो नही विसराम ॥

१४—पोग्गले[१३] ति वा जीव रो नाम, पुदगल ले ले मेल्या ठाम ठाम।
पुदगल माहे रचे रह्यो जीव, तिणसू लागी ससार री नीव ॥

१५—माणवे[१४] ति वा जीव रो नाम, नवो नही सासतो छै ताम।
तिणरी परजा तो पलटे जाय, द्रव्य तो ज्यू रो ज्यू रहे ताय॥

१६—कत्ता[१५] ति वा जीव रो नाम, करमा रो करता छै ताम।
तिणमू तिणने कह्यो छै आश्रव, तिणसू लागे छै पुदगल दरव ॥

१७—विगत्ता[१६] ति वा नाम इण न्याय, करमा ने विधूणे छै ताय।
आ निग्जरा री करणी अमाम, जीव उजलो छै निरजरा ताम ॥

१०—जेता कर्म रूपी शत्रुओं को जीतने वाला होने से जीव का यह उत्तम जेता नाम है, जीव का पराक्रम—उसकी शक्ति (वीर्य) अनन्त है जिससे अल्प में ही वह कर्मों का अन्त ला सकता है। ९-जेता

११—आत्मा यह नाम इसलिये है कि जीव ने जगह-जगह जन्म-मरण किया है। (नाना जन्मान्तर करते हुए) इसने सर्व लोक का स्पर्श किया है। किसी भी जगह इसे विश्राम नहीं मिला। १०-आत्मा

१२—रंगण जीव राग द्वेष रूपी रंग में रंगा रहता है और मोह में मतवाला रहकर आत्मा को कलंकित करता है, इससे इसका नाम रंगण है। ११-रंगण

१३—हिंडुक कर्म रूपी झूलने में बैठकर जीव चारों गतियों में झूलता रहा है। कहीं भी विश्राम नहीं पाता। इससे जीव का नाम हिंडुक है। १२-हिंडुक

१४—पुद्गल पुद्गलों को (आत्म-प्रदेशों में) जगह-जगह एकत्रित कर रखने से जीव का नाम पुद्गल है। पुद्गल में लिप्त रहने से ही संसार की नींव लगी है। १३-पुद्गल

१५—मानव जीव कोई नया नहीं परन्तु शाश्वत है इसलिये इसका नाम मानव है। जीव की पर्याय पलट जाती है परन्तु द्रव्य से वह वैसे-का-वैसा रहता है। १४-मानव

१६—कर्त्ता कर्मों का कर्त्ता—उपार्जन करने वाला होने से जीव का नाम कर्त्ता है। कर्मों का कर्त्ता होने से ही जीव को [illegible] गया है। इस कर्तृत्व के कारण ही जीव के [illegible] लगा रहता है। १५-कर्त्ता

१८—जए[१७] ति वा नाम तणो विचार, अति हि गमन तणो करणहार।
एक समे लोकान्त लग जाय, एहवी सकत सभाविक पाय॥

१९—जतु[१८] ति वा जीव रो नाम, जन्म पाम्यो छै ठाम ठाम।
चोरासी लख जोनि रे माहि, उपज्यो ने निमर गयो ताहि॥

२०—जोणी[१९] ति वा जीव कहिवाय, पर नो उत्पादक इण न्याय।
घट पट आदि वस्त अनेक, उपजावे निज सुविवेक॥

२१—सयभू[२०] ति वा जीव रो नाम, किण हि निपजायो नही ताम।
ते तो छै द्रव्य जीव सभावे, ते तो कदे नही विललावे॥

२२—ससरीरी[२१] ति वा नाम एह, सरीर रे अतर तेह।
सरीर पाछे नाम धरायो, कालो गोरादिक नाम कहायो॥

२३—नायए[२२] ति वा ते कर्मा रो नायक, निज सुख दुख रो छै दायक।
तथा न्याय तणो करणहार, ते तो वोले छै वचन विचार॥

२४—अन्तरप्पा[२३] ते जीव रो नाम, सर्व सरीर व्यापे रह्यो ताम।
लोलीभूत छै पुदगल माहि, निज सरूप दवे रह्यो त्याही॥

२५—द्रव्य तो जीव सासतो एक, तिणरा भाव कह्या छै अनेक।
भाव ते लखण गुण परज्याय, ते तो भावे जीव छै ताय॥

२६—भाव तो पाच श्री जिण भाख्या, त्यारा सभाव जूजूआ दाख्या।
उदै उपसम ने खायक पिछाणो, खय उपसम परिणामिक जाणो॥

१८—जगत जीव में एक समय में लोकान्त तक जाने की स्वाभाविक शक्ति पायी जाती है। इस प्रकार अत्यन्त शीघ्र गति से गमन करने वाला होने से जीव को 'जगत' कहा गया है। — १७ जगत्

१९—जंतु जीव जगह-जगह जन्मा है। चौरासी लाख योनियों में वह उत्पन्न हुआ और वहाँ से निकला है। इसलिए इसका नाम जंतु है। — १८-जन्तु

२०—योनि जीव अन्य वस्तुओं का उत्पादक है। अपने बुद्धि-कौशल से वह घट, पट आदि अनेक वस्तुओं की रचना करता है। इससे 'योनि' कहलाता है। — १९-योनि

२१—स्वयंभूत जीव किसी का उत्पन्न किया हुआ नहीं है। इसी से इसका नाम स्वयंभूत है। जीव स्वाभाविक द्रव्य है। यह कभी विलय को प्राप्त नहीं होता। — २०-स्वयम्भूत

२२—सशरीरी शरीर में रहने से जीव का नाम सशरीरी है। बाल, गोरे आदि की संज्ञा शरीर को लेकर ही है। — २१-सशरीरी

२३—नायक कर्मों का नायक होने से—अपने सुख-दुःख का स्वयं उत्तरदायी होने से जीव का नाम नायक है। जीव न्याय का करने वाला है, विचार कर बात बोलने वाला है। — २२-नायक

२४—अन्तरात्मा समस्त शरीर में व्याप्त रहने से जीव अन्तरात्मा कहलाता है। जीव पुद्गलों से लोलीभूत—लिप्त है जिससे इसका (असली) स्वरूप दब रहा है। — २३-अन्तरात्मा

२७—उदे तो आठ कर्म अजीव, त्यारा उदा सू नीपना जीव।
ते उदय भाव जीव छै ताम, त्यारा अनेक जूआ जूआ नाम॥

२८—उपसम तो मोहणी कर्म एक, जब नीपजें गुण अनेक।
ते उपसम भाव जीव छै ताम, त्यारा पिण छै जूआ जूआ नाम॥

२९—खय तो हुवे छै आठ कर्म, जब खायक गुण नीपजे परम।
ते खायक गुण छै भाव जीव, ते उजला रहे सदा सदीव॥

३०—वे आवरणी ने मोहणी अतराय, ए च्यारू कर्म खयउपसम थाय।
जब नीपजे खयउपसम भाव चोखो, ते पिण छै भाव जीव निरदोपो॥

३१—जीव परिणमे जिण जिण भाव माहि, ते सगला छै न्यारा २ ताहि।
पिण परिणामीक सारा छै ताम, जेहवा तेहवा परिणामीक नाम॥

३२—कर्म उदे सू उदे भाव होय, ते तो भाव जीव छै सोय।
कर्म उपसमीया उपसम भाव, ते उपसम भाव जीव इण न्याव॥

३३—कर्म खय सू खायक भाव होय, ते पिण भाव जीव छै सोय।
कर्म खें उपसम सू खें उपसम भाव, ते पिण छै भाव जीव इण न्याव॥

३४—अे च्यारू इ भाव छै परिणामीक, ओ पिण भाव जीव छै ठीक।
ओर जीव अजीव अनेक, परिणामीक विना नही एक॥

पाँच भावों से जीव के क्या होता है ? (२७-३१)

२७—उदय तो आठ अजीव कर्मों का होता है। कर्मों के उदय से निष्पन्न जीव 'उदय-भाव जीव' है, जिनके अनेक भिन्न-भिन्न नाम हैं।

२८—उपशम एक मोहनीय कर्म का होता है। इसके उपशम से अनेक गुण उत्पन्न होते हैं, जो 'उपशम-भाव जीव' है। इनके भी भिन्न-भिन्न नाम हैं।

२९—क्षय आठ ही कर्मों का होता है। कर्म-क्षय से परम क्षायक गुण उत्पन्न होते हैं जो 'क्षायक-भाव जीव' हैं। ये सदा उज्ज्वल रहते हैं।

३०—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन चार कर्मों का क्षयोपशम होता है, जिससे शुभ क्षयोपशम भाव उत्पन्न होता है। यह भी निर्दोष भाव जीव है।

३१—जीव जिन-जिन भावों में परिणमन करता है, वे सब भिन्न-भिन्न हैं। परन्तु वे सभी पारिणामिक हैं। परिणाम के अनुसार अलग-अलग नाम हैं।

—कर्म के उदय से उदय-भाव होता है, जो भाव जीव है। कर्म के उपशम से उपशम-भाव होता है। वह भी भाव जीव है।

कर्म-क्षय से क्षायिक भाव और कर्म-क्षयोपशम से क्षयोपशम भाव होता है। ये दोनों भी भाव जीव हैं।

३५—ए पाचूइ भाव ने भाव जीव जाणो, त्याने रुडी रीत पिछाणो।
उपजे ने विले होय जाय, ते भावे जीव तो छै इण न्याय॥

३६—कर्म सजोग विजोग सू तेह, भावे जीव नीपनो छै एह।
च्यार भाव तो निश्चे फिर जाय, खायक भावे फिर नही ताय॥

३७—द्रव्य तो सासतो छे ताहि, ते तो तीनोइ काल रे माहि।
ते तो विले कदे नही होय, द्रव्य तो ज्यू रो ज्यू रहसी सोय॥

३८—ते तो छेद्यो कदे न छेदावे, भेद्यो पिण कदे नही भेदावे।
जाल्यो पिण जले नाहिं, वाल्यो पिण न वले अगन माहि॥

३९—काट्यो पिण कटे नही काइ, गाले तो पिण गले नाहि।
वाट्यो पिण नही वटाय, घसे तो पिण नही घसाय॥

४०—द्रव्य असख्यात प्रदेसी जीव, नित रो नित रहसी सदीव।
ते मार्‌यो पिण मरे नाहिं, वले घटे वधे नही काइ॥

४१—द्रव्य तो असख्यात प्रदेसी, ते तो सदा ज्यू रा ज्यू रहसी।
एक प्रदेस पिण घटे नाहि, तीनूइ काल रे माहि॥

४२—खडायो पिण न खडे लिगार, नित सदा रहे एक धार।
एह्वो छै द्रव्य जीव अखड, अखी थको रहे इण मड॥

३५—इन पांचों ही भावों को भाव जीव जानो। इनको अच्छी तरह पहचानो। जो उत्पन्न होते हैं और विलीन हो जाते हैं, वे भाव जीव हैं।

भाव-जीवों का स्वभाव

३६—ये भाव जीव कर्मों के संयोग-वियोग से उत्पन्न होते हैं। चार भाव तो होकर निश्चय ही फिर जाते हैं। क्षायक भाव होकर नहीं फिरता° ।

वे कैसे उत्पन्न होते हैं ?

३७—द्रव्य जीव शाश्वत है। वह तीनों काल में होता है। उसका कभी विलय—नाश नहीं होता। वह द्रव्य रूप में सदा ज्यों-का-त्यों रहता है।

द्रव्य जीव का स्वरूप (३७-४२)

३८—वह छेदन करने पर नहीं छिदता—(अच्छेद्य है), भेदन करने पर नहीं भिदता—(अभेद्य है), और न जलाने पर—अग्नि में डालने पर—जलता ही है।

३९—यह काटने पर नहीं कटता, गलाने पर नहीं गलता, बांटने पर नहीं बंटता और न घिसने पर घिसता है।

४०—जीव असंख्यात प्रदेशी द्रव्य है। वह सदा नित्य रहता है। वह मारने पर नहीं मरता, और न थोड़ा भी घटता-बढ़ता है।

४१—जीव द्रव्य असंख्यात प्रदेशी है। उसके प्रदेश सदा ज्यों-के-त्यों असंख्यात ही रहते हैं। तीनों ही काल में उसका एक प्रदेश भी न्यून नहीं हो सकता।

४२—खंड करने पर इसके खंड नहीं हो सकते, यह सदा एक अखंड रहता है। यह [illegible] है [illegible] और अनन्त [illegible] रहता है।

४३—द्रव्य रा भाव अनेक छै ताय, ते तो लखण गुण परजाय।
भाव लखण गुण परजाय, ए च्यारू भाव जीव छै ताय॥

४४—ए च्यारू भला ने भूडा होय, एक धारा न रहे कोय।
केइ खायक भाव रहसी एक धार, नीपना पछे न घटे लिगार॥

४५—दरवे जीव सासतो जाणो, तिण मे सका मूल म आणो।
भगोती सातमा सतक रे माय, दूजे उदेसे कह्यो जिणराय॥

४६—भावे जीव असासतो जाणो, तिण मे पिण सका मूल म आणो।
ए पिण सातमा सतक रे माय, दूजे उदेसे कह्यो जिणराय॥

४७—जेती जीव तणी परजाय, असासती कही जिणराय।
तिण ने निश्चे भावे जीव जाणो, तिणने रूडी रीत पिछाणो॥

४८—कर्मां रो करता जीव छै तायो, तिण सू आश्रव नाम धरायो।
ते आश्रव छै भाव जीव, कर्म लागे ते पुदगल अजीव॥

४९—कर्म रोके छै जीव ताह्यो, तिण गुण सू सवर कहायो।
सवर गुण छै भाव जीव, रुकीया छै कर्म पुदगल अजीव॥

५०—कर्म तूटां जीव उजल थाय, तिणनें निरजरा कही जिणराय।
ते निरजरा छै भाव जीव, तूटें ते कर्म पुदगल अजीव॥

४३—द्रव्य के अनेक भाव हैं जैसे लक्षण, गुण और पर्याय। भाव, लक्षण, गुण और पर्याय ये चारों भाव जीव हैं।

द्रव्य जीव के लक्षण आदि सब भाव जीव हैं

४४—ये चारों अलग-अलग होते हैं। ये एक धार—एक-से नहीं रहते। कई क्षायक भाव एक धार रहते हैं, उत्पन्न होने पर फिर नहीं घटते।

क्षायक भाव स्थिर भाव

४५—द्रव्य की अपेक्षा से जीव को शाश्वत जानो। ऐसा भगवान ने भगवती सूत्र के सातवें शतक के द्वितीय उद्देशक में कहा है। इसमें जरा भी शङ्का मत करो।

जीव शाश्वत व अशाश्वत कैसे? (४५-४६)

४६—भाव की अपेक्षा से जीव को अशाश्वत जानो। ऐसा भगवान ने भगवती सूत्र के सातवें शतक के द्वितीय उद्देशक में कहा है। इसमें भी जरा भी शङ्का मत करो।

४७—जीव की जितनी पर्यायें हैं, उन सबको भगवान ने अशाश्वत कहा है। इनको निश्चय ही भाव जीव समझो और भलीभाँति पहचानो।

सर्व पर्यायें—भाव जीव

४८—जीव कर्मों का कर्त्ता है इसीलिए आस्रव कहलाता है। आस्रव भाव जीव है तथा जो कर्म जीव के लगते हैं वे अजीव पुद्गल हैं।

आस्रव भाव जीव

४९—जीव कर्मों को रोकता है, इस गुण के कारण संवर कहलाता है। संवर गुण भाव जीव है तथा जो कर्म रुकते हैं वे अजीव पुद्गल हैं।

संवर भाव जीव

५१—समस्त कर्मां सू जीव मूकायो, तिण सू तो जीव मोख कहायो।
मोख ते पिण छै भाव जीव, मूकीया गया कर्म अजीव॥

५२—सबदादिक काम ने भोग, तेहनो करे सजोग।
ते तो आश्रव छै भाव जीव, तिण सू लागे छै कर्म अजीव॥

५३—सबदादिक काम ने भोग, त्याने त्यागे ने पाडे विजोग।
ते तो सवर छै भाव जीव, तिण सू रुकीया छै कर्म अजीव॥

५४—निरजरा ने निरजरा री करणी, अे दोनूइ जीव ने आदरणी।
अे दोनू छै भाव जीव, तूटा ने तूटे कर्म अजीव॥

५५- काम भोग सू पामे आरामो, ते ससार थकी जीव स्हामो।
ते तो आश्रव छै भाव जीव, तिण सू लागें छै कर्म अजीव॥

५६—काम भोग थकी नेह तूटो, ते ससार थकी छै अफूटो।
ते सवर निरजरा भाव जीव, जब रुके तूटे कर्म अजीव॥

५७—सावद्य करणी सर्व अकार्य, अे तो सगला छै किरतब अनार्य।
ते सगलाइ छै भाव जीव, त्यासू लागे छै कर्म अजीव॥

५८—जिण आगन्या पाले छै रुडी रीत, ते पिण भाव जीव सुवनीत।
जिण आगन्या लोपे चाले कूरीत, ते तो छै भाव जीव अनीत॥

५१—जीव का समस्त कर्मों से मुक्त हो जाना ही उसका मोक्ष कहलाता है। मोक्ष भी भाव जीव है। जीव का जिन कर्मों से छुटकारा हुआ वे अजीव पुद्गल हैं।

मोक्ष भाव जीव

५२—शब्दादिक कामभोगों का जो सयोग करता है, वह आश्रव भाव जीव है। इससे जो कर्म आकर लगते हैं, वे अजीव हैं।

आस्रव, संवर, निर्जरा—इन भाव जीवों का स्वरूप (५२-५४)

५३—शब्दादिक कामभोगों को त्याग कर उन्हें अलग करना यह संवर भाव जीव है। इससे अजीव कर्मों का प्रवेश रुकता है।

५४—निर्जरा और निर्जरा की करनी, जो दोनों ही जीव द्वारा आचरणीय हैं, भाव जीव हैं। क्षय अजीव कर्मों का हुआ या होता है।

५५—जो जीव कामभोगों में सुखानुभव करता है, वह संसार में आसक्त है। वह आश्रव भाव जीव है। उससे अजीव कर्म लगते हैं।

संसार की दृष्टि से जीव की आसक्तता व विरक्तता (५५-५६)

५६—कामभोगों से जिसका स्नेह टूट गया वह संसार से विरक्त है। वह संवर और निर्जरा भाव जीव है। संवर और निर्जरा से अजीव कर्म क्रमशः रुकते और टूटते हैं।

५७—सर्व सावद्य कार्य अकृत्य हैं—अनार्य कर्तव्य हैं। ये आस्रव भाव जीव हैं। इनसे अजीव कर्म आते और लगते हैं।

[illegible]

५९—सूरवीर समार रे माही, किणरा डराया डरे नाही।
ते पिण छै भाव जीव मसारी, ते तो हुवो अनती वारी॥

६०—साचा सूरवीर साख्यात, ते तो कर्म काटे दिन रात।
ते पिण छै भाव जीव चोपो, दिन दिन नेडी करे छै मोषो॥

६१—कहि कहि ने कितोएक केह, द्रव्ये ने भाव जीव छै वेहू।
याने रूडी रीत पिछाणो, छै ज्यू रा ज्यू हीया माहे जाणो॥

६२—द्रव्य भाव ओलखावणी ताम, जोड कीधी श्रीदुवारे सुठाम।
समत अठारे पचावनो वरस, चेत विद नियं तेरस॥

५९—संसार में वे शूरवीर कहलाते हैं जो किसी के डराये नहीं डरते। वे भी संसारी भाव जीव हैं। प्राणी अनन्त बार ऐसा वीर हुआ है। — लौकिक और आध्यात्मिक भाव जीव

६०—सच्चे शूरवीर वे हैं जो दिन-रात कर्मों को काटते हैं। वे शुभ भाव जीव हैं। वे दिन-प्रति दिन मोक्ष को नजदीक कर रहे हैं।

६१—मैं यह और कितना कह सकता हूँ। द्रव्य जीव और भाव जीव दोनों को अच्छी तरह पहचानो और हृदय में यथातथ्य रूप से जानो। — उपसंहार

६२—द्रव्य और भाव जीव को अवलक्षित कराने वाली यह जोड़ श्रीजीद्वार में सं० १८५५ की चैत बदी १३ के दिन सम्पूर्ण की है।

टिप्पणियाँ

१—वीर प्रभु .

वीर प्रभु अर्थात् तीर्थङ्कर महावीर। आपका जन्म 'नाय'—'ज्ञातृ' नामक क्षत्रिय राजवंश मे हुआ था। आप काश्यप गोत्रीय थे। आपके पिता का नाम राजा सिद्धार्थ था। आपका जन्म वैशाली नगरी के राजा चेटक की बहिन वाशिष्ठ गोत्री त्रिशला देवी की कुक्षि से हुआ था। जैनियो की मान्यता है कि महावीर पहले ऋषभदत्त ब्राह्मण के घर देवानन्दा ब्राह्मणी की कोख मे अवतरित हुए थे, परन्तु एक देव विशेष ने बाद में उन्हे त्रिशला देवी की कुक्षि मे धर दिया था। आपका जन्म वैशाली नगरी के क्षत्रिय कुण्डपुर सन्निवेश मे, जो कि ब्राह्मण कुण्डपुर के उत्तर की ओर पड़ता था, चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को हुआ था। जब से आप त्रिशला देवी की कुक्षि मे आये तब से कुल मे धन-धान्य, सोने-चांदी आदि की विशेष वृद्धि होने से माता-पिता ने आपका नाम वर्द्धमान रक्खा। आपके चाचा का नाम सुपार्श्व, ज्येष्ठ भाई का नाम नन्दिवर्द्धन और बडी बहिन का नाम सुदर्शना था। आपकी भार्या का नाम यशोदा था, जो कौंडिन्य गोत्री थी। आपके एक पुत्री हुई थी, जिसका नाम प्रियदर्शना था। एक दौहित्री भी थी जिसका नाम यशोमती था।

महावीर के माता-पिता पार्श्वनाथ भगवान की परम्परा के श्रमणों के श्रद्धालु श्रावक थे। उन्होंने बहुत वर्षो तक श्रमणोपासक धर्म का पालन कर अन्त मे सल्लेखना कर देह-त्याग किया था।

शिष्य-मण्डली वहुत वडी थी। एक वार अपापा नगरी मे सोमिल नाम के एक धनी ब्राह्मण ने यज्ञ किया जिसमें उसने गौतम, सुधर्मा आदि उस समय के ग्यारह सुप्रसिद्ध वेदविद्-ब्राह्मणो को निमन्त्रित किया। इसी अरसे में भगवान महावीर भी विचरते हुए उस जगह आ पहुँचे। भगवान के दर्शन के लिये जनता उमड पडी। यज्ञ-स्थान छोडकर लोग उनके दर्शन के लिये जाने लगे। उनका यह आदर और प्रभाव गौतम को सह्य नही हुआ और वे उन्हे तत्त्व-चर्चा मे हराने के लिये उनके पास गये। भगवान महावीर अपने ज्ञान-वल से गौतम की शका पहले से ही जान चुके थे। दर्शन करते ही गौतम की शकाओ का निराकरण कर दिया। विजित गौतम ने अपने शिष्यो सहित तीर्थंकर भगवान महावीर की शरण ली और उनके सघ मे शामिल हो गये। महावीर ने उन्हे गणधर वनाया। उन्होने जीवनपर्यन्त वडे उत्कट भाव से भगवान महावीर की पर्युपासना की। भगवान के प्रति भक्ति-जन्य मोह के कारण उन्हे शीघ्र केवलज्ञान प्राप्त न हो सका। अपने जीवन के शेष दिन भगवान ने गौतम को दूर भेज दिया। निर्वाण-समय दूर रहने से गौतम उनसे मिल न सके। जिससे उन्हे वडा दुःख हुआ। वे मोह-विह्वल हो विलाप करने लगे। ऐसा करते-करते ही उनका ध्यान फिरा। निर्मोही भगवान के प्रति इस मोह की निरर्थकता वे समझ गये। वे अपनी मोह-विह्वलता के लिये पश्चाताप करने लगे। ऐसा करते ही अज्ञान के वादल फटे और उन्हें निरावरण केवलज्ञान प्राप्त हुआ। गौतम प्रभु भगवान महावीर के निर्वाण के वाद कोई १२ वर्ष तक जीवित रहे। वे वडे ज्ञानी, ध्यानी, भद्र और तपस्वी मुनि थे।

गणधर गौतम भगवान महावीर से नाना प्रकार के तात्त्विक प्रश्न करते रहते और भगवान उनका ज्ञान-गभीर उत्तर देते। तत्त्वो का सारा ज्ञान इसी तरह के सवादो से सामने आया। भगवान से तत्त्व खुलासा करवाने मे गणधर गौतम का सर्व प्रधान हाथ रहा। इसीलिये नव तत्त्वो की चर्चा करते हुए स्वामी जी द्वारा तीर्थंकर महावीर के साथ उन्हे भी नमस्कार किया गया है (देखिए दो० १, २,)।

३—नव पदार्थ

पदार्थ का अर्थ है—सद् वस्तु। नव पदार्थो के नाम इस प्रकार हैं[1] :

१ जीव	४ पाप	७ बंध
२ अजीव	५ आश्रव	८ निर्जरा
३ पुण्य	६ सवर	९ मोक्ष

१—ठाणाङ्ग ९. ६६५ : नव सब्भावपयत्था प० त० जीवा अजीवा पुण्ण पावो आसवो

४—समकित (सम्यक्त्व) :

पदार्थों में, तत्त्वों मे, वस्तुओं मे सम्यक्— यथातथ्य श्रद्धा, प्रतीति, रुचि, दृष्टि या विश्वास का होना समकित अथवा सम्यक्त्व है। मोक्ष-मार्ग में मनुष्य प्रमुख रूप से किन-किन बातो मे विश्वास रखे, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। यहाँ इसका कुछ विशद विवेचन किया जाता है।

यह संसार एक तत्त्वमय वस्तु है। यह कोई माया, भ्रम या कल्पना नही। संसार का अस्तित्व है—उसकी सत्ता है। लोक-रचना और व्यवस्था में केवल दो पदार्थ (सद्भूत वस्तु) एक जीव और दूसरे अजीव का हाथ है। अजीव पदार्थ पाँच हैं— (१) धर्मास्तिकाय, (२) अधर्मास्तिकाय, (३) आकाशास्तिकाय, (४) काल और (५) पुद्गल। आकाश अनन्त है। इस अनन्त आकाश के जितने क्षेत्र मे जीव और अजीव पदार्थ रहते हैं, उसे विश्व या लोक कहते हैं। इस लोक के बाद अलोक है, जिसमे शून्य आकाश है[1]।

जीव चेतन पदार्थ है[2]। पुद्गल जड पदार्थ है। उनके स्वभाव एक दूसरे से बिलकुल भिन्न—विरोधी हैं। अनादि काल से जीव और अजीव पुद्गल (कर्म) दूध और पानी की तरह एक क्षेत्रावगाही—परस्पर ओतप्रोत हो रहे हैं। इस प्रकार कर्मों के साथ—जड पदार्थ के साथ बधा हुआ जीव नाना प्रकार के सुख-दुःख का अनुभव करता है। जिन कर्मों का बधन फलावस्था मे दुःख का कारण है, वे पाप कहलाते हैं। जिनका बधन सांसारिक सुखो का कारण है, वे कर्म पुण्य कहलाते हैं। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद,

१—उत्त० ३६ : २

> जीवा चेव अजीवा य एस लोए वियाहिए।
> अजीवदेसमागासे अलोगे से वियाहिए॥

उत्त० २८ : ७

> धम्मो अहम्मो आगासं कालो पुग्गल-जन्तवो।
> एस लोगो त्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं॥

२—उत्त० २८ : १०

> × × × जीवो उवओगलक्खणो।
> नाणेणं दंसणेणं च सुहेण य दुहेण य॥

(१) 'मैं सुखी हूँ', 'मैं दुःखी हूँ' इस प्रकार का जो अनुभव होता है, वह आत्मा के बिना नही हो सकता। यदि ऐसा मान लिया जाय कि शरीर मे ही यह अनुभव होता है तब प्रश्न यह खडा होता है कि जब हम निद्रावस्था में होते हैं तब यह अनुभव किस के सहारे होता है ? यदि आत्मा और शरीर भिन्न-भिन्न न होते तो इन्द्रियो के सुप्त रहने पर ऐसा अनुभव होना सभव न होता। इसलिए यह मानना पडता है कि आत्मा एक स्वतन्त्र द्रव्य है।

(२) आत्मा इन्द्रियो से भिन्न है, यह बात इससे भी सिद्ध है कि इन्द्रियो के द्वारा जिस बात या चीज का ज्ञान होता है—वह ज्ञान इन्द्रियो के नष्ट होने पर भी बना रहता है। यह तभी सभव हो सकता है जब कि इन्द्रियो से भिन्न कोई दूसरा पदार्थ हो जो उस ज्ञान को स्थायी रूप से रख सकता हो, अर्थात् इन्द्रियो से प्राप्त ज्ञान जिसमें स्मृति रूप से रहता है, वही आत्म पदार्थ है और वह इन्द्रियो से भिन्न है। यदि इन्द्रियाँ ही आत्मा हो, तो उनके नष्ट होने से उनके जरिये प्राप्त ज्ञान भी नष्ट होता, परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। ज्ञान तो इन्द्रियो के नष्ट होने पर भी रहता है। इस तरह ज्ञान का जो आधार है, वह आत्म पदार्थ है। इन्द्रियो के ज्ञान की सीमा हो सकती है, परन्तु जिसके ज्ञान की सीमा नहीं होती—ऐसा जो अनुभववान या ज्ञानवान पदार्थ है वही आत्मा या जीव है।

(३) एक और तरह से भी आत्मा का इन्द्रियो से पृथकत्व सिद्ध किया जा सकता है। यह सबके अनुभव मे आता है कि कभी-कभी आंखो के सामने से कोई चीज गुजर जाती है तो भी उसका अनुमान तक नही होता, कानो के पास से शब्द होने [illegible] हम उसको सुन नहीं पाते। आवश्यक इन्द्रियो के रहने पर भी ऐसा क्यों होता है ? इसका कारण यह है कि इन्द्रियों के अतिरिक्त एक और पदार्थ है जो इन्द्रियों के [illegible] होता है। बिना इस पदार्थ की सहायता के देहादि अपना कार्य नहीं कर सकते। जब इस पदार्थ का ध्यान किसी दूसरी ओर रहता है—अर्थात् [illegible] देखने या सुनने आदि की ओर से उसकी उपेक्षा रहती है तब इन्द्रियां [illegible] [illegible] नहीं कर पाती। इस प्रकार इससे गौर करने से इन्द्रियां कार्य [illegible] इन्द्रियो से भिन्न है और वही आत्मा या जीव है।

[illegible] इन्द्रिय से अपने-अपने विषय का ही ज्ञान होता है, परन्तु [illegible] [illegible] है वही आत्म-पदार्थ है।

(५) जो आँखों से नहीं देखा जाता परन्तु खुद ही आँखों की ज्योति स्वरूप है, जिसके रूप तो नहीं है परन्तु जो खुद रूप को जानता है, वही आत्म-पदार्थ है।

(६) जिसका प्रकट लक्षण चैतन्य है और जो अपने इस गुण को किसी भी अवस्था में नहीं छोड़ता है, जो निद्रा, स्वप्न और जाग्रत अवस्था में सदा इस गुण से जाना जाता है— वही आत्मा या जीव है।

(७) यदि जानी जाने वाली घट, पट आदि चीजों का होना वास्तविक है तो इनको जानने वाले आत्म-पदार्थ का अस्तित्व कैसे न होगा ?

(८) जिस वस्तु में जानने की शक्ति या स्वभाव नहीं है वह जड़ है और जानना जिसका सदा स्वभाव है वह चैतन्य है। इस प्रकार जड़ और चैतन्य दोनों के भिन्न-भिन्न स्वभाव हैं, और वे स्वभाव कभी एक न होंगे। दोनों की भिन्नता इन बातों से अनुभव में आती है कि तीनों कालों में जड़, जड़ बना रहेगा और चैतन्य, चैतन्य। (इन दलीलों की विस्तृत चर्चा के लिये देखें 'रायपसेणइय सुत्त', 'जैन दर्शन' और 'आत्म-सिद्धि' नामक पुस्तकें।)

स्वामीजी पाँचवें ढाल में इसी जीव पदार्थ का विवेचन करने की प्रतिज्ञा करते हैं।

१—द्रव्य जीव और भाव जीव (गा० १-२)

जीव चैतन्य-गुण से सयुक्त है इसलिये द्रव्य है। चेतना जीव पदार्थ में ही होती है अत वह उसका धर्म और गुण है।

जीव का लक्षण उपयोग है, यह बताया जा चुका है (टि० ४ पा० टि० २)। उपयोग का अर्थ है जानने तथा देखने की शक्ति। जीव में देखने और जानने की अनन्त शक्ति है।

यह अकृत्रिम पदार्थ है। जीव के विश्लेपण से उसमे से कोई दूसरा पदार्थ नही निकलता। यह अखण्ड द्रव्य है। इसके टुकडे नही किये जा सकते।

जड पदार्थ पुद्गल के टुकडे करने सभव हैं और टुकडे करते करते एक सूक्ष्मतम टुकडा मिलता है, उसको परमाणु कहते हैं। यह अकेला, स्वतत्र और अन्तिम—अविभाज्य भाग होता है। परमाणु जितने स्थान को रोकता है उतने को एक प्रदेश कहते हैं। जीव इस माप से असख्यात प्रदेशी होता है। असख्यात प्रदेशो का अखण्ड समूह होने से जीव को अस्तिकाय कहा जाता है। अखण्ड पदार्थ होने से जीव का एक भी प्रदेश उससे अलग नहीं किया जा सकता—अर्थात् वह सदा असख्यात प्रदेशी रहता है। प्रथम ढाल-गाथा मे यही बात सक्षेप मे कही गई है।

जीव अनन्त हैं परन्तु सर्व जीव वस्तुत सदृश हैं और इसलिए सभी एक 'जीव द्रव्य' की कोटि मे समा जाते हैं। जितने जीव हैं उतनी ही आत्माएँ हैं। प्रत्येक जीव स्वतन्त्र है और स्वानुभव करता है परन्तु द्रव्य की दृष्टि से सब एक हैं क्योंकि सबमे चैतन्य गुण समान है।

अत द्रव्यत जीव एक है। सख्या की दृष्टि से जीव अनन्त हैं। उनकी अनन्त सख्या मे न कभी वृद्धि होती है, न कभी ह्रास।

७—जीव के २३ नाम (गा० ३-२४)

भगवती सूत्र के २० वें शतक के २ रे उद्देशक का पाठ, जिसमें जीव के नाम बतलाये गये हैं, इस प्रकार है :

"गोयमा ! अणेगा अभिवयणा पन्नत्ता, त जहा—जीवे ति वा, जीवत्थिकाये ति वा, पाणे ति वा, भूए ति वा, सत्ते ति वा, विन्नू ति वा, चेया ति वा, जेया ति वा, आया ति वा, रंगणा ति वा, हिंडुए ति वा, पोग्गले ति वा, माणवे ति वा, कत्ता ति वा, विकत्ता ति वा, जए ति वा, जंतु ति वा, जोणी ति वा, सयभू ति वा, ससरीरी ति वा, नायए ति वा, अंतरप्पा ति वा, जे यावन्ने तहप्पगारा सव्वे ते जाव-अभिवयणा।"

इस पाठ के अनुसार जीव के २२ अभिवचन ही होते हैं। स्वामीजी के सामने भगवती सूत्र का जो आदर्श था उसमें २३ नाम प्राप्त थे। उपर्युक्त पाठ में वेय (वेद, वेदक) नाम नहीं मिलता। भगवती सूत्र शतक २ उ० १ के आधार पर कहा जा सकता है कि जीव का एक अभिवचन वेद—वेदक भी रहा।

जीव के इन नामों से जीव-सम्बन्धी अनेक बातों की जानकारी होती है। ये नाम गुणनिष्पन्न हैं—जीव के गुणों को भलीभांति प्रकट करते हैं।

स्वामीजी ने ४ से २४ तक की गाथाओं में इन २३ नामों का अर्थ स्पष्ट किया है। यहाँ संक्षेप में उनपर विवेचन किया जाता है।

जो प्रदेशो का समूह हो—उसे अस्तिकाय कहते हैं। जीव एक स्वतन्त्र पदार्थ है—यह ऊपर सिद्ध किया जा चुका है। जीव स्वतन्त्र रूप से विद्यमान है और असख्यात प्रदेशो का समूह है, इसलिये जीवास्तिकाय कहलाता है। जीव अपने कर्मानुसार अनेक देह धारण करता है परन्तु छोटे-से-छोटे और बडे-से बडे शरीर मे भी उसके असख्यात प्रदेशीपन मे कमी या अधिकता नही होती। चीटी और हाथी दोनो के जीव असख्यात प्रदेशी हैं[1]।

(३) प्राण (गा० ६) स्वामीजी की परिभाषा भगवती सूत्र २१ के पाठ पर आधारित है। वह पाठ इस प्रकार है "जम्हा आणमइ वा, पाणमइ वा, उस्ससइ वा, णीससइ वा तम्हा 'पाणे' त्ति वत्तव्व सिया।" जीव श्वास-निश्वास लेता है इससे वह प्राणी है। 'प्राणी' शब्द का दूसरा अर्थ इस प्रकार है जैन धर्म में दस जीवन शक्तियाँ मानी गई हैं—(१) श्रोत्रेन्द्रिय[2]-बल प्राण, (२) चक्षुरिन्द्रिय-बल प्राण, (३) घ्राणेन्द्रिय[3]-बल प्राण, (४) रसनेन्द्रिय-बल प्राण, (५) स्पर्शनेन्द्रिय बल प्राण, (६) मन-बल प्राण, (७) वचन-बल प्राण (८) काया-बल प्राण, (९) श्वासोश्वास-बल प्राण और (१०) आयुष्य-बल प्राण। प्रत्येक ससारी जीव मे कम-अधिक सख्या में ये प्राण शक्तियाँ मौजूद रहती हैं। सीमित आयु, श्वासोच्छ्वास की शक्ति, पाँचो इन्द्रियो में से कम-से-कम स्पर्शनेन्द्रिय, मन, वचन और शरीर में से एक शरीर बल इस तरह कम-से-कम चार जीवन-शक्तियाँ तो वनस्पति आदि स्थावर जीवो के भी हर समय मौजूद रहती ही हैं। इन बलो, प्राणो, जीवन-शक्तियो का धारण करना ही जीवन है और चूँकि कम-से-कम ४ प्राण बिना कोई ससारी जीव नही होता अत सब जीव प्राणी हैं।

भी सम्भव नहीं। आत्मा को 'भूत' इसी हेतु से कहा गया है। जीव कभी अजीव नहीं हो सकता—यही उसका भूतत्व है।

(५) सत्त्व (गा० ६) भगवतीसूत्र २ १ में सत्त्व की परिभाषा इस प्रकार मिलती है—"जम्हा सत्ते सुभाऽसुभेहिं कम्मेहिं तम्हा 'सत्ते त्ति वत्तव्वं सिया।' टीकाकार अभयदेव सूरि ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—'सत्ते' का अर्थ है—'सक्त'—आसक्त अथवा 'शक्त'—समर्थ। 'कर्म' का अर्थ है क्रिया। जीव सुन्दर असुन्दर क्रिया में—शुभ अशुभ क्रिया में आसक्त अथवा समर्थ है, अतः वह सत्त्व है। स्वामीजी की परिभाषा इसीके अनुरूप है। 'सक्त' का अर्थ सम्बद्ध भी होता है। शुभाशुभ कर्मों से सम्बद्ध होने से जीव सत्त्व है।

(६) विज्ञ (गा० ७) इसकी परिभाषा है—"जम्हा तित्त-कडु-कसाय-अंबिल-महुरे रसे जाणइ तम्हा 'विन्नू' त्ति वत्तव्वं सिया (भग० २ १)।"

यह अच्छा शब्द है, यह बुरा शब्द है, यह मधुर है, यह खट्टा है, यह कड़वा है —यह सफेद है, यह लाल है, यह दुर्गन्ध है यह सुगन्ध है, अभी सर्दी पड़ रही है, अभी गर्मी पड़ रही है आदि इन्द्रियों के भिन्न-भिन्न विषयों का ज्ञान—अनुभव यदि किसी को होता है तो वह जीव पदार्थ ही है अतः जीव को 'विज्ञ'—कहा गया है। मैं [illegible] हूँ, [illegible] हूँ, रुग्ण हूँ, स्वस्थ हूँ आदि भावों का स्पष्ट अनुभव यदि किसी पदार्थ में है तो वह जीव पदार्थ में है। इस हेतु से भी वह 'विज्ञ' कहा गया है।

से चेता—पुद्गलो को सग्रह करने वाला कहा गया है ('चेयाइ त्ति चेता पुद्गलाना चयकारी—अभ०) जीव के शरीरादि की रचना भी इसी कारण से होती है।

(९) जेता (गा० १०) कर्मों का बन्धन आत्मा की विभाव परिणति से होता है और उनका नाश स्वभाव परिणति से। दोनो परिणतियाँ जीव के ही होती हैं। अत जैसे वह कर्मो को बाँधने वाला है वैसे ही उनका नाश कर उन पर विजय पाने वाला होने से उसे 'जेता' कहा जाता है।

स्वभाव रूप से ही जीव में अनन्त वीर्य शक्ति होती है। परन्तु कर्मो के आवरण के कारण वह शक्ति मद हो जाती है। ससारी जीव कर्मो से आवद्ध होने पर भी अपने स्वभाव मे स्थित होता है। इसका अर्थ यह है कि कर्मावरण से उसके स्वाभाविक गुण मद हो जाने पर भी सर्वथा नष्ट नही होते। जीव अपने वीर्य का स्फोटन कर दारुण कर्म-बन्धन को विच्छिन्न करने मे सफल होता है। इस तरह कर्म-रिपुओ को जीतने का सामर्थ्य रखने से जीव का एक अभिवचन जेता है ('जेय' त्ति जेता कर्मरिपूणाम्—अभ०)।

(१०) आत्मा (गा० ११) जब तक जीव कर्मों का आत्यन्तिक क्षय नही करता उसे बार-बार जन्म-मरण करना पडता है और इस जन्म मरण की परम्परा मे वह भिन्न-भिन्न गति (मनुष्य, पशु-पक्षी आदि) अथवा योनियो मे उत्पन्न होता और नाश को प्राप्त होता है। जब तक कर्मों से छुटकारा नही होता तब तक जीव को विश्राम नही मिलता। कर्मों से मुक्ति पाकर ही वह मोक्ष के अनन्त सुख मे शाश्वत स्थिर हो सकता है। 'आत्मा', 'हिंदुक', 'जगत' आदि जीव के नाम इसी अर्थ के द्योतक है। अभयदेव सूरि ने लिखा है—

जीव कर्म-परमाणुओं का आत्म-प्रदेशों में संचय करता है। शरीर आदि की रचना इसी प्रकार होती है। इससे जीव पुद्गल है। यह व्याख्या सांसारिक जीव की अपेक्षा से है।

एक बार गौतम ने श्रमण भगवान महावीर से पूछा—"हे भगवन् ! जीव पुद्गली है या पुद्गल ?" भगवान ने उत्तर दिया—"हे गौतम ! श्रोत्रादि इन्द्रियों वाला होने से जीव पुद्गली है। जीव का दूसरा नाम पुद्गल होने से वह पुद्गल है। सिद्ध पुद्गली नहीं हैं क्योंकि उनके इन्द्रियादि नहीं होतीं, परन्तु जीव होने से वे पुद्गल तो हैं ही।"

संसारी प्राणी और सिद्ध जीव दोनों को यहाँ पुद्गल कहा गया है। इसका हेतु आगम में नहीं है। वह हेतु ऊपर बताये गये हेतु से भिन्न होना चाहिये—यह स्पष्ट है। जीव के लिये पुद्गल शब्द का प्रयोग बौद्ध पिटकों में भी मिलता है।

(१४) मानव (गा० १४) द्रव्य मात्र 'उत्पाद्-व्यय-ध्रौव्य' लक्षण वाले होते हैं। उत्पत्ति और विनाश केवल अवस्थाओं का होता है। एक अवस्था का नाश होता है दूसरी उत्पन्न होती है, परन्तु इस सृष्टि (उत्पाद) और प्रलय (व्यय) के बीच में भी द्रव्य स्वरूप आत्मा ज्यों-की-त्यों रहती है। उसके चेतन स्वभाव व असंख्यात प्रदेशीत्व का विनाश नहीं होता। इस तरह नाना पुनर्जन्म करते रहने पर भी आत्मा तो पुरानी ही रहती है। इसलिये इसका 'मानव' नाम रखा गया है। मानव = मा + नव। 'मा' का अर्थ है नहीं। 'नव' का अर्थ है नया। जीव नया न होकर अनादि है। वह 'पुराण' है—अनादि कहा जाता है इसलिये मानव है (मा निषेधे नव-प्रत्ययो मानव अनादित्वात् पुराण इत्यर्थः)।

का कर्त्ता है। इससे सिद्ध हुआ कि कर्म करना जीव का आत्म-धर्म नहीं है क्योंकि ऐसा होने से तो कर्म का बन्धन उसकी इच्छा पर निर्भर नहीं करता। यह भी कहना ठीक नहीं है कि जीव असंग है और केवल प्रकृतियाँ ही कर्म बन्ध करती हैं। ऐसा होता तो जीव का असली स्वरूप कभी का मालूम हुआ रहता। कर्म करने में ईश्वर की भी कोई प्रेरणा नहीं हो सकती क्योंकि ईश्वर सम्पूर्ण शुद्ध स्वभाव का होता है। उसमें इस प्रकार प्रेरणा का आरोपण करने से तो उसे ही सदोष ठहरा देना होगा। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आत्मा ही कर्मों का बन्ध करता है। जब जीव अपने चैतन्य स्वभाव में रमण करता है तो वह अपने शुद्ध स्वभाव का कर्त्ता होता है और जब विभाव भाव में रमण करता है तो कर्मों का कर्त्ता कहलाता है।'

जीव जब तक अपने असली स्वरूप के सम्बन्ध में भ्रान्ति रखता है तब तक उसके भाव कर्मों का बंध होता रहता है। जीव की निज स्वरूप में भ्रान्ति चेतना रूप है। जीव के इस चेतन परिणाम से जीव के योग स्वभाव की स्फूर्ति होती है और इस शक्ति के स्फुरित होने से जड़ रूप द्रव्य कर्म की वर्गणाओं का ग्रहण करता है।"

जीव अज्ञान वश राग द्वेष करता रहता है और उसके फलस्वरूप कर्म-परमाणु उसके आत्म प्रदेशों में प्रवेश कर उसके साथ बंध जाते हैं। इस प्रकार जीव कर्मों का कर्ता है। इसका तात्पर्य है कि वह अपने राग द्वेष का कर्त्ता है।

की इकाई (Unit)) में जीव अपने स्थान से लोक के अन्त तक जा सकता है। गमन करने की इस शक्ति के कारण जीव का नाम जगत् है। कहा भी है—"अतिशयगमनाज्जगत्।'

(१८) जन्तु (गा० ६९) "जननाज्जन्तु" संसारी जीव जन्म-जन्मान्तर करता रहता है, इससे उसका नाम जन्तु है। जीव ने ८४ लाख योनियों में जन्म-मरण किया है।

(१९) योनि (गा० ७०) "योनिरन्येषामुत्पादकत्वात्"—अन्यों का उत्पादक होने से जीव का नाम योनि है। स्वामीजी ने भी यही परिभाषा दी है—"पर नो उत्पादक इण न्याय।' जीव जीव का उत्पादक नहीं हो सकता क्योंकि जीव स्वयंभू होता है। वह घट, पट आदि पर वस्तुओं का उत्पादक होता है। इस अपेक्षा से जीव का उक्त नाम गया है।

६—पाँच भाव (२६-३६) :

यहाँ भाव का अर्थ है बँधे हुए कर्मों की अवस्था विशेष अथवा कर्म-बद्ध जीवों की अवस्था विशेष।

संसारी जीव कर्म-बद्ध अवस्था मे होते हैं। ये बँधे हुये कर्म हर समय फल नहीं देते। परिपाक अवस्था मे ही सुख-दु ख रूप फल देना आरम्भ करते हैं। फल देने की अवस्था मे आने को उदयावस्था या उदय भाव कहते हैं। जब बँधे हुये कर्म उदयावस्था में होते हैं, तब उस कर्म-बद्ध जीव की भी विशेष स्थिति होती है। जीव की इस स्थिति विशेष को औदयिक भाव कहते हैं।

इसी प्रकार बँधे हुये कर्मों का उपशान्त अवस्था मे होना उपशमावस्था अथवा उपशम भाव है। बँधे हुये कर्मों की उपशान्त अवस्था मे उत्पन्न जीव की स्थिति विशेष को औपशमिक भाव कहते हैं।

कर्मों का क्षयोपशम अवस्था में होना क्षयोपशम अवस्था या क्षयोपशम भाव है। कर्मों की क्षयोपशम अवस्था में उत्पन्न जीव की स्थिति विशेष को क्षायोपशमिक भाव कहते हैं।

अवधि—आयु को निर्धारित करता है, (६) नाम—जो प्राणी की गति, शरीर, परि-स्थिति आदि का नियामक होता है, (७) गोत्र—जो मनुष्य के ऊँच-नीच कुल को निर्धारित करता है और (८) अन्तराय—जो दान, लाभ, भोग-उपभोग व पराक्रम इन चार बातों में रुकावट डालता है।

उदय आठ ही कर्मों का होता है। कर्मों के उदय से जीव को चार गति, छः काय, छः लेश्या, चार कषाय, तीन वेद, समदृष्टि, सममिथ्यादृष्टि, अविरति, असज्ञी, अज्ञानी, आहारकता, छद्मस्थता, सयोगी, संसारता, असिद्ध—ये भाव उत्पन्न होते हैं।

उपशम केवल मोहनीय कर्म का ही होता है। इससे उपशम सम्यक्त्व और उपशम चारित्र प्राप्त होते हैं।

क्षय आठ कर्मों का होता है। कर्मों के क्षय से जीव को केवल ज्ञान, केवल दर्शन, आत्मिक सुख, क्षायक सम्यक्त्व, क्षायक चारित्र, अटल अवगाहना, अमूर्तित्व, अगुरुलघुत्व, दान लब्धि, लाभ लब्धि, भोग लब्धि, उपभोग लब्धि वीर्य लब्धि की प्राप्ति होती है।

क्षयोपशम चार कर्मों का होता है—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय। इन कर्मों के क्षयोपशम से जीव में क्रमशः निम्नलिखित बातें उत्पन्न होती हैं केवल ज्ञान को छोड़कर चार ज्ञान, तीन अज्ञान और स्वाध्याय। पाँच इन्द्रिय और केवल दर्शन को छोड़कर तीन दर्शन। चार चारित्र, देश व्रत और तीन दृष्टि। पाँच लब्धि और तीन वीर्य।

सर्व कर्म पारिणामिक हैं। कर्मों के परिणमन से जीव में अनेक परिणाम होते हैं, यह गति परिणामी, इन्द्रिय परिणामी, कषाय परिणामी, लेश्या परिणामी, योग परिणामी, उपयोग परिणामी, ज्ञान परिणामी, दर्शन परिणामी, चारित्र परिणामी तथा वेद परिणामी होता है।

१०—द्रव्य जीव का स्वरूप (गाथा ३७-४२) :

पहली और दूसरी गाथा से यह स्पष्ट है कि जीव के दो भेद होते हैं—(१) द्रव्य जीव और (२) भाव जीव। प्रथम गाथा मे द्रव्य जीव के स्वरूप का सामान्य उल्लेख है। टिप्पणी ६ (पृ० २७) मे इस सम्बन्ध मे कुछ प्रकाश है। यहाँ उसके स्वरूप का विस्तृत विवेचन किया जा रहा है। द्रव्य जीव के विषय मे आगम में निम्न बातें कही गई हैं

(१) जीव द्रव्य चेतन पदार्थ है। एक बार गौतम ने महावीर से पूछा—"भगवन्! क्या जीव चैतन्य है?" महावीर ने उत्तर दिया "जीव नियम से चैतन्य है और जो चैतन्य है वह भी नियम से जीव है[1]।" इससे स्पष्ट है कि जीव और चैतन्य का परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है। जीव उपयोग युक्त पदार्थ कहा गया है। 'गुणओ उवओग गुणो[2]' 'उवओगलक्खणेण जीवे[3]'। उपयोग का अर्थ है ज्ञान—जानने की शक्ति और दर्शन—देखने की शक्ति। उपयोग जीव का गुण या लक्षण है। कहा है—"जीव-ज्ञान, दर्शन तथा सुख-दुःख की भावना से जाना जाता है[4]।"

(२) जीव द्रव्य अरूपी है। वह भावत अवर्ण, अगन्ध, अरस, अस्पर्श पदार्थ है[5]। उसमें वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श नहीं होते और इसी कारण वह अमूर्त—इन्द्रियागोचर होता है।

(३) जीव द्रव्य शाश्वत है। ठाणांग (५.३.५३०) में कहा है "कालओ ण कयाइ णासी न कयाइ न भवइ न कयाइ न भविस्सइत्ति भुविं भवइ य भविस्सइ य धुवे णितिए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे"[1]। जीव पहले भी था, अब भी है और आगे भी रहेगा[2]। वह ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षय, अव्यय, स्थित और नित्य है। वह तीनों कालों में जीव रूप में विद्यमान रहता है। जीव कभी अजीव नहीं होता[3]। यही उसकी शाश्वतता है। गीता में कहा है—"अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे (२.२०)"—यह जीवात्मा अज है, नित्य है, शाश्वत है, पुरातन है, शरीर के नाश होने पर भी इसका नाश नहीं होता। गीता का निम्न श्लोक भी यही बात कहता है

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपा।
न चैव न भविष्याम सर्वे वयमत परम्॥

समूह है। वस्तु में संलग्न अपृथक्त्य सूक्ष्मतम अंश को प्रदेश कहते हैं। परमाणु पुद्गल से अलग हो सकते हैं पर प्रदेश जीव से कभी अलग नहीं हो सकते। एक परमाणु जितने स्थान को रोकता है उसे प्रदेश कहते हैं। इस माप से जीव के असंख्यात प्रदेश हैं। पुद्गल अवयव रूप तथा अवयव-प्रचय रूप होता है जबकि जीव एक प्रदेश रूप अथवा एक अवयव रूप नहीं हो सकता। वह हमेशा प्रदेशप्रचय रूप में—प्रदेशों के अखंड समूह के रूप में रहता है। (देखिए टिप्पणी ६ पृ० २८ पेरा ४ तथा टि० ७ पृ० २९ अन्तिम पेरा)

(६) वह अच्छेद्य, अभेद्य आदि तथा अखंड द्रव्य है। अस्तिकाय होने से जीव सहज ही इन गुणों से विभूषित होता है। स्वामीजी ने जो यहाँ वर्णन किया है उसका गीता के निम्न श्लोकों से बड़ा साम्य है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत ॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्य सर्वगत स्थाणुरचलोऽयं सनातन ॥
२ २३-२४

(७) जीव द्रव्य कभी विलय को प्राप्त नही होता। यह एक सिद्धांत है कि अस्तित्व अस्तित्व मे परिणमन करता है और नास्तित्व नास्तित्व मे[1]। द्रव्यत अस्तित्ववान जीव भविष्य मे नास्तित्व मे परिणमन नही कर सकता। गीता मे कहा है—"जो असत् है उसका भाव (=अस्तित्व) नही होता, जो सत् है उसका अभाव (=अनस्तित्व) नही होता—तत्त्वदर्शियो ने इन दोनो बातो को अन्तिम सिरे तक जान लिया है[2]।"

(८) जीव द्रव्य संख्या मे अनन्त है[3]। एक बार गौतम ने पूछा—"जीव द्रव्य संख्यात है, असंख्यात है या अनन्त?" भगवान ने उत्तर दिया—"हे गौतम! जीव अनन्त है[4]।" इसी प्रकार भगवान से एक बार पूछा गया—"लोक मे अनन्त क्या है?" भगवान ने उत्तर दिया—"जीव और अजीव[5]।" जीवो की संख्या मे कभी कमी-बेशी नही होती। एक बार गौतम ने पूछा—"हे भगवन्! क्या जीव घटते बढ़ते है

(१०) यह लोक-द्रव्य है "लोग दव्वे", "खेत्तओ लोकपमाणमेत्ते[1]।" क्षेत्र की दृष्टि से जीव लोक परिमित है। लोक के बाहर जीव द्रव्य नहीं होता। "जहाँ तक लोक है वहाँ तक जीव हैं। जहाँ तक जीव हैं वहाँ तक लोक है[2]।"

१७—द्रव्य के लक्षण, गुणादि भाव जीव है (गाथा ४३-४४) :

गाथा २५ में कहा गया है—"भाव ते लखण गुण परज्याय, ते तो भावे जीव छै ताय।" यहाँ इसी बात को पुनः दुहराया गया है। इसका भाव टिप्पणी ८ (पृ० ३६-७) में स्पष्ट किया जा चुका है। यहाँ लक्षण, गुण और पर्याय को भाव जीव कहने के साथ-साथ औदयिक आदि पाँच भावों को भी भाव जीव कहा है। जीव के भाव, लक्षण, गुण और पर्याय अच्छे भी हो सकते हैं और बुरे भी हो सकते हैं। अच्छे हो या बुरे, सब भाव जीव हैं। पाँच भावों में से क्षायिक भाव को छोड़कर अवशेष चार भाव स्थिर नहीं रहते। कर्मों के क्षय से निष्पन्न होने से क्षायिक भाव स्थिर होते हैं।

१३—आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष भाव जीव हैं (गाथा ४८-५६) :

नव पदार्थों में जीव और अजीव के उपरांत अवशेष पदार्थ जीव हैं अथवा अजीव—यह एक प्रश्न है। स्वामी जी ने इसका उत्तर इस प्रकार दिया है : अजीव अजीव है क्योंकि वह तीनों कालों में अजीव ही रहता है। पुण्य अजीव है कारण पुण्य कर्म पुद्गल की पर्याय हैं। पुद्गल अजीव है अतः पुण्य अजीव है। इसी कारण पाप भी अजीव है। बंध पदार्थ भी अजीव है क्योंकि वह शुभ अशुभ कर्मों के बंध स्वरूप है। बाकी आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष जीव के भाव हैं अतः जीव हैं[1]। यहाँ इसी प्रश्न का विस्तार के साथ विवेचन है। जीव कर्मों का कर्त्ता है इस कारण वह आस्रव है। जीव कर्मों को रोकने वाला है इसलिये वह संवर है। जीव कर्मों को तोड़ने वाला है इस कारण निर्जरा है। जीव कर्मों का सम्पूर्ण क्षय कर मुक्त होने वाला है अतः मोक्ष है।

आस्रव से कर्म आते हैं। कर्म अजीव हैं। कर्म ग्रहण करने वाला

क्रिया करता है वह अविनयी है। सावद्य और निरवद्य क्रिया करने वाले दोनों ही भाव जीव हैं।

१५—आध्यात्मिक और लौकिक वीर भाव जीव है (गाथा ५९-६०):

वीर दो तरह के होते हैं—एक सांसारिक वीर और दूसरे आध्यात्मिक वीर। जो कर्म-रिपुओं से युद्ध करने में अपनी शक्ति को लगाते हैं वे आध्यात्मिक वीर हैं। जो सांसारिक रिपुओं से ही युद्ध करते हैं वे आध्यात्मिक वीर नहीं केवल सांसारिक वीर हैं। दोनों ही भाव जीव हैं। आध्यात्मिक वीर मोक्ष को प्राप्त करता है, सांसारिक वीर अपने संसार की वृद्धि करता है।

: २ :

अजीव पदार्थ

दोहा

१—अजीव पदार्थ की पहचान के लिये उसके भावभेद संक्षेप में प्रगट करता हूँ, ध्यानपूर्वक सुनना।

अजीव पदार्थ के विवेचन की प्रतिज्ञा

ढाल : २

१—जीव के उपरान्त धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल इन पांच द्रव्यों को और जानो। ये पांचों ही द्रव्य अजीव हैं। बुद्धिमान इनकी पहचान करें।

पांच अजीव द्रव्य के नाम

२—इनमें से प्रथम चार द्रव्यों को भगवान ने अरूपी कहा है। इनमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श नहीं हैं, केवल पुद्गल द्रव्य को रूपी कहा है, उसमें वर्णादि चारों मिलते हैं।

प्रथम चार अरूपी, पुद्गल रूपी

६—आकास द्रव्य आकास्तीकाय छै, आ पिण छती वसत छे ताय जी।
अनत प्रदेस छै तेहना, तिणस काय कही जिण राय जी॥

७—धर्मास्ती अधर्मास्ती काय तो, पेहली छै लोक प्रमाण जी।
लोक अलोक प्रमाण आकास्ती, लाम्बी ने पेहली जाण जी॥

८—धर्मास्ती ने अधर्मास्ती, वले तीजी आकास्तीकाय जी।
अे तीनू कही जिण सासती, तीनूंइ काल रे माय जी॥

९—अे तीनूंई द्रव्य छै जू जूआ, जूआ जूआ गुण परजाय जी।
त्यां रो गुण परज्याय पल्टे नही, सासता तीन काल रे माय जी॥

१०—ए तीनूंई द्रव्य थेरी रह्या, ते तो हाले चाले नहीं ताय जी।
हाले चाले ते पुदगल जीव छै, ते फिरे छै लोक रे माय जी॥

११—जीव ने पुदगल चाले तेहने, साज धर्मास्तीकाय जी।
हालवा चाले त्याने साज छै, तिण गुण अनन्ती कही पज्जाय जी॥

६—आकाश द्रव्य आकाशास्तिकाय है। यह भी सत (अस्तित्व वाली) वस्तु है और इसके अनन्त प्रदेश हैं इसलिये जिन भगवान ने आकाश द्रव्य को अस्तिकाय कहा है[5]।

७—धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय लोक-प्रमाण पहुली हैं। आकाशास्तिकाय लोकालोक प्रमाण लम्बी और पहुली है[6]।

धर्म, अधर्म, आकाश का क्षेत्र प्रमाण

८—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय इन तीनों ही को भगवान ने शाश्वत कहा है। इनका अस्तित्व तीनों काल में रहता है।

तीनों शाश्वत द्रव्य

९—ये तीनों ही द्रव्य अलग-अलग हैं। तीनों के गुण और पर्याय भिन्न-भिन्न हैं। इनके गुण और पर्याय परस्पर में अपरिवर्तनशील हैं (एक के गुण पर्याय दूसरे के नहीं होते)। ये तीनों काल में शाश्वत रहते हैं।

तीनों के गुण पर्याय अपरिवर्तनशील

१४—चालवाने साज धर्मास्ती, थिर रहवाने अधर्मास्तीकाय जी।
आकास विकास भाजन गुण, सर्व द्रव्य रहै तिण माय जी॥

१५—धर्मास्ती रा तीन भेद छै, खंध ने देस परदेस जी।
आखो धर्मास्ती खंध छै, ते ऊणो नहीं लवलेस जी॥

१६—एक प्रदेस थी आदि दे, एक प्रदेस ऊणो खंध न होय जी।
त्यां लग देस प्रदेस छै, तिणने खंध म जाणजो कोय जी।

१७—धर्मास्तीकाय तो सेंठाले पड़ी, तावड़ छांहीं ज्यूं एक धार जी।
किणरे बेटो ने बीटो कोई नहीं, वधे नहीं छै की सार विगार जी॥

१८—पुद्गलास्ती सु प्रदेस न्यारो पड्यो, तिणने परमाणु कह्यो जिणराय जी।
तिण जतन परमाणु थकी, तिण स मापी छै धर्मास्तीकाय जी॥

१४—धर्मास्तिकाय चलने में सहायक है, अधर्मास्तिकाय स्थिर रहने में तथा आकाशास्तिकाय का स्वभाव (गुण) द्रव्यों को स्थान देना है—सर्व द्रव्य इसीमें रहते हैं[९]।

तीनों के लक्षण

१५—धर्मास्तिकाय के तीन भेद हैं—(१) स्कन्ध, (२) स्कन्ध देश और (३) स्कन्ध-प्रदेश। जरा भी अन्यून—समूची धर्मास्तिकाय को स्कन्ध कहते हैं।

धर्मास्तिकाय के स्कंध, देश, प्रदेश (गा० १५-१६)

१६—एक प्रदेश से आदि कर (लगा कर) एक प्रदेश कम तक स्कन्ध नहीं, पर देश और प्रदेश होते हैं। प्रदेश मात्र भी न्यून को कोई स्कंध न समझे[१०]।

१७—धर्मास्तिकाय धूप और छांह की तरह संलग्न रूप से फैली हुई है। न तो इसके चातुर्दिक कोई घेरा है और न कोई संधि (जोड़) है[११]।

धर्मा[illegible]

२२—गये काल अनंता समा हूआ, वरतमान समो एक जाण जी।
आगमीये काले अनंता हुसी, ए काल द्रव्य पिछाण जी॥

२३—काल द्रव्य नीपजवा आसरी, सासतो कह्यो जिणराय जी।
उपजे ने विणसे तिण आसरी, असासतो कह्यो इण न्याय जी॥

२४—तिण सूं काल दरव नहि सासता, ए तो उपजे छै जेम प्रवाह जी।
जे उपजे ते समो विणसे सही, तिणरो कदेय न आवे छै थाह जी॥

२५—सूरज ने चन्द्रमादिक नी चाल थी, समो नीपजे दगचाल जी।
नीपजवा लेखे तो काल सासतो, समयादिक सर्व अधाकाल जी॥

२२—गत काल में अनन्त समय हुए हैं, वर्तमान काल में एक समय है और आगामी काल में अनन्त समय होंगे। यह काल द्रव्य है। इसको पहचानो[१४]।

काल शाश्वत-अशाश्वत का न्याय (गा० २५-२६)

२३—भगवान ने काल द्रव्य को निरन्तर उत्पन्न होने की अपेक्षा से शाश्वत कहा है। यह उत्पन्न होता और विनाश को प्राप्त होता है इस दृष्टि से इसको अशाश्वत कहा है।

२४—काल द्रव्य शाश्वत नहीं है। ये प्रवाह की तरह निरन्तर उत्पन्न होते हैं। जो समय उत्पन्न होता है वह विनाश को प्राप्त होता है। प्रवाह रूप से काल का कभी अन्त नहीं आता।

१४—सूर्य और चन्द्रमादि की चाल से समय निरन्तर जल-प्रवाह की तरह उत्पन्न होता रहता है। इस उत्पत्ति की दृष्टि से काल शाश्वत है। समयादि सर्व अद्धा काल की यही बात है।

१५—एक समय उत्पन्न होकर विनाश को प्राप्त होता है कि दूसरा समय उत्पन्न हो जाता है, दूसरे का विनाश होता है कि तीसरा उत्पन्न हो जाता है। इस तरह समय एक के पीछे एक—अनुक्रम से उत्पन्न होते जाते हैं।

३८—इण विध गयो काल नीकल्यो, इम हीज आगमीयो काल जी।
वरतमान समो पूछै तिण समे, एक समो छै अनाकाल जी॥

३९—ते समो वरते छे अढी दीप मे, तिरछो एती दूर जाण जी।
ऊचो वरते जोजन चक्र लगे, नवसो जोजन परमाण जी॥

४०—नीचो वरते सहस जोजन लगे, माविदेह री दो विजय रे माय जी।
त्यामे वरते अनना द्रव्या ऊपरे, तिणसू अनती कही छै परजाय जी॥

४१—[illegible] एक द्रव्य रे ऊपरे, एक एक समो गिण्यो ताम जी।
[illegible] समा ने अनना कह्या, काल तणी परजाय रे न्याय जी॥

४२—[illegible] ने [illegible], वरतमान समो सदा एक जी।
[illegible] ने अनना [illegible], तिणने ओलखो आण [illegible] जी॥

३८—इस तरह अतीत काल व्यतीत हुआ है। आगामी काल भी इसी तरह व्यतीत होगा। वर्तमान समय में, जब कि पूछा जा रहा हो, एक समय अद्धाकाल है[२०]।

काल के भेद : तीनों काल में एक से

३९—यह समय तिरछा ढाई द्वीप में वर्तन करता है। ऊँचा ज्योतिष चक्र तक नौ सौ योजन प्रमाण वर्तन करता है।

काल-क्षेत्र (गा० ३९-४०)

४०—नीचे सहस्र योजन तक महाविदेह की दो विजय में वर्तन करता है[२१]। इन सब में काल अनन्त द्रव्यों पर वर्तन करता है इससे काल की अनन्त पर्याय कही गयी है।

काल पर्याय अनन्त (गा० ४०-४२)

४१—एक ही समय को अनन्त द्रव्यों पर गिनने से काल की अनन्त पर्याय कही गयी है। काल की पर्याय की दृष्टि से एक समय को अनन्त समय कहा है।

४२—[illegible] समझना है। वर्तमान समय सदा एक है। इस एक को ही अनन्त कहा है, यह विचार पूर्वक समझो।

४६—तिगरा च्यार भेद जिणवर कह्या, खन्ध ने देस पदेस जी।
चोथो भेद न्यारो परमाणूओ तिणरो छै ओहीज विमास जी॥

४७—खंध रे लागो त्यां लग परदेस छै, ते छुटै ने एकलो होय जी।
तिणने कहीजे परमाणूओ, तिण मे फेर पड्यो नहीं कोय जी॥

४८—परमाणु ने प्रदेस तुल छ, तिणरी संका मूल म आण जी।
आ[illegible] रे असंख्यात मे भाग छै तिणने ओलखो चतुर सुजाण जी॥

५४—जे जे वस्तु नीपजे पुदगल तणी, ते ते सगली विललाय जी।
त्याने भावे पुदगल जिणवर कह्या, द्रव्य तो ज्यूं रा ज्यूं रहै ताय जी॥

५५—आठ कर्म ने शरीर असासता, अे नीपना हूआ छै ताय जी।
तिण सूं भाव पुदगल कह्या तेहने, द्रव्य तो नीपजायो नहीं जाय जी॥

५६—छाया तावडो प्रभा कांत छै, ए सगला सभाव पुदगल जाण जी।
[illegible] अतापो ने उद्योत छै, ए पुदगल भाव पिछाण जी॥

४४—पुद्गल से जो वस्तुएं बनती हैं वे सभी विनाश को प्राप्त हो जाती हैं। इनको भगवान ने भाव पुद्गल कहा है। द्रव्य पुद्गल तो ज्यों-के त्यों रहते हैं[30]।

भाव पुद्गल विनाश शील

४५—आठ कर्म और पांचों शरीर पुद्गल से उत्पन्न हैं और अशाश्वत हैं। इसीलिए भगवान ने इनको भाव पुद्गल कहा है। द्रव्य पुद्गल उत्पन्न नहीं किया जा सकता।

भाव पुद्गल के उदाहरण

४६—छाया, धूप, प्रकाश, कांति इन सब को पुद्गल के लक्षण जानो। इसी प्रकार अंधकार और उद्योत ये भी भाव पुद्गल हैं।

४७—लम्बापन, गोलापन, खुरदरापन और चिकनापन आदि तथा गोलादि पांच आकार तथा घट पटादि सब चीजें भाव पुद्गल हैं।

४८—घृत, गुड़, खांड, मिश्री, मिठाइयां तथा सब तरह के भोजन तथा नाना प्रकार के शस्त्र इन सब को भाव पुद्गल समझो।

६२—पुद्गल ने कह्यो सासतो असासतो, द्रव्य ने भाव रे न्याय नी।
कह्यो छै उत्तराधेन छत्तीस मे, तिण में सका म आणजो काय नी।

६३—अजीव द्रव्य ओलखायवा, जोड कीनी श्री दुवारा मझार नी।
सवत अठारे पचावने, वैसाख विद पांचम बुधवार नी॥

१२—उत्तराध्ययन सूत्र के ३६ वें अध्याय में पुद्गल को शाश्वत और अशाश्वत कहा है, यह इन्हीं द्रव्य और भाव पुद्गल की भेद-अपेक्षा से—इसमें जरा भी शंका मत लाना[२२]।

१३—अजीव द्रव्य का बोध कराने के लिए यह ढाल श्रीनाथद्वारा में सं० १८५५ की बैशाख बदी पञ्चमी बुधवार के दिन रची है।

होगी, यह स्वाभाविक है। धर्म, अधर्म और आकाश तीनो काल में अपने गुण और पर्यायों सहित विद्यमान रहते हैं। इनके गुण और पर्याय भिन्न-भिन्न तो हैं ही, साथ ही साथ किसी भी काल में एक के गुण पर्याय दूसरे के नही होते।

आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—"धर्म, अधर्म और लोकाकाश अपृथग्भूत (एक क्षेत्रावगाही) और समान परिणाम वाले होते हैं पर निश्चय से तीनो द्रव्यो की पृथक् उपलब्धि है। इन तीनो में एकता अनेकता है। ये तीनो द्रव्य एक क्षेत्र में रहते हैं और एक दूसरे में ओतप्रोत होकर रहते हैं अत एक क्षेत्रावगाही होने से पृथक् नही हैं फिर भी तीनो के स्वभाव और कार्य भिन्न-भिन्न हैं और हरएक अपनी अपनी-सत्ता में मौजूद है। एक क्षेत्रावगाह की दृष्टि से अपृथक्त्व होते हुए भी गुण—स्वभाव और पर्याय की दृष्टि से भिन्नता को लिए हुए है[1]।"

जो बात धर्म, अधर्म और आकाश के बारे में यहाँ कही गई है वही बाकी द्रव्यो के विषय में घटती है अर्थात् सभी द्रव्य शाश्वत स्वतन्त्र हैं।

८—धर्म, अधर्म, आकाश विस्तीर्ण निष्क्रिय द्रव्य है (गा० १०):

इस गाथा में धर्म, अधर्म और आकाश इन द्रव्यो के बारे मे तीन बातें कही गई हैं

(१) ये तीनो द्रव्य फैले हुए हैं,

(२) तीनो निष्क्रिय हैं, और

(३) पुद्गल और जीव द्रव्य ही सक्रिय हैं। इनके हलन-चलन क्रिया करने का क्षेत्र लोक है।

इनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है

(१) यह पहले बताया जा चुका है कि धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य लोक प्रमाण हैं। लोक इनसे व्याप्त है[2] और ये लोक मे फैले हुए हैं—लोकावगाढ—लोक-व्यापी हैं।

१—पञ्चास्तिकाय १ ९६

धम्माधम्मागासा अपुधब्भूदा समाणपरिमाणा ।
पुधगुवलद्धिविसेसा करंति एगत्तमण्णत्तं ॥

२—ठाणाङ्ग ४ . ३ . ३

[illegible] पं० न:—धम्मत्थिकाएणं अधम्मत्थिकाएणं [illegible] [illegible]

पुद्गल का यह नियम नही है। वह परसहाय से सदा क्रियावान् रहता है[1]।

(३) जीव और पुद्गल की हलन-चलन क्रिया का क्षेत्र लोक परिमित है। कहा है "जितने में जीव और पुद्गल गति कर सकते हैं उतना लोक है। जितना लोक है उतने में जीव और पुद्गल गति कर सकते हैं[2]।"

जीव और पुद्गलो की गति लोक के बाहर नहीं हो सकती—इसके चार कारण बताये गये हैं (१) गति का अभाव, (२) सहायक का अभाव—(३) रूक्ष होने से और (४) लोक स्वभाव के कारण[3]।

एक बार गौतम ने पूछा "भन्ते! क्या महान् ऋद्धिवाला देव लोकांत में खड़ा रह अलोक में अपने हाथ आदि के सकोचन न करने अथवा पसारने मे समर्थ है?" महावीर ने जवाब दिया "नही गौतम! जीवो के आहारोपचित, शरीरोपचित और कलेवरोपचित पुद्गल होते हैं तथा पुद्गलो को आश्रित कर ही जीव और अजीवो (पुद्गलो) के गति पर्याय होती है। अलोक मे जीव नही हैं, पुद्गल भी नहीं है इस हेतु से देव वैसा करने में असमर्थ है[4]।"

६—धर्म, अधर्म और आकाश के लक्षण और पर्याय (गा० ११-१४)

धर्मास्तिकाय का स्वभाव—जीव और पुद्गल द्रव्यो के गमन मे सहायक होना है[5]। जीव और पुद्गल ही गमन-क्रिया करते हैं—धर्म-द्रव्य उनमे यह क्रिया नहीं करता फिर भी धर्म-द्रव्य के अभाव मे जीव और पुद्गल द्रव्य की गमन-क्रियाएँ नही हो सकती। धर्म द्रव्य स्वय निष्क्रिय है। वह दूसरों को भी गति-प्रेरणा नहीं देता। परन्तु जीव और पुद्गल की गमन-क्रिया में उदासीन सहायक होता है। जिस तरह जल मछलियो को तैरने की प्रेरणा नहीं करता परन्तु तिरती हुई मछलियो का सहारा अवश्य होता है, उसी तरह धर्म

१—पञ्चास्तिकाय १ ९८ की बालावबोध टीका

२—ठाणाग १० ७०४ :

आकाश द्रव्य का स्वभाव जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल को स्थान देना—अवकाश देना है[1]। आकाश जीवादि समस्त द्रव्यो का भाजन—रहने का स्थान है। ये द्रव्य आकाश के प्रदेशो को दूर कर नही रहते परन्तु आकाश के प्रदेशो मे अनुप्रवेश कर रहते हैं। इसलिये आकाश का गुण अवगाह कहा गया है। आकाश अपने में अनन्त जीव और पुद्गलादि शेष द्रव्यो को उसी तरह स्थान देता है जिस तरह जल नमक को स्थान देता है। फर्क केवल इतना ही है कि जल केवल खास सीमा (Saturation point) तक ही नमक को समाता है परन्तु आकाश के समाने की सीमा नहीं है। जिस तरह नमक जल को हटा कर उसका स्थान नही लेता परन्तु जल के प्रदेशो में प्रवेश करता है ठीक उसी तरह जीवादि पदार्थ आकाश को दूर हटा कर उसका स्थान नही लेते परन्तु उसमें अनुप्रवेश कर रहते हैं।

धर्म, अधर्म और आकाश के अवगाढ गुण पर प्रकाश डालने वाला एक सुन्दर वार्तालाप इस प्रकार है "एक बार गौतम ने पूछा 'इस धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय में कोई पुरुष बैठने, खडा होने अथवा लेटने मे समर्थ है?' महावीर ने उत्तर दिया 'नहीं गौतम! यह अर्थ समर्थ नही। पर उस स्थान में अनन्त जीव अवगाढ हैं। जिस प्रकार कोई कूटागारशाला के द्वार बन्द कर, उसमे एक यावत हजार दीप जलावे, तो उन दीपो के प्रकाश परस्पर मिलकर, स्पर्श कर यावत् एक रूप होकर रहते हैं पर उनमे कोई खाने बैठने में समर्थ नही होता हालांकि अनन्त जीव वहां अवगाढ होते हैं। उसी तरह धर्मास्तिकाय आदि मे कोई पुरुष बैठने आदि मे समर्थ नहीं हालांकि वहां अनन्त जीव अवगाढ होते हैं[2]'।"

जिस तरह धर्मास्तिकाय द्रव्य के स्कन्ध, देश और प्रदेश ये तीन विभाग होते हैं उसी तरह अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय के भी तीन-तीन भाग होते हैं। काल द्रव्य के ऐसा विभाग नहीं होता। वह एक अद्धासमय रूप होता है—यह हम आगे जाकर देखेंगे। इसी विवक्षा से आगमों में अरूपी अजीवों के दस भाग बतलाये हैं[१]।

पुद्गलास्तिकाय का एक भेद परमाणु के नाम से अधिक कहा गया है। इस तरह उसके स्कंध, देश, प्रदेश और परमाणु ये चार भाग होते हैं। इस सम्बन्ध में अधिक विवेचन आगे चल कर आने वाला है।

यहाँ जो कहा गया है कि समूची अस्तिकाय ही अस्तिकाय होती है उसका एक अंश नहीं, इस विषय का एक सुन्दर वार्तालाप हम यहाँ देते हैं

"हे भदन्त! धर्मास्तिकाय का एक प्रदेश धर्मास्तिकाय है ऐसा कहा जा सकता है?"

"हे गौतम! यह अर्थ संगत नहीं। इसी तरह दो, तीन, चार, पाँच, छ, सात, आठ, नव, दस, संख्येय और असंख्येय प्रदेश भी धर्मास्तिकाय नहीं कहे जा सकते।"

"हे भदन्त! धर्मास्तिकाय के प्रदेश धर्मास्तिकाय हैं क्या ऐसा कहा जा सकता है?"

"हे गौतम! यह अर्थ संगत नहीं।"

"हे भदन्त! एक प्रदेश न्यून धर्मास्तिकाय धर्मास्तिकाय है, ऐसा कहा जा सकता है?"

"हे गौतम! यह अर्थ संगत नहीं।"

"हे भगवन्! ऐसा किस हेतु से कहते हैं?"

"हे गौतम! चक्र का खण्ड चक्र होता है या सकल चक्र चक्र?"

"हे भगवन्! सकल चक्र चक्र होता है, चक्र का खण्ड चक्र नहीं होता।"

"हे गौतम! जिस तरह पूरा चक्र, छत्र, चर्म, दण्ड, वस्त्र, आयुध, मोदक—चक्र, छत्र, चर्म, दण्ड, वस्त्र, आयुध, मोदक होता है, उनका अंश चक्र, छत्र आदि नहीं उसी हेतु से गौतम! ऐसा कहता हूँ कि धर्मास्तिकाय का एक प्रदेश धर्मास्तिकाय है ऐसा नहीं कहा जा सकता, धर्मास्तिकाय के प्रदेश धर्मास्तिकाय हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता, एक प्रदेश न्यून धर्मास्तिकाय धर्मास्तिकाय है, ऐसा नहीं कहा जा सकता[२]।"

१—(क) उत्त० ३६.५-६

धम्मत्थिकाए तद्देसे तप्पएसे य आहिए।
अहम्मे तस्स देसे य तप्पएसे य आहिए॥
आगासे तस्स देसे य तप्पएसे य आहिए।
अद्धासमए चेव अरूवी दसहा भवे॥

(ख) [illegible] सू० [illegible]

२—भगवती [illegible]

"हे भगवन् ! फिर किसे यह धर्मास्तिकाय है ऐसा कहा जा सकता है ?"

"हे गौतम ! धर्मास्तिकाय के असंख्येय प्रदेश है। वे सब जब कृत्स्न, प्रतिपूर्ण, निःशेष, एकग्रहणगृहीत होते है तब वे धर्मास्तिकाय कहलाते है।"

"हे गौतम ! अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय के सम्बन्ध में भी ऐसा ही वक्तव्य है। अन्तिम तीन के अनन्त प्रदेश[1] जानो। इतना ही अन्तर है, शेष पूर्ववत्[2]।"

११—धर्मास्तिकाय विस्तृत द्रव्य है (गा० १७) :

गा० १० मे कहा गया है—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय लोक में और आकाशास्तिकाय लोकालोक में फैली हुई हैं। यह बताया जा चुका है कि वे किस तरह पृथुल—विस्तीर्ण हैं (पृ०८२ टि० ८ (१))। इस गाथा मे इसी बात को पुन मौलिक उदाहरणो द्वारा समझाया गया है। कही पर पडे हुए धूप या छाया पर हम दृष्टि डालें तो देखेंगे कि वे विस्तीर्ण हैं—भूमि पर सलग्न रूप से छाये हुए हैं। विस्तीर्ण धूप या छाया मे बीच मे कही जोड नही मालूम देगी, न किसी तरह का घेरा दिखाई देगा। धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यो का स्वरूप भी ऐसा ही समझना चाहिए।

जीव द्रव्य के स्वरूप वर्णन मे जीव को शरीर-व्याप्त बताया गया है (पृ० ३६ (७३))। जिस तरह धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि लोक-प्रमाण और आकाशास्तिकाय लोकालोक-प्रमाण है उसी प्रकार जीवास्तिकाय शरीर-प्रमाण है। कह सकते हैं कि आत्मा शरीर मे धूप और छाया की तरह ही विस्तीर्ण और सलग्न रूप से व्याप्त पदार्थ है।

इस अपेक्षा से पुद्गल और काल के स्वरूप पृथक् हैं। उनका विवेचन बाद मे किया जायगा।

१२—धर्मास्तिकाय आदि के माप का आधार परमाणु है (गा० १८)

हमने टिप्पणी १० (पृ० ८० अनु० ७) मे कहा है कि पुद्गल का चौथा भेद परमाणु होता है। प्रदेश अविभक्त सलग्न सूक्ष्मतम अंश होता है। परमाणु पुद्गल का वह सूक्ष्मतम अंश है जो

१—जीव के प्रदेश इसी भगवती तथा अन्य आगमों में असंख्येय ही कहे गये हैं। श्वे० दिग० सभी आचार्य ऐसा ही मानते हैं। यहाँ जीव की भी प्रदेश-संख्या अनन्त किस विवक्षा से कही है—समझ में नहीं आता।

२—भगवती २।१०

उससे बिछुड कर अकेला—जुदा हो गया हो। पुद्गल का विभक्त सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अंतिम अविभाज्य खण्ड परमाणु है। सुतीक्ष्ण शस्त्र से भी जिसका छेदन-भेदन नहीं किया जा सकता वह परमाणु है। इसे सिद्धो—केवलियो ने सर्व प्रमाण का आदि भूत प्रमाण कहा है[1]। यह सूक्ष्मतम परमाणु ही धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यो के माप का आधार है और उसीसे उनके प्रदेशो की सख्या का परिमाण निकाला गया है।

१३—धर्मादि की प्रदेश-संख्या (गा० १६-२०) :

प्रदेश की परिभाषा इस रूप मे मिलती है—"जितना आकाश अविभागी पुद्गल परमाणु से रोका जाय उसे ही समस्त परमाणुओ को स्थान देने में समर्थ प्रदेश जानो[2]।"

धर्मादि द्रव्यो की प्रदेश-सख्या क्रमश असख्यात आदि कही गई है। वह इसी आधार पर कि वह द्रव्य आकाश के उपर्युक्त कितने प्रदेशो को रोकता है।

दूसरे शब्दो में परमाणु के बराबर आकाश स्थान को प्रदेश कहा जाता है। आकाश के प्रदेश परमाणुओ के माप से अनन्त हैं। इसी तरह धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य के प्रदेश परमाणु के माप से असख्यात—सख्या-रहित हैं। इस तरह प्रदेशो की उत्पत्ति परमाणु से होती है क्योंकि अविभागी पुद्गल परमाणु केवल प्रदेश मात्र होता है। वह आकाश का सूक्ष्म-से-सूक्ष्म क्षेत्र रोकता है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—

"जैसे वे (एक परमाणु बराबर कहे गये) आकाश के प्रदेश परमाणुओ के माप से अनन्त गिने जाते हैं, उसी प्रकार शेष धर्म, अधर्म, अजीव द्रव्य के भी प्रदेश परमाणु रूप माप से माप हुए होते हैं। अविभागी पुद्गल-परमाणु अप्रदेशी—दो आदि प्रदेशो से रहित अर्थात् प्रदेश मात्र होता है। उस परमाणु से प्रदेशो की उत्पत्ति कही गयी है[3]।

[1]—भगवती ६ ७ ... सत्थेण सुतिक्खेण वि छेत्तु भेत्तु च ज किर न सक्का, त परमाणु सिद्धा वयन्ति आइ पमाणाण

[2]—द्रव्यसग्रह २७

१४—काल द्रव्य का स्वरूप (गा० २१-२२) :

इन गाथाओ मे स्वामीजी ने काल के विषय मे निम्न बातें कही हैं

(१) काल अरूपी अजीव द्रव्य है।

(२) काल के अनन्त द्रव्य हैं।

(३) काल द्रव्य निरन्तर उत्पन्न होता रहता है।

(४) वर्तमान काल एक समय रूप है।

इन पर नीचे क्रमश विचार किया जाता है

(१) काल अरूपी अजीव द्रव्य है

अहोरात्र, मास, ऋतु आदि काल के भेद जीव भी हैं और अजीव भी हैं—ऐसा उल्लेख ठाणाङ्ग मे मिलता है[1]। टीकाकार अभयदेव स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं 'काल के अहोरात्र आदि भेद जीव या अजीव पुद्गल के पर्याय हैं। पर्याय और पर्यायी की अभेद-विवक्षा मे जीव-अजीव के पर्याय-स्वरूप काल-भेदो को जीव अजीव कहा है[2]।' यह स्पष्टीकरण काल द्रव्य को स्वतन्त्र द्रव्य न मानने की अपेक्षा से है। हम पूर्व में उल्लेख कर आये हैं कि कुछ आचार्य काल को स्वतन्त्र द्रव्य नही मानते। वे काल को जीव अजीव की पर्याय ही मानते हैं और उसे उपचार से द्रव्य कहते हैं[3]। काल स्वतन्त्र द्रव्य है या नही—यह प्रश्न उमास्वाति के समय मे ही उठ चुका था। उमास्वाति का खुद का अभिमत काल को स्वतन्त्र द्रव्य न मानने के पक्ष में था (पृ० ६७ टि० २ का प्रथम अनुच्छेद)।

जब आगमो पर दृष्टि डाली जाती है तो देखा जाता है कि वहाँ काल का स्पष्टत स्वतन्त्र द्रव्य कहा गया है[4]। स्पष्ट उल्लेखो की स्थिति मे विचार किया जाय तो

१—ठाणाङ्ग २.४.९५

समयाति वा ... ओसप्पिणीति वा जीवाति या अजीवाति या पवुच्चति

२—ठाणाङ्ग २.४.९५ की टीका

समया इति वा आवलिका इति वा यत्कालवस्तु तदविगानेन जीवा इति च, जीवपर्यायत्वात्, पर्यायपर्यायिणोश्च कथञ्चिदभेदात्, तथा अजीवानां—पुद्गलादीनां पर्यायत्वादजीवा इति च।

३—नवतत्त्वप्रकरणम् (देवेन्द्र सूरि) ... दव्वपज्जाओ

४—(क) भगवती २५.४, ७३ (ख) ... पृ० ६७ पा० टि० २

ठाणाङ्ग के उल्लेख मे काल के भेदो को जीव अजीव कहने का कारण काल का दोना प्रकार के पदार्थों पर वर्तन है।

दिगम्बर आचार्य काल को स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में मानते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं—"पाँच अस्तिकाय और छठ्ठा काल मिलकर छ द्रव्य होते हैं। काल परिवर्तन-लिंग से सयुक्त है। ये षट् द्रव्य त्रिकाल भाव परिणत और नित्य हैं[१]। सद्भाव स्वभाव वाले जीव और पुद्गलो के परिवर्तन पर से जो प्रगट देखने मे आता है वही नियम मे—निश्चयपूर्वक काल द्रव्य कहा गया है[२]। वह काल वर्तना लक्षण है[३]।" इस कथन का भावार्थ है—जीव, पुद्गलो में जो समय-समय पर नवीनता-जीर्णता रूप स्वाभाविक परिणाम होते हैं वे किसी एक द्रव्य की सहायता के विना नहीं हो सकते। जैसे गति, स्थिति अवगाहना धर्मादि द्रव्यो के विना नहीं होती वैसे ही जीवो और पुद्गलो की परिणति किसी एक द्रव्य की सहायता के विना नहीं होती। परिणमन का जो निमित्त कारण है वह काल द्रव्य है। जीव और पुद्गलो मे जो स्वाभाविक परिणमन होते हैं उनको देखते हुए उनके निमित्त कारण निश्चय काल को अवश्य मानना योग्य है।

स्वामीजी ने आगमिक विचारधारा के अनुसार काल को स्वतन्त्र द्रव्य माना है।

ऊपर एक जगह (पृ० २० टि० २ अनु० २) हम इस बात का उल्लेख कर आये हैं कि छह द्रव्यों में जीव को छोड़ कर बाकी पाच अजीव हैं। काल इन अजीव द्रव्यों में से एक है। वह अनन्त पदार्थ है।

अजीव पदार्थों के जो रूपी अरूपी ऐसे दो भेद मिलते हैं उनमे काल अरूपी है अर्थात् उसके वर्ण गन्ध रस और स्पर्श नहीं—वह अमूर्त है[४]।

१—पञ्चास्तिकाय

(क) [illegible] ([illegible] पर उद्धृत)

(ख) [illegible]

२—[illegible]

(२) काल के अनन्त द्रव्य है :

यह बताया जा चुका है कि सख्या की अपेक्षा से जीव अनन्त कहे गये हैं[1]। धर्म, अधर्म और आकाश की सख्या का उल्लेख स्वामीजी ने नही किया, पर वे एक-एक व्यक्ति रूप हैं। पुद्गल अनन्त हैं। यहाँ काल पदार्थ को सख्यापेक्षा से अनन्त द्रव्य रूप कहा है अर्थात् काल द्रव्य एक व्यक्ति रूप नही सख्या मे अनन्त व्यक्ति रूप है। सर्व द्रव्यो की सख्या-सूचक निम्न गाथा बड़ी महत्त्वपूर्ण है

> धम्मो अहम्मो आगास दव्व इक्किक्कमाहिय।
> अणन्ताणि य दव्वाणि कालो पुग्गल-जन्तवो[2] ॥

इस विषय मे दिगम्बर आचार्यो का मत भिन्न है। उनके अनुसार कालाणु सख्या में लोकाकाश के प्रदेशो की तरह असख्यात हैं[3]। हेमचन्द्र सूरि का अभिमत भी इसी प्रकार का लगता है[4]।

हेमचन्द्राचार्य के सिवा श्वेताम्बर आचार्यो ने काल को सख्या की दृष्टि से अनन्त ही माना है[5]। स्वामीजी ने आगमिक दृष्टि से कहा है "काल के द्रव्य अनन्त हैं।"

(३) काल निरन्तर उत्पन्न होता रहता है .

जैसे माला का एक मनका अगुलियो मे छूटता है और दूसरा उसके स्थान में आ जाता है। दूसरा छूटता है और तीसरा अगुलियो के बीच में आ जाता है उसी तरह वर्तमान क्षण जैसे बीतता है वैसे ही नया क्षण उपस्थित हो जाता है। दूसरे शब्दो मे कहे तो रहँटघटिका की तरह एक के बाद एक काल द्रव्य उपस्थित होता रहता है। यह

१—देखिये—पृ० ४८ (८)

२—उत्तरा० २८.८

३—द्रव्यसंग्रह २२

> लोयायासपदेसे इक्केक्के जे ठिया हु इक्केक्का।
> रयणाणं रासीमिव ते कालाणू असंखदव्वाणि ॥

४—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह सप्ततत्त्वप्रकरणम् (हेमचन्द्र सूरि).

> लोकाकाशप्रदेशस्था, भिन्ना: कालाणवस्तु ये।
> भावानां परिवर्ताय, मुख्यकाल: स उच्यते ॥ ४२ ॥

५—(क) सप्ततत्त्व प्रकरणम् (देवानन्द सूरि)

> पुग्गल अद्धासमया जीवा य अणंता

(ख) नवतत्त्वप्रकरणम् (उमास्वाति)

> धर्माधर्माकाशान्येकैकमत: परं त्रिकमनन्तम्

सन्तति-प्रवाह अतीत मे चालू रहा, अब भी चालू है, भविष्य मे भी इसी रूप में चालू रहेगा। यह प्रवाह अनादि अनन्त है। इस अपेक्षा से काल द्रव्य सतत उत्पन्न होता रहता है।

(४) वर्तमान काल एक समय रूप है :

काल द्रव्य की इकाई को जैन पदार्थ-विज्ञान मे 'समय' कहा गया है। समय काल का सूक्ष्मतम अश है। सुतीक्ष्ण शस्त्र से छेदन करने पर भी इसके दो भाग नहीं किये जा सकते[1]।

समय की सूक्ष्मता की कल्पना निम्न उदाहरण से होगी। वस्त्र ततुओ मे बनता है। प्रत्येक ततु मे अनेक रूए होते हैं। उनमें ऊपर का रूआ पहले छिदता है, तब कहीं नीचे का रूआ छिदता है। इस तरह सब रूओ के छिदने पर ततु छिदता है और सब ततुओ के छिदने पर वस्त्र। एक कला-कुशल युवा और बलिष्ठ जुलाहा जीर्ण-शीर्ण वस्त्र को शीघ्रता से फाडे तो तन्तु के पहले रूए के छेदन मे जितना काल लगता है वह सूक्ष्म काल असख्यात समय रूप है[2]। इसी तरह से कमल-पत्र एक दूसरे के ऊपर रखे जायँ और उन्हें वह युवक भाले की तीखी नोक से छेदे तो एक-एक पत्र से दूसरे पत्र मे जाते हुए उस नोक को जितना वक्त लगता है वह असख्यात समय रूप है।

अनन्त है[1], उत्पन्न काल द्रव्य नाश को प्राप्त होता है और फिर नया काल द्रव्य उत्पन्न होता है। इस उत्पत्ति और विनाश की दृष्टि से काल द्रव्य अशाश्वत है।

काल के सूक्ष्मतम अंश समय के सम्बन्ध में जैसे यह बात लागू पड़ती है वैसे ही आवलिका आदि काल के अन्य विभागों के विषय में भी समझना चाहिए।

काल की शाश्वतता-अशाश्वतता के विषय में दिगम्बराचार्यों ने निम्न बात कही है—"व्यवहार काल जीव, पुद्गलों के परिणाम से उत्पन्न है। जीव, पुद्गल का परिणाम द्रव्य काल से सभूत है। निश्चय और व्यवहार काल का यह स्वभाव है कि व्यवहार काल समय विनाशीक है और निश्चय काल नियत—अविनाशी है। 'काल' नाम वाला निश्चय काल नित्य है—अविनाशी है। दूसरा जो समय रूप व्यवहार काल है वह उत्पन्न और विध्वंसशील है। वह समयों की परम्परा से दीर्घांतरस्थायी भी कहा जाता है[2]।"

१६—काल का क्षेत्र (गा० २७):

एक बार गौतम ने पूछा—"भगवन्! समय क्षेत्र किसे कहा जाय?" महावीर ने कहा—"गौतम! ढाई द्वीप और दो समुद्र इतना समय क्षेत्र कहलाता है[3]।" उत्तराध्ययन में समय-क्षेत्र की चर्चा करते हुए कहा है "समए समयखेत्तिए (३६.७)"। समय-क्षेत्र का वर्णन इस प्रकार है:

जम्बूद्वीप, जम्बूद्वीप के चारों ओर लवण समुद्र, उसके चारों ओर धातकी खण्ड, उसके चारों ओर कालोदधि समुद्र और उसके चारों ओर पुष्कर द्वीप है। इस पुष्कर द्वीप को मानुषोत्तर पर्वत दो भाग में विभक्त करता है। कालोदधि समुद्र तक और उसके चारों ओर के अर्द्ध पुष्कर द्वीप तक के क्षेत्र को समय-क्षेत्र कहते हैं। इसका दूसरा नाम ढाई द्वीप है। इसे मनुष्य क्षेत्र भी कहते हैं।

१—उत्त० ३६.९

समए वि सन्तइं पप्प एवमेव वियाहिए।
आएसं पप्प साईए सपज्जवसिए वि य॥

२—पञ्चास्तिकाय १.१००-१०१

कालो परिणामभवो परिणामो दव्वकालसंभूदो।
दोण्हं एस सहावो कालो खणभंगुरो णियदो॥
कालो त्ति य ववदेसो सब्भावपरूवगो हवदि णिच्चो।
उप्पण्णप्पद्धंसी अवरो दीहंतरट्ठाई॥

३—भगवती २.९

समय क्षेत्र का आयाम विष्कम्भ ४५ लाख योजन प्रमाण है[1]।

काल का माप सूर्य आदि की गति पर से स्थिर किया जाता है। मनुष्य क्षेत्र में जहाँ सूर्य गति करता है वहीं काल के दिवस आदि व्यवहार की प्रसिद्धि है। मनुष्य क्षेत्र के बाहर सूर्य स्थिर होने से काल का माप करना असम्भव है। बाद में आने वाली टिप्पणी नं० २१ में इसका विशेष स्पष्टीकरण है।

इस विषय में गौतम और महावीर का वार्तालाप बड़ा रोचक है। उसे यहाँ उद्धृत किया जाता है

"गौतम ! वानव्यतर, ज्योतिषिक और वैमानिकों के लिए वही समझो जो नैरयिकों के लिए कहा है[1] ।"

दिगम्बर आचार्यों के अनुसार एक-एक कालाणु लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में रत्नों की राशि के समान स्फुट रूप से पृथक्-पृथक् स्थित हैं। वे कालाणु असंख्यात द्रव्य हैं[2] ।

१७—काल के स्कंध आदि भेद नहीं है (गा० २८-३३) :

प्रथम ढाल में जीव को असंख्यात प्रदेशी द्रव्य कहा है (११)। धर्म, अधर्म भी असंख्यात प्रदेशी कहे गये हैं। आकाश अनन्त प्रदेशी द्रव्य है। पुद्गल संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशी हैं। प्रश्न होता है—काल के कितने प्रदेश हैं ?

यह बताया जा चुका है कि काल का सूक्ष्मतम अंश समय है। वर्तमान काल हमेशा एक समय रूप होता है। दो समय एक साथ नहीं मिलते। एक समय के विनाश के बाद दूसरा समय उत्पन्न होता है। इस कारण दो समय न मिलने से काल का स्कंध नहीं होता। स्कंध नियम से समुदाय रूप होता है। अतीत समय परस्पर में मिलकर कभी भी समुदाय रूप नहीं हुए। बिछुड़े हुए पुद्गल परमाणुओं के मिलने की संभावना रहती है पर समयों के समुदाय की संभावना भविष्य में भी नहीं है। अतः अतीत में काल-स्कंध का अभाव था, वर्तमान में केवल एक ही समय होने से उसका अभाव है और आगे के अनुत्पन्न समय भी परस्पर मिलेंगे नहीं। अतः भविष्यत् में भी उसका अभाव रहेगा[3] ।

स्कंध से अविभक्त कुछ न्यून भाग को देश कहते हैं। जब काल के स्कंध ही नहीं तब देश कैसे होगा ? स्कंध से अविच्छिन्न सूक्ष्मतम भाग मात्र को प्रदेश कहते हैं। स्कंध नहीं, देश नहीं तब प्रदेश की संभावना भी नहीं। परमाणु प्रदेश-तुल्य विच्छिन्न भाग होता

१—भगवती श० ५ उ० ९

२—द्रव्यसंग्रह गा० २२ । पृ० ८५ पाद-टिप्पणी २ में उद्धृत ।

३—(क) नवतत्त्व प्रकरण (देवगुप्तसूरि) ३४

अन्नोन्नमओ एगो जमतीताणागया अणंता वि ।
कालाणु-पएसो न संति खंधोऽथ पडुपन्नो ॥

(ख) सिद्धसेनाचार्य रचित अवचूर्णि (नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह ६ पृ० ९)

नैव अतो ... न च काल एवंविध एव वर्तमानसमयलक्षणोऽतीता-
नागतयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेनाऽसत्त्वात्

जानना चाहिए। जिस द्रव्य समय का एक ही समय मे यदि उत्पन्न होना, विनाश होना प्रवर्तता है तो वह काल पदार्थ स्वभाव मे अवस्थित है। एक समय मे काल पदार्थ के उत्पाद, स्थित, नाश नाम के तीनो अर्थ—भाव प्रवर्तते हैं। यह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप ही काल द्रव्य का अस्तित्व सर्व काल मे है। जिस द्रव्य के प्रदेश नही हैं और एक प्रदेश मात्र भी तत्त्व से जानने को नही उस द्रव्य को शून्य अस्तित्व रहित समझो[1]।"

१८—(गा० ३४):

इस गाथा के भाव के स्पष्टीकरण के लिए देखिए बाद की टिप्पणी न० २१।

१६—काल के भेद (गा० ३५-३७)

स्वामीजी ने इन गाथाओ में जो काल के भेद दिये हैं उनका आधार भगवती सूत्र है। वहाँ प्रश्नोत्तर रूप में काल के भेदो का वर्णन इस प्रकार है

"हे भगवन्! अद्धाकाल कितने प्रकार का है ?'

"हे सुदर्शन! अद्धाकाल अनेक प्रकार का कहा गया है। दो भाग करते-करते जिसके दो भाग न हो सकें उस कालांश को समय कहते हैं। असख्येय समयो के समुदाय की आवलिका होती है। असख्यात आवलिका का एक उच्छ्वास, सख्यात आवलिका का एक नि:श्वास, हृष्ट, अनवकल्य और व्याधिरहित एक जतु का एक उच्छ्वास और नि:श्वास एक प्राण कहलाता है। सात प्राण का स्तोक, सात स्तोक का लव, ७७ लव का एक मुहूर्त्त, तीस मुहूर्त्त का एक अहोरात्र, पन्द्रह अहोरात्र का एक पक्ष, दो पक्ष का एक मास, दो मास की एक ऋतु, तीन ऋतु का एक अयन, दो अयन का एक सवत्सर, पाँच सवत्सर का एक युग, बीस युग का सौ वर्ष, दस सौ वर्ष का एक हजार वर्ष, सौ हजार वर्ष का एक लाख वर्ष, चौरासी लाख वर्ष का एक पूर्वाङ्ग, चौरासी लाख पूर्वाङ्ग का एक पूर्व और इसी तरह त्रुटितांग, त्रुटित, अडडांग, अडड, अववांग, अवव, हूहूकांग, हूहूक, उत्पलांग, उत्पल, पद्मांग, पद्म, नलिनांग नलिन, अर्थनिपूरांग, अर्थनिपूर, अयुतांग, अयुत, प्रयुतांग, प्रयुत, नयुतांग नयुत, चूलिकांग, चूलिका, शीर्षप्रहेलिकांग और शीर्षप्रहेलिका होती है। यहाँ तक गणित है—उसका विषय है उसके बाद औपमिक काल है।

'हे भगवन्! औपमिक काल क्या है ?'

'सुदर्शन! औपमिक काल दो प्रकार का है—पल्योपम और सागरोपम।

1—प्रवचनसार २ ४७-५२

वर्ष का दु पमदु पमा, इक्कीस हजार वर्ष का दु पमा, ४२ हजार वर्ष कम एक कोटाकोटि सागरोपम का दु पम-सुपमा, दो कोटाकोटि सागरोपम का सुपमदु पमा, तीन कोटाकोटि सागरोपम का सुपमा और चार कोटाकोटि सागरोपम का सुषमासुपमा आरा होता है। इन छ आरो के समुदाय को उत्सर्पिणी काल कहते हैं। दस कोटाकोटि सागरोपम काल की एक अवसर्पिणी, दस कोटाकोटि सागरोपम काल की एक अवसर्पिणी होती है। बीस कोटाकोटि सागरोपम काल का अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल चक्र होता है[1]।"

२०—अनन्त काल-चक्र का पुद्गल-परावर्त होता है[2]। (गा० ३८)

गाथा ३६-३७ मे 'समय' से लेकर 'पुद्गल परावर्त तक के काल के भेदो का वर्णन किया गया है। स्वामीजी कहते हैं—काल के ये भेद शाश्वत हैं। अतीत मे काल के यही भेद थे। आगामी काल मे उसके यही भेद होगे। वर्तमान काल हमेशा एक समय रूप होता है।

स्वामीजी का यह कथन ठाणांग के आधार पर है। वहाँ कहा गया है—'काल तीन तरह का है—अतीत, वर्तमान और अनागत। समय भी तीन प्रकार का है—अतीत, वर्तमान और अनागत। आवलिका, आन प्राण, यावत् पुदगल परावर्त—ये सब भी समयकी ही तरह तीन प्रकारके हैं—अतीत, वर्तमान और अनागत[3]। इसका अर्थ यही है कि काल के भेद सब समय मे ऐसे ही होते हैं।

२१—काल का क्षेत्र प्रमाण (गा० ३९-४०)

काल द्रव्य के क्षेत्र का सामान्य सूचन पूर्व गाथा २७ मे आया है। वहाँ और यहाँ के सूचनो मे काल द्रव्य के क्षेत्र के विषय मे निम्नलिखित बातें प्रकाश मे आती हैं

(१) काल का क्षेत्र प्रमाण ढाई द्वीप है। उसके बाहर काल द्रव्य नही है। यह काल का तिरछा विस्तार है। उर्ध्व दिशा मे उसका क्षेत्र ज्योतिष चक्र तक ९०० योजन है। अधोदिशा मे सहस्र योजन तक महाविदेह की दो विजय तक है।

(२) काल इतने क्षेत्र प्रमाण मे ही वर्त्तन करता है। उसके बाद उसका वर्तन नही है।

१—भगवती ६ ७

२—भगवती १२ ४। पुद्गल के साथ परिवर्त—परमाणुओं के मिलने को पुद्गल-परिवर्त कहते हैं। ऐसे परिवर्त मे जो काल लगता है वह यह काल है।

३—ठाणाङ्ग ३ ३ १९२

काल का क्षेत्र प्रमाण ढाई द्वीप ही क्यो है इसका कारण गाथा २७ और ३८ मे दिया हुआ है[1]। जैन ज्योतिष विज्ञान के अनुसार मनुष्य लोक और उसके बाहर के सूर्य चन्द्रमा आदि ज्योतिषी भिन्न भिन्न हैं। मनुष्य लोक के सूर्य चन्द्रमा आदि गतिशील हैं। वे सदा मेरु के चारो ओर निश्चित चाल से परिक्रमा करते रहते हैं। इस गति में तीव्रता मदता नही आती। उनकी चाल हमेशा समान होती है। उसके बाहर रहने वाले सूर्य चन्द्रमा आदि ज्योतिष्क स्थिर हैं, गतिशील नही हैं[2]। मनुष्य लोक के सूर्य चन्द्रमा आदि की गति नियत चाल से होती है। इसी नियत गति के आधार पर काल के समय आदि विभाग निर्धारित किये गये हैं। मुहूर्त्त, अहोरात्र, पक्ष इत्यादि जो काल व्यवहार प्रचलित हैं वे मनुष्य लोक तक ही सीमित हैं—

(Nitrogen) दोनो ही वायु रूप वस्तुएँ (Gas) वर्ण, गंध और रसहीन माने जाते हैं[1]। परन्तु इससे उनमे इन गुणो का सर्वथा अभाव नही माना जा सकता। इन गुणो को इस सिद्ध भी किया जा सकता है। हाइड्रोजन और नाइट्रोजन का एक स्कंधपिण्ड अमोनिया (Ammonia) नामक वायु है इसमें एक अंश हाइड्रोजन और तीन अंश नाइट्रोजन रहता है। इस अमोनिया पदार्थ मे रस और गंध दोनो होते हैं[2]। यह एक सर्व मान्य सिद्धान्त है और आधुनिक विज्ञान शास्त्र का तो मूलभूत सिद्धान्त है कि "असत की उत्पत्ति नहीं हो सकती और सत् का विनाश नहीं हो सकता।" इस सूत्र के अनुसार अमोनिया मे रस और गंध का होना नए गुणो की उत्पत्ति नही कही जा सकती परन्तु अमोनिया के अवयव-स्वरूप हाइड्रोजन और नाइट्रोजन मे ही इन गुणो के होने का प्रमाण

प्रश्न हो सकता है कि सिर्फ वर्ण, गध, रस, स्पर्श ही पुद्गल के गुण क्यो कहे गये हैं, शब्द भी उसका लक्षण होना चाहिए ? जैसे वर्णादि क्रमश चक्षु-इन्द्रिय आदि के विषय हैं वैसे ही शब्द श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है अत उसे भी पुद्गल का गुण मानना चाहिए। इसका उत्तर यह है कि गुण द्रव्य के लिंग (पहचानने के चिह्न) होते हैं और वे द्रव्य मे सदा रहते हैं। शब्द द्रव्य का गुण नही हो सकता क्योकि वह पुद्गल द्रव्य में नित्य रूप मे नही पाया जाता है, उसे केवल पुद्गल का पर्याय ही कहा जा सकता है। कारण यह है कि वह पुद्गल स्कन्धो के पारस्परिक सघर्ष से उत्पन्न होता है। यदि शब्द को पुद्गल का गुण कहा जाय तो पुद्गल हमेशा शब्द रूप ही पाया जाना चाहिए परन्तु वास्तव मे ऐसा नही देखा जाता। अत शब्द पुद्गल का गुण नही माना जा सकता।

(२) द्रव्यत पुद्गल अनन्त हैं सख्या की दृष्टि से पुद्गल अनन्त हैं। इस विषय मे वह धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्यो से भिन्न है जो सख्या मे एक-एक हैं। जीव और काल-द्रव्य से उसकी समानता है, जो सख्या मे अनन्त हैं। पुद्गल द्रव्यो की सख्या अनन्त बतलाने पर भी सूत्रो मे एक भी द्रव्य पुद्गल का नामोल्लेख नही मिलता। वस्तुत एक-एक अविभाज्य परमाणु पुद्गल ही एक-एक द्रव्य हैं। इनकी सख्यायें अनन्त हैं। एक बार गौतम ने पूछा—"भन्ते ! परमाणु सख्यात हैं, असख्यात हैं या अनन्त ?" भगवान ने उत्तर दिया—"गौतम ! अनन्त हैं। गौतम ! यही बात अनन्त प्रदेशी स्कन्ध तक समझो[1] ।"

(३) पुद्गल द्रव्यत शाश्वत है और भावत अशाश्वत ।

(४) द्रव्य पुद्गलों की सख्या में घट-बढ नहीं होती।

इन दोनो पर बाद मे टिप्पणी ३२ मे विस्तार से प्रकाश डाला जायगा। पाठक वहीं देखें।

२५—पुद्गल के चार भेद (गा० ४६-४८)

इन गाथाओ मे पुद्गल के विषय मे निम्न बातो का प्रतिपादन है :

(१) पुद्गल का चौथा भेद परमाणु है।

(२) परमाणु पुद्गल का [illegible] अविभागी सूक्ष्मतम [illegible] है और प्रदेश [illegible]

[illegible]

१—भगवती २५.४

प्रदेशी तक के पुद्गल स्कंध हैं। उनके सविभाग भागो को देश जानो। और निर्विभाग भाग रूप जो पुद्गल हैं उन्हें प्रदेश, तथा जो स्कंध-परिणाम से रहित है—उससे असम्बद्ध है—उसे परमाणु कहा जाता है[1]।"

(२) परमाणु पुद्गल का विभक्त अविभागी अंश है और प्रदेश अविभक्त अविभागी अंश पुद्गल के प्रदेश और परमाणु में जो अन्तर है वह पूर्व विवेचन से स्पष्ट है। परमाणु स्वतंत्र और अकेला होता है। वह दूसरे परमाणु या स्कंध के साथ जुड़ा हुआ नही होता। जब कि प्रदेश पुद्गल से आबद्ध होता है—स्वतंत्र नही होता। प्रदेश और परमाणु दोनो अविभागी सूक्ष्मतम अंश हैं यह उनकी समानता है। एक सम्बद्ध है और दूसरा असम्बद्ध—स्वतंत्र—यह दोनो का अन्तर है।

आकाश, धर्म, अधर्म और जीव के प्रदेश तथा पुद्गलास्तिकाय के प्रदेशो में भी एक अन्तर है। दोनो माप में बराबर होते हैं अत दोनो मे परिमाण का अन्तर नही। पर आकाशादि विस्तीर्ण खण्ड द्रव्य होने से अंशीभूत स्कंध से उनके प्रदेश अलग नही किये जा सकते जब कि पुद्गल का प्रदेश अंशीभूत पुद्गल-स्कंध से अलग हो सकता है। अंशीभूत पुद्गल-स्कंध से विच्छिन्न प्रदेश ही परमाणु है। "परमाणु द्रव्य अबद्ध असमुदाय रूप होता है[2]।" 'स्कन्धबहिर्भूत शुद्धद्रव्यरूप एव'—वह स्कंध से बहिर्भूत शुद्ध पुद्गल द्रव्य है।

(३) प्रदेश और परमाणु तुल्य है प्रदेश और परमाणु दोनो पुद्गल के सूक्ष्मतम अंश हैं इतना ही नहीं वे तुल्य—समान भी हैं। परमाणु पुद्गल आकाश के जितने स्थान को रोकता है उतना ही स्थान पुद्गल-प्रदेश रोकता है। इस तरह समान स्थान को रोकने की दृष्टि से भी परमाणु और पुद्गल-प्रदेश तुल्य हैं। प्रदेश और परमाणु की यह तुल्यता पुद्गल द्रव्य तक ही सीमित नही है। धर्मादि द्रव्यो के प्रदेश भी परमाणु तुल्य हैं क्योंकि धर्मादि के परमाणु के बराबर अंशो को ही प्रदेश कहा गया है, यह पहले बताया जा चुका है।

१—नवतत्त्वप्रकरण (देवगुप्त सूरि) गाथा ६ का भाष्य (अभय०)

दुपएसाइअणंतप्पएसिया उ पोग्गला खंधा।
तेसिं चिय सविभागा, भागा देसत्ति नायव्वा ॥ ७५ ॥
जे पुण निव्विभागा होंति पएसत्ति पुग्गला जे उ।
खंधपरिणामरहिया, ते परमाणुत्ति निद्दिट्ठा ॥ ७६ ॥

२—[illegible] (पृ० [illegible]) १ [illegible] ४ की व्याख्या

(८) परमाणु पुद्गल एक समय मे लोक के किसी भी दिशा के एक अन्त से प्रतिपक्षी दिशा के अन्त तक पहुँच सकता है[1]।

(९) परमाणु द्रव्यार्थरूप से शाश्वत है और वर्णादि पर्याय की अपेक्षा से अशाश्वत[2]।

(१०) परमाणु पुद्गल एक वर्ण, एक गंध, एक रस और दो स्पर्श युक्त होता है। उसमे काले, नीले, लाल, पीले या धवल—इन वर्णो मे से कोई भी एक वर्ण होता है। सुगंध या दुर्गन्ध मे से कोई भी एक गंध होती है। कटुक, तीक्ष्ण, कसैला, खट्टा, मीठा—इन रसो मे से कोई एक रस होता है। वह दो स्पर्शवाला—या तो शीत और स्निग्ध, या शीत और रूक्ष, या उष्ण और स्निग्ध, या उष्ण और रूक्ष होता है[3]।

कुन्दकुन्दाचार्य परमाणु के सम्बन्ध मे लिखते हैं :

"वह सर्व स्कंधो का अन्त्य है—उनका अन्तिम विभाग या कारण है। वह शाश्वत, एक, अविभागी और मूर्त होता है। वह पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु—इन चार धातुओ का कारण है। परिणामी है। स्वयं अशब्द होते हुए भी शब्द की उत्पत्ति का कारण है। वह नित्य है। वह सावकाश और अनवकाश है। वह जैसे स्कंध के भेद का कारण है वैसे ही स्कंध का कर्त्ता भी है। वह काल-संख्या का निरूपक और प्रदेश-संख्या का हेतु है। एक रस, एक वर्ण, एक गंध और दो स्पर्शवाला है। ऐसा जो पुद्गल-स्कंध से विभक्त द्रव्य है उसे परमाणु जानो[4]।"

परमाणु कारण रूप है कार्य रूप नहीं, अतः वह अन्त्य द्रव्य है[5]। उसकी उत्पत्ति मे दो द्रव्यो के संघात की संभावना नहीं, अतः वह नित्य है क्योंकि उसका विच्छेद नहीं हो सकता।

शब्द पुद्गल का लक्षण—गुण नहीं है अतः वह परमाणु का भी गुण नहीं। इसलिए परमाणु अशब्द है। पर स्वयं अशब्द होते हुए भी वह शब्द का कारण कहा गया है।

१—वही १८.८

२—वही १४.४

३—भगवती १८.६

४—पञ्चास्तिकाय १.७७, ७८, ८०, ८१

५—कारणमेव तदन्त्यं सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः ।
एकरसवर्णगन्धो द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च ॥

पुद्गल का सब-से-बड़ा स्कन्ध अनन्त प्रदेशी होता है फिर भी उसके लिये अनन्त आकाश की आवश्यकता नही पड़ती। वह केवल लोकाकाश के क्षेत्र प्रमाण ही होता है। उसी तरह पुद्गल का छोटा-से-छोटा स्कन्ध द्विप्रदेशी हो सकता है परन्तु वह प्रमाण में अंगुल के असंख्यातवें भाग अर्थात् एक प्रदेश आकाश से छोटा नही हो सकता। अनन्त प्रदेशी स्कंध लोकाकाश के एक प्रदेश क्षेत्र मे समा सकता है और वही स्कंध एक-एक प्रदेश में फैलता हुआ लोकव्यापी हो सकता है।

पुद्गल-स्कंध के स्थान-ग्रहण के सम्बन्ध मे प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी ने बड़ा अच्छा प्रकाश डाला है[1]। उसको यहाँ उद्धृत किया जाता है

"पुद्गल द्रव्य का आधार सामान्य रूप से लोकाकाश ही नियत है। फिर भी विशेष रूप से भिन्न-भिन्न पुद्गल द्रव्यो के आधार क्षेत्र के परिमाण मे फर्क है। पुद्गल द्रव्य कोई धर्म, अधर्म द्रव्य की तरह मात्र एक व्यक्ति तो है ही नही कि जिससे उसके लिए एकरूप आधार क्षेत्र होने की सम्भावना की जा सके। भिन्न-भिन्न व्यक्ति होने से पुद्गलो के परिमाण में विविधता होती है, एकरूपता नही। इसलिए यहाँ इसके आधार का परिमाण विकल्प से अनेक रूप मे बताया गया है। कोई पुद्गल लोकाकाश के एक प्रदेश मे तो कोई दो प्रदेश मे रहते हैं। इस प्रकार कोई पुद्गल असंख्यात प्रदेश परिमित लोकाकाश मे भी रहते हैं। सारांश यह है कि आधारभूत क्षेत्र के प्रदेशो की संख्या आधेयभूत पुद्गल द्रव्य के परमाणु की संख्या से न्यून अथवा उसके बराबर हो सकती है, अधिक नही। इसीलिए एक परमाणु एक सरीखे आकाश प्रदेश मे स्थित रहता है, परन्तु द्व्यणुक एक प्रदेश मे भी रह सकता है और दो मे भी। इस प्रकार उत्तरोत्तर संख्या बढ़ते-बढ़ते त्र्यणुक, चतुरणुक इस तरह संख्याताणुक स्कन्ध तक एक प्रदेश, दो प्रदेश, तीन प्रदेश इस तरह असंख्यात प्रदेश तक के क्षेत्र मे रह सकता है, संख्याताणुक द्रव्य की स्थिति के लिये असंख्यात प्रदेश वाले क्षेत्र की आवश्यकता नही होती। असंख्याताणुक स्कंध एक प्रदेश से लेकर अधिक से अधिक अपने बराबर के असंख्यात संख्या वाले

भी स्कंध या देश के भेद से परमाणु निकलता है इस दृष्टि से परमाणु की स्कंध से अलग स्थिति पर्याय है। इसीलिए अलग हुए परमाणु की स्थिति को भाव-पुद्गल कहा गया है। "कभी स्कंध के अवयव रूप बन सामुदायिक अवस्था मे परमाणुओ का रहना और कभी स्कंध से अलग होकर विशकलित (स्वतन्त्र) अवस्था मे रहना यह सब परमाणु की पर्याय—अवस्था विशेष ही है[1]।"

स्कंध, देश, प्रदेश और परमाणु अपने-अपने स्कंधादि रूप मे कम-से-कम एक समय और अधिक-से-अधिक असंख्यात काल तक रहते हैं। स्वामीजी के इस कथन का आधार भगवती सूत्र है[2]।

२९—स्कंधादि रूप पुद्गलों की अनन्त पर्याये (गा० ५३) :

'पूरणगलन धर्माण पुद्गल' पूरण-गलन जिसका स्वभाव हो, उसे पुद्गल कहते हैं अर्थात् जो इकट्ठे होकर मिल जाते हैं और फिर जुदे-जुदे हो बिखर जाते हैं वे पुद्गल हैं। इकट्ठा होना और बिखर जाना पुद्गल द्रव्य का स्वभाव है। इस मिलने-बिछुडने से पुद्गल के अनेक तरह के भाव—रूपान्तर होते है। अनेक तरह की पौद्गलिक वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं। इस तरह उत्पन्न पौद्गलिक पदार्थ भाव पुद्गल हैं। भिन्न-भिन्न स्कंधादि रूप मे इनकी अनन्त पर्यायें—अवस्थाएँ होती हैं।

३०—पौद्गलिक वस्तुएँ विनाशशील होती है (गा० ५४)

पुद्गल दो तरह के होते हैं—एक द्रव्य-पुद्गल दूसरे भाव-पुद्गल। द्रव्य-पुद्गल मूल पदार्थ हैं। उनका विच्छेद नही हो सकता। चूकि वे किन्ही दो पदार्थो के बने हुये नही होते अत उनसे से अन्य किसी वस्तु को प्राप्त करना असम्भव है। ये किन्ही पदार्थो के कार्य (Product) नही होते पर अन्य पदार्थों के कारण (Constituent) होते हैं। इन द्रव्य पुद्गलो से बनी हुई जो भी वस्तुएँ होती हैं उन्हें भाव-पुद्गल कहते हैं। द्रव्य पुद्गल की सब परिणतियाँ—पर्यायें भाव-पुद्गल हैं। हम अपने चारो ओर जो भी जड वस्तुएँ देखते हैं वे सभी पौद्गलिक हैं अर्थात् द्रव्य-पुद्गल से निष्पन्न हैं और भाव-पुद्गल हैं। उदाहरण स्वरूप हमारी काठ की टेबल, लोहे की कुर्सी, पीतल का पेपरवेट, कपडे की पाकेट, प्लास्टिक की कंघी, हमारा निजी शरीर, हमारी निज की इन्द्रियां ये सभी भाव-पुद्गल हैं।

१—ठाणांगसूत्र (गुज०) ५.३.४ की व्याख्या पृ० ३००

२—भगवती ५.७ : [illegible] एगं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं [illegible]

१ : आठ कर्म

पुद्गल दो तरह के होते हैं एक वे जिनको आत्मा अपने प्रदेशो मे ग्रहण कर सकती है और दूसरे वे जो आत्मा द्वारा अपने प्रदेशो मे ग्रहण नही किए जा सकते। प्रथम प्रकार के पुद्गल आत्म-प्रदेशो मे प्रवेश कर वही स्थित हो जाते हैं। इन्हे पारिभाषिक शब्द मे कर्म कहा जाता है। कर्म आठ हैं, जिनके अलग-अलग स्वभाव होते हैं। (१) ज्ञानावरणीय कर्म ज्ञान को रोकता है। (२) दर्शनावरणीय कर्म दर्शन को रोकता है। (३) वेदनीय कर्म सुख-दुःख का अनुभव कराता है। (४) मोहनीय कर्म जीव को मतवाला बना देता है। (५) आयुष्य कर्म जीव की आयु नियत करता है। (६) नाम कर्म जीव की ख्याति, उसके स्वभाव, उसकी लोकप्रियता आदि को निश्चित करता है। (७) गोत्र कर्म, कुल-जाति आदि को निश्चित करता है और (८) अंतराय कर्म से बाधाएँ आती हैं।

२ : पाँच शरीर

शरीर पाँच होते हैं (१) औदारिक शरीर, (२) वैक्रिय शरीर, (३) आहारक शरीर, (४) तैजस् शरीर और (५) कार्मण शरीर[१]।

औदारिक शरीर उसकी कई व्याख्याएँ की जाती हैं, जैसे

१—जो शरीर जलाया जा सके और जिसका छेदन-भेदन हो सके वह औदारिक शरीर है[२]।

उनके समूह को कार्मण शरीर कहते हैं। कोई भी सांसारिक जीव तेजस् और कार्मण शरीर विना नही होता।

स्वामीजी कहते हैं—ये सभी शरीर पौद्गलिक हैं—पुद्गलो से रचित हैं[1]। पुद्गलो की पर्यायें होने से ये नित्य नही हैं। ये अस्थायी और विनाशशील हैं।

३. छाया, धूप, प्रभा—काति, अधकार, उद्योत आदि

उत्तराध्ययन मे कहा है "शब्द, अधकार, उद्योत, प्रभा, छाया, धूप तथा वर्ण, गध, रस और स्पर्श पुद्गल के लक्षण हैं। एकत्व, पृथक्त्व, सख्या, सस्थान, सयोग और विभाग पर्यायो के लक्षण हैं[2]।" वाचक उमास्वाति के प्राय इसी आशय के सूत्र इस प्रकार हैं

स्पर्शरसगधवर्णवन्त पुद्गला[3]।
शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसस्थानभेदतमश्छायाऽऽतपोद्योतवन्तश्च[4]।

स्वामीजी का कथन (गा० ५६-५७) भी ठीक ऐसा ही है और उसका आधार उत्तराध्ययन की उपर्युक्त गाथाएँ हैं। स्वामीजी ने छाया, धूप आदि सबको भाव-पुद्गल कहा है। ये पुद्गल के भिन्न-भिन्न रूप हैं। उनकी पर्याय—अवस्थाएँ हैं। इस बात से दिगम्बराचार्य भी सहमत हैं[5]।

४—उत्तराध्ययन के क्रम से शब्दादि पुद्गल परिणामो का स्वरूप

अब हम उत्तराध्ययन सूत्र के क्रम से शब्दादि भाव-पुद्गलो पर क्रमश प्रकाश डालेंगे।

१—मिलावें प्रवचन सार २ : ७९

ओरालिओ य देहो देहो वेउव्विओ य तेजइओ।
आहारय कम्मइओ पुग्गलदव्वप्पगा सव्वे॥

१—शब्द शब्द का अर्थ है ध्वनि, भाषा। शब्द दो तरह से उत्पन्न होता है—(१) पुद्गलो के सघात से और (२) पुद्गलो के भेद से[1]। जब पुद्गल आपस में टकराते हैं या एक दूसरे से अलग होते हैं तो शब्द की उत्पत्ति होती है। इस तरह शब्द प्रत्यक्ष ही पुद्गलो की पर्याय है। शब्द के अनेक प्रकार के वर्गीकरण मिलते हैं

१—(१) प्रायोगिक—जो शब्द आत्मा के प्रयत्न से उत्पन्न होते हैं उन्हें प्रायोगिक कहते हैं। जैसे वीणा, ताल आदि के शब्द।

(२) वैश्रसिक—जो शब्द बिना प्रयत्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होते हैं उन्हें वैश्रसिक कहते हैं[2]। जैसे बादलो की गर्जना।

२—(१) जीव शब्द—जीवो की आवाज, भाषा आदि।

(२) अजीव शब्द—बादलो की गर्जना आदि।

(३) मिश्र शब्द—जीव-अजीव दोनो के मिलने से उत्पन्न शब्द। जैसे शंख नाद।

४—चौथे वर्गीकरण को एक वृक्ष के रूप में नीचे उपस्थित किया जाता है (ठाणाङ्ग ८१)

- शब्द
  - भाषा शब्द[1]
    - अक्षर शब्द[3]
    - नोअक्षर शब्द[4]
  - नोभाषा शब्द[2]
    - आतोद्य शब्द[5]
      - तत[7]
        - घन[9]
        - शुषिर[10]
      - वितत[8]
        - घन[15]
        - शुषिर[16]
    - नोआतोद्य शब्द[6]
      - भूषण शब्द[11]
      - नोभूषण शब्द[12]
        - तालशब्द[13]
        - लत्तिका शब्द[14]
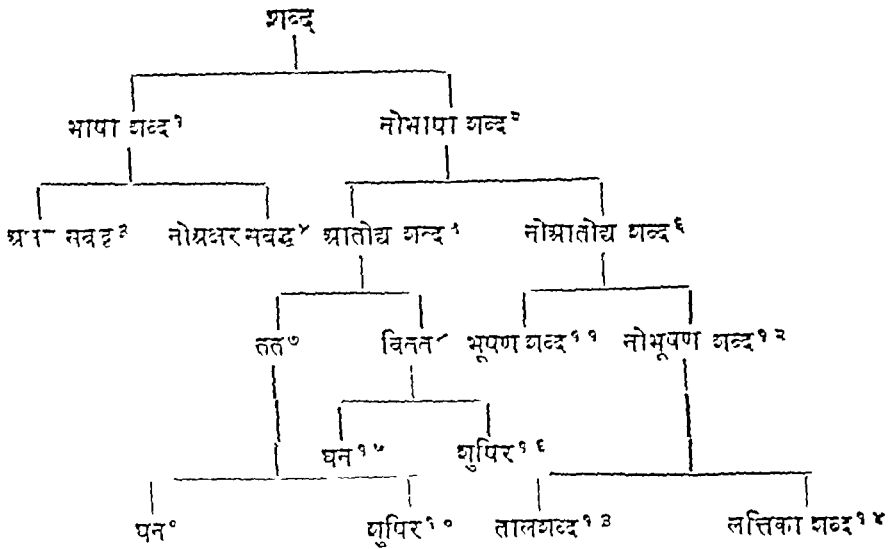
१—मनुष्य अथवा पशु-पक्षियों के शब्द ।

२—अजीव वस्तु का शब्द ।

३—अकार आदि वर्ण रूपी शब्द ।

४—वर्ण रहित अव्यक्त शब्द ।

५—पटह आदि के शब्द ।

६—[illegible]स्फोट आदि के शब्द ।

७—वीणा सारङ्गी आदि के शब्द ।

८—ढोल पटह आदि के शब्द । टीका—तन्त्री आदि से रहित शब्द

९—कांसे व भाजन-विजनिका आदि के शब्द ।

१०—मुरली बांसुरी, शङ्ख आदि के शब्द । टीका के अनुसार पटह, वीणा आदि के शब्द

पञ्चास्तिकाय १.७९ की जयसेन टीका

ततं वीणादिकं ज्ञेयं विततं पटहादिकं ।
घनं तु कांस्यतालादि [illegible] शुषिरं मतम् ॥

शब्द श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है। शब्द या तो शुभ होते हैं या अशुभ। इसी त[illegible] वे (१) आत्त-अनात्त, (२) इष्ट-अनिष्ट, (३) कान्त-अकान्त, (४) प्रिय-अप्रिय, (५) मनोज्ञ-अमनोज्ञ और (६) मनआम-अमनआम होते हैं[1]।

शब्द कानो के साथ स्पृष्ट होने पर सुनाई पडता है[2]।

भगवान महावीर ने बतलाया है कि शब्द आत्मा नही है। वह अनात्म है। य[illegible] रूपी है। वह भाषा वर्गणा के पुद्गलो का एक प्रकार का विशिष्ट परिणाम है[3]।

भाषा का आकार वज्रकी तरह होता है। लोकान्त में उसका अन्त होता है। भाषा दो समयो मे बोली जाती है[4]।

२—अन्धकार—तम, तिमिर। जो अंधा कर देता है—जिसके कारण वस्तुओं का [illegible] दिखाई नहीं देता, उसे अन्धकार कहते हैं। आतप सूर्य या दीपक के प्रकाश से जो पुद्गल तेजस् परिणाम को प्राप्त करते हैं वे ही श्याम भाव में परिणमन करते हैं। [illegible] अन्धकार पुद्गल परिणामी है। यह प्रकाश का विरोधी है।

३—उद्योत—तारा, ग्रह, चन्द्रादि के शीतल प्रकाश को उद्योत कहते हैं। चन्द्रमादि [illegible] से निकलता हुआ उद्योत पुद्गल प्रवाहात्मक होता है।

६—आतप सूर्यादि का उष्ण प्रकाश।

७—वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और संस्थान उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है "स्कंध और परमाणु के परिणाम वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और संस्थान से पाँच प्रकार के हैं

"वर्ण से परिणत पुद्गल काले, नीले, लाल, पीले और शुक्ल पाँच प्रकार के होते हैं।

"गंध से परिणत पुद्गल सुगन्ध-परिणत और दुर्गन्ध-परिणत दो तरह के होते हैं।

"रस से परिणत पुद्गल तिक्त, कटु, कषाय, खट्टे और मधुर पाँच प्रकार के होते हैं।

"स्पर्श से परिणत पुद्गल कर्कश, कोमल, भारी, हल्का, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष आठ प्रकार के होते हैं।

"संस्थान से परिणत पुद्गल परिमण्डल, वृत्त, त्रिकोण, चतुष्कोण और लम्बे—पाँच प्रकार के होते हैं[1]।"

८—एकत्व परमाणु का एक या अधिक परमाणु अथवा स्कंध के साथ मिलना एकत्व है।

९—पृथक्त्व स्कंध से परमाणु का जुदा होना पृथक्त्व है।

१०—संख्या एक परमाणु रूप होना अथवा दो परमाणु से आरंभ कर अनन्त परमाणुओं का स्कंध होना। अथवा द्रव्यों के प्रदेशों की संख्या के परिगणन का हेतु होना।

११—संस्थान भगवती सूत्र में संस्थान (आकृति) पाँच प्रकार के कहे हैं (१) परिमंडल, (२) वृत्त, (३) त्र्यस्र, (त्रिकोण), (४) चतुरस्र, (चतुष्कोण) और (५) आयत (लंबा)[2]। संस्थान की संख्या छः भी मिलती है। इसका छठा प्रकार अनित्थंस्थ है[3]। संस्थान के सात भेद भी कहे गये हैं (१) दीर्घ, (२) ह्रस्व, (३) वृत्त, (४) त्र्यस्र, (५) चतुरस्र, (६) पृथुल और (७) परिमंडल[4]।

१२—संयोग—बंध। यह प्रायोगिक और वैस्रसिक दो प्रकार का होता है। जीव और शरीर का सम्बन्ध अथवा टेबिल के अवयवों का सम्बन्ध प्रयत्न साध्य होने से प्रायोगिक है। बादलों का बनना स्वाभाविक वैस्रसिक है।

१३—विभाग—भेद। मुख्य भेद पाँच हैं[5]। (१) उत्कर चीरने या फाड़ने

से लकडी, पत्थर आदि के जो भेद होते हैं, (२) चूर्णिक—पीसने से आटा आदि का जो भेद होते हैं, (३) खण्ड—सुवर्ण के टुकडे के रूप के भेद, (४) प्रतर—अबरग की चादरो के रूप के भेद और (५) अनुतटिका—छाल दूर करने की तरह के भेद—जैसे ईख का छीलना[१]।

१४—सूक्ष्मत्व स्थूलत्व—बेल से बेर का छोटा होना सूक्ष्मत्व है। बेर से बेल का बड़ा होना स्थूलत्व है।

१५—अगुरुलघुत्व 'लोक प्रकाश' मे अगुरुलघुत्व और गति को पुद्गल का परिणाम कहा है। परमाणु गुरुलघु रूप में परिणत नही होता वह अगुरुलघु है। पुद्गल स्कंध गुरुलघु परिणाम वाले हैं।

१६—गति एक स्थल से दूसरे स्थल जाना गति परिणाम है।

३२—(गा० ५६-६१) :

इन गाथाओं में वे ही भाव हैं जो गा० ४४-४५ तथा ५३-५४ में हैं[1]। स्वामीजी ने पुद्गल के विषय में निम्न सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं :

(१) पुद्गल द्रव्यतः शाश्वत है और भावतः अशाश्वत।

(२) द्रव्य-पुद्गल कभी उत्पन्न नहीं होते और न उनका कभी विनाश ही होता है।

(३) भाव-पुद्गल उत्पन्न होते रहते हैं और उन्हीं का विनाश होता है।

(४) भाव-पुद्गलों की उत्पत्ति और विनाश होने पर भी उनके आधारभूत द्रव्य-पुद्गल ज्यों-के-त्यों रहते हैं।

(५) अनन्त द्रव्य-पुद्गलों की संख्या कभी घटती-बढ़ती नहीं।

भगवती सूत्र में पुद्गल को द्रव्यार्थिक दृष्टि से शाश्वत और पर्यायार्थिक दृष्टि से अशाश्वत कहा है[2]। इसी तरह ठाणाङ्ग में पुद्गल को विनाशी और अविनाशी दोनों कहा है[3]। इस तरह स्वामीजी का प्रथम कथन आगम आधारित है।

जीव-द्रव्य के विषय में कहा जाता है :

"जीव भाव सत्रूप पदार्थ है। सुर-नर-नारक-तिर्यञ्च रूप उसकी अनेक पर्यायें हैं। मनुष्य पर्याय से च्युत देही (जीव) देव होता है अथवा कुछ और (नारकी, तिर्यञ्च या मनुष्य)। दोनों भाव-पर्यायों में जीव जीव रूप में रहता है। मनुष्य पर्याय के सिवा अन्य का नाश नहीं हुआ। देवादि पर्याय के सिवा अन्य की उत्पत्ति नहीं हुई। एक ही जीव उत्पन्न होता है और मरण को प्राप्त करता है। फिर भी जीव न नष्ट हुआ और न उत्पन्न हुआ है। पर्यायें ही उत्पन्न और नष्ट हुई हैं। देव-पर्याय उत्पन्न हुई है। मनुष्य-पर्याय का नाश हुआ है। संसार में भ्रमण करता हुआ जीव देवादि भाव—पर्यायों—को करता है और मनुष्यादि भाव—पर्यायों—का नाश करता है। विद्यमान भाव—पर्याय—का अभाव करता है और अविद्यमान भाव—पर्याय—की उत्पत्ति करता है। जीव गुण-पर्याय सहित विद्यमान है। सत् जीव का विनाश नहीं होता, असत् जीव की उत्पत्ति नहीं होती। एक ही जीव की मनुष्य, देव आदि भिन्न भिन्न गतियाँ हैं[4]।"

---

१ देखिये पृ० १०५ टि० २६, ३०

२ भगवती १४, १४४

३—ठाणाङ्ग २. ३. ८२ : दुविहा पोग्गला प० तं० भेउरधम्मा चेव नोभेउरधम्मा चेव।

४—पञ्चास्तिकाय १.१७-१८ तथा १९ का सार।

परमाणु। स्कंध-देश और स्कंध-प्रदेश स्कंध के कल्पना-प्रसूत विभाग हैं। क्योंकि स्कंध के जितने भी टुकड़े किये जाते हैं वे सब स्वतंत्र स्कंध होते हैं। केवल प्रदेश को अलग करने पर स्वतंत्र परमाणु प्राप्त होता है। देश और प्रदेश की स्वतंत्र उपलब्धि नहीं होती। स्वतंत्र अस्तित्व स्कंध अथवा परमाणु का ही होता है। इसीसे वाचक उमास्वाति ने कहा है "अणवः स्कंधाश्च" (५.२५)—पुद्गल परमाणु रूप और स्कंध रूप है। यही बात ठाणाङ्ग में कही गई है[1]।

स्कंध परमाणुओं से उत्पन्न हैं। वे दो परमाणुओं से लेकर अनन्त परमाणुओं तक के संयोगज हैं। अनन्तपरमाणु स्कंध यावत् द्वयणुक स्कंध तक का विच्छेद संभव है क्योंकि स्कंध परमाणु-पुद्गल के पर्याय विशेष हैं, उनसे रचित हैं, भाव-पुद्गल हैं। जब स्कंधों पर किसी भी ऐसे प्रकार का प्रयोग किया जाता है जिससे उनका भंग या विच्छेद होता हो तो वे परमाणुओं को छोड़ते हैं। पर वे परमाणु सुरक्षित रहते हैं उनका नाश नहीं होता। स्कंध के सब परमाणु स्वतंत्र कर दिये जायँ तो स्कंध का नाश होगा, पर उस स्कंध के परमाणु ज्यों-के-त्यों रहेंगे। बिछुड़े हुये परमाणु जब इकट्ठे होते हैं तो स्कंध बनता है। इस तरह स्कंध की उत्पत्ति होती है परन्तु परमाणुओं का नाश नहीं होता। वे इस स्कंध रूप में सुरक्षित रहते हैं। इस तरह द्रव्य-पुद्गल हमेशा शाश्वत होते हैं। उनकी जितने भी पर्याय हैं, वे विनाशशील हैं। उत्पत्ति पर्यायों की होती है और विनाश भी उन्हीं का।

"जो अपने सत् स्वभाव को नही छोडता, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से सबद्ध होता है और
जो गुण और पर्याय सहित है उसे द्रव्य कहते हैं। स्वभाव मे अवस्थित सत् रूप तत्त्व
द्रव्य है। अर्थो मे—गुण-पर्यायो मे सभव-स्थिति-नाश रूप परिणमन करना द्रव्य का
स्वभाव है। व्यय रहित उत्पाद नही होता, उत्पाद रहित व्यय नहीं होता। उत्पाद
और व्यय, बिना ध्रौव्य पदार्थ के नही होते। द्रव्य सभव-स्थिति-नाश नामक अर्थों
(भावों) से निश्चय कर समवेत है और वह भी एक ही समय में। इस कारण निश्चय
कर उत्पादिक त्रिक द्रव्य के स्वरूप हैं। द्रव्य की एक पर्याय उत्पन्न होती है और अन्य
विनष्ट होती है तो भी द्रव्य न नष्ट होता है और न उत्पन्न[1]।" "द्रव्य की उत्पत्ति या
विनाश नहीं है। द्रव्य सद्भाव है। उसी द्रव्य की पर्यायें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य करती
हैं। भाव (सत् रूप पदार्थ) का नाश नहीं है। अभाव की उत्पत्ति नहीं है। भाव—
(सत् रूप पदार्थ) गुण पर्यायो मे उत्पादव्यय करते हैं[2]।"

tance (quantity of matter) present before and after the process has taken place There is only a change or modification of the matter[1] " अर्थात् कोई भी चीज नई उत्पन्न नही की जा सकती। किसी भी रसायनिक प्रक्रिया के बाद वस्तु (जड-पदार्थकी मात्रा) उतनी ही रहती है जितनी कि उस प्रक्रिया के आरम्भ होने के समय रहती है। केवल जड-पदार्थ का रूपान्तर या परिवर्तन होता है।

इस सिद्धान्त को विज्ञान मे 'जड-पदार्थ की अनश्वरता का नियम' (Law of Indestructibility of matter) या 'जड-पदार्थ के स्थायित्व का नियम (Law of Conservation of matter) कहा जाता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार वस्तु के वजन—तौल मे कमी नही आती। मोमवत्ती में जितना वजन होगा प्राय उतना ही वजन मोमवत्ती के जल जाने पर उससे प्राप्त वस्तुओ में होगा। जितना वजन जल में होगा उतना ही उससे प्राप्त ऑक्सीजन और हाइड्रोजन मे होगा।

इसीलिए इस सिद्धान्त को आजकल इन शब्दो मे रखा जाता है

" No change in the total weight of all the substances taking part in a chemical change has ever been observed[2]

अर्थात् रसायनिक परिवर्तनो मे भाग लेनेवाली कुल वस्तुओ का भार परिवर्तन के पश्चात् बनी हुई वस्तुओ के कुल भार के बराबर होता है। उनके भार मे कभी कोई परिवर्तन नही देखा गया।

इस सिद्धान्त का फलितार्थ यह है कि किसी भी रसायनिक या भौतिक परिवर्तन मे कोई जड-पदार्थ न नष्ट होता है और न उत्पन्न होता है केवल उसका रूप बदलता है। यदि रासायनिक परिवर्तनों मे भाग लेनेवाली वस्तुओ का कुल भार परिवर्तन से बनी हुई वस्तुओ के कुल भार के बराबर होता है अतः सिद्ध है कि जड-पदार्थ उत्पन्न या नष्ट नहीं होता।

weight) की तरह ही शक्ति[1] (energy) के विषय में भी स्थायित्व का नि
इसका अर्थ है एक प्रकार की शक्ति अन्य प्रकार की शक्ति मे परिवर्तित हो ना
है। पर जड पदार्थ की तरह शक्ति भी न नष्ट हो सकती है और न नई उत्पन्न हो
सकती है[2]। शक्ति के नष्ट न होने के इस नियम को 'शक्ति के स्थायित्व का नि
(Law of conservation of energy) कहा जाता है[3]।

इन दोनो नियमो को वैज्ञानिको ने अनेक प्रयोगो द्वारा सिद्ध किया है।

डाल्टन ने १८०३ मे परमाणुवाद (Atomic theory) के नियम को वि
जगत के सम्मुख रक्खा। परमाणुवाद के कई महत्वपूर्ण प्रतिपाद्यो में से प
प्रकार है

मानते हैं[1]।

इस तरह जड-पदार्थ की अनश्वरता के नियम की शब्दावलि में परिवर्तन की आव... वैज्ञानिको को मालूम पडने लगी और उनका सुझाव है कि प्रामाणिकता की दृष्टि से 'पदार्थ के स्थायित्व का नियम' (The law of conservation of matter) और ... के स्थायित्व का नियम (The law of conservation of energy) ... नियमो को एक ही नियम मे समा देना चाहिए तथा उसका नाम 'जड-पदार्थ और ... के स्थायित्व का नियम' (The law of conservation of mass) कर देना चाहि...।

१—The theory of relativity requires that an emission of energy E in a chemical change should be accompanied by a loss of mass equal to $\frac{E}{c^2}$, where c is the velocity of light Matter is therefore no longer regarded as indestructible by a chemical change, although the mass lost by conversion to energy in any change which can be controlled in the laboratory is quite beyond detection by the most sensitive balance, the loss of mass attending the combustion of 1 gram of phosphorus is 2 6×10-10 (General and Inorganic Chemistry by P J Durrant p 18)

जैन पदार्थविज्ञान उष्णता, शब्द, प्रकाश, गति आदि को द्रव्य-पुद्गल का परिणाम मानता रहा है। आज का विज्ञान जड़-पदार्थ (matter) और शक्ति (energy) को एक दूसरे से भिन्न चीजें भले ही माने[1] पर इतना अवश्य स्वीकार करता है कि ये एक दूसरे में परिवर्तित हो सकते हैं (देखिये पृ० १२२ पा० टि० २)। आइन्स्टीन ने सिद्ध कर दिया है कि शक्ति (energy) में भी भार होता है[2]। पुद्गल की जैन परिभाषा के अनुसार शक्ति के भिन्न भिन्न रूप पौद्गलिक पर्याय हैं।

शक्ति को जड़-पदार्थ से भिन्न मानने के कारण ही विज्ञान आज जड़ पदार्थ को विनाशशील और उत्पत्तिशील मानने लगा है। जैन पदार्थविज्ञान के अनुसार शक्ति द्रव्य-पुद्गल की पर्याय मात्र है अतः उसकी (शक्ति की) उत्पत्ति और नाश

१—Again a brick in motion is different from a brick at rest. A piece of iron behaves differently when it is hot or when it is magnetized, or is in motion. We thus form the idea of heat, motion etc., separately from the matter of brick or iron. The thing associated with matter in this way bringing about changes in its condition is energy. The different forms in which energy may appear are mechanical energy, heat, sound, light, electrical or magnetic energy, chemical energy and one form of energy frequently changes into another form. (A Text Book of Inorganic chemistry by Ladli Mohan Mitra M.Sc. B.L. page 114-3rd Edition)

डाल्टन के अनुसार जो अणु अविभाज्य था वह आज अन्य ऐसे अत्यन्त सूक्ष्म कणो से बना हुआ माना गया है जो विद्युत परिपूर्ण हैं और जिनको इलैक्ट्रोन कहते हैं।

जैन-पदार्थ विज्ञान का परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म और अविभाज्य है। वास्तव मे डाल्टन का अणु स्कंध रहा। मूल परमाणुओ का विभाजन असभव है।

रासायनिक विद्वान् व्यवहार मे अब भी अणु को ही द्रव्य का अन्तिम अंश समझते हैं और उसका अभी भी सारी प्रयोग सम्बन्धी क्रियाओ के लिए इकाई मानते हैं[1]। जैन दृष्टि से अणु को ही नही इलैक्ट्रोन आदि को भी व्यावहारिक अणु कहा जायगा। 'अनुयोगद्वार' में कहा है—परमाणु दो तरह के हैं (१) सूक्ष्म और (२) व्यावहारिक। सूक्ष्म परमाणु अछेद्य, अभेद्य, अग्राह्य, अदाह्य और निर्विभाज्य है। व्यावहारिक परमाणु अनन्त सूक्ष्म परमाणु पुद्गलो की समुदाय समितियो के समागम से उत्पन्न होता है[2]।

विज्ञान कहता है कि विश्व मे वस्तु का वजन या परिमाण (weight or mass) हमेशा समान रहता है। जैन तत्त्वज्ञान कहता है कि विश्व के जितने मूलभूत द्रव्य हैं उनकी संख्या मे कमी नही होती—वे नाश को प्राप्त नही हो सकते। मूलभूत द्रव्यो का नाश नही होता। इससे भी यही सार निकलता है कि द्रव्यो का वजन नही घटता, वह उतना का उतना ही रहता है। जैनधर्म का यह सिद्धान्त जड-पदार्थ के लिए ही लागू नही परन्तु जीव-पदार्थ और अरूपी अचेतन पदार्थो के लिए भी है इसलिए यह आधुनिक विज्ञान के सिद्धान्त से अधिक व्यापक है।

जितनी भी पौद्गलिक चीजें बनती हुई मालूम देती हैं वे सब पुद्गल-द्रव्य की

१—But atoms are the units which retain their identity when chemical reactions take place, therefore, they are important to us now. Atoms are the structural units of all solids, liquids and gases (General Chemistry by Linus Pauling p. 20)

२—अनुयोग द्वार प्रमाण द्वार

परमाणू दुविहे प० तं० सुहुमे य ववहारिए य। तत्थ णं जे से ववहारिए से णं अणंताणं सुहुमपरमाणुपोग्गलाणं समुदयसमिइसमागमेणं ववहारिए परमाणू निप्फज्जइ।

नन्त है और स्थिति की अपेक्षा से सादि सान्त है[1] ।" स्वामीजी के कथन का आधार ही आगम वाक्य है ।

अतिरिक्त टिप्पणियाँ[2]

३४—षट् द्रव्य समास में

प्रथम दो ढालो मे षट् द्रव्यो का वर्णन विस्तारपूर्वक आया है । ठाणाङ्ग तथा भगवती[3] सूत्र मे उनका वर्णन चुम्बक रूप मे उपलब्ध है । उसमे समूचे विवेचन का सार आ जाता है अत उसे यहाँ देना पाठको के लिए बडा लाभदायक है

"संक्षेप मे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल प्रत्येक के द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव और गुण से पाँच-पाँच प्रकार हैं ।

"द्रव्य से धर्मास्तिकाय एक द्रव्य है, क्षेत्र से लोकप्रमाण मात्र है, काल से कभी नही था ऐसा नही, नही है ऐसा नही, नही होगा ऐसा नही, वह ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षत, अव्यय, अवस्थित और नित्य है, भाव से अवर्ण, अगंध, अरस, अस्पर्श—अरूपी अजीव द्रव्य है तथा गुण से गमनगुण वाला है ।

"द्रव्य से अधर्मास्तिकाय एक द्रव्य है, क्षेत्र से लोकप्रमाण मात्र है, काल से कभी नही था ऐसा नही, नही है ऐसा नही, नही होगा ऐसा नही, ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षत, अव्यय, अवस्थित और नित्य है, भाव से अवर्ण, अगंध, अरस, अस्पर्श—अरूपी अजीव द्रव्य है तथा गुण से स्थितिगुण वाला है ।

"आकाशास्तिकाय द्रव्य से एक द्रव्य है, क्षेत्र से लोकालोकप्रमाण मात्र अनन्त है, काल से कभी नही ऐसा नही, नही है ऐसा नही, नही होगा ऐसा नही, ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षत, अव्यय, अवस्थित और नित्य है, भाव से अवर्ण, अगंध, अरस, अस्पर्श—अरूपी अजीव द्रव्य है तथा गुण से अवगाहनागुण वाला है ।

"जीवास्तिकाय द्रव्य से अनंत द्रव्य है, क्षेत्र से लोकप्रमाण मात्र है काल से कभी नही था ऐसा नही, नही है ऐसा नही, नही होगा ऐसा नही, ध्रुव, नियत, शाश्वत,

१— उत्त० ३६.१०

अनंत, अव्यय, अवस्थित और नित्य हैं, भाव से अवर्ण, अगंध, अरस, अस्पर्श—अरूपी जीव द्रव्य है तथा गुण से उपयोगगुण वाला है।

"पुद्‌गलास्तिकाय द्रव्य से अनंत द्रव्य है, क्षेत्र से लोकप्रमाण मात्र है, काल से कभी नहीं था ऐसा नहीं, नहीं है ऐसा नहीं, नहीं होगा ऐसा नहीं, ध्रुव, नियत, शाश्वत, अनंत, अव्यय, अवस्थित और नित्य है, भाव से वर्ण-गंध-रस-स्पर्शवान रूपी अजीव द्रव्य है और गुण से ग्रहणगुण वाला है।

"काल द्रव्य से अनन्त द्रव्य है, क्षेत्र से समयक्षेत्र प्रमाण मात्र है, काल से कभी नहीं था ऐसा नहीं, नहीं है ऐसा नहीं, नहीं होगा ऐसा नहीं, ध्रुव, नियत, शाश्वत, [illegible], [illegible], अवस्थित, और नित्य है, भाव से अवर्ण, अगंध, अरस, अस्पर्श—अरूपी अजीव द्रव्य है तथा गुण से वर्तना गुण है[1]।"

[illegible]—जीव और धर्मादि द्रव्यों के उपकार

[illegible] आदि का जीवों के प्रति क्या उपकार है इस विषय में 'भगवती'[2] [illegible] [illegible] वर्णन है

जीव उपयोग लक्षणवाला है।

"पुद्गलास्तिकाय द्वारा जीवो के औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर, श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुइन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय, मनोयोग, वचनयोग और काययोग तथा श्वासोच्छ्वास का ग्रहण होता है। पुद्गलास्तिकाय ग्रहणलक्षण वाली है।"

३६—साधर्म्य वैधर्म्य

प्रथम दो ढालो में षट् द्रव्यो का विवेचन है। इन द्रव्यो में परस्पर में क्या साधर्म्य वैधर्म्य है वह यथास्थान बताया जा चुका है। पाठको की सुविधा के लिए उनकी संक्षिप्त सूचि यहाँ दी जा रही है

१—षट् द्रव्यो में जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य परिणामी हैं और बाकी चार द्रव्य अपरिणामी हैं। पर्यायान्तरप्राप्ति जिसके होती है उसे परिणामी कहते हैं। धर्मादि द्रव्य औपाधिक परिणामी हैं। वे सदा एक रूप में रहते हैं अत स्वाभाविक परिणामी नही। जीव पुद्गल स्वभावत ही परिणमन—पर्यायान्तर—करते हैं अत परिणामी कहे गये हैं।

२—एक जीव द्रव्य जीव है, बाकी पांच द्रव्य अजीव हैं।

३—एक पुद्गल रूपी है, बाकी पांच अरूपी हैं।

४—पांच द्रव्य अस्तिकाय है—सप्रदेशी हैं केवल काल द्रव्य अप्रदेशी है।

५—धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन द्रव्य एक-एक हैं, बाकी द्रव्य अनेक हैं।

६—आकाश क्षेत्र है और अन्य पांच द्रव्य उसमे रहने वाले—क्षेत्री हैं।

७—जीव और पुद्गल दो द्रव्य सक्रिय हैं, बाकी चार अक्रिय हैं।

८—धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य एक रूप मे रहते हैं अत नित्य हैं। जीव और पुद्गल एक रूप मे नही रहते इस अपेक्षा से नित्य नहीं हैं।

९—जीव अकारण है—दूसरे द्रव्यो का उपकारी नही, बाकी पांच कारणरूप हैं—जीव के उपकारी हैं।

१०—जीव कर्त्ता है—पुण्य, पाप, बंध मोक्ष का कर्त्ता है और बाकी पांच अकर्त्ता।

११ [illegible] सर्वगत है और बाकी पाच असर्वगत।

१२ [illegible] परन्तु प्रवेश रहित है [illegible] नही हो सकता।

इन तीसरे वार्तालाप से स्पष्ट है कि जिन षट् द्रव्यो का वर्णन प्रथम दो ढालो मे आया है वह लोक उन्ही से निष्पन्न है। लोक के बाद शून्य आकाश है जिसे अलोक कहते हैं। वहाँ अन्य कोई द्रव्य नही है।

दिगम्बर आचार्यो ने भी लोक का वर्णन पञ्चास्तिकाय और षट् द्रव्य दोनो की अपेक्षाओ से किया है। आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं —

समवाओ पचराह समउत्ति जिणुत्तमेहिं पराणत्तं।
सो चेव हवदि लोओ तत्तो अमिओ अलोओ ख[1] ॥
पोग्गलजीवणिवद्धो धम्माधम्मत्थिकायकालड्ढो।
वट्टदि आगासे जो लोगो सो सव्वकाले दु[2] ॥

आचार्य नेमिचन्द्र लिखते हैं

धम्माधम्माकालो पुग्गलजीवा य संति जावदिये।
आयासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगुत्तो[3] ॥

लोकालोक का विभाजन धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय द्रव्यो के हेतु से है क्योकि ये दोनो ही लोक-व्यापी हैं। लोकालोक का विभाजन जीव, पुद्गल, काल द्वारा सम्भव नही क्योकि पुद्गलो की स्थिति लोकाकाश के एक प्रदेश आदि मे विकल्प से अर्थात् अनियत रूप से होती है। जीवो की स्थिति लोक के असख्यातवें भागादि मे होती है[4]। और काल का क्षेत्र केवल ढाई द्वीप ही है। इसीलिए कहा है—"जादो अलोगलोगो जेसिं सब्भावदो य गमणठिदी[5]"—गमन और स्थिति के हेतु धर्म से और अधर्म के सद्भाव से लोक और अलोक हुआ है। धर्म, अधर्म द्रव्यो का क्षेत्र आकाश का एक भाग है। उनके बाहर उनके अभाव से जीव पुद्गल की गति, स्थिति नही होती। इस तरह धर्म, अधर्म द्रव्यो की स्थिति का क्षेत्र उसके बाहर के क्षेत्र से जुदा हो जाता है। यही लोक अलोक का भेद है।

१—पञ्चास्तिकाय १.३। यह बात १.२२, २३ में भी कही है। १.१०२ भी देखिये।

२—प्रवचनसार २.३६

३—द्रव्यसंग्रह २०

४—[illegible] १. ११

५—पञ्चास्तिकाय १.८७

: ३ :

पुण्य पदार्थ

दोहा

१—तीसरा पदार्थ पुण्य है। इसके संचय से लोग सुख मानते हैं। पुण्य से कामभोग—शब्दादि प्राप्त होते हैं। अतः लोग इसे उत्तम समझते हैं।

पुण्य और लौकिक दृष्टि

२—पुण्य से प्राप्त सुख पौद्गलिक होते हैं। वे कामभोग—शब्दादि रूप हैं। कर्म की अधीनता के कारण जीव को ये सुख मीठे लगते हैं परन्तु ज्ञानी पुरुष तो इन्हें जहर के समान जानते हैं।

पुण्य और ज्ञानी की दृष्टि

३—जिस तरह जब तक शरीर में विष व्याप्त रहता है तब तक नीम के पत्ते मीठे लगते हैं, उसी तरह कर्म के उदय से जीव को कामभोग अमृत के समान लगते हैं।

विनाशशील और रोगोत्पन्न सुख (दो ३-४)

४—पौद्गलिक पुण्य-सुख विनाशशील हैं। इनमें जरा भी वास्तविकता मत समझो। मोह कर्म की अधीनता से बेचारे जीव [illegible] सुखों में आसक्त हैं।

५—पुण्य पदार्थ शुभ कर्म है। उसकी जरा भी कामना नहीं करनी चाहिए[1]। अब पुण्य पदार्थ का यथातथ्य वर्णन करता हूँ, चित्त लगा कर सुनना।

पुण्य कर्म है अतः हेय है

ढाल : १

१—पुण्य पुद्गल की पर्याय है। कर्म-योग्य पुद्गल आत्मा में प्रवेश कर उसके प्रदेशों से बंध जाते हैं। बंधे हुए जो कर्म शुभ रूप से उदय में आते हैं उन पुद्गलों का नाम पुण्य है[1]।

पुण्य की परिभाषा

—आठ कर्मों में चार केवल पाप स्वरूप हैं और चार कर्म पुण्य और पाप दो प्रकार के हैं। पुण्य कर्म से जीव को सुख होता है, कभी दुःख नहीं होता[3]।

आठ कर्मो मे पुण्य कितने ?

—पुण्य के अनन्त प्रदेश हैं। वे जब जीव के उदय में आते हैं तो उसको अनन्त सुख करते हैं। इसीलिए पुण्य की अनन्त पर्यायें होती हैं[4]।

पुण्य की अनन्त पर्यायें

४—जब जीव के निरवद्य योग का प्रवर्तन होता है तो उसके शुभ पुद्गलों का बंध होता है[5]। इन कर्म-पुद्गलों के गुणानुसार अलग-अलग नाम हैं।

पुण्य का बंध निरवद्य योग से

५—जो कर्म पुद्गल साता वेदनीय रूप में परिणमन करते हैं और सात रूप में उदय में आते हैं वे जीव को सुख कारक होते हैं, इससे उनका नाम 'साता वेदनीय कर्म' रखा गया है[6]।

साता वेदनीय कर्म

६—जब पुद्गल शुभ आयु रूप में परिणमन करते हैं तो जीव अपने शरीर में दीर्घ काल तक जीवित रहने की इच्छा करता है और सोचता है कि मैं जीता रहूँ और मरूँ नहीं, ऐसे कर्म-पुद्गलों का नाम 'शुभ आयुष्य कर्म' है।

शुभ आयुष्य कर्म उसके तीन भेद-

७—कई देवता और कई मनुष्यों के शुभ आयुष्य होता है जो पुण्य की प्रकृति है। युगलियों और तिर्यञ्चों का आयुष्य भी पुण्य रूप मालूम देता है[7]।

१-देवायुष्य
२-मनुष्यायुष्य
३-तिर्यञ्चायुष्य

८—जो कर्म शुभ नाम रूप से परिणमन करते हैं तथा विपाक अवस्था में शुभ नाम रूप से उदय में आते हैं उनसे अनेक बातें शुद्ध होती हैं इसलिए जिन भगवान ने इनको 'शुभ नाम कर्म' कहा है।

शुभ नाम कर्म उसके ३७ भेद- (गा० ८-२६)

९—शुभ आयुष्यवान मनुष्य और देवताओं की गति और आनुपूर्वी शुभ होती है। कई एकेन्द्रिय जीव विशुद्ध होते हैं। उनकी जाति भी विशुद्ध होती है।

१-मनुष्य गति
२-मनुष्य आनुपूर्वी
३-देव गति
४-देव आनुपूर्वी
५-पंचेन्द्रिय जाति

१०—पाच शरीर छै सुच निरमला, त्यारा निरमला तीन उपग हो लाल।
ते पामे सुभ नाम उदय हूआ, सरीर ने उपग सुचग हो लाल॥

११—पेहला सघयण ना रूडा हाड छै, पेहलो सठाण रूडे आकार हो लाल।
ते पामे सुभ नाम उदे थकी, हाड नें आकार श्रीकार हो लाल॥

१२—भला भला वर्ण मिले जीव ने, गमता गमता घणा श्रीकार हो लाल।
ते पामे सुभ नाम उदे हूआ, जीव भोगवे विविध प्रकार हो लाल॥

१३—भला भला [illegible] मिले [illegible] जीव रे, गमता गमता घणा श्रीकार हो लाल।
ते पामे सुभ नाम उदे थकी, जीव भोगवे विविध प्रकार हो लाल॥

१०—शुद्ध निर्मल पांच शरीर और इन शरीरों के तीन निर्मल उपाङ्ग—ये सब शुभ नाम कर्म के उदय से प्राप्त होते हैं। सुन्दर शरीर और उपाङ्ग इन्हींसे होते हैं।	१०-पांच शरीर १३-तीन उपाङ्ग
११—पहिले संहनन के हाड़ अच्छे (मजबूत) और पहले संस्थान का आकार सुन्दर होता है। शुभ नाम कर्म के उदय से ये प्राप्त होते हैं।	१४-प्रथम संहनन १५-प्रथम संस्थान
१२—अच्छे-अच्छे प्रिय वर्ण, जिनका जीव अनेक प्रकार से भोग करता है, शुभ नाम कर्म के उदय से ही प्राप्त होते हैं।	१६-शुभ वर्ण
१३—अच्छी-अच्छी प्रिय गंध, जिनका जीव अनेक प्रकार से भोग करता है, शुभ नाम कर्म के उदय से ही प्राप्त होती हैं।	१७-शुभ गंध
१४—अच्छे-अच्छे प्रिय रस, जिनका जीव अनेक प्रकार से भोग करता है, शुभ नाम कर्म के उदय से ही प्राप्त होते हैं।	१८-शुभ रस
१५—अच्छे-अच्छे प्रिय स्पर्श, जिनका जीव अनेक प्रकार से भोग करता है, शुभ नाम कर्म के उदय से ही प्राप्त होते हैं।	१९-शुभ स्पर्श
१६—त्रस-दशक पुण्योदय से—शुभ नाम कर्म के उदय से प्राप्त होते हैं। मैं इनका अलग-अलग वर्णन करता हूँ, सुज्ञ और चतुर लोग तत्त्व का निर्णय करें।	त्रस दशक :
१७—'त्रस शुभ नाम कर्म' के उदय से चेतन जीव त्रसावस्था को पाता है, 'बादर शुभ नाम कर्म' के उदय से जीव बादर होता है।	२०-त्रसावस्था २१-बादरत्व
१८—'प्रत्येक शुभ नाम कर्म' के उदय से जीव प्रत्येकशरीरी होता है, 'पर्याप्त शुभ नाम कर्म' से जीव पर्याप्त होता है।	२२-प्रत्येक शरीरी २३-पर्याप्त

'स्थिर शुभ नाम कर्म' के उदय से शरीर के अवयव दृढ होते हैं, 'शुभ नाम कर्म' से नाभि से मस्तक तक के अवयव सुन्दर होते हैं।

२४-स्थिर अवयव
२५-सुन्दर अवयव

'सौभाग्य शुभ नाम कर्म' से जीव सर्व लोक-प्रिय होता है, 'सुस्वर शुभ नाम कर्म' से जीव का कंठ सुस्वर और मधुर होता है।

२६-लोक-प्रियता
२७-सुस्वरता

—'आदेय वचन शुभ नाम कर्म' से जीव के वचन सबको मान्य होते हैं, 'यश कीर्त्ति नाम कर्म' के उदय से जगत मे यश-कीर्त्ति प्राप्त होती है।

२८-आदेय वचन
२९-यश कीर्ति

—'अगुरुलघु शुभ नाम कर्म' से शरीर हलका या भारी नहीं मालूम देता है, 'पराघात शुभ नाम कर्म' के उदय से जीव स्वयं विजयी होता है और दूसरा हारता है।

३०-अगुरुलघु
३१-पराघात

—'श्वासोच्छ्वास शुभ नाम कर्म' के उदय से प्राणी सुखपूर्वक श्वासोच्छ्वास लेता है, 'आतप शुभ नाम कर्म' के उदय से जीव स्वयं शीतल होते हुए भी दूसरा (सामने वाला) आतप (तेज) का अनुभव करता है।

३२-उच्छवास
३३-आतप

४—'उद्योत शुभ नाम कर्म' से शरीर शीत प्रकाशयुक्त होता है, 'शुभ गति नाम कर्म' से हंसादि जैसी सुन्दर चाल प्राप्त होती है

३४-उद्योत
३५-शुभ गति

१५—'निर्माण शुभ नाम कर्म' से शरीर खोट पुन्सियों से रहित होता है, 'तीर्थंकर नाम कर्म' के उदय से मनुष्य तीन लोक प्रसिद्ध तीर्थंकर होता है[८]।

३६-निर्माण
३७-तीर्थंकर-गोत्र

१६—[illegible] आदि चार तिर्यंचों की गति और आनुपूर्वी [illegible] फिर जो [illegible] है।

—पहले संस्थान और पहले संहनन के सिवा शेष चार संहनन और संस्थान में पुण्य का मेल मालूम देता है फिर जो ज्ञानी कहे वह प्रमाण है।

—जो-जो हाड़ पहले संहनन में हैं उनमें से ही जो शेष चार संहननों में हैं उनको एकान्त पाप में डालना न्याय-संगत नहीं मालूम देता।

९—जो-जो आकार पहिले संस्थान में हैं उनमें से ही जो आकार बाकी के चार संस्थानों में हैं उनको भी एकान्त पाप में डालना न्यायसंगत नहीं मालूम देता[९]।

उच्च गोत्र कर्म (गा० ३०-३१)

०—जो पुद्गल-वर्गणा आत्म-प्रदेशों में आकर उच्च गोत्र रूप परिणमन करती है और उसी रूप में उदय में आती है और जिससे उच्च पदों की प्राप्ति होती है उसका नाम 'उच्च गोत्र कर्म' है।

३१—सबसे उच्च और जिसके कहीं भी छूत नहीं लगी हुई है ऐसी जाति के जो मनुष्य और देवता हैं उनके उच्च गोत्र कर्म है[१०]।

पुण्य कर्मों के नाम गुणनिष्पन्न हैं (गा० ३२-३४)

३२—जो जो गुण जीव के शुभ रूप से उदय में आते हैं उनके अनुरूप ही जीवों के नाम हैं और जीव के साथ संयोग से वैसे ही नाम पुद्गलों के हैं।

३३—जीव पुद्गल से युक्त होकर नाना प्रकार के अच्छे-अच्छे नाम प्राप्त करता है। जिन पुद्गलों से जीव युक्त होता है उन पुद्गलों के नाम भी शुभ हैं।

३४—जिन पुद्गलों के संग से जीव संसार में उच्च कहलाता है वे पुद्गल भी उच्च कहलाते हैं। इसका न्याय [illegible] नहीं [illegible][११]।

पुण्योदय के फल (गा० २५-४५)

२५—तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव तथा माण्डलिक राजा आदि की महान् पदवियाँ सब पुण्य के ही कारण मिलती हैं।

२६—देवेन्द्र, नरेन्द्र और अहमिन्द्र आदि की बड़ी-बड़ी पदवियाँ सब पुण्य के प्रताप से मिलती हैं।

२७—पुद्गलों का शुभ परिणमन पुण्योदय से ही होता है। पुद्गलों के शुभ परिणमन से संसार में सुख की प्राप्ति होती है। इस तरह सारे सुख पुण्य के ही फल हैं, यह समझो।

२८—पुण्य के ही प्रताप से बिछुड़े हुए प्रियजनों का मिलाप होता है, सज्जनों का संग मिलता है। और यह भी पुण्य का ही कारण है कि शरीर में रोग नहीं व्यापता।

२९—पुण्य के ही प्रताप से हाथी, घोड़े, रथ और पैदलों की चतुरंगिणी सेना प्राप्त होती है और सब तरह की ऋद्धि, वृद्धि और सुख सम्पत्ति भी उसीके परिणाम से मिलती है।

४४—पुण्यवान के रूप—शरीर की सुन्दरता होती है। उसके वर्णादि श्रेष्ठ होते हैं। वह सबको प्रिय लगता है। उसका बार-बार बोलना सुहाता है।

४५—संसार में जो-जो सुख हैं उन सबको पुण्य के फल जानो[१०]। मैं कह कर कितना वर्णन कर सकता हूँ, बुद्धिमान स्वयं पहचान लें।

पौद्गलिक और आत्मिक सुखों की तुलना (गा० ४६-५१)

४६—पुण्य के जो सुख बतलाए गये हैं वे लौकिक (सांसारिक) दृष्टि की अपेक्षा से उत्तम हैं। मुक्ति-सुखों से इनकी तुलना करने से ये एकदम ही सुख नहीं ठहरते।

४७—पुण्य के सुख पौद्गलिक हैं और सब रोगोत्पन्न हैं। मुक्ति के सुख आत्मिक हैं और अनुपम हैं।

४८—जिस तरह पांव के रोगी को खाज अत्यन्त मीठी लगती है उसी तरह पुण्य के उदय होने पर इन्द्रियों के शब्दादि विषय जीव को सुखकर—प्रिय लगते हैं।

४९—जिस तरह सर्प के डंक मारने से विष फैलने पर नीम के पत्ते मीठे लगने लगते हैं उसी तरह पुण्य के उदय होने पर जीव को भोग मीठे और प्रधान लगते हैं।

५२—पुण्य की वाञ्छा करने से एकान्त—केवल पाप लगता है जिससे इस लोक में दुःख पाना पड़ता है और जीव के शोक-सन्ताप बढ़ते जाते हैं।

पुण्य की वाञ्छा से पाप-बंध (गा० ५२-५३)

५३—जो पुण्य की वाञ्छा—कामना करता है वह कामभोगों की कामना करता है। इससे नरक निगोद के दुःख होंगे और प्रिय वस्तुओं का वियोग होगा[१४]।

टिप्पणियाँ

१—दोहा १-५ :

इन प्रारम्भिक दोहो में स्वामी जी ने पुण्य पदार्थ के सम्बन्ध मे निम्न वातो का प्रतिपादन किया है

(१) पुण्य तीसरा पदार्थ है (दो० १) ;

(२) पुण्य पदार्थ से कामभोगो की प्राप्ति होती है (दो०१) ;

(३) पुण्य-जनित कामभोग विप तुल्य हैं (दो० २-४) ;

(४) पुण्योत्पन्न सुख पौद्गलिक और विनाशशील हैं (दो०२, ४) ; और

(५) पुण्य पदार्थ शुभ कर्म है अत अकाम्य है (दो० ५) ।

नीचे क्रमश इन पर प्रकाश डाला जाता है :

(१) पुण्य तीसरा पदार्थ है (दो० १)

भगवान महावीर ने कहा है—"ऐसी सज्ञा मत करो—ऐसा मत सोचो कि पुण्य और पाप नहीं हैं पर ऐसी सज्ञा करो कि पुण्य और पाप हैं[1] ।" उत्तराध्ययन में तथ्य भावो मे पुण्य का उल्लेख किया गया है [2]। ठाणाङ्ग में नवसद्भाव पदार्थों में तृतीय स्थान पर पुण्य की गिनती की गई है[3] । ससार में द्वन्द्व वस्तुओ का उल्लेख करते हुए पुण्य और पाप परस्पर विरोधी तत्त्व बताये गये हैं [4] । इससे प्रमाणित होता है कि जैनधर्म में पुण्य की एक स्वतत्र तत्त्व के रूप मे प्ररूपणा है और नव पदार्थों में उसका स्थान तृतीय माना गया है । दिगम्बराचार्यों ने भी पुण्य को स्वतत्र पदार्थ के रूप मे स्वीकार किया है[5]।

१—सूयगडं २.५.१६

नत्थि पुण्णे व पावे वा नेव सन्नं निवेसए ।

अत्थि पुण्णे व पावे वा एव सन्न निवेसए ॥

२—उत्त० २८.१४ (पृ० २५ पर उद्धृत)

३—[illegible] (पृ० [illegible] पा० टि० १ मे उद्धृत)

४—ठाणाङ्ग २.[illegible]

[illegible] लोगे त सव्व दुपओआर तजहा...पुन्ने चेव पावे चेव

५—(क) पञ्चास्तिकाय २.१०८

[illegible] भावा [illegible] पाव च आसव तेसिं ।

[illegible] मोक्खो य हवन्ति ते अट्ठा ॥

(ख) [illegible] २८

[illegible] जे ।

तत्त्वार्थसूत्र में सात तत्त्वों का उल्लेख है[१] और पुण्य और पाप को आस्रव तत्त्व के दो भेद के रूप में उपस्थित किया है[२]। हेमचन्द्राचार्य ने भी सात ही तत्त्व बताए हैं[३] और आस्रव तथा बंध के भेद रूप में भी पुण्य और पाप पदार्थों का उल्लेख नहीं किया है।

संसार में हम दो प्रकार के प्राणियों को देखते हैं—एक सम्पन्न और दूसरे दरिद्र, एक स्वस्थ और दूसरे रोगी, एक दुःखी और दूसरे सुखी। प्राणियों के ये भेद अकस्मात नहीं हैं, पर उनके अपने अपने कर्तृत्व के परिणाम हैं। जो कर्तृत्व प्रथम वर्ग की स्थितियों का उत्पादक है वही पुण्य तत्त्व है।

स्वामी जी ने आगमिक परम्परा के मतानुसार पुण्य को तीसरा पदार्थ माना है।

(२) पुण्य पदार्थ से कामभोगों की प्राप्ति होती है (दो० १)

शब्द और रूप को काम कहते हैं तथा गंध, रस और स्पर्श को भोग[४]।

शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श क्रमशः श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय के विषय हैं[५]। ये इष्ट या अनिष्ट, कान्त या अकांत, प्रिय अथवा अप्रिय, मनोज्ञ अथवा अमनोज्ञ, मन-आम अथवा अमनआम इस तरह दो-दो प्रकार के होते हैं[६]।

यहाँ कामभोग का अर्थ है—इष्ट, कांत, प्रिय, मनोज्ञ, और मन-आम शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श से युक्त भोगपदार्थ। ये कामभोग सजीव भी हो सकते हैं और निर्जीव भी[७]। एक बार भोगने योग्य भी हो सकते हैं और बार-बार भोगने योग्य भी। पुण्य पदार्थ से इन इष्ट कामभोगों की प्राप्ति होती है।

(३) पुण्य-जनित कामभोग विष-तुल्य हैं (दो० २-४)

इन शब्दादि कामभोगों के सम्बन्ध में दो दृष्टियाँ पाई जाती हैं—(१) संसारासक्त

मनुष्य की दृष्टि और (२) उदासीन ज्ञानी पुरुष की दृष्टि। जो कामभोगो में रुद्ध हैं वे कहते हैं—"हमने परलोक नही देखा और इन कामभोगो का आनन्द तो आंखो से देखा है—प्रत्यक्ष है। ये वर्तमान काल के कामभोग तो हाथ मे आए हुए हैं। भविष्य में कामभोग मिलेंगे या नही कौन जानता है? और यह भी कौन जानता है कि परलोक है या नही, जन में तो अनेक लोगो के साथ रहूंगा[1]।" ज्ञानी कहते हैं—"कामभोग शल्यरूप हैं। कामभोग विष रूप हैं, कामभोग जहर के सदृश हैं[2]। सर्व कामभोग दुःखरूप हैं[3]। अनर्थ की खान हैं[4]।"

इस दृष्टि भेद के कारण जो ससारी प्राणी हैं वे पुण्य को शब्दादि कामभोगो की प्राप्ति का कारण मान उपादेय मानते हैं और ज्ञानी शब्दादि कामभोगो को विष तुल्य समझ ऐहिक सुखो के उत्पादक पुण्य पदार्थ को हेय मानते हैं।

२—पुण्य शुभ कर्म और पुद्गल की पर्याय है (ढाल गाथा १)

इस गाथा मे पुण्य को पुद्गल की पर्याय बताते हुए उसकी परिभाषा दी गई है। इस विषय में पूर्व टिप्पणी १ अनुच्छेद ५ में कुछ प्रकाश डाला जा चुका है।

स्वामीजी कहते हैं—आत्मा के साथ बंधे हुए कर्म-वर्गणा के शुभ पुद्गल यथाकाल उदय में—फल देने की अवस्था में—आते हैं और शुभ फल देते हैं। इन्हें ही पुण्य कर्म कहते हैं।

जिस तरह तेल और तिल, घृत और दूध, धातु और मिट्टी ओतप्रोत होते हैं उसी तरह जीव और कर्म-वर्गणा के पुद्गल एक क्षेत्रावगाही होकर बन्ध जाते हैं। यह बंध या तो अशुभ कर्म-पुद्गलो का होता है या शुभ कर्म-पुद्गलो का। शुभ परिणामो से जो कर्म बंधते हैं वे शुभ रूप से और जो अशुभ परिणामो से बन्धते हैं वे पाप रूप से उदय मे आते हैं।

जीव का शुभ परिणाम भाव पुण्य है। भाव पुण्य के निमित्त से पुद्गल की कर्म-वर्गणा विशेष के शुभ पुद्गल आत्म-प्रदेशों में प्रवेश कर उनके साथ बन्ध जाते हैं। यह द्रव्य-पुण्य है[1]।

पुण्य कर्म किस तरह पुद्गल-पर्याय है, यह इससे सिद्ध है।

३—चार पुण्य कर्म (ढाल गा० २) :

इस गाथा में दो बातें कही गयी हैं

(१) आठ कर्मों में चार एकान्त पाप रूप हैं और चार पाप और पुण्य दोनों रूप।

(२) पुण्य केवल शुभोत्पन्न करता है।

इन मुद्दों पर नीचे क्रमशः प्रकाश डाला जाता है

(१) आठ कर्मों का स्वरूप : आत्मा के प्रदेशों में कर्म वर्गणा के पुद्गलों का बन्ध होता है। बंधे हुए कर्मों में भिन्न-भिन्न प्रकृतियों का निर्माण होता है। मूल प्रकृतियाँ आठ हैं। इन प्रकृतियों के भेद से कर्मों के भी आठ भेद होते हैं[2]

(क) जिस कर्म की प्रकृति ज्ञान को आवरण करने की होती है उसे ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं।

(ख) जिस कर्म की प्रकृति दर्शन को अवरोध करने की होती है उसे दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं।

(छ) जिस कर्म की प्रकृति जीव की जाति, कुल आदि को निर्धारण करने की होती है उसे गोत्र कर्म कहते हैं।

(ज) जिस कर्म की प्रकृति लाभ, दान आदि में विघ्न-बाधा करने की होती है उसे अन्तराय कर्म कहते हैं।

इन आठ कर्मों में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म एकान्त पाप रूप हैं।

वेदनीय कर्म के दो भेद होते हैं—(क) साता वेदनीय और (ख) असातावेदनीय[1]। साता वेदनीय पुण्य-रूप है।

इसी तरह आयुष्य कर्म के दो भेद हैं—(क) शुभ आयुष्य और (ख) अशुभ आयुष्य। शुभ आयुष्य पुण्य स्वरूप है।

नाम कर्म भी दो प्रकार का है—(क) शुभ नाम कर्म और (ख) अशुभ नाम कर्म[2]। शुभ नाम कर्म पुण्य स्वरूप है।

गोत्र कर्म के भी दो भेद हैं—(क) उच्च गोत्र कर्म और (ख) नीच गोत्र कर्म[3]। गोत्र कर्म पुण्य रूप है।

(२) पुण्य केवल सुखोत्पन्न करते हैं : पुण्य और पाप दोनों एक दूसरे के विरोधी पदार्थ हैं। एक पदार्थ दो परिणमन नहीं कर सकता। पुण्य सुख और दुःख दोनों का कारण नहीं हो सकता। वह केवल सुख का कारण होता है। पुण्य की परिभाषा करते हुए कहा गया है—'सुहहेऊ कम्मपगई पुन्न'—सुख की हेतु कर्म-प्रकृति पुण्य है।

१—(क) उत्त० ३३.७

५—पुण्य निरवद्य योग से होता है (ढाल गा० ४)

स्वामीजी ने इस गाथा में पुण्य कैसे होता है, इस पर संक्षिप्त प्रकाश डाला है। आत्म-प्रदेशो में कर्म-प्रवेश के निमित्त मुख्यत पाँच हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। पहले चार हेतुओ से पाप कर्म का आगमन होता है। योग का अर्थ है—मन, वचन और काया की प्रवृत्ति— क्रिया। योग दो तरह के होते हैं—(१) निरवद्य योग और (२) सावद्य योग। अवद्य पाप को कहते हैं। मन, वचन, काया की जो प्रवृत्ति पाप-रहित होती है वह निरवद्य योग है। जो प्रवृत्ति पाप सहित होती है उसे सावद्य योग कहते हैं। सावद्य योग से पाप-कर्मो का अर्जन होता है। निरवद्य योग पुण्य के हेतु हैं। उदाहरण स्वरूप सत्य बोलना निरवद्य योग है और मिथ्या बोलना सावद्य योग। पहले से पुण्य बधता है और दूसरे से पाप-कर्म।

इस सम्बन्ध मे तत्वार्थसूत्र (अ० ६) के निम्न सूत्र स्मरण रखने जैसे है

कायवाङ्मन कर्मयोग ।१।

स आस्रव ।२।

शुभ पुण्यस्य ।३।

अशुभ पापस्य ।४।

वाचक उमास्वाति ने अन्यत्र भी लिखा है

पुण्य का बंधन शुभ योग से कहें, शुभ भाव से कहें, शुभ परिणाम से कहें अथवा शुभ उपयोग से, एक ही बात है। यह केवल शब्द-व्यवहार का अन्तर है।

आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार वह श्रमण जिसे पदार्थ और सूत्र सुविदित हैं, जो संयम और तप से युक्त है, जो वीतराग है और जिसको सुख-दुःख सम है वह शुद्ध उपयोग वाला होता है[१]। ऐसा श्रमण आस्रव-रहित होता है और पाप का तो हो ही कैसे उसके पुण्य का भी बंधन नहीं होता है[२]। श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार चौदहवें गुण स्थान में श्रमण अयोगी केवली होता है और तभी पुण्य का संचय रुकता है। उसके पहले सब श्रमणों को शुभ क्रियाओं से पुण्य का बंध होता है।

६—साता वेदनीय कर्म (ढाल गा० ५)

गाथा २ (टिप्पणी ३) में बताया जा चुका है कि निम्न चार कर्म पुण्य रूप हैं :

१—सातावेदनीय कर्म,

२—शुभ आयुष्य कर्म,

३—शुभ नाम कर्म, और

४—शुभ गोत्र कर्म।

दिगम्बराचार्य भी इन्हीं चार को पुण्य कर्म कहते हैं[३]।

स्वामीजी ने गाथा ५-५१ में इन चार प्रकार के पुण्य कर्मों का विस्तार से विवेचन किया है।

प्रस्तुत गाथा में सातावेदनीय कर्म की परिभाषा देकर उसके स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है।

उत्तराध्ययन में कहा है 'सायस्स उ बहू भेया[1]'—सातावेदनीय कर्म के बहुत भेद होते हैं। सात—सौख्य—सुख अनेक प्रकार के होते हैं। जैसे-जैसे सौख्य का अनुभव होता है वैसे-वैसे ही भेद सातावेदनीय कर्म के होते हैं।

साता (सुख) के छ प्रकार हैं—(१) श्रोत्रेन्द्रिय साता, (२) घ्राणेन्द्रिय साता, (३) रसनेन्द्रिय साता, (४) चक्षुरिन्द्रिय साता (५), स्पर्शनेन्द्रिय साता और (६) नोइन्द्रिय (मन) साता[2]। सातावेदनीय कर्म से इन सब साताओं (सुखों) की प्राप्ति होती है।

मनोज्ञ शब्द, मनोज्ञ रूप, मनोज्ञ रस, मनोज्ञ गंध, मनोज्ञ स्पर्श, मन शुभता और वच शुभता—ये सब सातावेदनीय कर्म के अनुभाव हैं[3]।

७—शुभ आयुष्य कर्म और उसकी उत्तर प्रकृतियाँ (ढाल गा० ६-७):

इन गाथाओं में पुण्यरूप शुभ आयुष्य कर्म की परिभाषा और उसकी उत्तर प्रकृतियों—भेदों का वर्णन है।

शुभ आयुष्य कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ तीन कही गयी हैं

(१) जिससे देवभव की आयुष्य प्राप्त हो वह देवायुष्य कर्म,

(२) जिससे मनुष्यभव की आयुष्य प्राप्त हो वह मनुष्यायुष्य कर्म, और

१—जिस कर्म के उदय से शुभ देव-भव का आयुष्य प्राप्त हो वह 'शुभ देवायुष्य कर्म' है।

२—जिस कर्म के उदय से शुभ मनुष्य-भव का आयुष्य प्राप्त हो वह 'शुभ मनुष्यायुष्य कर्म' है।

३—जिस कर्म के उदय से युगलतिर्यंच-भव का आयुष्य प्राप्त हो वह 'शुभ तिर्यंचायुष्य कर्म' है।

जो सब तिर्यंचायुष्य कर्म को शुभायुष्य की उत्तर प्रकृति मानते हैं उनके सामने प्रश्न आया कि हाथी, अश्व, शुक, पिक आदि तिर्यंचों का आयुष्य शुभ कैसे है जबकि वे प्रत्यक्ष क्षुधा, पिपासा, तर्जन, ताडन आदि के दुःखों को बहुलता से भोगते हुए देखे जाते हैं? इसके समाधान में दो भिन्न-भिन्न उत्तर प्राप्त हैं

(१) ये तिर्यंच प्राणी पूर्वकृत कर्मों का फल भोगते हैं, पर उनका आयुष्य अशुभ नहीं है क्योंकि दुःख अनुभव करते हुए भी वे हमेशा जीते रहने की ही इच्छा करते हैं कभी मरने की नहीं। नारक हमेशा सोचते रहते हैं—कब हम मरें और कब इन दुःखों से छुटकारा हो? इससे उनका आयुष्य अशुभ है पर तिर्यंच ऐसा नहीं सोचते। इस उनका आयुष्य अशुभ नहीं है[1]।

(२) तिर्यंचों में युगलिक तिर्यंच भी आते हैं। उनका आयुष्य शुभ है। इनकी अपेक्षा से तिर्यंचायुष्य को शुभ कहा है[2]।

दो भेद करते रहे। एक कु-मनुष्य और दूसरे उत्तम मनुष्य। उनके अनुसार कु-मनुष्यो का आयुष्य अशुभ उपयोग का परिणाम ठहरता है और वह शुभ आयुष्य कर्म का भेद नहीं हो सकता।

आगम मे कहा गया है "चार कारणो से जीव किल्विपीदेव योग्य कर्म का बध करता है—अरिहत के अवर्णवाद से, अरिहत धर्म के अवर्णवाद से, आचार्योपाध्याय के अवर्णवाद से और चतुर्विध सघ के अवर्णवाद से। ऐसे कारणो से प्राप्त होने वाला किल्विपीदेव गति का आयुष्य शुभ कैसे होगा ?

जो कर्म शुभ योग से आते हैं और विपाकावस्था में शुभ फल देते हैं वे ही पुण्य कर्म हैं। कई मनुष्य, कई देव और कई तिर्यंचो का आयुष्य शुभ हेतुओ का परिणाम नहीं होता। फल रूप में भी उनका आयुष्य अत्यन्त पापपूर्ण और कष्टप्रद होता है।

इस तरह सिद्ध होता है कि उत्तम देव, उत्तम मनुष्य और उत्तम तिर्यंचो के आयुष्य को प्राप्त कराने वाले आयुष्य कर्म ही शुभ हैं।

श्रेणी का अनुसरण करता हुआ जहाँ वह मनुष्य रूप से उत्पन्न होने वाला है उस उत्पत्ति क्षेत्र के अभिमुख गति कर सके उसे मनुष्यानुपूर्वी नामकर्म कहते हैं।

(३) जिस नामकर्म से शुभ देवगति प्राप्त होती है उसे 'शुभ देवगति नामकर्म' कहते हैं (गा० ६)।

स्वामीजी के कथनानुसार गति और आनुपूर्वी आयुष्य के अनुरूप होती है। शुभ आयुष्य के देव और मनुष्यो की गति और आनुपूर्वी भी शुभ होती है।

(४) जिस नामकर्म से शुभ देवानुपूर्वी प्राप्त होती है उसे 'शुभ देवानुपूर्वी नामकर्म' कहते हैं। जिस देव का आयुष्य शुद्ध होता है उसकी आनुपूर्वी भी शुद्ध होती है (गा० ६)।

जिस कर्म के उदय से वक्रगति से देवगति की ओर आते हुए जीव के आकाश प्रदेश की श्रेणी के अनुसार उत्पत्ति क्षेत्र के अभिमुख गति होती है उसे 'शुभ देवानुपूर्वी नामकर्म' कहते हैं।

(५) जिस नामकर्म से विशुद्ध पचेन्द्रिय जीवों की जाति—कोटि प्राप्त होती है उसे 'शुभ पचेन्द्रिय नामकर्म' कहते हैं (गा० ६)।

(९) जिन नामकर्म से निर्मल तैजस शरीर की प्राप्ति होती है उसको 'शुभ तैजस शरीर नामकर्म' कहते हैं (गा० १०)।

पाचन क्रिया करनेवाला शरीर तैजस शरीर कहलाता है। यह तैजस वर्गणा के पुद्गलो से रचित होता है। तेजोलेश्या और शीतलेश्या का कारण तैजस शरीर ही होता है।

(१०) जिस नामकर्म से निर्मल कार्मण शरीर की प्राप्ति होती है उसको 'शुभ कार्मण शरीर नामकर्म' कहते हैं (गा० १०)।

कर्मवर्गणा के पुद्गल आत्म-प्रदेशो मे प्रवेश कर कर्म रूप में परिणत होते हैं। इन कर्मों का समूह ही कार्मण शरीर है।

(११) जिस नामकर्म से औदारिक शरीर के अङ्गोपांग सुन्दर होते हैं उसको 'शुभ औदारिक अङ्गोपांग नामकर्म' कहते हैं (गा० १०)।

सम=समान। चतुर=चार। अस्रि=बाजू।

पर्यंकासन में स्थित होने पर जिस पुरुष के बायें कंधे और दाहिने घुटने, दाहिने कंधे और बायें घुटने, दोनों घुटनों के बीच का अन्तर तथा ललाट और पर्यंक के बीच का अन्तर—ये चारों अन्तर समान हों उसे समचतुरस्रसंस्थान कहते हैं।

(१६-१६) जिन नामकर्मों से शुभ वर्ण, शुभ गंध, शुभ रस और शुभ स्पर्श मिलते हों अथवा जिन कर्मों से शरीर के वर्ण, गंध, रस और स्पर्श शुभ होते हों[1], उन कर्मों को क्रमशः 'शुभ वर्ण नामकर्म', 'शुभ गन्ध नामकर्म', 'शुभ रस नामकर्म' और 'शुभ स्पर्श नामकर्म' कहते हैं (गा० १२-१५)।

(२०) जिस नामकर्म के उदय से जीव में स्वतन्त्र रूप से चलने-फिरने का सामर्थ्य उत्पन्न होता है उसे 'शुभ त्रस नामकर्म' कहते हैं। जिस जीव में धूप से छाया में और छाया से धूप में आने आदि रूप शक्ति हो वह त्रस जीव है (गा० १७)।

(२१) जिस नामकर्म के उदय से जीव का शरीर नेत्रों से देखा जा सके ऐसा स्थूल हो, उसे 'शुभ बादर नामकर्म' कहते हैं (गा० १७)।

(२२) जिस नामकर्म के उदय से एक शरीर का एक ही जीव स्वामी हो, उसे 'शुभ प्रत्येक शरीरी नामकर्म' कहते हैं (गा० १८)।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पुण्य कर्म की सर्वमान्य प्रकृतियाँ ४

१—सातावेदनीय कर्म की	१	(गा०
२—शुभ आयुष्य कर्म की	३	(गा०
३—शुभ नामकर्म की	३७	(गा०
४—उच्च गोत्रकर्म की	१	(गा०
	कुल ४२	

इन ४२ प्रकृतियों का उल्लेख गाथाओं में इस प्रकार मिलता है

सा-उच्चगोअ-मणुदुग - सुरदुग - पंचिंदिजाइ - पणदेहा।
आइतितणूणुवंगा, आइमसंघयण-संठाणा॥
वण्णचउक्का-गुरुलहु परघा - ऊसास - आयवुज्जोअं।
सुभखगइ - निमिण-तसदस - सुरनरतिरिआउ - तित्थयरं॥
तस-बायर-पज्जत्तं पत्तेय थिरं सुभं च सुभगं च।
सुस्सर - आइज्ज - जसं, तसाइदसगं इमं होइ[1]॥

११—कर्मों के नाम गणनिम्न हैं (गा० ३२-३४)

पुद्गल के जो शुभ नाम हैं जैसे 'तीर्थङ्कर नाम कर्म', 'उच्चगोत्र नामकर्म' वे इस कारण से हैं कि इन पुद्गलों ने जीव को शुद्ध—स्वच्छ किया है।

जिन पुद्गलों के संयोग से जीव सुखी, तीर्थङ्कर आदि कहलाता है वे कर्म भी उत्तम संज्ञा से घोषित किये जाते हैं—उन्हें पुण्य कहा जाता है।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि पुद्गल जीव से पर वस्तु है, पुद्गल-संबद्ध होने से ही जीव को संसार-भ्रमण करना पड़ता है फिर पुद्गल से जीव के शुद्ध होने की बात किस तरह घटती है? इसका उत्तर इस प्रकार है जिस तरह तालाब में गन्दा जल रहने से वह गंदा कहलाता है और स्वच्छ जल रहने से स्वच्छ। उसी तरह पाप कर्मों से जीव मलिन कहलाता है और पुण्य कर्मों से शुद्ध। जिस तरह स्वच्छ या अस्वच्छ जल के सूखने पर ही तालाब रिक्त होता है और भूमि प्रगट होती है वैसे ही शुद्ध-अशुद्ध दोनों प्रकार के कर्म पुद्गलों के क्षय होने से ही जीव शुद्ध-स्वभाव अवस्था में प्रगट होता है। इस तरह पुण्य कर्मों से जीव के शुद्ध होने की बात पापकर्मों के परिशाटन की अपेक्षा से है।

पुण्य का अर्थ है—जो आत्मा को पवित्र करे[1]। अशुभ—पाप कर्मों से मलिन हुई आत्मा क्रमशः शुभ कर्मों का—पुण्य कर्मों का अर्जन करती हुई पवित्र होती है, गंदी नहीं रहती, स्वच्छ होती है। जैसे कुपथ्य आहार से रोग बढ़ता है, पथ्य आहार से रोग घटता है और पथ्य-अपथ्य दोनों प्रकार के आहार का त्याग करने से नीरोग शरीर में स्थित होता है वैसे ही पाप से दुःख होता है, पुण्य से सुख होता है और पुण्य-पाप दोनों से रहित होने से मोक्ष होता है।

१३—पुण्य कर्म के फल (गा० ३५-४७) :

व्यक्तित्व (रूप की सुन्दरता, वर्ण आदि की श्रेष्ठता, मधुर प्रिय बोली आदि) प्राप्त होते हैं।"

स्वामीजी पुन कहते हैं "इतना ही नही देवगति और पल्योपम सागरोपम के दिव्य सुख भी पुण्य के ही फल हैं।"

पुण्योदय से प्राप्त सांसारिक सुखो की यह परिगणना उदाहरण स्वरूप है। जो भी सांसारिक सुख हैं वे पुण्य के फल हैं। सुन्दर शरीर रूप मे, सुन्दर इन्द्रिय रूप से, सुन्दर वर्णादि रूप से, सुन्दर उपयोग—परिभोग पदार्थो के रूप में और इसी तरह अन्य अनेक रूप से पुद्गलो का शुभ परिणमन पुण्योदय के कारण ही होता है। पुण्योदय से शुभ रूप में परिणमन कर पुद्गल जीव को ससार में नाना प्रकार के सुख देते हैं, जिनकी गिनती सम्भव नही।

स्वामीजी का उपर्युक्त कथन उत्तराध्ययन के अध्ययन ३ से समर्थित है। वहाँ कहा गया है :

"उत्कृष्ट शील के पालन से जीव उत्तरोत्तर विमान वासी देव होते हैं, सूर्य-चन्द्र की तरह प्रकाशमान होते हुये वे मानते हैं कि हमारा यहाँ से च्यवन नही होगा। देव सबधी सुख प्राप्त हुये और इच्छानुसार रूप बनाने की शक्तिवाले देव सैकडो पूर्व वर्षो तक विमानो में रहते हैं। वे देव अपने स्थान का आयु-क्षय होने पर वहाँ से च्यवकर मनुष्य योनि प्राप्त करते हैं, वहाँ उन्हें दस अंगों की प्राप्ति होती है। क्षेत्र-वास्तु, हिरण्य-सुवर्ण, पशु और दास-दासी—ये चार काम स्कन्ध प्राप्त होते हैं। वह मित्र, ज्ञाति और उच्च गोत्रवाला होता है। वह सुन्दर, निरोग, महाबुद्धिशाली, सर्वप्रिय, यशस्वी और बलवान होता है [१]।"

इसी सूत्र में अन्यत्र कहा है [२] .

"गृहस्थ हो या साधु, सुव्रतो का पालन करनेवाला देवलोक में जाता है। गृहवासी सुव्रती औदारिक शरीर को छोडकर देवलोक में जाता है। जो सवृत भिक्षु होता है वह या तो सिद्ध होता है या महाऋद्धिशाली देव। वहाँ देवो के आवास उत्तरोत्तर ऊपर रहे हुये हैं। वे आवास स्वल्प मोहवाले द्युतिमान देवो से युक्त हैं। वे देव दीर्घ आयुवाले ऋद्धिमत, तेजस्वी, इच्छानुसार रूप बनानेवाले, नवीन वर्ण के समान और अनेक सूर्यो

१—उत्त० ३.१४-१८

२—उत्त० ५.२२, २४-२८

की दीप्तिवाले होते हैं। गृहस्थ हो या भिक्षु जिन्होने कषायो को शान्त कर दिया है, वे सयम और तप का पालन कर देवलोक में जाते हैं।"

१३—पौद्‌गलिक सुखों का वास्तविक स्वरूप (गा० ४६-५१) :

पुण्य से प्राप्त सुखो का वर्णन कर स्वामीजी प्रस्तुत गाथाओ मे सार रूप से कहते हैं—"इन सुखो को जो सुख कहा गया है वह ससारापेक्षा से। इस ससार में जो नाना प्रकार के दुःख हैं उनकी अपेक्षा से ये सुख हैं। यदि उनकी तुलना मोक्ष-सुखो—आत्मिक सुखो से की जाय तो ये सुखाभास रूप ही प्रतीत होंगे।" यही बात स्वामीजी ने प्रारम्भिक दोहो में कही है। इस पर टिप्पणी १(३),(४) मे कुछ प्रकाश डाला जा चुका है।

पौद्‌गलिक सुख और मोक्ष-सुख का पार्थक्य इस प्रकार है :

(१) पौद्‌गलिक सुख सापेक्ष होते हैं। एक अवस्था में अच्छे लगते है दूसरी मे वैसे नही भी लगते। जैसे जो भोजन निरोगावस्था में स्वादिष्ट लगता है वही रोगावस्था मे रुचिकर नही होता। मुक्त आत्मा के सुख निरतर सुख रूप होते हैं।

(२) पौद्‌गलिक सुख स्थायी नही होते, प्राप्त होकर चले भी जाते हैं। मुक्ति के सुख स्थायी हैं, एक बार प्राप्त होने पर त्रिकाल स्थिर रहते हैं।

(३) पौद्‌गलिक सुख विभाव अवस्था—रुग्णावस्था के सुख हैं, मोक्ष-सुख शुद्ध आत्मा का सहज स्वाभाविक आनन्द है।

जिस तरह पाण्डु रोग वाले व्यक्ति को सभी वस्तुयें पीली ही पीली नजर आती हैं हालांकि वे वैसी नही होती वैसे ही इन्द्रियो के विषयो से सम्बन्धित पौद्‌गलिक सुख मोह-ग्रस्त मनुष्य को सुख रूप लगते हैं हालाकि वे वास्तव में वैसे नही होते। विषय सुखो में मधुरता और आनन्द का अनुभव जीव की विकारग्रस्त अवस्था का सूचक है जबकि मोक्ष-सुख आत्मा की स्वाभाविक स्थिति का परिणाम है।

स्वामीजी ने इसे एक मौलिक दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया है। पाँव-रोगी को खुज-लाना सुखप्रद होता है। जैसे खुजलाना पाँव रोग के कारण सुख रूप मालूम देता है वैसे ही वैषयिक—पौद्‌गलिक सुख कभी सुखप्रद नही होते पर मोहग्रस्त आत्मा को मधुर लगते हैं।

(४) पौद्‌गलिक सुख जीव के साथ पुण्य रूपी पुद्‌गल के सयोग के कारण उत्पन्न होते हैं—वे पुण्योदय से होते हैं पर आत्मिक सुख जीव के साथ परवस्तु के सयोग से उत्पन्न

नही होते। आत्मा के प्रदेशो से परवस्तु के एकान्त क्षय होने पर अपने आप वस्तु धर्म के रूप मे प्रगट होते हैं अत स्वाभाविक हैं।

(५) सांसारिक सुखो का आधार पौद्गलिक वस्तुएँ होती हैं। इन सुखो के अनुभव के लिये पुद्गलो के भोग की आवश्यकता रहती है। मोक्ष सुख में ऐसी बात नही है। उसमे बाह्याधार की आवश्यकता नही होती। उदाहरण स्वरूप पौद्गलिक सुख वर्ण, गध, रस, स्पर्श और शब्द सबधी भोग उपभोग से सम्बन्ध रखते हैं जबकि मोक्ष सुख के लिये इन भोगोपभोग वस्तुओ की आवश्यकता नही होती। वे आत्मज्ञान मे सहज रमणरूप हैं। इस तरह एक सापेक्ष है और दूसरा निरपेक्ष।

(६) पौद्गलिक सुख नाशवान है। 'कुसग्गमित्ता इमे कामा' (उत्त० ७ २४)—काम भोग कुशाग्र पर स्थित जलबिन्दु के समान अस्थिर हैं। इष्ट वस्तुओ का क्षण-क्षण वियोग देखा जाता है। यह वियोग स्वय दु ख रूप है। शरीर और इन्द्रियो के स्वय नाशवान होने से उनसे प्राप्त सुख भी नाशवान हैं। आत्मिक सुख इन्द्रिय जन्य नही होते और इसलिये शाश्वत हैं। आत्मा अमूर्त है। वह नित्य पदार्थ है। अधिक सुख उसका निजी गुण है। आत्मा की तरह उसका सुख भी अमर है। आत्मिक सुख अर्थात् शुद्धात्मा का सुख। वह आत्मा के आवरण के क्षय होने से प्रगट होता है, अत वह सुख आत्मा की तरह ही अक्षय, अव्यय, अव्याबाध और अनन्त है।

(७) पौद्गलिक सुख भोगते समय अच्छे लगते हैं परन्तु फलावस्था मे दु खदायी होते हैं। जैसे किंपाक फल वर्ण, गध, रस और स्पर्श में सुन्दर और खाने में स्वादिष्ट होता है पर पचने पर प्राणो को ही हरण कर लेता है, वैसे ही पौद्गलिक सुख भोगते समय सुख-प्रद लगते हैं पर विपाक अवस्था मे दारुण दु ख देते हैं[1]। उनके सुख क्षणिक हैं और दु ख की परम्परा अनन्त है[2]। मोक्ष सुख जैसे आरम्भ में होते हैं वैसे ही अन्त में होते हैं। वे हमेशा सुख रूप होते हैं।

१—उत्त० ३२ २०

जहा य किंपागफला मणोरमा, रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा।
ते खुड्डए जीविय पच्चमाणा, एओवमा कामगुणा विवागे॥

२—उत्त० १४ १३

खणमेत्तसोक्खा बहुकालदुक्खा, पगामदुक्खा अणिगामसोक्खा।
ससारमोक्खस्स विपक्खभूया, खाणी अणत्थाण उ कामभोगा॥

सक्षेप मे "इन्द्रियो मे लब्ध सुख दु ख रूप ही हैं क्योंकि वे पराधीन हैं, बाधा सहित हैं, विच्छिन्न हैं, विषम हैं और बधन के कारण हैं। वे आत्म-समुत्थ—विषयातीत, अनुपम, अनन्त और अव्युच्छिन्न नही होते[1]।"

इस तरह स्वयसिद्ध है कि पौद्गलिक सुख वास्तविक सुख रूप नही केवल सुखाभास है।

१४—पुण्य की वाञ्छा से पाप का बंध होता है (गा० ५२-५३) :

स्वामीजी ने इस ढाल के चौथे दोहे मे कहा है 'पुन पदारथ शुभ कर्म छै, तिणरी मूल न करणी चाय।' पुण्य की इच्छा क्यो नही करनी चाहिए—इसी बात को यहाँ विशेष रूप से स्पष्ट किया है।

पुण्य की कामना का अर्थ क्या है ? उसका अर्थ है कामभोगो की इच्छा करना, विषय-सुखो को भोगने की इच्छा करना। जो कामभोग—विषय-सुखो को पाने या भोगने की इच्छा करता है उसके एकान्त पाप का बधन होता है, यह सहज ही बोध-गम्य है। इससे ससार में बार-बार जन्म-मरण करना पडता है। भव-भ्रमण की परम्परा बढती है। ससार की वृद्धि होती है। नरक-निगोद के दु ख भोगने पडते हैं। विषय-सुख की कामना से उलटा वियोग-जनित दु ख होता है।

उत्तराध्ययन में कहा है 'भोगा विसफलोवमा[2]' भोग विषफल की तरह हैं। 'पच्छा कडुयविवागा' वे भोग के समय मधुर लगते है पर विपाकावस्था मे उनका फल कटुक होता है। 'अणुबधदुहावहा[2]' भोग परपरा दु ख के कारण है। उसी सूत्र मे कहा है—'जे गिद्धे कामभोगेसु, एगे कूडाय गच्छई[3]।'—जो कामभोग में गृद्ध होता है वह अकेला नरक में जाता है।

स्वामीजी ने जो कहा है उसका आधार ऐसे ही आगम वाक्य हैं।

१५—पुण्य-बध के हेतु (गा० ५४-५६) :

इन गाथाओ में स्वामीजी ने निम्न सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं

(१) पुण्य की कामना से पुण्य उत्पन्न नही होता। वह धर्म-करनी का सहज फल है।

१—(क) प्रवचनसार १ ७६

(ख) वही १ १३

२—उत्त० १९ ११

३—उत्त० ५ ५

(२) निरवद्य योग, भली लेश्या, भले परिणाम से निर्जरा होती है, पुण्य आनुषंगिक रूप से सहज ही लगते हैं।

(३) निर्जरा की करनी से ही पुण्य लगते हैं[1]। पुण्य प्राप्त करने की अन्य क्रिया नही है।

स्वामी कार्त्तिकेय लिखते हैं "क्षमा, मार्दव आदि दस प्रकार के धर्म पापकर्म का नाश करनेवाले और पुण्य कर्म को उत्पन्न करनेवाले कहे गये हैं परन्तु पुण्य के प्रयोजन-इच्छा से इन्हें नही करना चाहिए। जो पुण्य को भी चाहता है वह पुरुष संसार ही को चाहता है क्योकि पुण्य सुगति के बंध का कारण है और मोक्ष पुण्य के भी क्षय से होता है। जो कषाय सहित होता हुआ विषय सुख की तृष्णा से पुण्य की अभिलाषा करता है उसके विशुद्धता दूर है। पुण्य विशुद्धिमूलक हैं—विशुद्धि से ही उत्पन्न होते हैं। क्योकि पुण्य की वांछा से तो पुण्य बंध होता नही और वांछारहित पुरुष के पुण्य का बंध होता है ऐसा जानकर यतीश्वरो! पुण्य में आदर (वांछा) मत करो।"

स्वामीजी के मन्तव्य और स्वामी कार्तिकेय के मन्तव्य में केवल वस्तु-विषयक समानता ही नही शब्दो की भी आश्चर्यजनक समानता है।

श्लोक ४०८[2] का भावार्थ देते हुए प० महेन्द्रकुमारजी जैन लिखते हैं

"सातावेदनीय, शुभआयु, शुभनाम, शुभगोत्र तो पुण्यकर्म कहे गये हैं। चार घातिया कर्म, असाता वेदनीय, अशुभ नाम, अशुभ आयु और अशुभ गोत्र ये पापकर्म कहे गये हैं। दस लक्षण धर्म (क्षमा, मार्दव आदि) को पाप का नाश करनेवाला और पुण्य को उत्पन्न करनेवाला कहा है सो केवल पुण्योपार्जन का अभिप्राय रख कर। इनका सेवन उचित नही क्योकि पुण्य भी बंध ही है। ये धर्म तो पाप जो घातिया कर्म हैं उनका

१—द्वादशानुप्रेक्षा ४०८-४११

एदे दहप्पयारा, पावकम्मस्स णासिया भणिया।
पुण्णस्स य संजयणा, पर पुण्णत्थ ण कायव्वा॥
पुण्णं पि जो समिच्छदि, संसारो तेण ईहिदो होदि।
पुण्ण सग्गइ हेउ, पुण्णखयेणेव णिव्वाण॥
जो अहिलसेदि पुण्ण, सकसाओ विसयसोक्खतण्हाए।
दूर तस्स विसोही, विसोहिमूलाणि पुण्णाणि॥
पुण्णासए ण पुण्ण, जदो णिरीहस्स पुण्णसपत्ती।
इय जाणिऊण, जइणो, पुण्णेवि म आयर कुणह॥

२—पाद-टि० १ का प्रथम श्लोक

नाश करनेवाले हैं और अघातियो मे अशुभ प्रकृतियो का नाश करते हैं। पुण्यकर्म ससार के अभ्युदय को देते हैं इसलिए इनसे (इन धर्म से) पुण्य का भी व्यवहार अपेक्षा बध होता है सो स्वयमेव होता ही है, उसकी वांछा करना तो ससार की वांछा करना है और ऐसा करना तो निदान हुआ, मोक्षार्थी के यह होता नही है। जैसे किसान खेती अनाज के लिए करता है उसके घास स्वयमेव होती है उसकी वांछा क्यो करे ? वैसे ही मोक्षार्थी को पुण्य बध की वांछा करना योग्य नहीं[1]।"

यह स्वामीजी के उद्‌गारो पर सहज सुन्दर टीका है।

मन, वचन, काया की निष्पाप-प्रवृत्ति को शुभ योग या निरवद्य योग कहते हैं।

आत्मा की एक प्रकार की वृत्ति विशेष को लेश्या कहते हैं। लेश्याएँ छ हैं—कृष्ण, नील, कापोत, तेजो, पद्‌म और शुक्ल। प्रथम तीन लेश्याएँ अधर्म लेश्याएँ कहलाती हैं और अन्तिम तीन धर्म लेश्याएँ। अधर्म लेश्याएँ दुर्गति की कारण हैं और धर्म लेश्याएँ सुगति की।

साश्रव, अगुप्त, अविरत, तीव्र आरम्भ में परिणत आदि योगो से समायुक्त मनुष्य कृष्ण लेश्या के परिणामवाला, ईर्ष्यालु, विषयी, रसलोलुप, प्रमत्त, आरम्भी आदि योगो से समायुक्त मनुष्य नील लेश्या के परिणामवाला, और वक्र, कपटी, मिथ्यादृष्टि, आदि योगो से समायुक्त मनुष्य कापोत लेश्या के परिणामवाला होता है।

नम्र, अचपल, दान्त, प्रियधर्मी, दृढधर्मी, पापभीरु, आत्महितैषी आदि योगो से समायुक्त पुरुष तेजो, प्रशातचित्त, दान्तात्मा, जितेन्द्रिय आदि योगो से समायुक्त पुरुष पद्‌म, और आर्त्त तथा रौद्रध्यान को त्याग धर्म और शुक्लध्यान को ध्यानेवाला आदि योगो से समायुक्त व्यक्ति शुक्ल लेश्या में परिणमन करनेवाला होता है।

परिणाम दो तरह के होते हैं—शुभ अथवा अशुभ। परिणाम अर्थात् आत्मा के अध्यवसाय।

स्वामीजी कहते हैं निरवद्य योग, धर्म लेश्या और शुभ परिणामो से कर्मों की निर्जरा होती है, सचित पाप-कर्म आत्म प्रदेशो से दूर होते हैं। ऐसे समय पुण्य स्वयमेव आत्म-प्रदेशो में गमन करते हैं। पुण्य कर्मो के लिए स्वतन्त्र क्रिया की आवश्यकता नही होती। शुभ योग से जब निर्जरा होती है तो आत्मप्रदेशो के कम्पन से आनुषगिक रूप से पुण्य कर्मों का बध होता है।

१—द्वादशानुप्रेक्षा पृ० २८३-४

पुण्य की कामना का अर्थ है—कामभोगो की कामना। कामभोगो की कामना करना—अविरति है, आर्त्तध्यान है, अनुपशांतता भाव है, आत्मभाव को छोड परभाव में रमण है। वह न निरवद्य योग है, न शुभ लेश्या है और न शुभ परिणाम। किन्तु सावद्य योग, अशुभ लेश्या और अशुभ परिणाम है। इसमे पुण्य नही होता, पाप का बंध होता है।

१६—पुण्य काम्य क्यों नहीं (गा० ५७-५८)

इन गाथाओ में स्वामीजी ने दो बातें कही हैं

(१) पुण्य चतु स्पर्शी कर्म है। उसकी वाञ्छा करनेवाला कर्म और धर्म का अन्तर नही जानता।

(२) पुण्य प्राप्त करने की कामना से जो निर्जरा की क्रिया करता है वह करनी को खोता है और इस मनुष्य भव को हारता है।

जो आत्मा को कर्मो से रिक्त करे वह धर्म है[1]। सयम और तप धर्म के ये दो भेद हैं[2]। सयम से नये कर्मो का आस्रव रुकता है, तप से सचित कर्मो का परिशाटन होकर आत्मा परिशुद्ध होती है[3]। धार्मिक पुरुष सयम और तप के द्वारा कर्मक्षय में प्रयत्नशील होता है[4]। जो पुण्य की कामना करता है वह उल्टा कर्मार्थी है। क्योंकि पुण्य और कुछ नहीं चतु स्पर्शी कर्म हैं[5]। जो पुण्य की कामना करता है वह ससार की

१—उत्त० २८ ३३

एय चयरित्तकर, चारित्त होइ आहिय॥

२—उत्त० १६. ७७

एव धम्म चरिस्सामि, सजमेण तवेण य॥

३—उत्त० २६ प्र० २६-२७

सजमएण भते! जीवे किं जणयइ? सजमएण अणण्हयत्त जणयइ।
तवेण भते! जीवे किं जणयइ? तवेण वोदाण जणयइ॥

४—उत्त० ३३ २५

तम्हा एएसि कम्माण, अणुभागा वियाणिया।
एएसि सवरे चेव, खवणे य जए बुहो॥

५—पुण्य किस तरह पुद्गल की पर्याय है यह पहले (टिप्पणी २ पृ० १५४) बताया जा चुका है। कर्कश, मृदु, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष ये आठ स्पर्श हैं। ये आठों स्पर्श पुद्गल में एक साथ नहीं रहते। कर्कश मृदु में से कोई एक, गुरु लघु में से कोई एक, शीत उष्ण में से कोई एक, स्निग्ध रूक्ष में से कोई एक, इस तरह चार स्पर्श उत्कृष्ट में एक साथ रह सकते हैं। परमाणु में स्निग्ध, रूक्ष, शीत, उष्ण इन चार स्पर्शों में से कोई दो अविरोधी स्पर्श होते हैं। कर्म-स्कध में चार अविरुद्ध स्पर्श होते हैं

ही कामना करता है क्योकि ससार-भ्रमण केवल पाप मे ही नही होता पुण्य से भी होता है तथा मोक्ष भी पुण्य और पाप दोनो के क्षय से प्राप्त होता है[१]।

इस तरह स्पष्ट है कि पुण्यार्थी धर्म और कर्म के मर्म को नही जानता। जो रहस्य-भेदी आत्मार्थी है वह धर्म की कामना करेगा, कर्म की नही।

"जो पौद्गलिक कामभोगो की वांछा करता है वह मनुष्य-भव को हारता है"—स्वामीजी के इस कथन के पीछे उत्तराध्ययन के समूचे सातवें अध्ययन की भावना है। वहां कहा गया है "जिस प्रकार खिला-पिला कर पुष्ट किया गया चर्वीयुक्त, बड़े पेट और स्थूल देहवाला एलक पाहुन के लिए निश्चित होता है उसी प्रकार अधर्मिष्ट निश्चित रूप से नरक के लिए होता है। जिस प्रकार कोई मनुष्य एक काकिणी के लिए हजार मुद्राएँ खो देता है, और कोई राजा अपथ्य आम खाकर राज्य को खो देता है उसी प्रकार देवो के कामभोगो से मनुष्यो के कामभोग तुच्छ हैं, देवो के कामभोग और आयु मनुष्यो से हजारो गुण अधिक हैं। प्रज्ञावान की देवगति में अनेक नयुत वर्ष की स्थिति होती है, उस स्थिति को दुर्बुद्धि मनुष्य सौ वर्ष की छोटी आयु में हार जाता है। जिस प्रकार तीन व्यापारी मूल पूंजी लेकर गये। उनमें एक ने लाभ प्राप्त किया। दूसरा मूल पूंजी लेकर वापस आया। तीसरा मूलधन खोकर लौटा। मनुष्य-भव मूल पूंजी के समान है, देवगति लाभ के समान है। नरक और तिर्यञ्च गति मूल पूंजी को खोने के समान है। विषय-सुखो का लोलुपी मूर्ख जीव देवत्व और मनुष्यत्व को हार जाता है। वह हारा हुआ जीव सदा नरक और तिर्यञ्च गति में बहुत लम्बे काल तक दुःख पाता है जहां से निकलना दुर्लभ होता है[२]।"

१७—त्याग से निर्जरा—भोग से कर्म-बन्ध (गा० ५६)

स्थानाङ्ग में कहा है "शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श ये पांच कामगुण हैं। जीव इन पांच स्थानो में आसक्त होते हैं, रक्त होते हैं, मूर्च्छित होते हैं, गृद्ध होते हैं, लीन होते हैं और नाश को प्राप्त करते हैं।

१—उत्त० २१.२४

> दुविह खवेऊण य पुण्णपाव, निरगणे सव्वओ विप्पमुक्के।
> तरित्ता समुद्द व महाभवोघं, समुद्दपाले अपुणागमं गए॥

२—उत्त० ७. २,४,११-१६

"इन पाँच को अच्छी तरह न जाना हो, उनका त्याग न किया हो तो वे जीव के लिए अहित के कर्त्ता, अशुभ के कर्त्ता, असामर्थ्य को उत्पन्न करने वाले, अनि श्रेयस के करने वाले और समार को करने वाले होते हैं। इन पाँच को अच्छी तरह जाना हो, उनका त्याग किया हो तो वे जीव के लिए हित के कर्त्ता, शुभ के कर्त्ता, सामर्थ्य को उत्पन्न करने वाले, नि श्रेयस को करने वाले और सिद्धि को देने वाले होते हैं।

"इन पाँचो का त्याग करने से जीव सुगति में जाता है और त्याग न करने से दुर्गति में जाता है[1]।"

स्वामीजी का कथन इस आगम-वाक्य से पूर्णत समर्थित है।

पुण्य से नाना प्रकार के ऐश्वर्य और सुख की वस्तुएँ और प्रसाधन मिलते हैं। जो इनका त्याग करता है उसके कर्मों का क्षय होता है, और साथ ही सहज भाव से पुण्य का बधन होता है पर जो प्राप्त भोगो और सुखो का गृद्धि भाव से सेवन करता है उसके स्निग्ध कर्मों का बधन होता है जिन्हें दूर करना महा कठिन कार्य होता है।

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है "जो भोगासक्त होता है वह कर्म से लिप्त होता है। अभोगी लिप्त नही होता। भोगी ससार में भ्रमण करता है, अभोगी—त्यागी जन्म-मरण से मुक्त हो जाता है।" "गीले और सूखे मिट्टी के दो गोले फेंके जाँय तो गीला दीवार में चिपक जाता है, सूखा नहीं चिपकता। वैसे ही कामलालसा में मूर्च्छित दुर्बुद्धि के कर्म चिपक जाते हैं। जो कामभोगो से विरक्त होते हैं उसके कर्म नहीं चिपकते[2]।"

१—ठाणांग ५ १ ३९० पच कामगुणा प० त०—सद्दा रुवा गधा रसा फासा ३, पचहिं ठाणेहिं जीवा सज्जति त० सद्देहिं जाव फासेहिं ४, एव रज्जति ५ मुच्छति ६ गिज्झति ७ अज्झोववज्जति ८, पचहिं ठाणेहिं जीवा विणिघायमावज्जति, त०—सद्देहिं जाव फासेहिं ९ पच ठाणा अपरिण्णाता जीवाण अहिताते असुभाते अखमाते अणिस्सेताते अणाणुगामित्ताते भवति, त०—सद्दा जाव फासा १०, पच ठाणा सुपरिन्नाता जीवाण हिताते सुभाते जाव आणुगामियत्ताए भवति त०—सद्दा जाव फासा ११, पच ठाणा अपरिण्णाता जीवाण दुग्गतिगमणाए भवति त०—सद्दा जाव फासा १२, पच ठाणा परिण्णाया जीवाण सुग्गतिगमणाए भवति त०—सद्दा जाव फासा १३

२—उत्त० २५ ४१-४३ :

उवलेवो होइ भोगेसु अभोगी नोवलिप्पई।
भोगी भमइ ससारे अभोगी विप्पमुच्चई॥
उल्लो सुक्खो य दो छूढा गोलया मिट्टियामया।
दो वि आवडिया कुड्डे जो उल्लो सोऽत्थ लग्गई॥
एव लग्गन्ति दुम्मेहा जे नरा कामलालसा।
विरत्ता उ न लग्गन्ति जहा से सुक्खगोलए॥

इसी सूत्र मे अन्यत्र कहा है "शब्दादि विषयो मे निवृत्त नही होनेवाले का आत्म-प्रयोजन नष्ट हो जाता है। कामभोगो से निवृत्त होनेवाले का आत्मार्थ नष्ट नही होता[1]।"

अन्यत्र कहा है "घर, मणि, कुण्डलादि आभूषण, गाय, घोडादि पशु और दास-दासी इन सबका त्याग करनेवाला कामरूपी देव होता है[2]।"

दिगम्बराचार्य भी ऐसा ही मानते हैं। इस विषय मे आचार्य कुन्दकुन्द के कथन का सार इस प्रकार है

"निश्चय ही विविध पुण्य शुभ परिणाम से उत्पन्न होते हैं। ये देवो तक सर्व ससारी जीवो के विषयतृष्णा उत्पन्न करते हैं। पुन उदीर्णतृष्ण, तृष्णा से दु खित और दु खसतप्त वे विषय सौख्यो की आमरण इच्छा करते हैं और उनको भोगते हैं। सुरो के भी स्वभावसिद्ध सौख्य नही है। वे भी देह की वेदना से आर्त्त हुए रम्य विषयो में रमण—क्रीडा करते हैं। सुखो में अभिरत वज्रायुधधारी इन्द्र तथा चक्रवर्ती शुभ उपयोगात्मक भोगो से देहादि की वृद्धि करते हैं[3]।"

पाप से प्रत्यक्ष दु ख होता है और पुण्य से प्राप्त भोगो में आसक्ति से दु ख होता है। ऐसी स्थिति में "जो 'पुण्य और पाप इनमे विशेषता नही', इस प्रकार नही मानता वह मोहसछन्न घोर, अपार ससार में भ्रमण करता है। जो विदितार्थ पुरुष द्रव्यो में राग अथवा द्वेष को नही प्राप्त होता वह देहोद्भव दु ख को नष्ट करता है[4]।"

१—उत्त० ७ २५-२६ ·

इह कामाणियट्टस्स अत्तट्ठे अवरज्झई।
सोच्चा नेयाउय मग्ग ज भुज्जो परिभस्सई॥
इह कामाणियट्टस्स अत्तट्ठे नावरज्झई।
पूइदेहनिरोहेण भवे देवि त्ति मे सुय॥

२—उत्त० ६ ५

गवास मणिकुडल पसवो दासपोरुस।
सव्वमेय चइत्ताण कामरूवी भविस्ससि॥

३—प्रवचनसार १ ७४, ७५, ७१, ७२,

४—वही १ ७७-७८

पुन पदारथ (ढाल : २)

दुहा

१—नव प्रकारे पुन नीपजे, ते करणी निरवद जाण।
वयालीस प्रकारे भोगवे, तिणरी वुववत करजो पिछाण॥

२—पुन नीपजे तिण करणी मझे, तिहा निरजरा निश्चे जाण।
तिण करणी री छैं जिण आगना, तिण माहे सक म आण॥

३—केई साधू वाजे जैन रा, त्या दीधी जिण मारग नें पूठ।
पुन कहे कुपातर नें दीया, त्यारी गई अभितर फूट॥

४—काचो पाणी अणगल पावे तेहनें, कहै छैं पुन ने धर्म।
ते जिण मारग सू वेगला, भूला अग्यानी भर्म॥

५—साध विना अनेरा सर्व नें, सचित अचित दीया कहे पुन।
वले नाव लेवे ठाणा अग रो, ते तो पाठ विना छै अर्थ सुन॥

६—किणही एक ठाणा अग मझे, घाल्यो छै अर्थ विपरीत।
ते पिण सगला ठाणा अग मे नही, जोय करो तहतीक॥

७—पुन नीपजे छै किण विधे, जोवो सूतर माय।
श्री वीर जिणेसर भापीयो, ते सुणजो चित्त ल्याय॥

पुण्य पदार्थ (ढाल : २)

दोहा

१—पुण्य नौ प्रकार से उत्पन्न होता है। जिस करनी से पुण्य होता है उसे निरवद्य जानो। पुण्य ४२ प्रकार से भोग मे आता है। बुद्धिमान इसकी पहचान करे[1]।

पुण्य के नवो हेतु निरवद्य हैं

२—जिस करनी से पुण्य होता है उसमे निर्जरा भी निश्चय ही जानो। निर्जरा की करनी मे जिन-आज्ञा है इसमे जरा भी शका मत करो[2]।

पुण्य की करनी मे निर्जरा की नियमा

३—कई जैन साधु कहलाने पर भी जिन-मार्ग को पीठ दिखाकर कुपात्र को दान देने मे पुण्य बतलाते है। उनकी आभ्यतरिक आंखे फूट चुकी है।

कुपात्र और सचित्त दान मे पुण्य नही (दो० ३-६)

४—जो बिना छाना हुआ कच्चा पानी पिलाने मे पुण्य और धर्म बतलाते है वे जिन-मार्ग से दूर है। वे अज्ञानवश भ्रम में भूले हुए है।

५—साधु के अतिरिक्त अन्य सबको भी सचित्त-अचित्त देने में वे पुण्य कहते है और (अपने कथन की पुष्टि में) स्थानाङ्ग सूत्र का नाम लेते है, परन्तु मूल मे ऐसा पाठ न होने से यह अर्थ शून्यवत् है।

६—ऐसा विपरीत अर्थ भी स्थानांग की किसी एक प्रति में घुसा दिया गया है परन्तु सब प्रतियों मे नहीं है। देख कर जाच करो[3]।

७—पुण्य उपार्जन किस प्रकार होता है इसके लिए सूत्र देखो। सूत्रों में इस सम्बन्ध में वीर जिनेश्वर ने जो कहा है उसे चित्त लगा कर सुनो।

ढाल : २

[राजा रामजा हो रेण छ मासी — ए देशी]

१—पुन नीपजे सुभ जोग सू रे लाल, सुभ जोग जिण आगना माय हो। भविक जण।
ते करणी छै निरजरा तणी रे लाल, पुन सहिजा लागे छ आय हो॥ भविक जण॥
पुन नीपजे सुभ जोग सू रे लाल॥

२—जे करणी करे निरजरा तणी रे लाल, तिणरी आगना देवे जगनाय हो। भ०*।
तिण करणी करता पुन नीपजे रे लाल, ज्यू खाखलो गोहा रे हुवे साथ हो॥ भ०*पु०*॥

३—पुन नीपजे तिहा निरजरा हुवे रे लाल, ते करणी निरवद जाण हो।
सावद्य करणी मे पुन नही नीपजे रे लाल, ते सुणज्यो चुतर सुजाण हो॥

४—हिंसा कीया भूठ बोलीया रे लाल, साधु नें देवे असुध अहार हो।
तिण सू अल्प आउखो बधे तेहने रे लाल, ते आउखो पाप मभार हो॥

५—लाबो आउपो बधे तीन बोल सूं रे लाल, लाबो आउपो छै पुन माय हो।
ते हिंसा न करे प्राणी जीव री रे लाल, वले बोले नही मूसावाय हो॥

६—तथारूप श्रमण निग्रथ नें रे लाल, देवे फासू निरदोष च्यारू आहार हो।
या तीना बोला पुन नीपजे रे लाल, ठाणा अग तीजा ठाणा मभार हो॥

*बाद की प्रत्येक गाथा के अन्त में इसी तरह 'भविक जण' और 'पुन नीपजे सुभ जोग सू रे लाल' की पुनरावृत्ति है।

ढाल : २

१—पुण्य शुभ योग से उत्पन्न होता है। शुभ योग जिन आज्ञा में है। शुभ योग निर्जरा की करनी है, उसमें पुण्य सहज ही आकर लगते हैं।

शुभ योग निर्जरा के हेतु हैं, पुण्य बंध सहज फल है

२—जिस करनी से निर्जरा होती है, उसकी आज्ञा स्वयं जिन भगवान देते हैं। निर्जरा की करनी करते समय पुण्य अपने ही आप उत्पन्न (संचय) होता है जिस तरह गेहूँ के साथ तुष।

निर्जरा के हेतु जिन-आज्ञा में हैं

३—जहाँ पुण्योपार्जन होगा वहाँ निर्जरा निश्चय ही होगी, जिस करनी से पुण्य की उत्पत्ति होगी वह निश्चय ही निरवद्य होगी। सावद्य करनी से पुण्य नहीं होता। (इसका खुलासा करता हूँ) चतुर और विज्ञ जन सुनें[४]।

जहाँ पुण्य होता है वहाँ निर्जरा और शुभ योग की नियमा है

४—स्थानाङ्ग सूत्र के तृतीय स्थानक में कहा है कि हिंसा करने से, झूठ बोलने से तथा साधु को अशुद्ध आहार देने से—इन तीन बातों से जीव के अल्प आयुष्य का बंध होता है। यह अल्प आयुष्य पाप कर्म की प्रकृति है।

अशुभ अल्पायुष्य के हेतु सावद्य हैं

५-६—वहीं कहा है कि जीवों की हिंसा न करने से, झूठ नहीं बोलने से और तथारूप श्रमण निर्ग्रन्थ को चारों प्रकार के प्रासुक निर्दोष आहार देने से—इन तीन बातों से दीर्घ आयुष्य का बंध होता है। यह दीर्घ आयुष्य पुण्य में है[५]।

शुभ दीर्घायु के हेतु निरवद्य हैं

७—हिंसा कीया झूठ बोलीया रे लाल, साधू ने हेले निंदे ताय हो।
आहार अमनोगम अपीयकारी दीये रे लाल, तो असुभ लावो आउपो बंधाय हो॥

८—सुभ लावो आउपो बधे इण विधे रे लाल, ते पिण आउपों पुन माय हो।
ते हिंसा न करे प्राणी जीव री रे लाल, वले बोले नही मूसावाय हो॥

९—तथारूप समण निग्रंथ ने रे लाल, करे वदणा नें नमसकार हो।
पीतकारी वेहरावें च्यारू आहार नें रे लाल, ठाणा अग तीजा ठाणा मझार हो॥

१०—एहीज पाठ भगोती सूतर मझे रे लाल, पाचमे सतक पष्ठम उदेश हो।
सका हुवे तो निरणो करो रे लाल, तिणमे कूड नही लवलेस हो॥

११—वंदणा करता खपावे नीच गोत नें रे लाल, उच गोत बधे वले ताय हो।
ते वदणा करण री जिण आगना रे लाल, उतराधेन गुणतीसमा माय हो॥

१२—धर्मकथा कहै तेहनें रे लाल, बधे किल्याणकारी कर्म हो।
उत्तराधेन गुणतीसमां अधेन मे रे लाल, तिहा पिण निरजरा धर्म हो॥

१३—करे वीयावच तेहनें रे लाल, बधे तीर्थंकर नाम कर्म हो।
उत्तराधेन गुणतीसमा अधेन मे रे लाल, तिहा पिण निरजरा धर्म हो॥

१४—वीसा वोला करेनें जीवडो रे लाल, करमा री कोट खपाय हो।
जब बाधे तीर्थंकर नाम कर्म ने रे लाल, गिनाना आठमा अधेन माय हो॥

७—इसी तरह स्थानाङ्ग सूत्र के तृतीय स्थानक में कहा है कि हिंसा करने से, झूठ बोलने से, साधुओं की अवहेलना और निन्दा कर उनको अप्रिय, अमनोज्ञ (अरुचिकर) आहार देने से—इन तीन बातों से अशुभ दीर्घ आयुष्य का बंध होता है। — अशुभ दीर्घायुष्य के हेतु सावद्य हैं

८-९—वहीं कहा है कि हिंसा न करने से, मिथ्या न बोलने से और तथारूप श्रमण निर्ग्रंथ को वन्दन-नमस्कार कर उसको चारों प्रकार के प्रीतिकारी आहार दान देने से शुभ दीर्घ आयुष्य कर्म का बंध होता है[६]। यह पुण्य है। — शुभ दीर्घायुष्य के हेतु निरवद्य हैं

१०—ऐसा ही पाठ भगवती सूत्र के पंचम शतक के षष्ठ उद्देशक में है। किसी को शंका हो तो देख कर निर्णय कर ले। इसमें जरा भी झूठ नहीं है[७]। — भगवती में भी ऐसा ही पाठ

११—वंदना करता हुआ जीव नीच गोत्र का क्षय करता है और उसके उच्च गोत्र कर्म का बंध होता है। वंदना करने की जिन आज्ञा है। उत्तराध्ययन सूत्र का २९ वाँ अध्ययन इसका साक्षी है[८]। — वंदना से पुण्य और निर्जरा दोनों

१२—उत्तराध्ययन सूत्र के २९ वें अध्ययन में कहा है कि धर्म-कथा करते हुए जीव शुभ कर्म का बंध करता है। साथ ही वहाँ धर्म-कथा से निर्जरा होने का भी उल्लेख है[९]। — धर्म-कथा से पुण्य और निर्जरा दोनों

१३—उत्तराध्ययन सूत्र के २९ वें अध्ययन में यह भी कहा है कि वैयावृत्य करने से तीर्थङ्कर नामकर्म का बंध होता है। साथ ही वहाँ वैयावृत्य से निर्जरा होने का उल्लेख भी है[१०]। — वैयावृत्य से पुण्य और निर्जरा दोनों

१४—ज्ञाता सूत्र के आठवें अध्ययन में यह बात कही गई है कि जीव २० बातों से कर्मों की कोटि का क्षय करता है और उनसे उसके तीर्थङ्कर नामकर्म का बंध होता है[११]। — जिन बातों से कर्म-क्षय होता है उन्हीं से तीर्थंकर गोत्र का बंध

१५—सुवाहू कुमर आदि दस जणा रे लाल, त्या साधा नें श्रमणादिक वेहराय हो।
त्या वाध्यो आउपो मिनख रो रे लाल, कह्यो विपाक सुतर रे माय हो॥

१६—प्राण भूत जीव सत्व ने रे लाल, दुख न दे उपजावे सोग नाय हो।
अजुरणया ने अतिप्पणया रे लाल, अपिट्टणया परिताप नही दे ताय हो॥

१७—ए छ प्रकारे वधे साता वेदनी रे लाल, उलटा कीया असाता थाय हो।
भगोती सतषध सातमे रे लाल, छठा उदेसा माय हो॥

१८—करकस वेदनी वधे जीवरे रे लाल, अठारे पाप सेव्या वधाय हो।
नही सेव्या वधे अकरकस वेदनी रे लाल, भगोती सातमा सतक छठा माय हो॥

१९—कालोदाई पूछ्यो भगवान नें रे लाल, सुतर भगोती माहि ए रेस हो।
किल्याणकारी कर्म किण विध वधे रे लाल, सातमे सतक दसमे उदेस हो॥

२०—अठारे पाप थानक नही सेवीया रे लाल, किल्याणकारी कर्म वधाय हो।
अठारे पाप थानक सेवे तेह सू रे लाल, वधे अकिल्याणकारी कर्म आय हो॥

२१—प्राण भूत जीव सत्व नें रे लाल, वहु सवदे च्यारूं माहि हो।
त्यारी करे अणुकम्पा दया आणनें रे लाल, दुःख सोग उपजावे नाहि हो॥

२२—अजूरणया नें अनिप्पणया रे लाल, अपिट्टणया नें अपरिताप हो।
या चवदे स वधे साता वेदनी रे लाल, या उलटा सू वधे असाता पाप हो॥

१५—विपाक सूत्र में उल्लेख है कि सुबाहु कुमार आदि दस जनों ने साधुओं को अशनादि देकर मनुष्य-आयुष्य को बांधा[12]।

निरवद्य सुपात्र दान का फल मनुष्य-आयुष्य

१६-१७-भगवती सूत्र के सातवें शतक के छठे उद्देशक में जिन भगवान ने ऐसा कहा है कि प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व को दुःख नहीं देने से, शोक उत्पन्न नहीं करने से, न झूराने* से, वेदना न करने से, न पीटने से और प्रतापना न देने से इस तरह छः प्रकार से साता वेदनीय कर्म का बंध होता है और इसके विपरीत आचरण से असाता-वेदनीय कर्म का बंध होता है[13]।

साता वेदनीय कर्म के छः बंध हेतु निरवद्य हैं

१८—भगवती सूत्र के सातवें शतक के छठे उद्देशक में कहा है कि अठारह पापों के सेवन करने से कर्कश वेदनीय कर्म का बंध होता है और इन पापों के सेवन न करने से अकर्कश वेदनीय कर्म का बंध होता है[14]।

कर्कश - अकर्कश वेदनीय कर्म के बंध हेतु क्रमशः सावद्य निरवद्य हैं

१९-२०-भगवती सूत्र के सातवें शतक के दसवें उद्देशक में कालोदाई ने भगवान से प्रश्न किया कि कल्याणकारी कर्मों का बंध कैसे होता है ? उत्तर में भगवान ने बतलाया कि अठारह पाप स्थानकों के सेवन नहीं करने से कल्याणकारी कर्म का बंध होता है और इन्हीं अठारह पाप स्थानकों के सेवन से अकल्याणकारी कर्म का बंध होता है[15]।

पापों के न सेवन से कल्याणकारी कर्म सेवन से अकल्याण-कारी कर्म

२१-२२-बहु प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व इनके प्रति दया लाकर अनुकम्पा करने से, दुःख उत्पन्न नहीं करने से, शोक उत्पन्न नहीं करने से, न झूराने से, न रुलाने से, न पीटने से और प्रतापना न देने से, इस प्रकार १४ बोलों से साता वेदनीय कर्म का बंध होता है[16]।

सातावेदनीय कर्म के बंध हेतुओं का अन्य उल्लेख

---

*दूसरों को दुःखी करना।

२३—माहा आरभी ने माहा परिग्रही रे लाल, करे पंचिंद्रि नी घात हो।
मद मास तणो भखण करै रे लाल, तिण पाप सू नरक मे जात हो॥

२४—माया कपट ने गूढ माया करे रे लाल, वले बोलै मृषावाय हो।
कूडा तोला ने कूडा मापा करे रे लाल, तिण पाप सू तिरजच थाय हो॥

२५—प्रकत रो भद्रीक नें वनीत छै रे लाल, दया ने अमछर भाव जाण हो।
तिण सू बधे आउषो मिनख रो रे लाल, ते करणी निरवद पिछाण हो॥

२६—पाले सरागपणे साधूपणो रे लाल, वले श्रावक रा वरत वार हो।
बाल तपसा ने अकाम निरजरा रे लाल, या सू पामे सुर अवतार हो॥

२७—काया सरल भाव सरल सू रे लाल, वले भापा सरल पिछाण हो।
जेहवो करे तेहवो मुख सू कहै रे लाल, यासू बधे सुभ नाम कर्म जाण हो॥

२८—ए च्यारू बोल वाका वरतीया रे लाल, बधे असुभ नाम करम हो।
ते सावद्य करणी छै पाप री रे लाल, तिणमे नही निरजरा धर्म हो॥

२९—जात कुल बल रूप नो रे लाल, तप लाभ सुतर ठाकुराय हो।
ए आठोई मद करे नही रे लाल, तिणसू ऊच गोत बधाय हो॥

३०—ए आठोई मद करे तेहने रे लाल, बधे नीच गोत कर्म हो।
ते सावद्य करणी पाप री रे लाल, तिणमे नही पुन धर्म हो॥

२३—महा आरम्भ, महा परिग्रह, पचेन्द्रिय जीव की घात तथा मद्य-मांस के भक्षण से पाप-संचय कर जीव नरक मे जाता है[१७]। — नरकायु के वंध हेतु

२४—माया—कपट से, गूढ़ माया से, झूठ बोलने से, झूठे तोल, झूठे माप से जीव तिर्यञ्च (योनि मे उत्पन्न) होता है[१८]। — तिर्यञ्चायु के वंध हेतु

२५—प्रकृति के भद्र और विनयवान होने से, दया से और अमात्सर्य भाव से जीव मनुष्य आयु का वंध करता है। भद्रता, विनय, दया और अकपट भाव ये निरवद्य कर्त्तव्य है[१९]। — मनुष्यायुष्य के वंध हेतु

२६—साधु के सराग चारित्र के पालन से, श्रावक के वारह व्रत रूप चारित्र के पालन से, वाल तपस्या और अकाम निर्जरा से सुर अवतार—देव-भव प्राप्त होता है[२०]। — देवायुष्य के वंध हेतु

२७-२८-कायिक सरलता से, भावों की सरलता से, भाषा की सरलता से तथा जैसी कथनी वैसी करनी से जीव शुभ नामकर्म का वंध करता है। इन्ही चार वातों की विपरीतता से अशुभ नामकर्म का वंध होता है। कायिक कपटता आदि सावद्य कार्य है। ये पाप के हेतु हैं। इनसे निर्जरा नहीं होती[२१]। — शुभ-अशुभ नामकर्म के वंध हेतु

२९-३०-जाति, कुल, वल, रूप, तप, लाभ, सूत्र (की जानकारी) और ठकुराई इन आठों मदों (अभिमानों) के न करने से जीव के उच्च गोत्र का वंध होता है और इन्हीं आठों मदों के करने से नीच गोत्र का वंध होता है। मद करना सावद्य—पाप क्रिया है। इसमें धर्म (निर्जरा) और पुण्य नहीं है[२२]। — उच्च गोत्र और नीच गोत्र कर्म के वंध हेतु

३१—ग्यानावर्णी ने दरसणावर्णी रे लाल, वले मोहणी ने अतराय हो।
ये च्यारूइ एकत पाप कर्म छै रे लाल, त्यारी करणी नही आग्या माय हो॥

३२—वेदनी आउखो नाम गोत छै रे लाल, ए च्यारूई कर्म पुन पाप हो।
तिणमे पुन री करणी निरवद कही रे लाल, तिणरी आग्या दे जिण आप हो॥

३३—ए भगवती शतक आठ मे रे लाल, नवमा उदेसा माय हो।
पुन पाप तणी करणी तणो रे लाल, ते जाणे समदिष्टी न्याय हो॥

३४—करणी करे नीहाणो नही करे रे लाल, चोखा परिणामा समकतवत हो।
समाध जोग वरते तेहनो रे लाल, खिमा करी परीसह खमत हो॥

३५—पाचू इन्द्री ने वश कीया रे लाल, वले माया कपट रहीत हो।
अपासत्यपणो ग्यानादिक तणो रे लाल, समणपणे छै सहीत हो॥

३६—हितकारी प्रवचन आठा तणो रे लाल, धर्मकथा कहै त्रिमनार हो।
या दसा बोला वधे जीव रे रे लाल, किल्याणकारी कर्म श्रीकार हो॥

३७—ते किल्याणकारी कर्म पुन छै रे लाल, त्यारी करणी पिण निरवद जाण हो।
ते ठाणा अग दसमे ठाणे कह्यो रे लाल, तिहा जोय करो पिछाण हो॥

३८—अन पुने पाण पुने कह्यो रे लाल, लेण सेण वस्त्र पुन जाण हो।
मन पुने वचन काया पुने रे लाल, नमसकार पुने नवमो पिछाण हो॥

२१—ज्ञानावरणीय कर्म, दर्शनावरणीय कर्म, मोहनीय कर्म और अन्तराय कर्म ये चारों एकान्त पाप हैं। जिस करनी से इन कर्मों का बंध होता है वह जिन-आज्ञा में नहीं है[२३]।

ज्ञाणावरणीय आदि चार पाप कर्म

२२—वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र ये चारों कर्म पुण्य और पाप दोनों रूप हैं। पुण्य रूप वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र कर्म जिस करनी से होते हैं वह करनी निरवद्य है। इस करनी की आज्ञा भगवान देते हैं[२४]।

वेदनीय आदि चार पुण्य कर्मों की करनी निरवद्य है

२३—पुण्य पाप की करनी का अधिकार भगवती सूत्र के आठवें शतक के नवें उद्देशक में आया है। उसका न्याय सम्यक् दृष्टि समझते हैं[२५]।

भगवती ८.९ का उल्लेख द्रष्टव्य

२४-२७-करनी कर निदान—फल की इच्छा न करने से, शुभ परिणाम और सम्यक्त्व से, समाधि योग मे प्रवर्तन से, क्षमापूर्वक परिषह सहन करने से, पांचों इन्द्रियों को वश करने से, माया और कपट से रहित होने से, ज्ञानादि की उपासना से, श्रमणत्व से, आठ प्रवचन माताओं से संयुक्त होने से, धर्म-कथा कहने से,—इन दस बोलों से जीव के कल्याणकारी कर्मों का बंध होता है। ये कल्याणकारी कर्म पुण्य हैं और इनको प्राप्त करने की करनी भी स्पष्टत निरवद्य है। ये दस बोल स्थानाङ्ग सूत्र के दसवें स्थानक में कहे हैं। देख कर पुण्य-करनी की पहिचान करो[२६]।

कल्याणकारी कर्म बंध के दस बोल निरवद्य हैं

२८—अन्न पुण्य, पान पुण्य, स्थान पुण्य, शय्या पुण्य, वस्त्र पुण्य, मन पुण्य, वचन पुण्य, काया पुण्य और नमस्कार पुण्य—इस तरह नौ पुण्य (भगवान ने) कहे हैं।

नौ पुण्य

३९—पुन्य वधे नव प्रकार सू रे लाल, ते नवोई निरवद जाण हो।
ते नवोई वोला मे जिण आगना रे लाल, तिणरी करज्यो पिछाण हो॥

४०—कोई कहै नवोई वोल समचे कह्या रे लाल, सावद्य निरवद न कह्या ताम हो।
सचित अचित पिण नही कह्या रे लाल, पातर कुपातर रो पिण नही नाम हो॥

४१—तिणसू सचित्त अचित्त दोनू कह्या रे लाल, पातर कुपातर ने दीया ताम हो।
पुन नीपजे दीधा सकल ने रे लाल, ते झूठ वोले सुतर रो ले ले नाम हो॥

४२—साध श्रावक पातर नें दीयां रे लाल, तीथकर नामादिक पुन थाय हो।
अनेरा ने दान दीधा थका रे लाल, अनेरी पुन प्रकत वधाय हो॥

४३—इम कहै नाम लेई ठाणा अग नों रे लाल, नवमा ठाणा मे अर्थ दिखाय हो।
ते अर्थ अणहुतो घालीयो रे लाल, ते भोला ने खवर न काय हो॥

४४—जो अनेरा नें दीया पुन नीपजे रे लाल, जव टलीयो नहीं जीव एक हो।
कुपातर नें दीया पुन किहा थकी रे लाल, समझो आण ववेक हो॥

४५—पुन रा नव वोल तो समचे कह्या रे लाल, उण ठामे तो नही छै नीकाल हो।
ज्यू वदणा वीयावच पिण समचे कही रे लाल, ते गुणवत सू लेजो समाल हो॥

४६—वदणा कीया खपावे नीच गोत नें रे लाल, उच गोत कर्म बधाय हो।
तीथकर गोत बधे वीयावच कीया रे लाल, ते पिण समचे कह्या छै ताम हो॥

३९—पुण्य बंध इन्हीं नौ प्रकार से होता है। ये सब बोल निरवद्य है। इन सबमें जिन भगवान की आज्ञा है। बुद्धिमान इस बात की पहचान करें[२७]।

पुण्य के नवो बोल निरवद्य व जिन-आज्ञा में हैं

४०-४१-कई कहते हैं कि भगवान ने नवों बोल समुच्चय—(बिना किसी अपेक्षा के) कहे हैं। सावद्य-निरवद्य, सचित्त-अचित्त, पात्र-अपात्र का भेद नहीं किया है। इसलिए सचित्त अचित्त दोनों प्रकार के अन्न आदि देने का भगवान ने कहा है, तथा पात्र-कुपात्र दोनों को देने को कहा है सबको देने में पुण्य है। ऐसा कहने वाले सूत्रों का नाम लेकर झूठ बोलते हैं।

नवो बोल क्या अपेक्षा रहित हैं ? (गा० ४०-४४)

४२—वे कहते हैं कि साधु श्रावक इन पात्रों को देने से तीर्थङ्कर नामादि पुण्य प्रकृतियों का बंध होता है तथा अन्य लोगों को दान देने से अन्य पुण्य प्रकृति का बंध होता है।

४३—वे स्थानाङ्ग सूत्र का नाम लेकर ऐसा कहते हैं और नवे स्थानक में अर्थ दिखलाते हैं। परन्तु न होता हुआ अर्थ वहां घुमा दिया गया है—भोले लोगों को इसकी खबर नहीं है।

४४—यदि 'अन्य को' देने से भी पुण्य होता है तब तो एक भी जीव बाकी नहीं रहता। परन्तु कुपात्र को देने से पुण्य कैसे होगा ? यह विवेक पूर्वक समझने की बात है[२८]।

४५—पुण्य के नौ बोल समुच्चय (बिना खुलाशा) कहे गये हैं, स्थानाङ्ग सूत्र के ९ वें स्थानक में कोई निचोड नहीं है। इसी तरह वंदना और वैयावृत्य के बोल भी समुच्चय कहे हैं। गुणी इनका मर्म समझ लें।

समुच्चय बोल अपेक्षा रहित नही (गा० ४५-५४)

४६—वंदना करता हुआ जीव नीच गोत्र को खपाता है और उच्च गोत्र का बंध करता है तथा वैयावृत्य करने से तीर्थंकर गोत्र का बंध करता है। ये भी समुच्चय बोल हैं।

४७—तीथकर गोत वधे वीस वोल सू रे लाल, त्यामे पिण समचे वोल अनेक हो।
समचे वोल घणा छै सिधत मे रे लाल, त्यामे कुण समझे विगर ववेक हो॥

४८—जो अन पुने समचे दीघा सकल नें रे लाल, तो नवोई समचे जाण हो।
हिवे निरणो कहू छू नवा ही तणो रे लाल, ते सुणज्यो चुतर सुजाण हो॥

४९—अन सचित अचित दीघा सकल नें रे लाल, जो पुन नीपजे छै ताम हो।
तो इमहीज पुन पाणी दीया रे लाल, लेण सेण वसतर पुन आम हो॥

५०—इमहीज मन पुने समचे हुवे रे लाल, तो मन भूडोइ वरत्या पुन थाय हो।
वले वचन पुणे पिण समचे हुवे रे लाल, भूडो वोल्याई पुन बधाय हो॥

५१—काय पुने पिण समचे हुवे रे लाल, तो काया सू हिंसा कीया पुन होय हो।
नमसकार पुने पिण समचे हुवे रे लाल, तो सकल नें नम्या पुन जोय हो॥

५२—मन वचन काया माठा वरतीया रे लाल, जो लागे छै एकत पाप हो।
तो नवोई वोल इम जाणजो रे लाल, उथप गई समचे री थाप हो॥

५३—मन वचन काया सू पुन नीपजे रे लाल, ते निरवद वरत्या होय हो।
तो नवोई वोल इम जाणजो रे लाल, सावद्य मे पुन न कोय हो॥

४७—इसी प्रकार २० बातों से तीर्थङ्कर गोत्र का बंध बतलाया गया है। उनमें भी अनेक बोल समुच्चय हैं। इस प्रकार सिद्धान्त में (जैन सूत्रों में) समुचय बोल अनेक हैं। बिना विवेक उन्हें कौन समझ सकता है ?

नौ बोलों की समझ (गा० ४८-५४)

४८—यदि सभी को अन्न-दान देने से अन्न पुण्य होता हो तब तो सभी बोलों के सम्बन्ध में यह बात समझो। अब में नवों ही बोलों का निर्णय करता हूं। चतुर विज्ञ इसको सुनें।

४९—यदि सचित्त-अचित्त सब अन्न सब को देने से पुण्य होता है तब तो पानी, स्थान, शय्या, वस्त्र आदि भी सचित्त अचित्त सब सबको देने से पुण्य होगा।

५०—इसी तरह यदि मन पुण्य भी समुच्चय हो तब तो मन को दुष्प्रवृत्त करने से भी पुण्य होगा तथा वचन पुण्य भी समुच्चय हो तो दुर्वचन से भी पुण्य बंधना चाहिए।

५१—यदि काया पुण्य भी समुच्चय हो तो काया से हिंसा करने पर भी पुण्य होना चाहिए। इसी तरह नमस्कार पुण्य भी समुच्चय हो तो सबको नमस्कार करने से पुण्य होना चाहिए।

५२—अब यदि मन, वचन और काया की दुष्प्रवृत्ति से एकान्त—केवल पाप ही लगता हो तब तो नवों ही बोलों के सबन्ध में यह बात जानो। इस प्रकार समुच्चय की बात उठ जाती है।

५३—अब यदि यह मान्यता हो कि मन, वचन तथा काया की निरवद्य प्रवृत्ति से पुण्य होता है तब नवों ही बोलों के सम्बन्ध में यह समझो। सावद्य से कोई पुण्य नहीं होता।

५४—नमसकार अनेरा ने कीया थका रे लाल, जो लागे छै एकंत पाप हो।
तो अनादिक सचित दीयां थका रे लाल, कुण करमी पुन री थाप हो॥

५५—निरवद करणी मे पुन नीपजे रे लाल, सावद्य करणी सू लागे पाप हो।
ते सावद्य निरवद किम जाणीये रे लाल, निरवद मे आग्या दे जिण आप हो॥

५६—अन पाणी पातर ने वेहरावीया रे लाल, लेण सयण वस्त्र वेहराय हो।
त्यारी श्रीजिण देवे आगना रे लाल, तिण ठामे पुन बंधाय हो॥

५७—अन पाणी अनेरा ने दीया रे लाल, लेण सेण वसतर देवे ताय हो।
त्यारी देवे नही जिण आगन्या रे लाल, तिणरे पुन किहा थी बंधाय हो॥

५८—सुपातर ने दीया पुन नीपजे रे लाल, ते करणी जिण आगना माय हो।
जो अनेरा नें दीयाई पुन नीपजै रे लाल, तिणरी जिण आगना नही काय हो॥

५९—ठाम ठाम सुतर मे देखलो रे लाल, निरजरा ने पुन री करणी एक हो।
पुन हुवे तिहा निरजरा रे लाल, तिहा जिन आगना छै वशेष हो॥

६०—नव प्रकारे पुन नीपजे रे लाल, ते भोगवे बयालीस प्रकार हो।
ते पुन उदे हुवे जीवरे रे लाल, सुख साता पामे संसार हो॥

६१—ए पुन तणा सुख कारिमा रे लाल, ते विणसता नहीं वार हो।
तिणरी वंछा नहीं कीजीये रे लाल, ज्यू पामे भव पार हो।

५४—यदि पांच पदों को छोड कर अन्य को नमस्कार करने से एकान्त पाप लगता हो तब अन्नादि सचित्त देने में कौन पुण्य की स्थापना करेगा[२९] ?

५५—पुण्य निरवद्य करनी से होता है, सावद्य करनी से पाप लगता है। सावद्य निरवद्य की पहचान यह है कि निरवद्य कार्यों की खुद भगवान आज्ञा देते हैं।

सावद्य करनी से पाप का बंध होता है (गा० ५५-५८)

५६—पात्र को (निर्दोष एषणीय) अशन, पान आदि बहराने तथा स्थान, शय्या, वस्त्र आदि देने की जिन देव आज्ञा करते हैं। इनसे पुण्य का बंध होता है।

५७—अन्न-पानी आदि तथा स्थान, शय्या, वस्त्र, पात्र अन्य को देने की जिन भगवान आज्ञा नहीं देते। इसलिये ऐसे दान से जीव के पुण्य बंध कैसे हो सकता है ?

५८—सुपात्र को देने से पुण्य होता है। यह करनी जिन-आज्ञा सम्मत है, यदि अन्य किसी को देने से भी पुण्य होता है तो उसके लिए जिन-आज्ञा क्यों नहीं है[३०] ?

५९—स्थान-स्थान पर सूत्रों में देख लो कि निर्जरा और पुण्य की करनी एक है। जहाँ पुण्य होता है वहाँ निर्जरा भी होती है और जहाँ निर्जरा होती है वहाँ विशेष रूप से जिन-आज्ञा है।

पुण्य और निर्जरा की करनी एक है

६०—पुण्य नौ प्रकार से उत्पन्न होता है तथा वह ४२ प्रकार से भोग में आता है। जीव के पुण्य का उदय होने से वह संसार में सुख पाता है।

पुण्य की ९ प्रकार से उत्पत्ति ४२ प्रकार से भोग

६१—पुण्य-जात सुख क्षणिक हैं। उनके विनाश होते देर नहीं लगती, इन सुखों की कभी वांछा नहीं करनी चाहिए जिससे कि संसार रूपी समुद्र के पार पहुँचा जा सके।

पुण्य अवाञ्छनीय मोक्ष वाञ्छनीय (गा० ६१-६३)

६२—जिण पुन तणी वंछा करी रे लाल, तिण वंछीया काम नें भोग हो
ससार वधे कामभोग सू रे लाल, तिहां पामे जन्म मरण सोग हो

६३—वंछा कीजे एक मुगत री रे लाल, ओर वंछा न कीजे लिगार हो।
जे पुन तणी वछा करें रे लाल, ते गया जमारो हार हो॥

६४—संवत अठारे तयाले समे रे लाल, काती सुद चोथ विसपतवार हो।
पुन नीपजे ते ओलखायवा रे लाल, जोड कीवी कोठारया मभार हो॥

६२—जो पुण्य की कामना करता है वह कामभोगों की ही कामना करता है। कामभोग से ससार की वृद्धि होती है तथा प्राणी जन्म, मृत्यु और शोक को प्राप्त करता है।

६३—कामना केवल एक मुक्ति की करनी चाहिए। अन्य कामना किञ्चित भी नहीं करनी चाहिए। जो पुण्य की वांछा करता है, वह मनुष्य-भव को हारता है[31]।

६४—पुण्य की उत्पत्ति कैसे होती है यह बताने के लिए स० १८४३ की कार्तिक सुदी ४ गुरुवार को यह जोड कोठारचा गांव में की है।

रचना-काल

पुण्य पदार्थ (ढाल : २)

टिप्पणियाँ

१—पुण्य के हेतु और पुण्य का भोग (दो० १) :

स्थानाङ्ग सूत्र में कहा है[1]—"पुण्य नौ प्रकार का है—अन्न पुण्य, पान पुण्य, वस्त्र पुण्य, लयन[2] पुण्य, शयन[3] पुण्य, मन पुण्य, वचन पुण्य, काय पुण्य, और नमस्कार पुण्य।"

यहाँ पुण्य का अर्थ है—पुण्य कर्म की उत्पत्ति के हेतु कार्य। अन्न, पान, वस्त्र, स्थान, शयन के निरवद्य दान से, सुप्रवृत्त मन, वचन, काया से तथा मुनि के नमस्कार से पुण्य प्रकृतियो का बंध होता है। अत कार्य और कारण को एक मान पुण्य के कारण को पुण्य की संज्ञा दी गयी है।

स्थानाङ्ग के टीकाकार श्री अभयदेव ने अपनी टीका में नवविध पुण्य का बताने वाली निम्न गाथा उद्धृत की है

> अन्न पान च वस्त्र च आलय शयनासनम् ।
> शुश्रूषा वदन तुष्टि पुण्य नवविध स्मृतम् ॥

इस गाथा में बताये हुए पुण्यों में छः तो वे ही हैं जो मूल स्थानाङ्ग में उल्लिखित हैं किन्तु मन, वचन और काय के स्थान में यहाँ आसन पुण्य, शुश्रूषा पुण्य और तुष्टि पुण्य हैं। नवविध पुण्य की यह परम्परा अवश्य ही आगमिक नहीं है।

१—ठाणाङ्ग ९. ३. ६७६ :

णवविहे पुन्ने प० तं० अन्नपुन्ने, पाणपुन्ने, वत्थपुन्ने, लेणपुन्ने, सयणपुन्ने मणपुन्ने, वतिपुन्ने, कायपुन्ने, नमोक्कारपुन्ने

२—गृह, स्थान

३—शय्या—संस्तारक बिछाने की वस्तु

दिगम्बर ग्रन्थो में प्रतिग्रहण, उच्चस्थापन, पाद-प्रक्षालन, अर्चन, प्रणाम, मन शुद्धि, वचन-शुद्धि, काय-शुद्धि और एषण (भोजन) शुद्धि इन नौ को नौ पुण्य कहा है[1]। इन नौ पुण्यो मे वहुमान की उन विधियो का सकलन है जो दिगम्बर मत से एक दाता को दान देते समय मुनि के प्रति सम्पन्न करनी चाहिए[2]।

स्वामीजी नौ प्रकार के पुण्यो से उन्ही पुण्यो की ओर सकेत करते हैं जिनका उल्लेख 'स्थानाङ्ग' आगम में है।

स्वामीजी कहते हैं—"नव प्रकारे पुन नीपजे, ते करणी निरवद जांण"—अन्न-दान आदि पुण्य के कारण तभी होते हैं जब वे निरवद्य होते हैं। जब अन्न-दान आदि सावद्य होते हैं तब उनमे पुण्य का वध नही होता।

यह पहले वताया जा चुका है कि कर्मो के दो विभाग होते हैं—(१) पुण्य और (२) पाप। पुण्य का स्वभाव है सुखानुभूति उत्पन्न करना। पाप का स्वभाव है दुःखानुभूति उत्पन्न करना। पुण्य और पाप दोनो ही के अनेक अन्तरभेद हैं। और प्रत्येक भेद की अपनी-अपनी विशिष्ट प्रकृति अथवा स्वभाव है। पुण्य कर्म के ४२ भेद पहले वताये जा चुके हैं। प्रत्येक भेद अपने स्वभाव के अनुसार फल देता है। कर्मों का यह फल देना ही उनका भोग है। पुण्य कर्म अपने अन्तरभेदो की विवक्षा से ४२ प्रकार से उदय मे आता है। दूसरे शब्दो में कहा जाता है—जीव पुण्य कर्म का फल भोग ४२ प्रकार से करता है।

२—पुण्य की करनी में निर्जरा और जिन-आज्ञा की नियमा (दो० २):

स्वामीजी यहाँ दो सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं :

१—जिस करनी—क्रिया से पुण्य का वध होता है उससे निर्जरा अवश्य होती है।

२—वह क्रिया जिन-आज्ञा में होती है—जिनानुमोदित होती है।

स्वामीजी ने इन दोनो ही सिद्धान्तो पर वाद में विस्तृत प्रकाश डाला है (देखिए गा० १-२ आदि)। वही टिप्पणियो में विस्तृत विवेचन भी है।

१—पडिगहणमुच्चठाण पादोदकमच्चण च पणम च।
मणवयणकायसुद्धी एसणसुद्धी य णवविह पुण्ण ॥

२—सागारधर्मामृत ५ ४५

३—'साधु के सिवा दूसरों को अन्नादि देने से तीर्थंकर पुण्य प्रकृति से भिन्न पुण्य प्रकृति का बंध होता है' इस प्रतिपादन की अयौक्तिता (दो० २-३) :

'अन्न पुण्य' आदि के साथ विशेषात्मक अथवा व्याख्यात्मक शब्द नहीं है। अत इनका अर्थ दो प्रकार से किया जा सकता है

१—पंच महाव्रतधारी मुनि को, जो योग्य पात्र है, प्रासुक एषणीय आहार आदि का देना अन्न पुण्य आदि हैं।

२—पात्रापात्र के भेदातिरिक्त चाहे जो भी हो उसे सचित्त-अचित्त अन्न आदि का देना अन्न पुण्य आदि हैं।

स्वामीजी कहते हैं—"अन्न पुण्य आदि की पहली व्याख्या ही ठीक है। क्योंकि निरवद्य दान से ही पुण्य हो सकता है सावद्य दान से नहीं। अपात्र को सचित्त-अचित्त देना सावद्य दान है वह पुण्य का हेतु नहीं।" उदाहरणस्वरूप स्वामीजी कहते हैं—"जल के एक बिन्दु मे असख्य अप्कायिक जीव हैं। उसमे वनस्पति जीवो की नियमा है। धान्यादि भी सचित्त हैं। जो इन सजीव चीजो का दान करता है उसके पुण्य का बंध कैसे होगा? मुनि ऐसी अप्रासुक वस्तुओं को लेते ही नहीं। वे प्रासुक अचित्त वस्तुएं लेते हैं। उन वस्तुओं को अपात्र ही ले सकते हैं। अपात्र-दान सावद्य है।"

स्वामीजी कहते हैं कि जो सावद्य दान में पुण्य बतलाते हैं वे ज्ञान-चक्षुओं से हीन हैं।

स्वामीजी के समय में कई जैन-साधु ऐसी प्ररूपणा करते रहे कि पंचमहाव्रतधारी साधु को आहार आदि देने से तीर्थंकर पुण्य प्रकृति का बंध होता है और साधु के सिवा दूसरों को देने से अन्य पुण्य प्रकृति का बंध होता है—ऐसा स्थानाङ्ग मे लिखा है।

'अन्न पुण्य' कहलाता है। इसी प्रकार पान से लेकर शयन पुण्य तक जानना चाहिए।

यहाँ पात्र दान मे तीर्थंकर आदि पुण्य-प्रकृति का वध कहा है न कि हर किसी को अन्नादि देने से। पात्र अप्रासुक नही लेता। अन पात्र को प्रासुक देने से ही पुण्य होता है। उत्कृष्ट पुण्य-प्रकृति का वध भावो की तीव्रता के साथ सम्वन्धित है। भावो मे उत्कृष्ट तीव्रता होने से निरवद्य दान मे तीर्थंकर पुण्य-प्रकृति का वध होता है अन्यथा अन्य पुण्य-प्रकृतियो का। इसका अर्थ यह कदापि नही हो सकता कि साधु को देने से तीर्थंकर पुण्य-प्रकृति आदि का वध होता है और अन्य को देने से अन्य पुण्य प्रकृतियो का।

४—पुण्य-वध के हेतु और उसकी प्रक्रिया (गाथा १-३):

इस ढाल के दोहे १, २ और इन गाथाओ मे जो सिद्धान्त दिए गए हैं वे इस प्रकार हैं

(१) पुण्य शुभ योग से उत्पन्न होता है।

(२) शुभ योग से निर्जरा होती है और पुण्य सहज रूप से उत्पन्न होता है।

(३) जहाँ पुण्य होगा वहाँ निर्जरा अवश्य होगी।

(४) सावद्य करणी मे पुण्य नही होता।

(५) पुण्य की करणी मे जिनाज्ञा है।

हम नीचे इनपर क्रमश विचार करेंगे।

(१) पुण्य शुभयोग से उत्पन्न होता है इस विषय में कुछ प्रकाश पूर्व मे डाला जा चुका है (देखिए पृ० १५८ टि० ५)। 'योग' का अर्थ है कर्म, क्रिया, व्यापार। योग तीन हैं—कायिक कर्म, वाचिक कर्म और मानसिक कर्म। हिंसा करना, चोरी करना, अब्रह्मचर्य का सेवन करना, आदि अशुभ कायिकयोग हैं। सावद्य वोलना, झूठ वोलना, कटु वोलना, चुगली करना आदि अशुभ वाचिकयोग हैं। दुर्ध्यान, किसी को मारने का विचार, ईर्ष्या, असूया आदि अशुभ मानसिक योग हैं। जो इनसे विपरीत कायिक आदि योग वे शुभ हैं[1]।

हिंसा न करना, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना शुभ काययोग हैं। सत्य, हित, मित वोलना शुभ काययोग है। अर्हत आदि की भक्ति, तपोरुचि, श्रुत-विनयादि शुभ मनोयोग हैं[2]। सिद्धसेन कहते हैं—धर्मध्यान, शुक्लध्यान का ध्यान

१—तत्त्वार्थसूत्र ६ १ भाष्य

२—राजवार्तिक ६ ३ वार्तिक अहिंसाऽस्तेयब्रह्मचर्यादि शुभ काययोग। सत्यहितमित भाषणादि शुभोवाग्योग। अर्हदादिभक्तितपोरुचिश्रुतविनयादि शुभो मनोयोग।

कुशल मनोयोग है। मूर्च्छाभाव परिग्रह—अशुभ योग है। मूर्च्छा न रखना कुशल मनोयोग है[1]।

आचार्य पूज्यपाद ने लिखा है—काया, वचन और मन की क्रिया को योग कहते हैं। आत्मा के प्रदेशो का परिस्पन्दन—हलन-चलन योग है[2]।

जिस तरह मकान के द्वार, तालाब के नाला और नौका के छिद्र होता है वैसे ही जीव के योग होता है। जैसे मकान के द्वार से प्राणी घर में प्रवेश करता है वैसे ही योग से कर्म पुद्गल आत्म-प्रदेशो में आस्रव करते हैं, जैसे नाले के द्वारा तालाब में जल इकट्ठा होता है, वैसे ही योग द्वारा कर्म आत्म-प्रदेशो में इकट्ठे होते हैं, जैसे छिद्र द्वारा नौका में जल भरता है वैसे ही योग द्वारा आत्म-प्रदेशो मे कर्म सचित होते हैं[3]।

योगयुक्त जीव के आत्म-प्रदेशो के परिस्पन्दन से कर्म-वर्गणा के पुद्गल आत्मा मे प्रवेश करते हैं। यदि योग शुभ होता है तो कर्म पुण्य रूप होते हैं। यदि योग अशुभ होता है तो कर्म पाप रूप होते हैं।

(२) शुभ योग से निर्जरा होती है और पुण्य सहज रूप से उत्पन्न होता है

इस सम्बन्ध में कुछ प्रकाश पूर्व में डाला जा चुका है (देखिये पृ० १७३ ४ टि० १५)। स्वामीजी ने अन्यत्र लिखा है—जब जीव शुभ कर्त्तव्य—निरवद्य क्रिया करता है तब कर्मों का क्षय होता है। इसमे जीव के सर्व आत्म-प्रदेशो मे हलन-चलन होती है, जिसमे आत्म-प्रदेशो में कर्मों का आश्रव होता है। जब शुभ योग के समय जीव के आत्म-प्रदेशो में स्पन्दन होता है तब सहचर नामकर्म के उदय से पुण्य-कर्म आत्म प्रदेशो में प्रवेश पाते हैं। मन-वचन-काया के योग प्रशस्त और अप्रशस्त दो तरह के होते हैं। अप्रशस्त योगो से पाप का प्रवेश होता है। प्रशस्त योगो से निर्जरा होती है। निर्जरा होते समय आत्म-प्रदेशो का जो परिस्पन्दन होता है उससे पुण्य-कर्म आकृष्ट होकर आते

१—तत्त्वार्थसूत्र ६ १ की वृत्ति : अनभिध्यादिधर्मशुक्लध्यानध्यायिता चेति मनोयोग कुशल, मूर्च्छालक्षण परिग्रह इति मनोव्यापार [illegible]।

२—सर्वार्थसिद्धि ६ १ की वृत्ति :
कर्म क्रिया इत्यनर्थान्तरम्। कायवाड्मनसा कर्म कायवाड् मन कर्म योग इत्याख्यायते
आत्मप्रदेशपरिस्पन्दो योग

३—(क) तेरा द्वार
(ख) तत्त्वार्थसूत्र भाष्य [illegible]
[illegible]

प्रदेशो में स्थान पाते है। प्रशस्त योग मे ये कर्म विपाकावस्था मे अच्छे फल के देने वाले होते हैं इसलिये पुण्य कहलाते हैं[1]।

(३) जहां पुण्य होगा वहां निर्जरा अवश्य होगी स्वामीजी ने आगे चलकर भिन्न-भिन्न सूत्रो के अनेक पाठ दिए हैं जिसमे इस सिद्धान्त की वास्तविकता स्वयसिद्ध होती है। जहां निर्जरा होती है वहा पुण्य नही भी हो सकता है। लेकिन जहां पुण्य होगा वहां निर्जरा अवश्य होगी। शुभ योगो से निर्जरा होती है और प्रासगिक रूप से पुण्य का बंध (देखिये गाथा ४-३७ तथा टिप्पणी ५-२६)।

(४) सावद्य करनी से पुण्य नही होता बाद मे स्वामीजी ने सूत्रो से अनेक उद्धरण दिये हैं उनसे यह बात स्वयमेव सिद्ध हो जाती है। इसके लिए पाठक देखें गाथा ४-३७ तथा टिप्पणी ५-२६।

(५) पुण्य की करनी में जिन-आज्ञा है श्वेताम्बर आचार्यो ने शुभ योग से पुण्य का बंध माना है और दिगम्बर आचार्यो ने शुभ उपयोग से। जब पुण्य भी बंधन रूप है तब प्रश्न है उसके उत्पादक शुभ योग अथवा शुभ उपायोग हेय हैं अथवा ग्राह्य ?

ब्रह्मदेव कहते हैं "जो ज्ञानदर्शनचारित्रमय रत्नत्रयी रूप मोक्ष-मार्ग को नही जानता, वही निश्चय नय से हेय होने पर भी पुण्य को उपादेय समझ उसे करता है[2]।" (यहाँ पुण्य का अर्थ है पुण्य को उत्पन्न करने वाले शुभ उपयोग।) जो यह नही जानता है कि बंध और मोक्ष का हेतु 'निज' है वही पुण्य और पाप दोनो को

१—निरजरा री निरवद करणी करता, करम तणो खय जानो रे।
जीव तणा परदेश चलै छें, त्यांसू पुन लागे छें आंणो रे ॥ ४२ ॥
निरजरा री करणी करें तिण काले, जीव रा चाले सर्व परदेशो रे।
जब सहचर नाम करम सू उदै भाव, तिणसू पुन तणो परवेशो रे ॥ ४३ ॥
मन वचन काया रा जोग तीनूंइ, पसत्थ नें अपसत्थ चाल्या रे।
अपसत्थ जोग तो पाप ना दुवार, पसत्थ निरजरा री करणी में घाल्या रे ॥ ४४ ॥

२—परमात्मप्रकाश २ ५३ की टीका :
निजशुद्धात्मानुभूतिरुचिविपरीत मिथ्यादर्शन स्वशुद्धात्मप्रतीतिविपरीत मिथ्याज्ञानं निजशुद्धात्मद्रव्यनिश्चलस्थितिविपरीत मिथ्याचारित्रमित्येतत्त्रय कारण, तस्मात्त्रयाद्विपरीत भेदाभेदरत्नत्रयस्वरूप मोक्षस्य कारणमिति योऽसौ न जानाति स एव पुण्यपापद्वय निश्चयनयेन हेयमपि मोहवशात्पुण्यमुपादेय करोति पाप हेय करोतीति भावार्थः

मोह से करता है[१]। जो दर्शन, ज्ञान, चारित्रमय आत्मा को नही जानता वही जीव पुण्य और पाप दोनो को मोक्ष का कारण जानकर करता है[२]।' यहाँ प्रश्न उठता है— परमतवादी पुण्य और पाप को समान मानकर स्वच्छद रहते हैं, फिर उनको दोष क्या दिया जाय ? इसका उत्तर ब्रह्मदेव इस प्रकार देते हैं "जब शुद्धात्मानुभूतिस्वरूप तीन गुप्ति से गुप्त वीतराग-निर्विकल्प समाधि को पाकर ध्यान मे मग्न हुए पुण्य और पाप को समान जानते हैं, तब तो जानना योग्य है। परन्तु जो मूढ परम समाधि को न पाकर भी गृहस्थ अवस्था मे दान, पूजा आदि शुभ क्रियाओ को छोड देते हैं और मुनि-पद में छह आवश्यक कर्मो को छोडते हैं, वे दोनो बातो से भ्रष्ट होते हैं। वे न तो यती हैं, न श्रावक ही। वे निंदा योग्य ही हैं। तब उनको दोष ही है, ऐसा जानना[३]।"

दिगम्बर विद्वानो की दृष्टि से शुभ, अशुभ और शुद्धोपयोग का स्थान इस प्रकार है "पच परमेष्ठी की वदना, अपने अशुभ कृत्यो की निन्दा और प्रतिक्रमण पुण्य के कारण हैं (मोक्ष के कारण नही) इसलिए ज्ञानी पुरुष इन तीनो मे से एक भी न तो करता, न कराता, न करते हुए को भला जानता है[४]। एक ज्ञानमय शुद्ध पवित्र भाव को छोड़ कर अन्य वदन, निन्दन और प्रतिक्रमण करना ज्ञानियो को युक्त नही[५]। वन्दना करो, निन्दा करो, प्रतिप्रमण लेकिन जिसके अशुद्ध भाव हैं उसके नियम से सयम नहीं हो सकता[६]। शुद्धोपयोगियो के ही सयम, शील, तप होते हैं, शुद्धो के ही सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञान होते हैं, शुद्धो के कर्मो का नाश होता है। इसलिए शुद्ध उपयोग ही प्रधान है[७]। विशुद्ध भाव ही आत्मीय है। शुद्ध भाव को ही सब समय तू अगीकार करो। वही चारो गतियो के दुःखो मे पड़े हुए इस जीव को मोक्ष में रखता है[८]। मुक्ति का मार्ग एक शुद्ध भाव ही है[९]। शुभ परिणाम से धर्म—

१—परमात्मप्रकाश २ ५३

२—वही २ ५४

३—वही २ ५५ की टीका

४—वही २ ६४

५—वही २ ६५

६—वही २ ६६

७—वही २ ६७

८—वही २ ६८

९—वही २ ६९

पुण्य मुख्यता से होता है। अशुभ परिणामो से अधर्म—पाप होता है। इन दोनो से रहित—शुद्ध परिणाम से कर्म का बंध नही होता[1]।"

"श्री वीतराग देव, द्वादशांग शास्त्र और मुनिवरो की भक्ति करने से पुण्य होता है लेकिन कर्मक्षय नही होता[2]। इस कथन के भाव का स्फोटन ब्रह्मदेव ने अपनी टीका मे इस प्रकार किया है

"सम्यक्त्व पूर्वक देव, शास्त्र और गुरु की भक्ति मे मुख्यत तो पुण्य ही होता है, मोक्ष नही होता। प्रश्न उठता है, यदि पुण्य मुख्यता से मोक्ष का कारण नही तो त्याज्य ही है ग्रहण योग्य नही। यदि ग्रहण योग्य नही तो भरत, सगर, राम, पांडवादि ने निरन्तर पच परमेष्ठि के गुण स्मरण क्यो किये और दान-पूजादि शुभ क्रियाओ से पुण्य का उपार्जन क्यो किया? इसका उत्तर यह है—जैसे परदेश में स्थित कोई रामादि पुरुप अपनी प्यारी सीतादि स्त्री के पास से आये हुए किसी पुरुप से वार्ते करता है, उनका सम्मान करता है, यह सब कारण उसकी अपनी प्रिया के हैं। उसी तरह वे भरत आदि महान् पुरुप वीतराग परमानन्दरूप मोक्ष-लक्ष्मी के सुख अमृत रस के प्यासे हुए ससार की स्थिति के छेदन के लिए, विषय-कषाय से उत्पन्न हुए आर्त्त-रौद्र' ध्यानो के नाश के हेतु श्री पच परमेष्ठि के गुणो का स्मरण करते हैं और दान-पूजादि करते हैं। पच परमेष्ठि की भक्ति आदि शुभ क्रियाओ से जो भक्त आदि हैं उनके विना चाहे पुण्य प्रकृति का आश्रव होता है। जैसे किसान की दृष्टि अन्न पर होती है तृण, भूसादि पर नही, वैसे उन्हें विना चाहा पुण्य का वन्ध सहज ही होता है[3]।"

आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं—"यदि श्रामण्य में अर्हदादि में भक्ति, प्रवचन—आगम में अभियुक्तो में वत्सलता होती है वह शुभ उपयोग युक्त चर्या होती है। सरागचर्या में श्रमणो में उत्पन्न श्रम—खेद को दूर करना, वन्दन-नमस्कार सहित अभ्युत्थान, अनुगमन की प्रतिपत्ति निन्दित नही है। निश्चय ही सम्यग्दर्शन और ज्ञान का उपदेश देना, शिष्य ग्रहण करना, उनका पोषण करना आदि सराग-सयमियो की चर्या है। जो मुनि सदा काल चार प्रकार के श्रमण-सघ का षट्काय जीवो की विराधनारहित उपकार करता है वह सराग-सयमियो में प्रधान होता है[4]।

१—परमात्मप्रकाश २ ७१

२—वही २ ६१

३—वही २ ६१ की टीका

४—प्रवचनसार ३ ४६-४७-४८-४९

"वह श्रमण, जिसे पदार्थ और सूत्र सुविदित हैं, जो संयम और तप मे संयुक्त है जो वीतराग है और जिसको सुख-दुख सम हैं शुद्ध उपयोगवाला है[1]।

"सिद्धान्त के अनुसार श्रमण शुद्धोपयोगयुक्त और शुभोपयोगयुक्त दो तरह के होते हैं। उनमे जो शुद्धोपयोगयुक्त होते हैं वे आश्राव रहित होते हैं। बाकी आस्रव सहित होते हैं[2]।"

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि दिगम्बर आचार्यों के अनुसार एक सीमा के बाद शुभयोग हेय हैं। जब तक मुनि शुद्धोपयोग की अवस्था में नही पहुँचता तब तक शुभयोग विहित हैं। मुनि को शुद्धोपयोग की अवस्था में पहुँचना चाहिये। फिर उसके लिए वन्दन, प्रतिक्रमण आदि क्रियाएँ भी हेय हैं। शुभयोगो को पुण्य की कामना से तो कभी करना ही नही चाहिए।

श्री विनय विजयजी कहते हैं—"सयति मुनियो के भी शुभयोग शुभ कर्मों का आस्रव करते हैं, जीव को कर्मरहित नही करते। शुभयोग भी मोक्ष-मृग को [illegible] स्वर्ण-शृंखला के समान हैं। अत शुभ योगाश्रव का भी परिहार करे[3]।

स्वामीजी ने लिखा है—"जब मुनि आहार, गमनागमन आदि शुभयोगों [illegible] करता है तब निर्जरा के साथ-साथ आनुषंगिक फल के रूप मे पुण्य कर्मों [illegible] भी होता है। जब मुनि शुभयोगो का [illegible] करता है—जैसे उपवास आदि तपस्या करता है तब उससे निर्जरा होती है, पुण्य का आश्रव नही होता। [illegible] शुभयोगों में प्रवृत्त होता है तब तब उससे निर्जरा के साथ-साथ पुण्य का भी [illegible] होता है। चारित्रिक विकास के तेरहवें गुण स्थान में भी मुनि अयोगी नही होता। [illegible] आचार्यों के अनुसार वह शुद्धोपयोगी होगा। श्वेताम्बर मत मे उससे भी पुण्य [illegible] बंध होता है। आनुषंगिक रूपसे पुण्य कर्मों का बन्धन होने पर भी शुभयोग [illegible] क्यों कि वास्तव में वे निर्जरा के ही हेतु हैं। [illegible] अनायास आकर्षित होते हैं।

1—प्रवचनसार १ १४

2—वही ३ ४८

3—शान्त सुधारस ७.७

५—अशुभ अल्पायुष्य और शुभ दीर्घायुष्य के बंध-हेतु (गा० ४-६) :

गाथा ४ में 'स्थानाङ्ग' के जिस पाठ का उल्लेख है वह इस प्रकार है

तिहिं ठाणेहिं जीवा अप्पाउअत्ताते कम्म पगरिंति, त०—पाणे अतिवातित्ता भवति मुस वइत्ता भवइ तहारूव समणं वा माहणं वा अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असणपाण-खाइमसाइमेणं पडिलाभित्ता भवइ, इच्चेतेहिं तिहिं ठाणेहिं जीवा अप्पाउअत्ताते कम्म पगरेंति। (३ १ १२५)।

यहाँ अल्पायुष्यकर्म वध के तीन हेतु कहे गये हैं

१—प्राणातिपात,

२—मृषावाद और

३—तथारूप[1] श्रमण[2] माहन[3] को अप्रासुक[4] अनेषणीय[5] आहार का प्रतिलाभ।

प्राणियो की हिंसा करना, झूठ बोलना, मूलगुणधारी श्रमण साधु को सचित्त और अकल्प्य आहार देना ये तीनो ही कर्म सावद्य हैं। अशुभ योग हैं। जिन-आज्ञा के बाहर हैं। इनसे अल्पायुष्य का वध होता है और वह पाप-कर्म की प्रकृति है।

गाथा ५-६ में 'स्थानाङ्ग' के जिस पाठ की सूचना है वह इस प्रकार है

तिहिं ठाणेहिं जीवा दीहाउअत्ताते कम्म पगरेंति, त०—णो पाणे अतिवातित्ता भवइ णो मुस वतित्ता भवति तथारूव समण वा माहण वा फासुएसणिज्जेण असण-पाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेत्ता भवइ, इच्चेतेहिं तिहिं ठाणेहिं जीवा दीहाउयत्ताए कम्म पगरेंति। (३ १ १२५)।

यहाँ दीर्घायुष्यकर्म वध के तीन हेतु कहे हैं

१—प्राणातिपात न करना,

२—मृषा न बोलना और

३—तथारूप श्रमण निर्ग्रंथ को प्रासुक एषणीय आहार से प्रतिलाभित करना।

१—तथा तत्प्रकार रूप—स्वभावो नेपथ्यादि वा यस्य स तथारूप दानोचित इत्यर्थ

२—श्राम्यति—तपस्यतीति श्रमण - तपोयुक्तस्त

३—मा हन इत्याचष्टे य पर स्वय हनननिवृत्त सन्निति स माहनो मूलगुणधरस्त

४—प्रगता असव'—असमन्त प्राणिनो यस्मात् तत्प्रासुक तन्निषेधादप्रासुक सचेतन-मित्यर्थ

५—एष्यते—गवेष्यते उद्गमादिदोषविकलतया साधुभिर्यत्तदेषणीय—कल्प्य तन्निषेधादनेषणीय तेन

ये तीनो बंध-हेतु निरवद्य हैं। शुभ योग हैं। भगवान की आज्ञा में हैं। दीर्घायु पुण्यकर्म की प्रकृति है। उसका बंध शुभ योगो से है, यह इस पाठ से सिद्ध है।

'स्थानाङ्ग सूत्र' में कहा है प्राणातिपातविरमण, मृषावादविरमण, अदत्तादान विरमण, मैथुनविरमण और परिग्रहविरमण इन पांच स्थानो से जीव कर्म-रज को छोडता है

पचहिं ठाणेहिं जीवा रत वमति, त०—पाणातिवातवेरमणेण जाव परिग्गहवेरमणेण (५ २ ४२३)

इससे यह भी सिद्ध होता है कि जिन बोलो से दीर्घायुष्य कर्म का बंध बताया गया है उनसे कर्मो की निर्जरा भी होती है।

६—अशुभ-शुभ दीर्घायुष्यकर्म के बंध-हेतु (गा० ७-६)

तिहिं ठाणेहिं जीवा असुभदीहाउयत्ताए कम्म पगरेति, तजहा पाणे अतिवातित्ता भवइ मुस वइत्ता भवइ तहारूव समण वा माहण वा हीलेत्ता णिदित्ता खिंसेत्ता गरहित्ता अवमाणित्ता अन्नयरेण अमणुन्नेण अपीतिकारतेण असणपाणखाइमसाइमेण पडिलाभेत्ता भवइ, इच्चेतेहिं तिहिं ठाणेहिं जीवा असुभदीहाउअत्ताए कम्म पगरेति (३ १ १२५)

यहाँ अशुभ दीर्घायुष्यकर्म के बंध-हेतु इस प्रकार कहे गये हैं

१—प्राणातिपात,

२—मृषावाद और

२—मृषा न बोलना और

३—तथारूप श्रमण माहन को वदन-नमस्कार, सत्कार-सम्मान कर, उस कल्याणरूप, मगलरूप, दैवत चैत्य की पर्युपासना कर उसे मनोज्ञ, प्रियकारी आहार से प्रतिलाभित करना।

शुभ दीर्घायुष्यकर्म पुण्य की प्रकृति है। उसके यहाँ वर्णित बध-हेतु भी शुभ हैं।

'समवायाङ्ग मे कहा है—निर्जरा पाँच हैं प्राणातिपातविरमण, मृषावादविरमण, अदत्तादानविरमण, मैथुनविरमण और परिग्रहविरमण

पच निज्जरट्ठाणा पन्नत्ता, तजहा—पाणाइवायाओ वेरमण, मुसावायाओ वेरमण, अदिन्नादाणाओ वेरमण, मेहुणाओ वेरमण, परिग्गहाओ वेरमण (५ ६)।

इस पाठ को 'स्थानाङ्ग' के उपर्युक्त पाठ के साथ पढने से यह स्पष्ट है कि जिन बोलो से शुभायुष्यकर्म का बध बतलाया गया है उनसे निर्जरा भी होती है।

७—अशुभ-शुभ आयुष्यकर्म का बध और भगवतीसूत्र (गा० १०).

यहाँ 'भगवती सूत्र' के जिस पाठ का उल्लेख है, वह इस प्रकार है

कह ण भते ! जीवा असुभदीउयत्ताए कम्म पकरेंति ? गोयमा ! पाणे अइवाएत्ता, मुस वइत्ता, तहारुव समण वा, माहण वा हीलित्ता निदित्ता खिसित्ता गरहित्ता अवमन्नित्ता अन्नयरेण अमणुन्नेण अपीतिकारएण असण-पाण-खाइम-साइमेण पडिलाभेत्ता एव खलु जीवा असुभदीहाउयत्ताए कम्म पकरेंति (५ ६)।

कह ण भते ! जीवा सुभदीहाउयत्ताय कम्म पकरेंति ?

गोयमा ! नो पाणे अइवाइत्ता नो मुस वइत्ता तहारुव समण वा माहण वा वदित्ता वा नमसित्ता जाव पज्जुवासित्ता अन्नयरेण मणुन्नेण पीतिकारएण असणपाणखाइमसाइमेण पडिलाभेत्ता एव खलु जीवा सुभदीहाउयत्ताए कम्मं पकरेंति (५ ६)।

'भगवती' का यह पाठ गौतम और भगवान महावीर के प्रश्नोतर रूप मे है जब कि 'स्थानाङ्ग' का पाठ 'भगवती के उत्तर मात्र का सकलन है। दोनो पाठो का अर्थ एक ही है। यह पाठ भी इसी बात को सिद्ध करता है कि पुण्य-कर्म के बध-हेतु शुभ योग रूप होते हैं और पापकर्म के बध-हेतु अशुभ योग रूप।

८—वदना से निर्जरा और पुण्य दोनों (गा० ११) ·

'उत्तराध्ययन' का सम्बधित पाठ इस प्रकार है

वन्दणएण भन्ते जीवे कि जणयइ। व० नीयागोय कम्म खवेइ। उच्चागोयं कम्म

निबन्धइ । सोहग्ग च ण अपडिहय आणाफल निव्वत्तेइ दाहिणभाव च ण जणयइ ॥
(२९ १)

शिष्य ने पूछा—"भगवन् ! जीव वन्दना से क्या उत्पन्न करता है ?" भगवान महावीर ने उत्तर दिया—"नीच गोत्रकर्म का क्षय करता है, उच्च गोत्रकर्म का बन्ध करता है, अप्रतिहत सौभाग्य तथा आज्ञा-फल प्राप्त करता है और दाक्षिण्य भाव उत्पन्न करता है।"

'वन्दना' का अर्थ है मुनियो का स्तवन करना। यह शुभ योग है। नीच गोत्रकर्म का क्षय निर्जरा है। उच्च गोत्र का बध पुण्य-कर्म प्रकृति का बध है। शुभ योग से निर्जरा होती है और सहज रूप से पुण्य का बध होता है, यह सिद्धान्त इस प्रश्नोत्तर से भली तरह सिद्ध होता है।

९—धर्मकथा से निर्जरा और पुण्य दोनो (गा० १२)

'उत्तराध्ययन सूत्र' के जिस पाठ का यहाँ सकेत है, वह इस प्रकार है

धम्मकहाए ण भन्ते जीवे किं जणयइ। ध० निज्जरं जणयइ। धम्मकहाए ण पवयण पभावेइ। पवयणपभावेण जीवे आगमेसस्स भद्दत्ताए कम्म निबन्धइ ॥ (२९ २३)

इसका अर्थ है

'हे भन्ते ! धर्मकथा से जीव क्या उत्पन्न करता है ?" "वह निर्जरा करता है। धर्मकथा से प्रवचन की प्रभावना होती है। प्रवचन की प्रभावना से जीव आगामिक काल मे भद्र रूप कर्मों का बध करता है।'

१०—वैयावृत्य से निर्जरा और पुण्य दोनों (गा० १३) :

यहाँ 'उत्तराध्ययन' के जिस पाठ की ओर संकेत है वह इस प्रकार है :

वेयावच्चेण भन्ते जीवे किं जणयइ । वे० तित्थयरनामगोत्त कम्म निबन्धइ ॥

(२६ ४३) इसका अर्थ यह है

"भन्ते ! वैयावृत्य से जीव क्या उत्पन्न करता है ?" "वह तीर्थंकर नामकर्म का बंध करता है ।"

निरवद्य वैयावृत्य शुभ योग है । वैयावृत्य आभ्यतरिक तपो मे से एक तप है[1] । अत उससे निर्जरा स्वयसिद्ध है । उसका फल पुण्य प्रकृति का बंध भी है ।

११—तीर्थङ्कर नामकर्म के बंध-हेतु (गा० १४)

इस विषय का 'ज्ञाताधर्मकथा' का पाठ इस प्रकार है

इमेहि य ण वीसाएहि य कारणेहिं आसेवियबहुलीकएहि तित्थयरनामगोय कम्म निव्वत्तेसु तजहा—

अरहतसिद्धपवयणगुरुथेरबहुस्सुए तवस्सीसु ।
वच्छल्लया य तेसिं अभिक्ख नाणोवओगोय ॥ १ ॥
दसणविणए आवस्सए य सीलव्वए निरइयारो ।
खणलवतवच्चियाए वेयावच्चे समाही य ॥ २ ॥
अपुव्वनाणगहणे सुयभत्ती पवयणे पहावणया ।
एएहि कारणेहि तित्थयरत्त लहइ सो उ ॥ ३ ॥

नायाधम्मकहाओ ८

यहाँ तीर्थंकर नामकर्म के बंध-हेतुओ की सख्या बीस बतलायी गयी है जबकि 'तत्त्वार्थसूत्र' में इनकी सख्या १६ ही प्राप्त है । तत्त्वार्थसूत्रकार ने (१) सिद्ध-वत्सलता, (२) स्थविर-वत्सलता, (३) तपस्वी-वत्सलता और (४) अपूर्व ज्ञानग्रहण इन चार हेतुओ को सूत्रगत नहीं किया । भाष्य में 'प्रवचन वात्सलत्व' की व्याख्या मे वृद्ध और तपस्वी के सग्रह-उपग्रह-अनुग्रह को अवश्य ग्रहण किया है ।

१—उत्त० ३० ३०

पायच्छित्त विणओ वेयावच्च तहेव सज्झाओ ।
झाण च विओसग्गो एसो अब्भिन्तरो तवो ॥

हम यहाँ आगमोक्त बीसो हेतुओ का तत्त्वार्थभाष्य, सर्वार्थसिद्धि टीका और सिद्धसेन टीका आदि के आधार से स्पष्टीकरण कर रहे हैं

जिन बोलो से तीर्थंकर नामकर्म का बंध होता है वे इस प्रकार हैं

(१) अरिहंत-वत्सलता घनघातिय कर्मों का नाश कर केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त करने वाले अर्हतो की आराधना—सेवा[१]। तत्त्वार्थसूत्र' में इसके स्थान पर 'परम भक्ति'—'परमभावविशुद्धियुक्ताभक्ति' (६ २३ और भाष्य) है। भक्ति अर्थात् परम—उत्कृष्ट भाव-विशुद्धि युक्त अनुराग[२]।

श्री सिद्धसेनगणि ने यहाँ भक्ति की व्याख्या करते हुये लिखा है—'गन्ध अतिशयो का कीर्तन, वन्दन, सेवा, पुष्प, धूप, गन्ध से अर्चन, आयतन-प्रतिमादि निर्माण और स्नानविधिरूप भक्ति[३]।" यह अर्थ मूल सूत्र भाष्यानुसारी नही, यह स्पष्ट है। 'परमभावविशुद्धियुक्ताभक्ति' इसका अर्थ इन्होने यथासभव अभिगमन, वन्दन, पर्युपासना आदि भी किया है[४] और वही ठीक है।

(२) सिद्ध-वत्सलता सिद्धो की आराधना—सेवा, गुणगान[१]।

(३) प्रवचन-वत्सलता। तत्त्वार्थ—'प्रवचनभक्ति'। श्रुतज्ञान—सिद्धान्त का गुणगान[६]। अर्हत शासन के अनुष्ठायी श्रुतधर, बाल, वृद्ध तपस्वी, शैक्ष, ग्लानादि का संग्रह-उपग्रह-अनुग्रह। बछडे पर गाय जिस तरह स्नेह रखती है उस तरह साधर्मिक पर निष्काम स्नेह[७]।

सिद्धसेन के अनुसार 'प्रवचन-भक्ति' का अर्थ है—आगम—श्रुतज्ञान का विहित-क्रम-पूर्वक श्रवण, श्रद्धान आदि[१]।

(४) गुरु-वत्सलता धर्म-गुरु का विनय[२]। 'तत्त्वार्थसूत्र' मे इसके स्थान मे 'आचार्य-भक्ति' है।

(५) स्थविर-वत्सलता ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध स्थविर साधुओ का विनय[३]।

(६) वहुश्रुत वत्सलता वहुआगम अभ्यासी साधु का विनय। इसके स्थान में 'तत्त्वार्थसूत्र' मे 'वहुश्रुत-भक्ति' है।

(७) तपस्वी वत्सलता एक उपवास मे आरम्भ कर वडी-वडी तपस्याओ से युक्त मुनियो की सेवा-भक्ति[४]।

(८) अभिन्णज्ञानोपयोग अभीक्ष्ण मुहु मुहु—प्रतिक्षण। ज्ञान अर्थात् द्वादशांग-प्रवचन। उपयोग अर्थात् प्रणिधान—सूत्र, अर्थ और उभय में आत्मव्यापार, आत्म-परिणाम। वाचना, प्रच्छना, अनुप्रेक्षा, धर्मोपदेश का अभ्यास[५]। जीवादि पदार्थ विषयक ज्ञान में सतत जागरूकता[६]।

(९) दर्शन-विशुद्धि जिनो द्वारा उपदिष्ट तत्त्वो में शकादि दोषरहित निर्मल रुचि, प्रीति, दृष्टि, दर्शन का होना[७]। तत्त्वो मे निर्मल श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन का होना।

१—देखिए पृ० २१४ पा० टि० ४

२—जयाचार्य (भ्रमविध्वसनम्) पृ० ३८०

३—वही पृ० ३८२

४—वही पृ० ३८२

५—सिद्धसेन टीका

६—सर्वार्थसिद्धि जीवादिपदार्थस्वतत्त्वविषये सम्यग्ज्ञाने नित्य युक्तता अभीक्ष्णज्ञानो-पयोग

७—(क) सिद्धसेन टीका।

(ख) सर्वार्थसिद्धि जिनेन भगवताऽर्हत्परमेष्ठिनोपदिष्टे निर्ग्रन्थलक्षणे मोक्षवर्त्मनि रुचिर्दर्शनविशुद्धि

१०—विनय। तत्त्वार्थ विनय संपन्नता। सम्यग्ज्ञानादि रूप मोक्ष मार्ग, उसके साधन आदि में उचित सत्कार आदि विनय से युक्त होना[1]। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उपचार विनय से युक्त होना[2]।

११—आवश्यक। तत्त्वार्थ 'आवश्यकापरिहाणि'। सामायिक आदि छह आवश्यकों का भावपूर्वक अनुष्ठान करना, उनका भावपूर्वक कभी भी परित्याग न करना[3]।

१२—शील-व्रतानतिचार हिंसा, असत्य आदि से विरमण रूप मूल गुणों को व्रत कहते हैं। उन व्रतों के पालन में उपयोगी उत्तर गुणों को शील कहते हैं। उनके पालन में जरा भी प्रमाद न करना। उनका अनतिचार पालन करना। व्रत और शील में निरवद्य वृत्ति[4]।

१३—क्षणलव संवेग तत्त्वार्थ 'अभीक्ष्ण संवेग'। सांसारिक भोगों से प्रति सतत—नित्य उदासीनता[5]।

१४—तप अनशन आदि तप। शक्ति को न छिपाकर मोक्षमार्ग के अनुकूल शरीर-क्लेश यथाशक्ति तप है[6]।

१—सर्वार्थसिद्धि सम्यग्ज्ञानादिषु मोक्षमार्गेषु तत्साधनेषु च गुर्वादिषु स्वयोग्यवृत्त्या सत्कार आदरो विनयस्तेन सम्पन्नता विनयसम्पन्नता।

२—(क) जयाचार्य (भ्रम विध्वंसनम्) पृ० ३८•

(ख) सिद्धसेन टीका

३—(क) भाष्य सामायिकादीनामावश्यकानां भावतोऽनुष्ठानस्यापरिहाणिः।

(ख) सर्वार्थसिद्धि षण्णामावश्यकक्रियाणां यथाकालं प्रवर्तनमावश्यकापरिहाणिः

१५--त्याग साधु को प्रासुक एषणीय दान। यथाशक्ति यथाविधि प्रयुज्यमान आहार, अभय और ज्ञान-दान यथाशक्ति त्याग है[1]।

सिद्धसेन ने 'त्याग' का अर्थ भूतो को और विशेपत यतियो को दान देना किया है। यतियो के अतिरिक्त अन्य भूतो को दिया गया दान 'त्याग' की परिभापा के अन्तर्गत नही आता। अभयदेव ने यतिजनोचित दान को ही त्याग कहा है।

१६—वैयावृत्त्य। तत्त्वार्थ 'सघसाधुवैयावृत्त्यकरण'। दिगवरीय पाठ मे 'सघ' शव्द नही है। सघ का अर्थ सिद्धसेन ने साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका किया है[2]। इनके अनुसार वैयावृत्य का अर्थ है सघ तथा साधुओ की प्रासुक आहारादि से सेवा करना[3]। दिगम्वरीय पाठ में 'सघ' शव्द न होने से साधुओ के अतिरिक्त श्रावक-श्राविकाओ की वैयावृत्य का भाव नही आता। वैयावृत्य का आगमिक अर्थ है दस-विध सेवा अर्थात् आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान, शैक्ष, कुल, गण, सघ और सार्धमिक की सेवा। यहाँ सघ का अर्थ है गण—समुदाय[4]। सार्धमिक का अर्थ है समान धर्मवाला साधु अथवा

१—(क) भाष्य · यथाशक्तिस्त्याग

(ख) नायाधम्मकहाओ ८ ६९ अभयदेव टीका चियाए त्यागेन—यतिजनोचित दानेन

(ग) सर्वार्थसिद्धि त्यागो दानम्। तत्त्रिविधम्—आहारदानमभयदान ज्ञानदान चेति। तच्छक्तितो यथाविधि प्रयुज्यमान त्याग इत्युच्यते।

(घ) सिद्धसेन टीका स्वस्य न्यायार्जितस्यानुकम्पानिर्जितात्मानुग्रहालम्बन भूतेभ्यो विशेपतस्तु विधिना यतिजनाय दानम्।

२—सिद्धसेन टीका सङ्घ—समूह सम्यक्त्वज्ञानचरणानां तदाधारश्च साध्वादिश्चतुर्विधः।

३—सिद्धसेन टीका व्यावृत्तस्य भावो वैयावृत्त्य, साधूनां, मुमुक्षूणां प्रासुकाहारोपधिशय्यास्तथा भेपज विश्रामणादिपु पूर्वत्र च व्यावृत्तस्य मनोवाक्काये शुद्ध परिणामो वैयावृत्त्यमुच्यते।

४—(क) ठाणाङ्ग ५ १-३९७ टीका कुल—चान्द्रादिकं साधुसमुदायविशेषरूप प्रतीत, गण —कुलसमुदाय सङ्घो—गणसमुदाय।

(ख) भगवती ८-८ की वृत्ति समूहण—ति समूह—साधुसमुदाय प्रतीत्य, तत्र कुल चान्द्रादिकं, तत्समूहो गणः कोटिकादि, तत्समूहस्सघं, प्रत्यनीकता चैतेषामवर्णवादादिभिरिति।

साध्वी[1]। अत सिद्धसेन का सघ शब्द का अर्थ सन्देहास्पद है। 'भाणिनिरि' में इसका अर्थ किया है—"गुणियो में—साधुओ में दु ख पडने पर निरवद्य विधि से दूर करना[2]।"

१७—समाधि इसके स्थान में 'तत्त्वार्थसूत्र' में 'सघसाधुसमाधिकरण' है। दिगबरीय पाठ में 'सघ' शब्द नही है। जैसे भाण्डागार में आग लग जाने पर बहुत से लोगो का उपकार होने से आग को शान्त किया जाता है उसी प्रकार अनेक व्रत और शील से समृद्ध मुनि के तप करते हुए किसी कारण से विघ्न उत्पन्न होने पर उसका सधारण करना—शान्त करना साधु-समाधि है[3]।

'समाधि' का अर्थ है चित्तस्वास्थ्य[4]। सिद्धसेन ने इसका अर्थ किया है—[illegible] निरुपद्रवता का उत्पादन।

१८—अपूर्व ज्ञान-ग्रहण अप्राप्त ज्ञान का ग्रहण करना।

१९—श्रुति-भक्ति सिद्धान्त की भक्ति।

२०—प्रवचन-प्रभावना 'तत्त्वार्थसूत्र' मे इसके स्थान पर 'मार्ग-प्रभावना' है अभिमान छोड, ज्ञानादि मोक्ष मार्ग को जीवन मे उतारना और दूसरो को उसका [illegible] दे कर उसका प्रभाव बढाना[1]।

आचार्य पूज्यपाद ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—"ज्ञान, तप, दान [illegible] जिन-पूजा के द्वारा धर्म का प्रकाश करना[2]।"

यह व्याख्या आचार्य उमास्वाति की स्वोपज्ञ उपर्युक्त व्याख्या से भिन्न है। [illegible] और जिन-पूजा को प्रवचन-प्रभावना का अग मानना मूल आगमिक व्याख्या [illegible] दूर है।

१—(क) ठाणाङ्ग ५-१-३९७ टीका

मार्धर्मिक समानधर्मा लिङ्गत प्रवचनतश्चेति

तीर्थङ्कर वधकर्म के जो हेतु आगमिक परम्परा तथा श्वेताम्बर-दिगम्बर ग्रथकारो के द्वारा प्रतिपादित हैं वे सब शुभ योग रूप हैं। उनके अर्थ में वाद में जो अन्तर आया वह स्पष्ट कर दिया गया है। उनमें से अनेक बोल बारह प्रकार के तपो के भेद हैं, जिनमें निर्जरा स्वयसिद्ध है। इस तरह सावद्य योगो से निर्जरा और साथ ही पुण्य का वध होता है, यह अच्छी तरह से सिद्ध है।

१२—निरवद्य सुपात्र दान से मनुष्य-आयुष्य का वंध (गा० १५) :

'सुख विपाक सूत्र' में सुवाहु कुमार का कथा-प्रसग इस रूप मे है

एक वार भगवान महावीर हस्तिशीर्ष नामक नगर में पधारे। वहाँ के राजा अदीनशत्रु का पुत्र सुवाहु कुमार उनके दर्शन के लिए गया। वह इष्ट, इष्टरूप, कान्त, कान्तरूप, प्रिय, प्रियरूप, मनोज्ञ, मनोज्ञरूप, मनोहर, मनोहररूप, सौम्य, सुभग, प्रियदर्शन और सुरूप था। गौतम ने भगवान महावीर से पूछा—"भन्ते! सुवाहु-कुमार को ऐसी इष्टता, सुरूपता और उदार मनुष्य-ऋद्धि कैसे प्राप्त हुई है? पूर्व भव में वह क्या था?" भगवान महावीर ने वतलाया—'पूर्व भव में सुवाहु कुमार हस्तिनापुर नगर का सुमुख नामक गाथापति था। एक वार धर्मघोप नामक स्थविर हस्तिनापुर पधारे। उनके सुदत्त नामक अनगार महीने-महीने का तप करते थे। एक वार मासिक तपस्या के पारण के दिन सामुदानिक गोचरी के लिए वे हस्तिनापुर में गये। सुदत्त अनगार को आते हुए देख कर सुमुख गाथापति अत्यन्त हर्पित और सन्तुष्ट हुआ। वह आसन से उठ वैठा। फिर आसन से उतर उसने जूते उतारे। एक-साटिक उत्तरासन लगा सात-आठ हाथ सामने गया और तीन वार आदक्षिण-प्रदक्षिणा कर वन्दन-नमस्कार किया। वदना और नमस्कार कर वह भत्तघर—रसोईघर की ओर गया। 'अपने हाथ से विपुल अशन-पान खाद्य और स्वाद्य का दान दूगा'—ऐसा सोच तुष्ट—प्रमुदित हुआ। देते समय भी तुष्ट—प्रमुदित हुआ। देकर भी तुष्ट—प्रमुदित हुआ। शुद्ध द्रव्य, शुद्ध दाता, शुद्ध पात्र होने से तथा तीन करण तीन योगो की शुद्धिपूर्वक सुदत्त अनगार को दान देने से सुमुख गाथापति ने ससार को परीत—सक्षिप्त किया, मनुष्य-आयुष्य का वध किया[1]। सुमुख गाथापति वहुत दिनो तक जीवित रहा और वहाँ से

१—वदित्ता णमसित्ता जेणेव भत्तघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सएण हत्थेण विपुलेण असणपाणखाइमसाइमेण पडिलाभिस्सामि त्ति तुट्ठे, पडिलाभेमाणे वि तुट्ठे पडिलाभिए त्ति तुट्ठे। तए ण तस्स सुमुहस्स गाहावइस्स तेण दव्वसुद्धेण दायगसुद्धेण पत्तसुद्धेण तिविहेण तिकरणसुद्धेण सुदत्ते अणगारे पडिलाभिए समाणे संसारे परित्तीकए मणुस्साउए निबद्धे - —

अजूरण[४] से, अटिप्पण[५] से, अपिट्टन[६] से, अपरितापन से। हे गौतम ! इस तरह जीव साता वेदनीय कर्म का बध करते हैं।"

गौतम . "भन्ते जीव असाता वेदनीय कर्म का बध कैसे करते हैं ?"

महावीर "गौतम ! परदु ख से, परशोक से, परजूण से, परटिप्पण से, परपिट्टन से, परपरितापन से, बहु प्राणी, भूत, जीव और सत्वो को दु ख देने से, शोक करने से, जूण से, टिप्पण से, पिट्टन से, परितापन से। इस तरह गौतम! जीव असाता वेदनीय कर्म करता है।"

'तत्त्वार्थसूत्र' में साता और असाता वेदनीय कर्म के बध-हेतु इस प्रकार बतलाये गये हैं

भूतव्रत्यनुकम्पा दान सरागसयमादि योग क्षान्ति शौचमिति सद्वेघस्य (६.१३)
द खशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेघस्य। ६ १२

(१) भूत अनुकम्पा, (२) व्रती अनुकम्पा, (३) दान, (४) सरागसयम आदि योग (५) क्षान्ति और (६) शौच—ये साता वेदनीय कर्म के हेतु हैं।

(१) दु ख, (२) शोक, (३) ताप, (४) आक्रन्दन, (५) वध और (६) परिदेवन—ये असाता वेदनीय कर्म के हेतु हैं।

सरागसयम के बाद के ' आदि ' शब्द द्वारा भाष्य और 'सर्वार्थसिद्धि' दोनो मे अकाम निर्जरा और बाल तप को ग्रहण किया गया है।

यह स्पष्ट है कि सातावेदनीय कर्म के जो बध-हेतु 'तत्त्वार्थसूत्र' में प्रतिपादित हैं वे आगमिक उल्लेख से भिन्न हैं। आगम में दान, सरागसयम, सयमासयम, अकाम-निर्जरा और बाल तप इनमे से एक का भी उल्लेख नही है। 'तत्त्वार्थसूत्र' में 'व्रती-अनुकम्पा' को अलग स्थान दिया है पर आगम मे वैसा नही है। 'तत्त्वार्थसूत्र' में वर्णित इन सब हेतुओ का सम्यक् अर्थ करने पर ये सब भी निरवद्य ठहरते हैं।

जीवो को दु ख आदि देना सावद्य कार्य है। दु खादि न देना निरवद्य है। जीवो को दु ख आदि न देने से निर्जरा होती है, यह पहले सिद्ध किया जा चुका है। यहाँ उनसे सातावेदनीय कर्म का बध कहा गया है, जो पुण्य कर्म है। इस तरह शुभ योग निर्जरा और आनुषगिक रूप से पुण्य के हेतु सिद्ध होते हैं।

४—जूरण शरीरापचयकारी शोक।
५—टिप्पण ऐसा शोक जिससे अश्रु लालादि का क्षरण होने लगे।
६—पिट्टन यष्ट्यादि से ताड़न।

१४—कर्कश-अकर्कश वेदनीय कर्म के बंध-हेतु (गा० १८)

यहाँ उल्लिखित सवाद 'भगवतीसूत्र' में इस प्रकार है

कह ण भंते ! जीवाण कक्कसवेयणिज्जा कम्मा कज्जति ? गोयमा ! पाणाइवाएणं जाव मिच्छादसणसल्लेण एव खलु गोयमा ! जीवाण कक्कसवेयणिज्जा कम्मा कज्जति।

"भन्ते ! जीव कर्कश वेदनीय कर्म का बंध कैसे करते हैं ?"

"गौतम ! प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य से। हे गौतम ! जीव इस प्रकार कर्कश वेदनीय कर्म का बंध करते हैं ?"

कह ण भन्ते ! जीवा अकक्कसवेयणिज्जा कम्मा कज्जति ? गोयमा ! पाणाइवायवेरमणेण जाव परिग्गहवेरमणेण कोहविवेगेण जाव मिच्छादसणसल्लविवेगेण एव खलु गोयमा ! जीवाण अकक्कसवेयणिज्जा कम्मा कज्जति। (७ ६)

"भन्ते ! जीव अकर्कश वेदनीय कर्म का बंध कैसे करते हैं ?"

"गौतम ! प्राणातिपात यावत् परिग्रह-विरमण से, क्रोध-विवेक यावत् मिथ्यादर्शन-शल्य-विवेक से। हे गौतम ! इस तरह जीव अकर्कश वेदनीय कर्म का बंध करते हैं।

यह पहले बताया जा चुका है कि प्राणातिपात आदि के विरमण से [illegible] है। यहाँ उनके विरमण से अकर्कश वेदनीय कर्म का बंध बताया गया है, [illegible] कर्म है। इस प्रकार प्राणातिपात विरमण आदि शुभयोगों से [illegible] और [illegible] का होना प्रमाणित होता है।

अत्थि ण भंते । जीवाण कल्लाणा कम्मा कल्लाणफलविवागसंजुत्ता कज्जन्ति ? ... । अत्थि । कह ण भंते । जीवाण कल्लाणा कम्मा जाव कज्जन्ति ? कालोदाई । ... पाणाइवायवेरमणे जाव परिग्गहवेरमणे कोहविवेगे जाव मिच्छादसणसल्लविवेगे ... ण आवाए नो भद्दए भवइ तओ पच्छा परिणममाणे परिणममाणे सुरूवत्ताए जाव ... दुक्खत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमइ एव खलु कालोदाई । जीवाण कल्लाणा कम्मा ...व कज्जति । (७१०)

इसका भावार्थ इस प्रकार है

"भगवन् ! जीवो के किये हुये पाप-कर्मों का परिपाक पापकारी होता है ?" "कालोदायी ! होता है ।" "भगवन् ! यह कैसे होता है ?" "कालोदायी ! जैसे कोई पुरुष मनोज्ञ, स्थालीपाक शुद्ध (परिपक्व), अठारह प्रकार के व्यजनो से परिपूर्ण विषयुक्त भोजन करता है, वह (भोजन) आपातभद्र (खाते समय अच्छा) होता है, किन्तु ज्यो-ज्यो उसका परिणमन होता है त्यो-त्यो उसमे दुर्गन्ध पैदा होती है—वह परिणाम-भद्र नही होता । कालोदायी ! इसी प्रकार प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य (अठारह प्रकार के पाप कर्म) आपातभद्र और परिणाम विरस होते हैं । कालोदायी ! इस तरह पाप-कर्म पाप-विपाक वाले होते हैं ।"

"भगवन् ! जीवो के किये हुये कल्याण-कर्मों का परिपाक कल्याणकारी होता है ?" "कालोदायी ! होता है ।" "भगवन् ! कैसे होता है ?" "कालोदायी ! जैसे कोई पुरुष मनोज्ञ, स्थालीपाक शुद्ध (परिपक्व) अठारह प्रकार के व्यजनो से परिपूर्ण, औषधि मिश्रित भोजन करता है, वह आपातभद्र नही लगता, किन्तु ज्यों-ज्यो उसका परिणमन होता है त्यो-त्यो उसमे सुरूपता, सवर्णता और सुखानुभूति उत्पन्न होती है—वह परिणामभद्र होता है । कालोदायी ! इसी प्रकार प्राणातिपातविरति यावत् मिथ्यादर्शनशल्य-विरति आपातभद्र नही लगती, किन्तु परिणामभद्र होती है । कालोदायी ! इस तरह कल्याण-कर्म कल्याण-विपाक वाले होते हैं ।"

इस प्रसग में पाप कर्म पाप-विपाक वाले और कल्याण कर्म कल्याण-विपाक वाले कहे गये हैं । प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य इन अठारह पापो के सेवन से पाप-कर्म का बध और उनकी विरति से कल्याणकर्म का बध कहा गया है । यहाँ भी प्रकारान्तर से—शुभयोग से ही पुण्य-कर्म की प्राप्ति कही गई है । प्राणातिपातविरति यावत् मिथ्यादर्शनशल्य से निर्जरा होती ही है ।

१८—तिर्यंच आयुष्य के बंध-हेतु (गा० २४) :

इन बध-हेतुओ का वर्णन 'भगवती सूत्र' में इस प्रकार है

तिरिक्खजोणियाउअकम्मासरीर—पुच्छा। गोयमा! माइल्लयाए, नियडिल्लयाए अलियवयणेण कूडतुल-कूडमाणेण, तिरिक्खजोणियाउअकम्मा० जाव पयोगबधे।

(भग० ८ ९)

यहाँ तिर्यचायुष्कार्मणशरीरप्रयोगबध के निम्न हेतु कहे गये हैं

(१) मायावीपन,

(२) निकृति भाव—कापट्य,

(३) अलीक वचन—झूठ,

(४) झूठे तोल-माप और

(५) तिर्यचायुष्कार्मणशरीरप्रयोगनामकर्म का उदय।

'स्थानाङ्ग' का पाठ इस प्रकार है

चउहिं ठाणेहिं जीवा तिरिक्खजोणियत्ताए कम्म पगरेंति, त०—माइल्लताते णियडिल्लताते अलियवयणेण कूडतुलकूडमाणेण (४ ४ ३७३)

'तत्त्वार्थसूत्र में माया, नि शीलत्व और अव्रतत्व—ये तिर्यच आयुष्यबध के हेतु कहे गये हैं माया तैर्यग्योनस्य (६ १७), नि शीलव्रतत्व च सर्वेषाम् (६ १९)।

आगमोक्त और 'तत्त्वार्थसूत्र' में वर्णित हेतुओ का पार्थक्य स्वय स्पष्ट है।

अशुभ तिर्यंच आयुष्य के बध-हेतु भी अशुभ हैं।

१९—मनुष्यायुष्य के बध-हेतु (गा० २५) :

'भगवतीसूत्र' मे मनुष्यायुष्य कर्म के बध-हेतुओ का वर्णन इस प्रकार है

मणुस्साउयकम्मासरीर—पुच्छा। गोयमा! पगइभद्दयाए, पगइविणीययाए, साणुक्कोसणयाए, अमच्छरियाए, मणुस्साउयकम्मा० जाव पयोगबधे। (८ ९)

मनुष्यायुष्कामणशरीरप्रयोगबध के हेतु ये हैं

(१) प्रकृति की भद्रता,

(२) प्रकृति की विनीतता,

(३) सानुक्रोशता—सदयता,

(४) अमात्सर्य और

(५) मनुष्यायुष्कार्मणशरीरप्रयोगनामकर्म का उदय।

३३—मैथुन सेवे ते मैथुन आश्रव, ते जीव तणा परिणामो रे।
उदे हूओ ते मैथुन पाप थानक छे, मोह करम अजीव छे तामो रे॥

३४—सचित्त अचित्त मिश्र उपर, ममता राखे ते परिग्रह जाणों रे।
ते ममता छे मोह करम रा उदा सू, उदे मे छे ते पाप ठाणों रे॥

३५—क्रोध सू लेइ ने मिथ्यात दरसण, उदे हूआ ते पाप रो ठाणों रे।
यारा उदा सू सावद्य कामा करे ते, जीवरा लपण जाणों रे॥

३६—सावद्य कामा ते जीव रा किरतब, उदे हूआ ते पाप करमों रे।
या दोया ने कोइ एकज सरधे, ते भूला अग्यानी भर्मो रे॥

३७—आश्रव तो करम आवाना दुवार, ते तो जीव तणा परिणामो रे।
दुवार माहे आवे ते आठ करम छे, ते पुदगल दरब छे तामो रे॥

३८—माठा परिणाम ने माठी लेस्या, वले माठा जोग व्यापारो रे।
माठा अधवसाय ने माठो ध्यान, ए पाप आवाना दुवारो रे॥

३९—भला परिणाम ने भली लेस्या, भला निरवद जोग व्यापारो रे।
भला अधवसाय ने भलोइ ध्यान, ए पुन आवा रा दुवारो रे॥

३३—मैथुन का सेवन करना मैथुन-आस्रव कहलाता है। अब्रह्मचर्य सेवन जीव-परिणाम है। अब्रह्मचर्य सेवन के समय जो कर्म उदय में रहता है वह मैथुन पाप-स्थानक है। मोहनीय कर्म अजीव है।

३४—सचित्त, अचित्त और सचित्ताचित्त वस्तु विषयक ममत्वभाव को परिग्रह आस्रव समझना चाहिए। ममता—परिग्रह मोह कर्म के उदय से होता है और उदय में आया हुआ वह मोहकर्म परिग्रह पाप-स्थानक है।

३५—क्रोध से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक इस तरह अलग-अलग अठारह पाप-स्थानक उदय में आते हैं। इन भिन्न-भिन्न पाप-स्थानकों के उदय होने से जीव जो भिन्न भिन्न सावद्य कृत्य करता है वे सब जीव के लक्षण—परिणाम हैं।

३६—सावद्य कार्य जीव के व्यापार हैं और जिनके उदय से ये कृत्य होते हैं वे पाप कर्म हैं। इन दोनों को एक समझने वाले अज्ञानी भ्रम में भूले हुए हैं[1]।

३७—आस्रव कर्म आने के द्वार हैं। ये जीव-परिणाम हैं। इन द्वारों से होकर जो आत्म-प्रदेशों में आते हैं वे कर्म हैं जो पुद्गल द्रव्य के परिणाम हैं।

३८—अशुभ परिणाम, अशुभ लेश्या, अशुभ योग अथवा अध्यवसाय और अशुभ ध्यान ये पाप आने के द्वार (मार्ग) हैं।

१—शुभ परिणाम, शुभ लेश्या, शुभ निरवद्य व्यापार शुभ अध्यवसाय और शुभ ध्यान ये पुण्य आने के मार्ग हैं।

संवर पदारथ

दुहा

१—छठो पदार्थ सवर कह्यों, तिणरा थिरीभूत परदेस ।
आश्रव दुवार नो रूधणो, तिण सू मिटीयो करमा रो परवेस ॥

२—आश्रव दुवार करमा रा बारणा, ढकीया छे सवर दुवार ।
आतमा वश कीया सवर हूओ, ते गुण रतन श्रीकार ॥

३—सवर पदारथ ओलख्या विना, सवर न नीपजे कोय ।
सका कोइ मत राखजो, सूतर साह्मो जोय ॥

४—सवर तणा भेद पाच छे, त्या पाचा रा भेद अनेक ।
त्यारा भाव भेद परगट करू, ते सुणजो आण विवेक ॥

ढाल

(पूज जी पधारे हो नगरी सेविया—ए देशी)

१—नव ही पदार्थ सरधे यथातथ, तिणने कहिजे समकत निधान हो । भ० ज०* ।
पछे त्याग करे उधा सरधण तणा, ते समकत सवर परधान हो । भ० ज०* ।
सवर पदार्थ भवीयण ओलखो* ॥

---

* भविक जन । प्रत्येक गाथा के अन्त मे इसी प्रकार समझें ।

: ६ :

संवर पदार्थ

दोहा

१—छठा पदार्थ 'सवर' कहा गया है। इसके प्रदेश स्थिर होते हैं। यह आस्रव-द्वार का अवरोध करनेवाला है। इससे आत्मप्रदेशों में कर्मो का प्रवेश रुकता है।

सवर पदार्थ का स्वरूप (दो० १-२)

२—आस्रव-द्वार कर्म आने के द्वार हैं। इन द्वारों को वद करने पर सवर होते हैं। आत्मा को वश मे करने से—आत्म-निग्रह से सवर होता है। यह उत्तम गुण-रत्न है।

३—सवर पदार्थ को पहचाने विना सवर नही होता। सूत्रों पर दृष्टि डाल इस पदार्थ के विषय में कोई शका मत रहने दो[१]।

सवर की पहचान आवश्यक

४—सवर के (मुख्य) पांच भेद है और अन्तर-भेद अनेक है। अब मे उनके अर्थ और भेदों को कहता हूँ, विवेकपूर्वक सुनो[२]।

सवर के मुख्य पांच भेद

ढाल

१—जीवादि नव पदार्थो में यथातथ्य श्रद्धा—प्रतीति करना सम्यक्त्व है। उससे युक्त हो विपरीत श्रद्धा का त्याग करना प्रथम 'सम्यक्त्व सवर' है[३]।

सम्यक्त्व सवर

२—त्याग कीया सर्व सावद्य जोग रा, जावजीव तणा पचखाण हो।
आगार नही त्यारे पाप करण तणो, ते सर्व विरत सवर जाण हो॥

३—पाप उदे सू जीव परमादी थयो, तिण पाप सू परमादी थाय हो।
ते पाप खय हूआ के उपसम हूआ, अपरमाद सवर हुवें ताय हो॥

४—कषाय करम उदे छे जीव रे, तिणसू कषाय आश्रव छे ताम हो।
ते कषाय करम अलगा हुवा जीव रे, जब अकषाय सवर हुवे आम हो॥

५—थोडा २ सा जोगा ने रूंधीया, अजोग सवर नही थाय हो।
मन वचन काया रा जोग रूंधे सरवथा, ते अजोग सवर हुवे ताय हो॥

६—सावद्य माठा जोग रूंध्या सरवथा, जब तो सर्व विरत सवर होय हो।
पिण निरवद जोग बाकी रह्या तेहनें, तिण सू अजोग सवर नही कोय हो॥

७—परमाद आश्रव ने कषाय जोग आश्रव, ए तो न मिटे कीया पचखाण हो।
ए तो सहजाइ मिटे छे करम अलगा हुवा, तिणरो अतरग करजो पिछाण हो॥

८—सुभ ध्यान ने लेस्या सू करम कटिया थका, जब अपरमाद सवर थाय हो।
इमहिज करता अकषाय सवर हुवे, इम अजोग सवर होय जाय हो॥

९—समकत सवर ने सर्व विरत सवर, ए तो हुवे छे कीया पचखाण हो।
अपरमाद अकषाय अजोग सवर हुवे, ते तो करम खय हूआ जाण हो।

२—सर्व सावद्य योगो का पापमय प्रवृत्तियों की कोई छूट रखे विना जीवनपर्यन्त के लिए प्रत्याख्यान करना 'सर्व विरति सवर' है । — विरति सवर

३—पापोदय से जीव प्रमादी होता है । जिन पापों के उदय से प्रमाद आस्रव होता है उन्हीं पाप कर्मो के उपशम या क्षय होने से 'अप्रमाद सवर' होता है । — अप्रमाद सवर

४—कषाय कर्मों के उदय मे होने से कषाय आस्रव होता है । इन कर्मो के अलग होने पर 'अकषाय सवर' होता है । — अकषाय सवर

५-६-किंचित-किंचित सावद्य-निरवद्य योगों के निरोध से या सावद्य योगों के सर्वथा निरोध से अयोग सवर नहीं होता । सर्व सावद्य योगों के त्याग करने पर 'सर्व विरति सवर' होता है । निरवद्य योग अवशेष रहते हैं जिस कारण से अयोग सवर नहीं होता । यह सवर उस अवस्था मे होता है जब कि मन-वचन-काय की सावद्य-निरवद्य सब प्रवृत्तियों का सर्वथा निरोध किया जाता है । — अयोग सवर (गा० ५-६)

७—प्रमाद आस्रव, कषाय आस्रव और योग आस्रव ये तीनों प्रत्याख्यान (त्याग) करने से नहीं मिटते । कर्मो के दूर होने से सहज ही अपने आप मिटते हैं । इस बात को अतरग मे अच्छी तरह समझो । — अप्रमाद, अकषाय और अयोग सवर प्रत्याख्यान मे नहीं होते

८-९-सम्यक्त्व सवर और सर्व विरति सवर प्रत्याख्यान करने से होते हैं और अप्रमाद, अकषाय और अयोग सवर कर्म-क्षय से। शुभ ध्यान और शुभ लेश्या द्वारा कर्म-क्षय होने पर ही अप्रमाद सवर होता है, प्रत्याख्यान से नहीं । अकषाय और अयोग सवर भी इसी प्रकार कर्म-क्षय से होते हैं[४] । — सम्यक्त्व सवर और सर्व विरति सवर प्रत्याख्यान से होते हैं (गा० ८-९)

१०—हिंसा भूठ चोरी मैथुन परिग्रहो, ए तो जोग आश्रव मे समाय हो।
ए पाचू आश्रव ने त्यागे दीया, जब विरत सवर हुवे ताय हो॥

११—पाचू इ दस्या ने मेले मोकली, त्याने पिण जोग आश्रव जाण हो।
इदस्या ने मोकली मेलवारा त्याग छे, ते पिण विरत सवर ल्यो पिछाण हो॥

१२—भला भूडा किरतब तीनूइ जोगा तणा, ते तो जोग आश्रव छे ताम हो।
त्या तीनूइ जोगा ने जावक रूंधिया, अजोग सवर हुवे आम हो॥

१३—अजेणा करे भड उपगरण थकी, तिणने पिण जोग आश्रव जाण हो।
सुची-कुसग सेवे ते जोग आश्रव कह्यो, त्याने त्याग्या विरत सवर पिछाण हो॥

१४—हिंसादिक पनरे जोग आश्रव कह्या, त्याने त्याग्या विरत सवर जाण हो।
त्या पनरा ने माठा जोग माहे गिण्या, निरवद जोगा री करजो पिछाण हो॥

१५—तीनूइ निरवद जोग रूंध्या थका, अजोग सवर होय जात हो।
ए वीसूइ सवर तणो विवरो कह्यो, ते वीसूइ पाच सवर मे समात हो॥

१६—कोइ कहे कपाय ने जोगा तणा, सूतर माहे चाल्या पचखाण हो।
त्याने पचख्या विना सवर किण विधि होसी, हिवे तिणरी कहु छू पिछाण हो॥

१७—पचखाण चाल्या छे सुतर मे सरीर ना, ते सरीर सू न्यारो हुवा ताम हो।
इमहिज कपाय ने जोग पचखाण छे, सरीर पचखाण ज्यू आम हो॥

१०—हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह—इन आस्रवों का समावेश योग आस्रव मे होता है। इन पाँचों आस्रव के त्याग से विरति-सवर होता है।

हिंसा आदि १५ योगो के त्याग से विरति सवर होता है अयोग सवर नही।
(गा० १०-१३)

११—इसी तरह पांच इन्द्रियों की विषयो मे स्वच्छन्दता योग आस्रव जानो। इन्द्रियों को विषयों मे प्रवृत्त करने का त्याग भी विरति सवर जानो।

१२—मन-वचन काय की शुभ-अशुभ प्रवृत्ति योग आस्रव हैं। इन तीनों योगों के सर्वथा निरोध से योग सवर होता है।

१३—वस्त्र, पात्रादि के रखने-उठाने मे अयतनाचार को भी योग आस्रव जानो। इसी तरह सूची-कुशाग्र का सेवन करना भी योग आस्रव है। इनके प्रत्याख्यान से अयोग सवर नहीं होता, केवल विरति सवर होता है।

१४—हिंसादि जो पन्द्रह योग आस्रव कहे है वे अशुभ योग रूप है। उनके त्याग से विरति सवर होता है। निरवद्य योग उनसे भिन्न है। उनकी पहचान करो।

सावद्य-निरवद्य योगो के निरोध से अयोग सवर
(गा० १४-१५)

१५—मन-वचन-काय के सर्व निरवद्य योगों के निरोध से अयोग सवर होता है। मैने बीसों ही सवरों का ब्यौरा कहा है, वैसे तो बीसों पाच मे ही समा जाते है[५]।

१६—कई कहते है कि कषाय आस्रव और योग आस्रव के प्रत्याख्यान का उल्लेख सूत्रों में आया है अत इनका त्याग किए बिना अकषाय सवर और अयोग सवर कैसे होंगे? अब मै इसका खुलासा करता हूँ।

कषाय आस्रव और योग आस्रव के प्रत्याख्यान का मर्म
(गा० १६-१७)

१७—सूत्रों मे शरीर-प्रत्याख्यान का भी उल्लेख है परन्तु वास्तव मे शरीर का त्याग नहीं होता केवल शरीर की ममता का त्याग किया जाता है। शरीर प्रत्याख्यान की तरह ही कषाय और योग प्रत्याख्यान के विषय में समझना चाहिए[६]।

१८—सामायक आदि पाचू चारित भणी, सर्व वरत सवर जाण हो।
पुलाग आदि दे छहूइ नियठा, ए पिण लीज्यो सवर पिछाण हो॥

१६—चारितावर्णी पयउपसम हूआ, जब जीव ने आवे वेराग हो।
जब काम ने भोग थकी विरक्त हुवे, जब सर्व सावद्य दे त्याग हो॥

२०—सर्व सावद्य जोग ने त्यागे सरवथा, ते सर्व वरत सवर जाण हो।
जब इविरत रा पाप न लागे सरवथा, ते तो चारित छे गुण खाण हो॥

२१—धूर सू तो सामायक चारित आदर्‍यो, तिणरे मोह करम उदे रह्यो ताय हो।
ते करम उदे सू किरतब नीपजे, तिण सू पाप लागे छे आय हो॥

२२—भला ध्यान ने भली लेस्या थकी, मोह करम उदे थी घट जाय हो।
जब उदे तणा किरतब पिण हलका पडे, जब हलकाइ पाप लगाय हो॥

२३—मोह करम जावक उपसम हुवे, जब उपसम चारित हुवे ताय हो।
जब जीव हुवे सीतलभूत निरमलो, तिणरे पाप न लागे आय हो॥

२४—मोहणीय करम ते जावक खय हुवा, खायक चारित हुवे जथाख्यात हो।
जब सीतलभूत हूओ जीव निरमलो, तिणरे पाप न लागे अममात हो॥

२५—सामायक चारित लीये छे उदीर ने, सावद्य जोग रा करे पचखाण हो।
उपसम चारित आवें मोह उपसम्या, ते चारित इग्यारमे गुणठाण हो॥

सामायिक आदि पांच चारित्र सर्व विरति सवर हैं

१८—सामायिक आदि पाँचों चारित्र सर्व विरति सवर है। पुलाक आदि छहों निग्रंथ भी सवर है[७]।

१९—चारित्रावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जीव को वैराग्य की उत्पत्ति होती है जिससे काम-भोगों से विरक्त हो कर वह सर्व सावद्य प्रवृत्तियों का त्याग कर देता है।

२०—सर्व सावद्य योग का सर्वथा त्याग कर देने से सर्व विरति सवर होता है। सर्व सावद्य के त्याग के वाद अविरति का पाप सर्वथा नहीं लगता। यह गुणों की खानरूप सकल चारित्र है[८]।

२१—प्रथम सामायिक चारित्र को अंगीकार करने पर भी मोह कर्म उदय मे रहता है। उस कर्मोदय से सावद्य कर्तव्य—क्रियाएँ होती है जिससे पापास्रव होता है।

२२—शुभ ध्यान और शुभ लेश्या से मोह कर्म का उदय कुछ घटता है तब मोहकर्म के उदय से होने वाले सावद्य व्यापार भी कम होते है। इनसे पाप कर्म भी हल्के (कम) लगते है।

२३—मोहकर्म के सर्वथा उपशम हो जाने से उपशम चारित्र होता है जिससे जीव-प्रदेश शीतल (अचचल) और निर्मल हो जाते है और जीव के पाप कर्म नहीं लगते[९]।

२४—मोहनीयकर्म के सर्वथा क्षय होने से क्षायक यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति होती है। इससे जीव के प्रदेश शीतल होते है, उनमे निर्मलता आती है जिससे जरा भी पापास्रव नहीं होता[१०]।

२५—सामायिक चारित्र उदीर कर—इच्छापूर्वक ग्रहण किया जाता है और इसमे मनुष्य सर्व सावद्य योगों का प्रत्याख्यान करता है। उपशम चारित्र मोहकर्म के उपशम से ग्यारहवें गुणस्थान मे प्राप्त होता है।

२६—खायक चारित आवे मोह करम ने खय कीया, पिण नावे कीया पचखाण हो।
ते आवे सुकल ध्यान ध्याया थका, चारित छेहले तीन गुणठाण हो॥

२७—चारितावर्णी खयउपसम हुआ, पयउपसम चारित आवे निवान हो।
ते उपसम हूआ उपसम चारित हुवे, खय हूआ खायक चारित परधान हो॥

२८—चारित निज गुण जीव रा जिण कह्या, ते जीव सू न्यारा नही थाय हो।
ते मोहणी करम अलगो हूआ परगट्या, त्या गुणा सू हुवा मुनीराय हो॥

२९—चारितावर्णी ते मोहणी करम छे, तिणरा अनत परदेस हो।
तिणरा उदा सू निज गुण विगड्या, तिण सू जीव ने अतत क्लेस हो॥

३०—तिण करम रा अनत परदेस अलगा हूआ, जब अनत गुण उजलो थाय हो।
जब सावद्य जोग नें पचख्या छे सरवथा, ते सर्व विरत सवर छें ताय हो॥

३१—जीव उजलो हुवो ते तो हुइ निरजरा, विरत सवर सू रुकीया पाप करम हो।
नवा पाप न लागें विरत सवर थकी, एहवो छें चारित धर्म हो॥

३२—जिम २ मोहणी करम पतलो पडे, तिम २ जीव उजलो थाय हो।
इम करता मोहणी करम खय जाए सरवथा, जब जयाख्यात चारित होय जाय हो॥

२६—क्षायक चारित्र मोहकर्म के सम्पूर्ण क्षय करने से होता है, प्रत्याख्यान से नहीं। शुक्ल ध्यान के ध्याने से ग्यारहवें, बारहवे तथा तेरहवें गुणस्थान में यह उत्पन्न होता है।

२७—चारित्रावरणीय कर्म के क्षयोपशम से क्षयोपशम चारित्र, उपशम से उपशमचारित्र और क्षय से सर्व प्रधान क्षायिक चारित्र होता है[११]।

२८—जिन भगवान ने चारित्र को जीव का स्वाभाविक गुण कहा है। चारित्र गुण गुणी जीव से अलग नहीं होता। मोहकर्म के अलग होने से चारित्र गुण प्रकट होता है, जिससे जीव मुनित्व को धारण करता है।

२९—चारित्रावरणीय मोहनीयकर्म (का एक भेद) है। इसके अनन्त प्रदेश होते है। इसके उदय से जीव के स्वाभाविक गुण विकृत है, जिससे जीव को अत्यन्त क्लेश है।

३०—मोहनीयकर्म के अनन्त प्रदेशों के अलग होने पर आत्मा अनन्तगुण उज्वल होती है। इस उज्वलता के आने पर जीव सावद्य योगों का सर्वथा प्रत्याख्यान करता है। यही सर्व विरति संवर है।

३१—संयम से जीव निर्मल (उज्वल) हुआ वह निर्जरा हुई और विरति संवर हुआ जिससे पाप कर्मों का आना रुका। संवर से नये कर्म नहीं लगते। इस प्रकार चारित्र धर्म संवर-निर्जरात्मक है।

३२—जैसे-जैसे मोहनीयकर्म पतला (क्षीण) होता जाता है वैसे-वैसे जीव उत्तरोत्तर निर्मल होता जाता है। इस प्रकार क्षीण होते-होते जब मोहनीयकर्म सर्वथा क्षय हो जाता है तब यथाख्यात चारित्र प्रकट होता है[१२]।

३३—जघन सामायक चारित तेहना, अनता गुण पजवा जाण हो।
अनता करम परदेस उदे था ते मिट गया, तिण सू अनत गुण परगट्या आण हो॥

३४—जघन समायक चारितीया तणा, अनत गुण उजला परदेस हो।
वले अनता परदेस उदे थी मिट गया, जब अनत गुण उजलो वशेप हो॥

३५—मोह करम घटे छ उदे थी इण विधे, ते तो घटे छे असंखेज्ज वार हो।
तिण सू सामायक चारित ना कह्या, असख्यात थानक श्रीकार हो।

३६—अनत करम परदेस उदे थी मिट गया, चारित थानक नीपजें एक हो॥
चारित गुण पजवा अनता नीपजे, सामायक चारित रा भेद अनेक हो॥

३७—जगन सामायक चारित जेहना, पजवा अनता जाण हो।
तिण थी उतकष्टा सामायक चारित तणा, पजवा अनत गुणा वखाण हो॥

३८—पजवा उतकष्टा सामायक चारित तणा, तेह थी सुषम सपराय ना वशेप हो।
अनत गुण कह्या छे जिगन चारित तणा, ए सुषम सपराय लो पेख हो॥

३९—छठा गुणठाणा थकी नवमा लगें, सामायक चारित जाण हो।
तिणरा असख्याता थानक पजवा अनत छे, सुषम सपराय दसमो गुणठाण हो॥

४०—सुषम सपराय चारित तेहना, थानक असखेज जाण हो।
एक २ थानक रा पजवा अनत छें, तिणने सामायक ज्यू लीज्यो पिछाण हो॥

३३—जघन्य सामायिक चारित्र के अनन्त गुण पर्यव जानो। उदय में आए हुए अनन्त कर्म-प्रदेशों के दूर हो जाने से आत्मा के अनन्तगुण प्रकट हुए।

३४—जघन्य सामायिक चारित्रवाले के आत्म-प्रदेश अनन्तगुण उज्ज्वल होते हैं। उदय में आए हुए अनन्त कर्म-प्रदेशों के दूर होने से वे और भी विशेष रूप से अनन्तगुण उज्ज्वल होते हैं।

३५—मोहकर्म का उदय इस प्रकार घटता है। ऐसी उदय की हानि असंख्य बार होती है। इसीलिए सामायिक चारित्र के उत्तम असंख्यात स्थानक बतलाए हैं।

३६—अनन्त कर्म-प्रदेशों का उदय मिट जाने से एक चारित्र स्थानक उत्पन्न होता है तथा अनन्त चारित्र गुण पर्यव उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार सामायिक चारित्र के अनेक भेद हैं।

३७—जघन्य सामायिक चारित्र के अनन्त पर्यव जानो तथा उससे उत्कृष्ट सामायिक चारित्र के पर्यव उससे अनन्तगुण जानो।

३८—उत्कृष्ट सामायिक चारित्र की पर्यव-संख्या से भी सूक्ष्म संपराय चारित्र की पर्यव-संख्या अधिक होती है, जघन्य सूक्ष्म संपराय चारित्र की पर्यव संख्या सामायिक चारित्र की उत्कृष्ट पर्यव-संख्या से अनन्त है।

३९—छठे गुणस्थान से लेकर नौवें तक सामायिक चारित्र जानो। इसके असंख्यात स्थानक और अनन्त पर्यव हैं। सूक्ष्म-संपराय चारित्र दसवें गुणस्थान में होता है।

४०—सूक्ष्मसंपराय चारित्र में भी असंख्यात स्थानक जानने चाहिए तथा सामायिक चारित्र की तरह एक-एक स्थानक के अनन्त-अनन्त पर्यव समझना चाहिए।

४१—सूक्ष्मसंपराय चारित्र वालों के मोहकर्म के अनन्त प्रदेश अन्त में उदय में रहते हैं। उनके झड़ जाने से निर्जरा होती है फिर मोहकर्म का लेशमात्र भी उदय नहीं रह जाता।

४२—इस प्रकार मोहकर्म का लेश मात्र भी उदय न रहने से यथाख्यात चारित्र प्रकट होता है, जिसके अनन्त पर्यव होते हैं। भगवान ने इस चारित्र के पर्यव सूक्ष्मसंपराय चारित्र के उत्कृष्ट पर्यव संख्या से अनन्त गुण कहे हैं।

४३—यथाख्यात चारित्र अर्थात् जीव का सर्वथा उज्ज्वल होना। इसका एक ही स्थानक होता है जिसके अनन्त पर्यव हैं। यह स्थानक विशेष उत्कृष्ट है[३]।

४४—मोहकर्म के जो अनन्त प्रदेश उदय में आते हैं, वे पुद्गल की पर्याय हैं। इन अनन्त कर्म-प्रदेशों के अलग होने—झड़ जाने से जीव के अनन्त गुण प्रकट होते हैं। ये जीव के स्वाभाविक गुण हैं।

४५—जीव के इस प्रकार प्रकट हुए स्वाभाविक गुण भाव-जीव हैं और वन्दनीय हैं। ये गुण कर्म क्षय से उत्पन्न हुए हैं और उन्हें भाव जीव ठीक ही कहा गया है।

४६—सावद्य योग का प्रत्याख्यान पूर्वक निरोध करने से विरति संवर होता है और निरवद्य योग के निरोध से संवर होता है। बुद्धिवान यह अच्छी तरह पहचानें।

अयोग संवर (गा० ४६, ४८)

४७—मन-वचन-काय के निरवद्य योगों के घटने से संवर होता है और उनके सर्वथा मिट जाने से अयोग संवर होता है। इसका विस्तार ध्यानपूर्वक सुनो।

४८—साधु जब कर्म-क्षय के हेतु उपवास, बेलादि तप करता है तो निरवद्य योग के निरोध से उसके सहचर संवर होता है।

४६—श्रावक उपवास वेलादिक तप करे, करम काटण रे काम हो।
जब विरत सवर पिण सहचर नीपनो, सावद्य जोग रुंध्या सूं ताम हो॥

५०—श्रावक जे जे पुदगल भोगवे, ते सावद्य जोग व्यापार हो।
त्यारो त्याग कीया थी विरत सवर हुवे, तप पिण नीपजे लार हो॥

५१—साधु कल्पे ते पुदगल भोगवे, ते निरवद जोग व्यापार हो।
त्याने त्याग्या सूं तपसा नीपनी, जोग रुंध्या रो सवर श्रीकार हो॥

५२—साधु रो हालवो चालवो बोलवो, ते तो निरवद जोग व्यापार हो।
निरवद जोग रुंध्या जितलो सवर हुवो, तपसा पिण नीपजे श्रीकार हो॥

५३—श्रावक रे हालवो चालवो बोलवो, सावद्य निरवद व्यापार हो।
सावद्य रा त्याग सूं विरत सवर हुवे, निरवद त्याग्या सूं सवर श्रीकार हो॥

५४—चारित ने तो विरत सवर कह्यो, ते तो इविरत त्याग्या होय हो।
अजोग सवर सुभ जोग रुंध्या हुवे, तिण माहे सक न कोय हो।

५५—सवर निज गुण निश्चेइ जीव रा, तिणने भाव जीव कह्यो जगनाथ हो।
जिण दरब नें भाव जीव नही ओलख्या, तिणरो घट सूं न गयो मिथ्यात हो॥

५६—सवर पदार्थ ने ओलखायवा, जोड कीधी नाथदुवारा मभार हो।
समत अठारे वरसें छपने, फागुण विद तेरस सुक्रवार हो॥

४९—श्रावक जब कर्म-क्षय के हेतु उपवास, बेलादि तप करता है तो सावद्य योग के निरोध करने से सहचर विरति सवर भी होता है।

५०—श्रावक के सारे पौद्गलिक भोग-मन-वचन-काय के सावद्य व्यापार हैं। उनके प्रत्याख्यान से विरति सवर होता है और साथ-साथ तप भी होता है।

५१—साधु कल्प्य पुद्गल वस्तुओं का सेवन करता है वह निरवद्य योग—व्यापार है। इन वस्तुओं के त्याग से तपस्या होती है और योगों के निरोध से उत्तम सवर होता है।

५२—साधु का चलना, फिरना, बोलना आदि सब क्रियाएँ (यदि वे उपयोग पूर्वक की जाय तो) निरवद्य योग—व्यापार है। निरवद्य योगों के निरोध के अनुपात से सवर होता है और साथ-साथ उत्तम तपस्या भी निष्पन्न होती है।

५३—श्रावक का चलना, फिरना, बोलना आदि क्रियाएँ सावद्य और निरवद्य दोनों ही योग हैं। सावद्य योग के त्याग से विरति सवर होता है और निरवद्य योग के त्याग से उत्तम सवर होता है।

५४—चारित्र को 'विरति सवर' कहा गया है और यह अविरति के प्रत्याख्यान से होता है। अयोग सवर शुभ योगों के निरोध से होता है। इसमें जरा भी सन्देह नहीं है[१४]।

५५—सवर निश्चय ही जीव का स्वगुण है। भगवान ने इसे भाव-जीव कहा है। जो द्रव्य-जीव और भाव-जीव को नहीं पहचान सका उसके हृदय से मिथ्यात्व दूर नहीं हुआ—ऐसा समझो[१५]। सवर भाव जीव है

५६—यह जोड़ सवर पदार्थ का परिचय कराने के लिए श्रीजीद्वार में सं० १८५६ की फाल्गुन बदी १३ शुक्रवार के दिन की है। रचना स्थान और संवत्

टिप्पणियाँ

१—संवर छठा पदार्थ है (दो० १-३) :

इन दोहों में स्वामीजी ने निम्न बातें कही हैं :

(१) संवर छठा पदार्थ है ।

(२) संवर आस्रव-द्वार का अवरोधक पदार्थ है ।

(३) संवर का अर्थ है—आत्म-प्रदेशों का स्थिरभूत होना ।

(४) संवर आत्म-निग्रह से होता है ।

(५) मोक्ष-मार्ग की आराधना में संवर उत्तम गुण-रत्न है ।

नीचे इन पर क्रमशः प्रकाश डाला जा रहा है ।

(१) संवर छठा पदार्थ है

स्वामीजी ने नव पदार्थों में संवर का जो छठा स्थान बतलाया है वह आगम-सम्मत है[1] । पदार्थों की संख्या नौ मानने वाले दिगम्बर-ग्रन्थों में भी इसका स्थान छठा ही है[2] । तत्त्वार्थ सूत्र में सात पदार्थों के उल्लेख में इसका स्थान पाँचवाँ है[3] । पुण्य पाप पदार्थों की पूर्व में गिनती करने से इसका स्थान सातवाँ होता है । हेमचन्द्र सूरि ने सात पदार्थों की गणना में इसे चौथे स्थान पर रखा है[4] । इनमें पुण्य और पाप को पूर्व में गिनने से भी इसका छठा स्थान सुरक्षित रहता है ।

भगवान महावीर ने कहा है—"ऐसी संज्ञा मत करो कि आस्रव और संवर नहीं हैं, पर ऐसी संज्ञा करो कि आस्रव और संवर हैं[5] ।" ठाणाङ्ग तथा उत्तराध्ययन में इसे

१—(क) उत्त० २८ : १४ (पृ० २५ पर उद्धृत), २८ : १७

(ख) ठाणाङ्ग ९ : ३ : ६६५ (पृ० २२ पा० टि० १ में उद्धृत)

२—पञ्चास्तिकाय २ : १०८ (पृ० १५० पा० टि० ४ में उद्धृत)

३—देखिए पृ० १५१ पा० टि० १

४—देखिए पृ० १५१ पा० टि० ३

५—सुयगड २ : ५—१७ :

नत्थि आसवे संवरे वा णेवं सन्नं निवेसए ।
अत्थि आसवे संवरे वा एवं सन्नं निवेसए ॥

सद्भाव पदार्थ अथवा तथ्यभावो में रक्खा गया है[1] । इन सब से प्रमाणित है कि जैन-धर्म में सवर एक स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में प्ररूपित है ।

एक नौका को जल मे डालने पर यदि उसमें जल प्रवेश करने लगता है तो वह आस्रविनी—सछिद्र सिद्ध होती है, यदि उसमे जल प्रवेश नही करता तो वह अनास्रविनी—छिद्ररहित सिद्ध होती है । इसी तरह जिस आत्मा के मिथ्यात्व आदि रूप छिद्र होते हैं, वह सास्रव आत्मा है और जिसके मिथ्यात्व आदि रूप छिद्र नही होते, वह सवृत्त आत्मा है । सास्रव आत्मा मानने से सवृत्त आत्मा अपने आप सिद्ध हो जाती है ।

(२) सवर आस्रव-द्वार का अवरोधक पदार्थ है

ठाणाङ्ग में कहा है—आस्रव और सवर प्रतिद्वन्द्वी पदार्थ हैं[2] । आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं—"जो शुभ-अशुभ कर्मों के आगमन के लिए द्वार रूप है, वह आस्रव है। जिसका लक्षण आस्रव का निरोध करना है, वह सवर है[3] ।

स्वामीजी ने सवर के स्वरूप को उदाहरणो द्वारा निम्न प्रकार समझाया है[4]

१—तालाब के नाले को निरुद्ध करने की तरह जीव के आस्रव का निरोध करना सवर है ।

२—मकान के द्वार को बन्द करने की तरह जीव के आस्रव का निरोध करना सवर है ।

३—नौका के छिद्र को निरुद्ध करने की तरह जीव के आस्रव का निरोध करना सवर है ।

सवर और आस्रव के पारस्परिक सम्बन्ध और उनके स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए हेमचन्द्र सूरि लिखते हैं—

"जिस तरह चौराहे पर स्थित बहु-द्वारवाले गृह में द्वार बद न होने पर निश्चय ही रज प्रविष्ट होती है और चिकनाई के योग से तन्मय रूप से वहीं बध जाती—स्थिति

१—(क) उत्त० २८ १४ (पृ० २५ पर उद्धृत)

(ख) ठा० ९ ६६५ (पृ० २२ पा० टि० १ में उद्धृत)

२—ठाणाङ्ग २ ५९

जदत्थि ण लोगे त सव्व दुपओआर, तजहा— आसवे चेव सवरे चेव

३—तत्त्वा० १ ४ सर्वार्थसिद्धि

शुभाशुभकर्मागमद्वाररूप आस्रव । आस्रवनिरोधलक्षण सवर ।

४—तेराद्वार दृष्टान्त द्वार

हो जाती है और यदि द्वार बद हो तो रज प्रविष्ट नही होती और न चिपकती है, वैसे ही योगादि आस्रवो को सर्वत अवरुद्ध कर देने पर सवृत्त जीव के प्रदेशो में कर्मद्रव्य का प्रवेश नही होता।

"जिस तरह तालाव मे सर्व द्वारो मे जल का प्रवेश होता है, पर द्वारो को प्रतिरुद्ध कर देने पर थोडा भी जल प्रविष्ट नही होता, वैसे ही योगादि आस्रवो को सर्वत अवरुद्ध कर देने पर सवृत्त जीव के प्रदेशो मे कर्मद्रव्य का प्रवेश नही होता।

"जिस तरह नौका मे छिद्रो मे जल प्रवेश पाता है और छिद्रो को रुद्ध देने पर थोडा भी जल प्रविष्ट नही होता, वैसे ही योगादि आस्रवो को सर्वत अवरुद्ध कर देने पर सवृत्त जीव के प्रदेशो मे कर्मद्रव्य का प्रवेश नहीं होता[1]।"

सवर सर्व आस्रवो का निरोधक होता है या केवल पापास्रवो का—यह एक प्रश्न रहा। यह मतभेद सवर की भिन्न-भिन्न परिभाषाओ मे स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। एक परिभाषा के अनुसार—"जो सर्व आस्रवो के निरोध का हेतु होता है, उसे सवर कहते हैं[2]।" दूसरी परिभाषा के अनुसार—"जो अशुभ आस्रवो के निग्रह का हेतु है, उसे सवर कहा जाता है[3]।"

१—नवतत्त्वसाहित्यसग्रह श्रीहेमचन्द्रसूरिकृत सप्ततत्त्वप्रकरणम् ११८-१२२

यथा चतुष्पथस्थस्य, बहुद्वारस्य वेश्मन ।
अनावृतेषु द्वारेषु, रज प्रविशति ध्रुवम् ॥
प्रविष्ट स्नेहयोगाच्च, तन्मयत्वेन बध्यते ।
न विशेन्न च बध्यते, द्वारेषु स्थगितेषु च ॥
यथा वा सरसि क्वापि, सर्वैर्द्वारैर्विशेज्जलम् ।
तेषु तु प्रतिरुद्धेषु, प्रविशेन्न मनागपि ॥
यथा वा यानपात्रस्य, मध्ये रन्ध्रैर्विशेज्जलम् ।
कृते रन्ध्रपिधाने तु, न स्तोकमपि तद्विशेत् ॥
योगादिष्वाश्रवद्वारेष्वेव रुद्धेषु सर्वत ।
कर्मद्रव्यप्रवेशो न, जीवे सवरशालिनि ॥

२—वही १११ : सर्वेषामाश्रवाणां यो, रोधहेतु स सवर ।

३—वही : देवेन्द्रसूरिकृत नवतत्त्वप्रकरणम् ४१

तो असुहासवनिग्गहहेऊ इह सवरो विणिद्दिट्ठो ।

वास्तव में सवर केवल अशुभ आस्रवो के निग्रह का ही हेतु नही है अपितु वह शुभ आस्रवो के निग्रह का भी हेतु है।

(३) सवर का अर्थ है आत्म-प्रदेशों को स्थिरभूत करना

सास्रव अवस्था मे जीव के प्रदेशो मे परिस्पदन होता रहता है। आस्रवो के निरोध से जीव के चञ्चल प्रदेश स्थिर होते हैं। आत्मप्रदेश की चञ्चलता आस्रव-द्वार है और उनकी स्थिरता सवर-द्वार[१]। आस्रव से नये-नये कर्म प्रविष्ट होते रहते हैं। सवर से नये कर्मों का प्रवेश रुक जाता है[२]।

(४) सवर आत्म-निग्रह से होता है

आस्रव पदार्थ ही एक ऐसा पदार्थ है जिसका निरोध किया जा सकता है। सवर, निर्जरा और मोक्ष के निरोध का प्रश्न नही उठता। निरोध एक आस्रव-द्वार को लेकर उठता है। इसीलिए कहा है—"आस्रवनिरोध सवर[३]"—आस्रव द्वार का निरोध करना सवर है।

जितने निरोध्य कर्तव्य—कर्म हैं वे सब आस्रव हैं। निरवद्य-कर्तव्य पुण्य आने के द्वार—निरवद्य आस्रव-द्वार हैं। सावद्य-कर्तव्य पाप आने के द्वार—सावद्य आस्रव-द्वार हैं। निरोध्य कर्तव्यो का निरोध सवर-द्वार है।

सवर आत्म-निग्रह से—आत्मा का सवृत्त करने—उसको वश मे करने से निष्पन्न होता है। वह निवृत्ति-परक है, प्रवृत्ति-परक नही। प्रवृत्तिमात्र आस्रव है और निग्रह-मात्र सवर।

श्री हेमचन्द्र सूरि लिखते हैं—

"जिस उपाय से जो आस्रव रुके उस आस्रव के निरोध के लिए उसी उपाय को काम मे लाना चाहिए। मनुष्य क्षमा से क्रोध को, मृदुभाव से मान को, ऋजुता से माया को और निस्पृहता से लोभ का निरोध करे। असयम से हुए विषलदृश उत्कृष्ट विषयो को प्रकट सयम से नष्ट करे। तीन गुप्तियो से तीन योगो को, अप्रमाद से प्रमाद

[१]—टीकम डोसी की चर्चा

[२]—तत्त्वा० ९ १ सर्वार्थसिद्धि

अभिनवकर्मादानहेतुरास्रवो · · · तस्य निरोध सवर इत्युच्यते

[३]—तत्त्वा० ९ १

को और सावद्य योग के त्याग से विरति को साधे। सम्यग्दर्शन से मिथ्यात्व और मन की शुभ स्थिरता द्वारा आर्त-रौद्रध्यान को जीते[1]।'

(५) मोक्ष-मार्ग की आराधना मे सवर उत्तम गुण-रत्न है

मोक्ष ससारपूर्वक है। पहले ससार और फिर मोक्ष ऐसा क्रम है। पहले मोक्ष और फिर ससार ऐसा नही[2]। मोक्ष साध्य है। ससार मोच्य। इस ससार के प्रधान हेतु आस्रव और बन्ध हैं और मोक्ष के प्रधान हेतु सवर और निर्जरा[3]। सवर से आस्रव—नये कर्मों के प्रवेश का निरोध होता है। निर्जरा से बचे हुए कर्मों का परिशाट। इस तरह सवर मोक्ष-साधना में एक अनिवार्य साधन के रूप में सामने आता है। जो सवरयुक्त होता है वह मोक्ष के अमोघ साधन से युक्त है—अत्यन्त गुणवान है। सम्यक् ज्ञान-दर्शन-चारित्र को त्रि-रत्न कहा जाता है। सवर चारित्र है और इस तरह यह उत्तम गुण-रत्न है।

२—सवर के भेद, उनकी सख्या-परम्पराएँ और ५७ प्रकार के संवर (दो० ४)

द्रव्य सवर और भाव सवर

सवर के ये दो भेद श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनो ग्रथो मे मिलते हैं। इन भेदो की निम्न परिभाषाएँ मिलती हैं:

(१) जल मध्यगत नौका के छिद्रो का, जिन से अनवरत जल का प्रवेश होता है, तथाविध द्रव्य से स्थगन द्रव्य सवर है। जीव-द्रोणि मे कर्म जल के आस्रव के हेतु इन्द्रियादि छिद्रो का समिति आदि मे निरोध करना भाव सवर है[4]।

१—नवतत्त्वसाहित्यसग्रह श्रीहेमचन्द्रसूरिकृत सप्ततत्त्वप्रकरणम् ११३ ११७

२—तत्त्वा० १ ४ सर्वार्थसिद्धि

स च ससारपूर्वक·

३—वही

ससारस्य प्रधानहेतुरास्रवो बन्धश्च। मोक्षस्य प्रधानहेतु सवरो निर्जरा च

४—ठाणाङ्ग १ १४ की टीका

अथ द्विविधो द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतो जलमध्यगतनावादेरनवरतप्रविशज्जलाना छिद्राणा तथाविधद्रव्येण स्थगन सवर , भावतस्तु जीवद्रोण्यामाश्रवत्कर्म्मजलानामिन्द्रियादिच्छिद्राणा समित्यादिना निरोधन सवर इति

(२) कर्मपुद्गलो के आदान—ग्रहण का उच्छेद करना द्रव्य सवर है और ससार की हेतु क्रियाओ का त्याग भाव सवर है[१]। श्री हेमचन्द्र सूरि कृत यह परिभाषा आचार्य पूज्यपाद कृत परिभाषा पर आधारित है[२]।

(३) जो चैतन्य परिणाम कर्मो के आस्रव के निरोध मे हेतु होता है वही भाव सवर है और द्रव्यास्रव के अवरोध में जो हेतु होता है वह द्रव्य सवर है[३]।

(४) मोह, राग और द्वेष परिणामो का निरोध भाव सवर है। उस भाव सवर के निमित्त से योगद्वारो से शुभाशुभ कर्म-वर्गणाओ का निरोध होना द्रव्य सवर है[४]।

(५) शुभ-अशुभ कर्मो के निरोध मे समर्थ शुद्धोपयोग भाव सवर है, भाव सवर के आधार से नए कर्मो का निरोध द्रव्य सवर है[५]।

पाठक देखेंगे कि उपर्युक्त परिभाषाओ मे वास्तव मे तो अन्तिम चार ही सवर पदार्थ के दो भेदो का प्रतिपादन कर द्रव्य सवर और भाव सवर की परिभाषाएँ देती हैं। श्री अभयदेव ने वस्तुत सवर पदार्थ के दो भेद नही बतलाये हैं पर सवर के द्रव्यसवर और भावसवर ऐसे दो भेद कर द्रव्यसवर की उपमा द्वारा भावसवर को समझाया है। जैसे द्रव्य अग्नि के स्वभाव द्वारा भाव अग्नि—क्रोधादि को समझाया जा सकता है वैसे ही नौका के स्थूल दृष्टान्त द्वारा उन्होने भाव सवर को समझाया है। उन्होने नौका के

१—नवतत्त्वसाहित्यसग्रह श्री हेमचन्द्र सूरि कृत सप्ततत्त्वप्रकरणम् ११२

य कर्मपुद्गलादानच्छेद स द्रव्यसवर ।

भवहेतुक्रियात्याग स पुनर्भावसवर ॥

२—तत्त्वा० ९ १ सर्वार्थसिद्धि

तत्र ससारनिमित्तक्रियानिवृत्तिर्भावसवर । तन्निरोधे तत्पूर्वकर्मपुद्गलादानविच्छेदो द्रव्यसवर ।

३—द्रव्यसग्रह २ ३४

चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेऊ ।

सो भावसवरो खलु दव्वासवरोहणे अण्णो ॥

४—पञ्चास्तिकाय २ १४२ अमृतचन्द्रवृत्ति

मोहरागद्वेषपरिणामनिरोधो भावसवर । तन्निमित्त शुभाशुभकर्मपरिणामनिरोधो योगद्वारेण प्रविशता पुद्गलाना द्रव्यसवर

५—वही जयसेनवृत्ति

शुभाशुभसवरसमर्थ शुद्धोपयोगो भावसवर भावसवराधारेण नवतरकर्मनिरोधो द्रव्यसवर इति

लौकिक दृष्टान्त द्वारा आध्यात्मिक भाव—आस्रव पदार्थ का सम्यक् बोधमात्र उपस्थित किया है। स्वामीजी के प्रतिपादन में आस्रव पदार्थ के द्रव्य और भाव भेदो का उल्लेख नही और न आगमो में ही इन भेदो का उल्लेख मिलता है।

आस्रव नूतन कर्मों के ग्रहण का हेतु है और सवर उसका निरोध[1]। जिस परिणाम से कर्म-कारण प्राणातिपातादि का सवरण—निरोध होता है, वह सवर है[2]।

सवर-सख्या की परम्पराएँ

जितने आस्रव हैं उतने ही सवर हैं। जैसे आस्रव की अन्तिम सख्या का निर्धारण असभव है वैसे ही सवर की अन्तिम सख्या का भी। सवर की सख्या अनेक होने पर भी व्यावहारिक दृष्टि से सवर के भेदो की निश्चित सख्या का प्रतिपादन करने वाली अनेक परम्पराएँ प्राप्त हैं। उनमें से मुख्य इस प्रकार हैं

(१) सत्तावन सवर की परम्परा इसके अनुसार पाँच समिति, तीन गुप्ति, दस धर्म, बारह अनुप्रेक्षा (भावना), बाईस परीषह और पाँच चारित्र—इस तरह कुल मिलाकर सवर के सत्तावन भेद होते हैं[3]।

(२) चार सवर की परम्परा इस परम्परा के अनुसार (१) सम्यक्त्व सवर, (२) देशव्रत महाव्रतरूप विरति सवर, (३) कषाय संवर और (४) योगाभाव सवर—ये चार सवर हैं[4]।

१—तत्त्वा० ९ १ सर्वार्थसिद्धि

देखिए पृ० ५०७ पाद टि० २

२—ठाणाङ्ग १ १४ टीका

सव्रियते—कर्मकारण प्राणातिपातादि निरुध्यते येन परिणामेन स सवर आश्रव-निरोध इत्यर्थ

३—नवतत्त्वसाहित्यसग्रह देवेन्द्रसूरिकृत नवतत्त्वप्रकरणम् ४२

तत्थ परीसह समिई, गुत्ती भावण चरित्तधम्मेहिं।
बावीसपणतिबारसपण दसभेएहि जहसख ॥

४—द्वादशानुप्रेक्षा सवरानुप्रेक्षा ६५

सम्मत्त देसवय, महव्वय तह जओ कसायाण।
एदे सवरणामा, जोगाभावो तहच्चेव ॥

(३) चार संवर की दूसरी परम्परा इसके अनुसार मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योग—आस्रवों के निरोध रूप चार संवर हैं[1]।

(४) पांच संवर की परम्परा इस परम्परा के अनुसार संवर पांच हैं।—(१) सम्यक्त्व संवर, (२) विरति संवर, (३) अप्रमाद संवर, (४) अकषाय संवर और (५) अयोग संवर[2]।

(५) बीस संवर की परम्परा : इसके अनुसार बीस संवर ये हैं—(१) सम्यक्त्व संवर, (२) विरति संवर, (३) अप्रमाद संवर, (४) अकषाय संवर, (५) अयोग संवर, (६) प्राणातिपात-विरमण संवर, (७) मृषावाद-विरमण संवर, (८) अदत्तादान-विरमण संवर (९) अब्रह्मचर्य-विरमण संवर, (१०) परिग्रह-विरमण संवर, (११) श्रोत्रेन्द्रिय संवर, (१२) चक्षुरिन्द्रिय संवर, (१३) घ्राणेन्द्रिय संवर, (१४) रसनेन्द्रिय संवर, (१५) स्पर्शनेन्द्रिय संवर, (१६) मन संवर, (१७) वचन संवर, (१८) काय संवर, (१९) भण्डोपकरण संवर और (२०) सूची-कुशाग्र संवर[3]।

१—समयसार संवर अधिकार १९०-१९१

मिच्छत्तं अण्णाणं अविरयभावो य जोगो य ॥

हेउअभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो ।

२—(क) ठाणाङ्ग ५.२.४१८

पंच संवरदारा प० तं० सम्मत्तं विरती अपमातो अकसातित्तमजोगित्तं

(ख) समवायाङ्ग ५

पंच संवरदारा पन्नत्ता तं जहा-सम्मत्तं विरई अप्पमत्तया अकसाया अजोगया

३—आगमों के आधार पर बीस की संख्या इस प्रकार बनती है—

(क) देखिए—पाद टि० २

(ख) जंबू ! एत्तो संवरदाराइं पंच वोच्छामि आणुपुव्वीए ।

जह भणियाणि भगवया सव्वदुहविमोक्खणट्ठाए ॥

पढमं होइ अहिंसा बितियं सच्चवयणंति पन्नत्तं ।

दत्तमणुन्नाय संवरो य बंभचेरमपरिग्गहत्तं च ॥

(प्रश्नव्याकरण संवर द्वार)

(ग) दसविधे संवरे प० तं० सोतिंदियसंवरे जाव फासिंदियसंवरे मण० वय० काय० उवकरणसंवरे सूचीकुसग्गसंवरे। (ठाणाङ्ग १०.१.७०९)

इन परम्पराओ में पहली परम्परा का उल्लेख श्वेताम्बर-दिगम्बर मान्य तत्त्वार्थसूत्र तथा अन्य अनेक ग्रन्थो मे उपलब्ध है[1], पर आगमो में नही[2]।

सवर आस्रव का प्रतिपक्षी पदार्थ है। एक-एक आस्रव का प्रतिपक्षी एक-एक सवर होना चाहिए। सवरो की सख्या सूचक पहली परम्परा, आस्रव-द्वारो की सख्या का निरूपण करनेवाली परम्पराओ[3] में से प्रत्यक्षत किसी भी परम्परा की प्रतिपक्षी नहीं है और सवरो की सख्या स्वतत्र रूप मे प्रतिपादित करती है।

उपर्युक्त चार सवर की सूचक परम्पराएँ आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा समर्थित हैं और अपने निरूपण मे क्रमश उस-उस आस्रव की प्रतिपक्षी हैं[4]।

चौथी और पांचवी परम्पराएँ आगमिक हैं। उनका प्ररूपण आस्रव के उतने ही भेदों को वतलाने वाली परम्पराओ के प्रतिपक्षी रूप में है[5]। चौथी परम्परा के अन्तिम पद्रह भद विरत सवर के ही भेद हैं। इस तरह ये दोनो परम्पराएँ एक ही हैं केवल सक्षेप-विस्तार की अपेक्षा से ही वे दो कही जा सकती हैं।

स्वामीजी ने इसी ढाल (गा० १-१५) में आगमिक परम्परा सम्मत सवर के बीस भेदो का विवेचन किया है।

हम यहाँ पाठको के लाभ के लिए प्रथम परम्परा सम्मत सवर के सत्तावन भेदो का सक्षिप्त विवेचन दे रहे हैं।

सवर के सत्तावन भेदों का विवेचन

सवर के भेद अधिक मे अधिक ५७ वतलाये गये हैं। देवेन्द्रसूरि लिखते हैं—"सवर के भेद तो अनेक हैं। आचार्यो ने इतने ही कहे हैं[6]"

१—(क) तत्त्वा० ९ २, ४-१८

(ख) नवतत्त्वसाहित्यसग्रह के सर्व नवतत्त्वप्रकरण

२—नवतत्त्वसाहित्यसग्रह भाग्यविजयकृत श्रीनवतत्त्वस्तवनम् ८८

भेद वीस सवरना कह्या, ठाणाङ्ग सूत्र मोझार।
भेद सत्तावन पण कह्या, ग्रन्थातरथी विचार॥

३—इन परम्पराओं के लिए देखिए पृ० २७२ टि० ५

४—देखिए वही

५—ठाणाङ्ग ५ २ ४१ टीका

सवरद्वाराणि—मिथ्यात्वादीनामाश्रवाणां क्रमेण विपर्यया

६—नवतत्त्वसाहित्यसग्रह देवेन्द्रसूरिकृत नवतत्त्वप्रकरणम् ४१

सो पुण णेगविहोवि हु, इह भणिओ सत्तवन्नविहो॥

संवर के ५७ भेदों का वर्णन छह गुच्छों में किया जाता है। इन गुच्छों के क्रम भिन्न-भिन्न मिलते हैं। तत्त्वार्थसूत्र में गुच्छों का अनुक्रम—गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह-जय और चारित्र—इस रूप में है[1]। दूसरे निरूपण में परीषह-जय, समिति, गुप्ति, भावना, चारित्र, धर्म—यह क्रम है[2]। तीसरे प्ररूपण में चारित्र, परीषह-जय, धर्म, भावना, समिति और गुप्ति—यह क्रम है[3]। इसी प्रकार अन्य क्रम भी उपलब्ध हैं[4]। यहाँ तत्त्वार्थ-सूत्र के गुच्छ-क्रम से ही ५७ संवरों का विवेचन किया जाता है।

वाचक उमास्वाति तत्त्वार्थसूत्र के स्वोपज्ञ भाष्य में संवर पदार्थ की परिभाषा में कहते हैं "आस्रव के ४२ भेद बतलाये जा चुके हैं। उनके निरोध को संवर कहते हैं। इस संवर की सिद्धि गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह-जय और चारित्र से होती है[5]।" गुप्ति आदि के ही कुल मिलाकर ५७ भेद हैं। इन का विवरण इस प्रकार है

१—पाँच गुप्ति। जिससे संसार के कारणों से आत्मा का गोपन—बचाव हो उसे गुप्ति कहते हैं[6]। मन, वचन और काय—तीनों योगों का सम्यक् निग्रह गुप्ति है[7]। भाष्य के अनुसार

१—तत्त्वा० ९ २

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः

२—पृ० ५१० पाद-टिप्पणी ३

३—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : जयशेखरसूरि निर्मित नवतत्त्वप्रकरणम् ११-१२

४—देखिए—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह में संगृहीत नवतत्त्वप्रकरण

५—(क) तत्त्वा० ९ १

आस्रवनिरोधः संवरः

(ख) वही भाष्य

यथोक्तस्य काययोगादेर्द्विचत्वारिंशद्विधस्य निरोधः संवरः

(ग) स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः

(घ) वही भाष्य

स एष संवर एभिर्गुप्त्यादिभिरभ्युपायैर्भवति

६—तत्त्वा० ९ २ सर्वार्थसिद्धि

यतः संसारकारणादात्मनो गोपनं भवति सा गुप्तिः

७—तत्त्वा० ९ ४

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः

'सम्यक्' शब्द का अर्थ है—विधिपूर्वक, जानकर, स्वीकार कर, सम्यक्दर्शनपूर्वक[1]। श्री अकलङ्कदेव के अनुसार इस का अर्थ है—सत्कार, लोक-प्रसिद्धि, विषय-सुख की आकांक्षा आदि को छोड़कर[2]। इस प्रकार योगों का निरोधन करना गुप्ति है। इनके तीन भेद हैं

(१) कायगुप्ति सोने, बैठने, ग्रहण करने, रखने आदि क्रियाओं में जो शरीर की चेष्टाएँ हुआ करती हैं, उनके निरोध को कायगुप्ति कहते हैं[3]।

(२) वाक्गुप्ति वचन-प्रयोग का निरोध करना अथवा सर्वथा मौन रहना वाग्गुप्ति है[4]।

(३) मनोगुप्ति मन में सावद्य संकल्प होते हैं उन के निरोध, अथवा शुभ संकल्पों के धारण, अथवा कुशल-अकुशल दोनों ही तरह के संकल्पमात्र के निरोध करने को मनोगुप्ति कहते हैं[5]।

वाचक उमास्वाति ने गुप्तियों की जो पूर्वोक्त परिभाषाएँ दी हैं वे प्राय निवृत्तिपरक हैं। केवल मनोगुप्ति में कुशल संकल्पों के धारण को भी स्थान दिया है।

अभयदेवसूरि ने तीनों ही गुप्तियों को अकुशल मे निवृत्ति और कुशल में प्रवृत्ति[?] कहा है[6]।

१—तत्त्वा० ९ ४ भाष्य ·
सम्यगिति विधानतो ज्ञात्वाभ्युपेत्य सम्यग्दर्शनपूर्वक त्रिविधस्य योगस्य निग्रहो गुप्ति

२—तत्त्वार्थवार्तिक ९ ४.३ :
सम्यगिति विशेषण सत्कारलोकपङ्क्त्याद्याकाङ्क्षानिवृत्त्यर्थम्

३—तत्त्वा० ९ ४ भाष्य
तत्र शयनासनादाननिक्षेपस्थानचङ्क्रमणेषु कायचेष्टानियम कायगुप्ति

४—वही भाष्य
याचनपृच्छनपृष्टव्याकरणेषु वाङ्नियमो मौनमेव वा वाग्गुप्ति

५—वही भाष्य
सावद्यसकल्पनिरोध कुशलसकल्प कुशलाकुशलसकल्पनिरोध एव वा मनोगुप्तिरिति

६—नवतत्त्वसाहित्यसग्रह देवगुप्तसूरिप्रणीत नवतत्त्वप्रकरणम् गा० १० भाष्य

मणगुत्तिमाइयाओ, गुत्तीओ तिण्ण हुति नायव्वा ।
अकुसलनिवित्तिरूवा, कुसलपवित्तिसरूवा य ॥

गुप्ति और समिति मे अन्तर बताते हुए पण्डित भगवानदास लिखते हैं—"समिति सम्यक् प्रवृत्तिरूप है और गुप्ति प्रवृत्ति तथा निवृत्तिरूप । दोनो मे यही अन्तर है[1] ।"

स्वामीजी के अनुसार—मन, वचन और काय की सम्यक् प्रवृत्तिरूप गुप्ति सवर नही हो सकती । उनका कहना है—ऐसी प्रवृत्ति शुभ योग मे आती है और वह पुण्य का कारण है फिर उसे सवर कैसे कहा जा सकता है? सवररूप गुप्ति में शुभ योगो को समाविष्ट नही किया जा सकता ।

देवेन्द्रसूरि भी इसी का समर्थन करते हैं। उन्होने पाप-व्यापार से मन, वचन और काया के गोपन को ही क्रमश मनोगुप्ति आदि कहा है[2] । उत्तराध्ययन मे कहा है—'गुत्ती नियत्तणे वुत्ता, असुभत्थेसुसव्वसो'—सर्व अशुभ योगो से निवृत्ति गुप्ति है। श्री अकलङ्क भी गुप्ति का स्वरूप निवृत्तिपरक ही बतलाते हैं—'गुप्त्यादि प्रवृत्तिनिग्रहार्थ (० ६ १), 'गुप्तिर्हि निवृत्तिप्रवणा' (६ ६ ११)।

२—पांच समिति । सम्यक् प्रवृत्ति को समिति कहते हैं[3] ।

(४) ईर्या समिति धर्म मे प्रयत्नमान साधु का आवश्यक कार्य के लिए अथवा सयम की सिद्धि के लिए चार हाथ भूमि को देखकर अनन्यमन से धीरे-धीरे पैर रखकर विधिपूर्वक चलना ईर्यासमिति है[4] ।

(५) भाषा समिति साधु का हित (मोक्षप्रापक), मित, असदिग्ध और अनवद्य वचनो का बोलना भाषासमिति है[5] ।

(६) एषणा समिति अन्न, पान, रजोहरण, पात्र, चीवर तथा अन्य धर्म-साधनो को ग्रहण करते समय साधु द्वारा उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषो का वर्जन करना एषणासमिति है[6] ।

१—नवतत्त्वप्रकरण (आवृ० २) पृ० ११२,११५

२—नवतत्त्वसाहित्यसग्रह नवतत्त्वप्रकरणम् ६६।४१ वृत्ति

पापव्यापारेभ्यो मनोवाक्कायगोपनान्मनोवचनकायगुप्तय

३—(क) तत्त्वा० ६ २ सर्वार्थसिद्धि

सम्यगयन समिति

(ख) नवतत्त्वसाहित्यसग्रह देवगुप्त सूरि प्रणीत नवतत्त्वप्रकरण गा० १० भाष्य

सम्म जा उ पवित्ती । सा समिई पञ्चहा एव ॥

४—(क) तत्त्वा० ६ ५ भाष्य

(ख) वही राजवार्तिक ३

५—(क) तत्त्वा० ६ ५ भाष्य

(ख) वही राजवार्तिक ५

६—(क) तत्त्वा० ६ ५ भाष्य

(ख) वही राजवार्तिक ६

(७) आदाननिक्षेपण समिति आवश्यकतावश धर्मोपकरणो को उठाते या रखते समय उन्हे अच्छी तरह शोध कर उठाने-रखने को आदाननिक्षेपणसमिति कहते हैं[1]।
(८) उत्सर्ग समिति त्रस-स्थावर जीव रहित प्रासुक स्थान पर, उसे अच्छी तरह देख और शोधकर मल-मूत्र का विसर्जन करना उत्सर्गसमिति है[2]।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मुनियो की निरवद्य प्रवृत्तियो के नियमो को ही 'समिति' नाम से विहित किया गया है[3]। श्री अकलङ्कदेव लिखते हैं—"गुप्तियो के पालन में असमर्थ मुनि की कुशल मे प्रवृत्ति को समिति कहते हैं[4]।" आगम में भी ऐसा ही कथन मिलता है[5]।

यहाँ प्रश्न उठता है—समितियाँ प्रवृत्तिरूप होने पर भी उन्हे सवर के भेदो मे कैसे गिनाया गया। आचार्य पूज्यपाद कहते हैं—"विहित रूप से प्रवृत्ति करनेवाले के असयमरूप परिणामो के निमित्त से जो कर्मों का आस्रव होता है उसका सवर होता है[6]।" श्री अकलङ्कदेव कहते हैं—"जाना, बोलना, खाना, रखना, उठना और मलोत्सर्ग आदि क्रियाओ मे अप्रमत्त सावधानी से प्रवृत्ति करने पर इन निमित्तो से आनेवाले कर्मों का सवर हो जाता है[7]।"

१—(क) तत्त्वा० ६ ५ भाष्य
(ख) वही राजवार्तिक ७
२—(क) तत्त्वा० ६ ५ भाष्य
(ख) वही राजवार्तिक ८
३—तत्त्वा० ६ ४ सर्वार्थसिद्धि
तत्राशक्तस्य मुनेर्निरवद्यप्रवृत्तिख्यापनार्थमाह
४—तत्त्वा० ६ ५, राजवार्तिक ६
तत्रासमर्थस्य कुशलेषु वृत्ति समिति
५—उत्त० २४ २६
एयाओ पच समिईओ चरणस्स य पवत्तणे।
६—(क) तत्त्वा० ६ ५ सर्वार्थसिद्धि
तथा प्रवर्तमानस्यासयमपरिणामनिमित्तकर्मास्रवात्सवरो भवति।
७—तत्त्वा० ६ ५ राजवार्तिक
अतो गमनभाषणाभ्यवहरणग्रहणनिक्षेपोत्सर्गलक्षणसमितिविधावप्रमत्ताना तत्प्रणालिकाप्रसृतकर्माभावान्निभृताना प्रासीदत् सवर ।

स्वामीजी का कथन है—मुनि का विधिपूर्वक आना-जाना, बोलना आदि कार्य शुभ योग हैं। वे पुण्य के हेतु हैं। उन्हें सवर कहना सगत नही। यदि शुभ योगो मे प्रवृत्त मुनि के शुभ योगो ने सवर माना जायगा तो उसका अर्थ यह होगा कि साधु के पुण्य का बध होता ही नही। आगम मे शुभ योगो से मुनि के भी स्पष्टत पुण्य का बध कहा है।

बावन बोल के स्तोक मे प्रश्न है—पाँच समिति, तीन गुप्ति कौन-सा भाव और कौन-सी आत्मा है ? उत्तर मे कहा बताया गया है—भावो में गुप्ति उदय को छोडकर चार भाव हैं और आठ आत्माओ मे गुप्ति चारित्र आत्मा है। समिति—क्षायक क्षयोपशम और पारिणामिक भाव है और आत्माओ मे योग आत्मा है।

इससे भी समितियाँ योग ठहरती हैं।

गुप्तियो, समितियो का उल्लेख ठाणाङ्ग, समवायाङ्ग, उत्तराध्ययन आदि आगमो मे मिलता है[1]। पाच समिति और तीन गुप्तियो को आगमो मे प्रवचन-माता कहा गया है[2]।

३—दस धर्म जो इष्ट स्थान मे धारण करे उसे धर्म कहते हैं[3]। धर्म के दस भेद को यतिधर्म अनगार धर्म आदि भी कहा जाता है। इनका व्यौरा इस प्रकार है

(९) उत्तम क्षमा उमास्वाति के अनुसार क्षमा का अर्थ है तितिक्षा, सहिष्णुता, क्रोध या निग्रह[4]। आ० पूज्यपाद के अनुसार निमित्त के उपस्थित होने पर भी कलुषता को उत्पन्न न होने देना क्षमा है[5]।

(१०) उत्तम मार्दव उमास्वाति के अनुसार मृदुभाव अथवा मृदुकर्म को मार्दव कहा है। मदनिग्रह, मानविघात मार्दव है। जाति, कुल, रूप, ऐश्वर्य, विज्ञान, श्रुत, लाभ

१—(क) ठाणाङ्ग ६०३

(ख) समवायाङ्ग ३

(ग) उत्त० २४ १,२, १९-२६

२—(क) उत्त० २४ १,३,

(ख) समवायाङ्ग ८

३—तत्त्वा० ९ ६ सर्वार्थसिद्धि

इष्टे स्थाने धत्ते इति धर्म

४—तत्त्वा० ९ ६ भाष्य

५—वही सर्वार्थसिद्धि

और वीर्य—इन आठ मदस्थानो से मत्त हो दूसरो की निंदा और अपनी प्रशसा करने का निग्रह मार्दव है[1]। पूज्यपाद के अनुसार भी अभिमान का अभाव, मान का निर्हरण मार्दव है[2]।

(११) उत्तम आर्जव उमास्वाति कहते हैं—भाव विशुद्धि और अविसवादन आर्जव के लक्षण हैं। ऋजुभाव अथवा ऋजुकर्म को आर्जव कहते हैं[3]। आचार्य पूज्यपाद के अनुसार योगो की अवक्रता आर्जव है[4]।

(१२) उत्तम शौच अलोभ। शुचिभाव या शुचिकर्म शौच है। अर्थात् भावो की विशुद्धि, कल्मषता का अभाव और धर्म के साधनो में भी आसक्ति का न होना शौच धर्म है[5]। प्रकर्षप्राप्त लोभ की निवृत्ति शौच है[6]।

प्रश्न है—मनोगुप्ति और शौच में क्या अन्तर है? श्री अकलङ्कदेव कहते हैं—मनोगुप्ति में मन के परिस्पन्दन का सर्वथा निरोध किया जाता है जब कि शौच में पर वस्तु विषयक अनिष्ट विचारो की शान्ति का ही समावेश होता है। लोभ चार हैं—जीवनलोभ, आरोग्यलोभ, इन्द्रियलोभ और उपभोगलोभ। इन चारो का परिहार शौच में आता है[7]।

(१३) उत्तम सत्य सत्यर्थ में प्रवृत्त वचन अथवा सत्पुरुषो के हित का साधक वचन सत्य कहलाता है। अनृत, परुषता, चुगली आदि दोषो से रहित वचन उत्तम सत्य है[8]।

पूज्यपाद कहते हैं भाषासमिति में मुनि हित और मित ही बोल सकता है अन्यथा वह राग और अनर्थदण्ड का दोषी होता है। परन्तु उत्तम सत्य मे धर्मवृद्धि के निमित्त बहु बोलना भी आ जाता है[9]।

१—तत्त्वा० ९ ६ भाष्य

२—वही सर्वार्थसिद्धि

३—तत्त्वा० ९ ६ भाष्य

४—वही सर्वार्थसिद्धि

५—तत्त्वा० ९ ६ भाष्य

६—वही सर्वार्थसिद्धि

७—वही राजवार्तिक ८

८—वही : भाष्य

९—वही : सर्वार्थसिद्धि

(१४) उत्तम संयम : योग-निग्रह को संयम कहते हैं[1] । श्री अकलङ्कदेव के अनुसार संयम में प्राणी-संयम और इन्द्रिय-संयम ही आते हैं। मन, वचन और काय का निग्रह गुप्तियों में आ जाता है[2] । उमास्वाति ने संयम के सत्तरह भेद दिये हैं[3] ।

(१५) उत्तम तप : कर्मक्षय के लिए उपवासादि बाह्य तप और स्वाध्याय, ध्यान आदि अन्तर तपों का करना तप धर्म है[4] । इच्छा-निरोध को भी तप कहा है—"इच्छा-निरोधस्तप ।"

(१६) उत्तम त्याग : उमास्वाति के अनुसार बाह्य और आभ्यन्तर उपाधि तथा शरीर, अन्नपानादि के आश्रय से होनेवाले भावदोष का परित्याग त्याग धर्म है[5] । आचार्य पूज्यपाद के अनुसार संयति को योग्य ज्ञानादि का दान देना त्याग है[6] । श्री अकलङ्कदेव के अनुसार परिग्रह निवृत्ति को भी त्याग कहते हैं[7] । कई जगह निर्ममत्व को त्याग कहा गया है—'निर्ममत्व त्याग ।'

(१७) उत्तम आकिञ्चन्य : उमास्वाति के अनुसार शरीर और धर्मोपकरणों में ममत्व न रखना उत्तम आकिञ्चन्य धर्म है[8] । आ० पूज्यपाद के अनुसार 'यह मेरा है' इस प्रकार के अभिप्राय का त्याग करना आकिञ्चन्य है[9] ।

(१८) उत्तम ब्रह्मचर्य : उमास्वाति के अनुसार इसके दो अर्थ हैं (१) व्रतों के परिपालन, ज्ञान की अभिवृद्धि एवं कषाय-परिपाक आदि हेतुओं से गुरुकुल में वास करना और (२) भावनापूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन करना[10] ।

१—तत्त्वा० ९.६ भाष्य

२—वही : राजवार्तिक ११-१४

३—वही : ९.६ भाष्य

४—(क) तत्त्वा० ९.६ भाष्य

(ख) वही : सर्वार्थसिद्धि

५—तत्त्वा० ९.६ भाष्य

६—वही : सर्वार्थसिद्धि

७—वही : राजवार्तिक १८

८—तत्त्वा० ९.६ भाष्य

९—वही : सर्वार्थसिद्धि

१०—वही : भाष्य

दस धर्मो का उल्लेख ठाणाङ्ग में भी है,—दसविहे समणधम्मे प० त खती मुत्ती अज्जवे मद्दवे लाघवे सच्चे सजमे तवे चिताते बभचेरवासे (ठा० १० १.७१२)। यहाँ 'शौच' और 'आकिञ्चन्य' के बदले 'मुक्ति' और 'लाघव' मिलता है।

दस धर्मो मे उत्तम सत्य की परिभाषा सत्य बोलना की गयी है। यहाँ प्रवृत्ति को सयम कहा गया है। स्वामीजी के अनुसार शुभ योग सवर नही हो सकता। प्रवृत्तिपरक अन्य धर्मो के सम्बन्ध मे भी यही बात समझ लेनी आवश्यक है।

४— बारह अनुप्रेक्षा। अनुप्रेक्षा भावना को कहते हैं। बार-बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। बारह अनुप्रेक्षाओ का विवरण इस प्रकार है

(१६) अनित्य अनुप्रेक्षा शरीर आदि सर्व पदार्थ और सयोग अनित्य हैं—ऐसा पुन पुन चिन्तन।

(२०) अशरण अनुप्रेक्षा : जन्म, जरा, मरण, व्याधि आदि से ग्रस्त होने पर प्राणी का ससार में कोई भी शरण नही है—ऐसा पुन पुनः चिन्तन।

(२१) ससार अनुप्रेक्षा ससार अनादि है उसमें पडा हुआ जीव नरकादि चारो गतियों में परिभ्रमण करता है। इसमें जन्म,जरा, मरण आदि के दु ख ही दु ख हैं--ऐसा पुन पुन चिन्तन।

(२२) एकत्व अनुप्रेक्षा इस ससार में मैं अकेला ही हूँ, यहाँ पर मेरा कोई स्वजन परजन नही। मैं अकेला ही उत्पन्न हुआ, अकेला ही मृत्यु को प्राप्त होऊँगा। मैं जो कुछ करूँगा उसका फल मुझ अकेले को ही भोगना पडेगा। कर्मजन्य दु ख को बाँटने में दूसरा कोई समर्थ नही—ऐसा बार-बार चिन्तन।

(२३) अन्यत्व अनुप्रेक्षा—मैं शरीर आदि बाह्य पदार्थों से सर्वथा भिन्न हूँ और शरीर आदि मुझ से भिन्न हैं। आत्मा अमर है और शरीर आदि नाशवान हैं—ऐसा पुन पुन चिन्तन।

(२४) अशुचि अनुप्रेक्षा शरीर की अपवित्रता का बार-बार चिन्तन करना।

(२५) आस्रव अनुप्रेक्षा मिथ्यात्व आदि आस्रव जीवो को अकल्याण से युक्त और कल्याण से वचित करते हैं—ऐसा पुन पुन चिन्तन।

(२६) सवर अनुप्रेक्षा—सवर नए कर्मों के आदान को रोकता है। सवर की इस गुणवत्ता का चिन्तन।

(२७) निर्जरा अनुप्रेक्षा निर्जरा बंधे हुए कर्मों का परिशाटन करती है। निर्जरा की इस गुणवत्ता का पुन पुन चिन्तन।

(२८) लोकानुप्रेक्षा स्थिति-उत्पत्ति-व्ययात्मक द्रव्यों से निष्पन्न, कटिस्थकर पुरुष की आकृतिवाले लोक के स्वरूप का पुन पुन चिन्तन।

(२९) बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा - सम्यक्दर्शन—विशुद्ध बोधि का बार-बार प्राप्त करना दुर्लभ है—ऐसा पुन पुन चिन्तन करना।

(३०) धर्मस्वाख्याततत्त्वानुप्रेक्षा · परमर्षि भगवान अरहतदेव ने जिसका व्याख्यान किया है वही एक ऐसा धर्म है जो जीव को इस संसार-समुद्र से पार उतारनेवाला और मोक्ष को प्राप्त करानेवाला है—ऐसा पुन पुन चिन्तन।

४—बाईस परीषह। मार्ग से च्युत न होने के लिए और कर्मों की निर्जरा के लिए जिन्हें सहन करना योग्य है, उन्हें परीषह कहते हैं। बाईस परीषहों का विवरण इस प्रकार है

(३१) क्षुधा परीषह क्षुधा-सहन करना, जैसे—क्षुधा से अत्यन्त पीड़ित होने पर भी प्रासुक आहार मांगे, फल आदि को न छेदे और न दूसरे से छिदवाए, न स्वयं पकावे और न दूसरे से पकवाए। अकल्प्य आहार का सेवन न करे और धीर मन से संयम में विचरे।

(३२) पिपासा परीषह तृषा-सहन करना, जैसे—तृषा से अत्यन्त [illegible] होने पर भी अकल्प्य सचित्त जल का सेवन न करे।

(३३) शीत परीषह शीत-सहन करना, जैसे—शीत-काल में वस्त्र [illegible] के अभाव में अग्नि-सेवन न करे।

(३४) उष्ण परीषह ताप-सहन करना, जैसे—ताप से [illegible] होने पर भी [illegible] की इच्छा न करे, शरीर पर जल न छिड़के, पंखे से हवा न ले।

(३५) दंशमशक परीषह दंशमशकों के कष्ट को सहन करना, जैसे—उनके द्वारा [illegible] जाने पर भी उनको किसी तरह का त्रास न दे, उनके प्राणों का विघात न करे।

(३६) नाग्न्य परीषह नग्नता को सहन करना, जैसे—वस्त्र जीर्ण हो जाने पर [illegible] यह चिन्ता न करे कि वह अचेलक हो जाएगा अथवा यह न सोचे कि [illegible] वस्त्र जीर्ण हो गए और अब वह नए वस्त्र से सचेलक होगा। [illegible] अचेलक परीषह कहा है।

(३७) अरति परीषह कष्ट पडने पर सयम के प्रति अरुचि को उत्पन्न न होने देना।

(३८) स्त्री परीषह स्त्री के लुभाने पर भी समभावपूर्वक रहना—मोहित न होना।

(३९) चर्या परीषह ग्रामानुग्राम विचरने की मुनि-चर्या से विचलित न होना।

(४०) नैषेधिकी परीषह स्वाध्याय के लिए किसी स्थान में रहते समय उपसर्ग होने पर उसे समभावपूर्वक सहन करना, जैसे—दूसरे को त्रास न पहुँचाना और स्वय शका-भीत हो वहाँ से अन्य स्थान में न जाना।

(४१) शय्या परीषह वास-स्थान अथवा शय्या न मिलने अथवा कष्टकारी मिलने पर समभाव रखना, जैसे—उच्चावच शय्या के कारण स्वाध्याय आदि के समय का उल्लघन न करना।

(४२) आक्रोश परीषह दुष्ट वचनो के सम्मुख समभाव रखना, जैसे—किसी के आक्रोश करने पर क्रोध न करना।

(४३) वध परीषह वध-कष्ट उपस्थित होने पर समभाव रखना, जैसे—किसी के पीटने पर भी मन में द्वेष न कर तितिक्षा-भाव रखना।

(४४) याचना परीषह याचना करने की क्रिया से दुःख बोध नही करना, जैसे—यह न सोचना कि हाथ पसारने की अपेक्षा तो घर में ही रहना अच्छा।

(४५) अलाभ परीषह आहारादि न मिलने अथवा अनुकूल न मिलने पर मन में कष्ट न होने देना।

(४६) रोग परीषह रोग होने पर व्याकुल न होना।

(४७) तृणस्पर्श परीषह तृण पर सोने से उत्पन्न वेदना से अविचलित रहना।

(४८) जल्ल परीषह · पसीने और मैल के कष्टो से न घबडाना।

(४९) सत्कार-पुरस्कार परीषह किसी द्वारा सत्कारित किए जाने पर उत्कर्ष का अनुभव न करना। इसका लक्षण उत्तराध्ययन सूत्र में इस प्रकार दिया है—दूसरे के सत्कार-सम्मानादि को देखकर वैसे सत्कार-सम्मानादि की कामना न करना[1]।

(५०) प्रज्ञा परीषह अपने में प्रज्ञा की कमी देख कर खेदखिन्न न होना।

१—नवतत्त्वसाहित्यसग्रह अव० वृत्त्यादिसमेत नवतत्त्वप्रकरणम् : १८
यद्बहुलोकनरेश्वरादिकृतस्तुतिवदनादे चित्तोन्मादो न कार्य, उत्कर्षो मनसि न कार्य।

(५१) अज्ञान परीपह · अपने अज्ञान मे खेदखिन्न न होना , जैसे—मैंने व्यर्थ ही मैथुन आदि से निवृत्ति तथा इन्द्रियो के दमन का प्रयत्न किया, जो मुझे साक्षात् धर्म और पाप का ज्ञान नही ।

(५२)अदर्शन परीपह जिनोपदिष्ट तत्त्वो मे अश्रद्धा उत्पन्न न होने देना , जैसे—परलोक नही है, जिन नही हुए अथवा सयम-ग्रहण कर मैं छला गया आदि नही सोचना ।

वाईस परीपहो का वर्णन उत्तराध्ययन (अ० २), समवायाङ्ग (सम०२२) और भगवती (८ ८) में मिलता है । भगवती मे 'अज्ञान-परीपह' के स्थान में 'ज्ञान-परीपह' का उल्लेख है ।

परीपह निर्जरा पदार्थ के अन्तर्गत आते हैं । स्वामीजी के अनुसार वे सवर के भेद नही हैं। वे षट् द्रव्यो मे जीव और नव पदार्थो में जीव और निर्जरा के अन्तर्गत आते हैं[1] ।

६—पांच चारित्र

(५३) सामायिक चारित्र सर्व सावद्य योगो का त्याग कर पांच महाव्रतो को ग्रहण करना सामायिक चारित्र कहलाता है ।

(५४) छेदोपस्थापनीय चारित्र दीक्षा लेने के वाद विशिष्ट श्रुत का अभ्यास कर चुकने पर पुन महाव्रतो का ग्रहण करना अथवा प्रथम दीक्षा में दोष लगने से उसका छेद कर पुन दीक्षा लेना छेदोपस्थापनीय चारित्र है । सक्षेप मे सामायिक चारित्र के सदोष अथवा निर्दोष पर्याय का छेद कर पुन महाव्रतो का ग्रहण करना छेदोपस्थापनीय चारित्र है ।

(५५) परिहारविशुद्धि चारित्र जिसमें तप विशेष द्वारा आत्म-शुद्धि की जाती है, उसे परिहारविशुद्धि चारित्र कहते हैं । विशेष तपस्या से विशुद्ध होना इस चारित्र की विशेषता है ।

(५६) सूक्ष्मसपराय चारित्र जिस चारित्र मे मात्र सूक्ष्मसपराय—लोभ-कषाय का उदय होता है, उसे सूक्ष्मसम्पराय चारित्र कहते हैं ।

(५७) यथाख्यात चारित्र जिस चारित्र मे कषाय के सर्वथा उपशम अथवा क्षय होने से वीतराग भाव की प्राप्ति होती है, उसे यथाख्यात चारित्र कहते हैं ।

पाँचो चारित्र सवर हैं क्योंकि उनमे सर्व सावद्य व्यापार का प्रत्याख्यान रहता है । स्वामीजी ने भी पांचो चारित्रो को सवर माना है ।

१—बावन बोल को थोकडो बोल ५०

३—सम्यक्त्वादि बीस संवर एवं उनकी परिभाषाएँ (गा० १,२,५,१०,१३) :

नीचे सम्यक्त्व आदि बीस आस्रवो की परिभाषाएँ दी जा रही हैं। इनका आधार प्रस्तुत ढाल तो है ही साथ ही स्वामीजी की अन्य कृति 'टीकम डोसी की चर्चा' भी है। बीस सवरो की परिभाषाएँ क्रमश इस प्रकार हैं :

(१) सम्यक्त्व सवर (गा० १)

यह मिथ्यात्व आस्रव का प्रतिपक्षी है। स्वामीजी ने इसकी परिभाषा देते हुए उसके दो अङ्ग बतलाए हैं (क) नौ पदार्थों में यथातथ्य श्रद्धान और (ख) विपरीत श्रद्धा का त्याग ।

(२) विरति संवर (गा० २)

यह अविरति आस्रव का प्रतिपक्षी है। सावद्य कार्यों का तीन करण और तीन योग से जीवनपर्यन्त के लिए प्रत्याख्यान करना सर्व विरति सवर है। अंश-त्याग देश विरति सवर है।

(३) अप्रमाद सवर

यह तीसरे प्रमाद आस्रव का प्रतिपक्षी है। प्रमाद का सेवन न करना अप्रमाद सवर है[1]। प्रमाद का अर्थ अनुत्साह है। आत्म-स्थित अनुत्साह का क्षय हो जाना अप्रमाद सवर है।

(४) अकषाय सवर

यह कषाय आस्रव का प्रतिपक्षी है। कषाय न करना अकषाय सवर है[2]। कषाय का अर्थ है—आत्म-प्रदेशो का क्रोध-मान-माया-लोभ से मलीन रहना। कषाय का क्षय हो जाना अकषाय सवर है।

(५) अयोग सवर (गा० ५,१२)

यह योग आस्रव का प्रतिपक्षी है। योग दो तरह के होते हैं—सावद्य और निरवद्य। दोनो का सर्वत निरोध योग सवर है। सावद्य योगो का आंशिक या सार्वत्रिक त्याग अयोग सवर नही। यह विरति सवर है। सावद्य-निरवद्य सर्व प्रवृत्तियों का निरोध अयोग सवर है।

१—टीकम डोसी की चर्चा

प्रमाद न सेवे तेहिज अप्रमाद सवर।

२—टीकम डोसी की चर्चा

कषाय न करे तेहिज अकषाय सवर।

(६) प्राणातिपात विरमण संवर (गा० १०)

प्राणातिपात विरमण संवर प्राणातिपात आस्रव का प्रतिपक्षी है। हिंसा करने का त्याग करना अप्राणातिपात संवर है।

(७) मृषावाद विरमण संवर (गा० १०)

यह मृषावाद आस्रव का प्रतिपक्षी है। झूठ बोलने का त्याग करना अमृषावाद संवर है।

(८) अदत्तादान विरमण संवर (गा० १०)

यह अदत्तादान आस्रव का प्रतिपक्षी है। चोरी करने का त्याग करना अदत्तादान संवर है।

(९) मैथुन विरमण संवर (गा० १०)

यह मैथुन आस्रव का प्रतिपक्षी है। मैथुन-सेवन का त्याग करना अमैथुन संवर है।

(१०) परिग्रह विरमण संवर (गा० १०)

यह परिग्रह आस्रव का प्रतिपक्षी है। परिग्रह और ममत्वभाव का त्याग अपरिग्रह संवर है।

(११) श्रोत्रेन्द्रिय संवर (गा० ११)

यह श्रोत्रेन्द्रिय आस्रव का प्रतिपक्षी है। [illegible] में राग-द्वेष करना श्रोत्रेन्द्रिय आस्रव है। प्रत्याख्यान द्वारा श्रोत्रेन्द्रिय को वश में करना, [illegible] में राग-द्वेष न करना श्रोत्रेन्द्रिय संवर है।

(१२) चक्षुरिन्द्रिय संवर (गा० ११)

यह चक्षुरिन्द्रिय आस्रव का प्रतिपक्षी है। प्रत्याख्यान द्वारा चक्षुरिन्द्रिय को वश में करना, अच्छे बुरे रूपों में राग द्वेष न करना चक्षुरिन्द्रिय संवर है।

(१३) घ्राणेन्द्रिय संवर (गा० ११)

यह घ्राणेन्द्रिय आस्रव का प्रतिपक्षी है। सुगन्ध-दुर्गन्ध में राग-द्वेष करना घ्राणेन्द्रिय आस्रव है। प्रत्याख्यान द्वारा घ्राणेन्द्रिय को वश में करना [illegible] राग-द्वेष न करना घ्राणेन्द्रिय संवर है।

(१४) रसनेन्द्रिय संवर (गा० ११)

यह रसनेन्द्रिय आस्रव का प्रतिपक्षी है। सुस्वाद कुस्वाद में [illegible]

न्द्रिय आस्रव है। प्रत्याख्यान द्वारा रसनेन्द्रिय को वश में करना, स्वादों में राग-द्वेष न करना रसनेन्द्रिय संवर है।

(१५) स्पर्शनेन्द्रिय संवर (गा० ११) :

यह स्पर्शनेन्द्रिय आस्रव का प्रतिपक्षी है। भले-बुरे स्पर्शों में राग-द्वेष न करना स्पर्शनेन्द्रिय आस्रव है। प्रत्याख्यानपूर्वक स्पर्शनेन्द्रिय को वश में करना, स्पर्शों में राग-द्वेष न करना स्पर्शनेन्द्रिय संवर है।

(१६) मन संवर (गा० १२)

यह मनयोग आस्रव का प्रतिपक्षी है। अच्छे-बुरे मनोयोगों का सम्पूर्ण निरोध मन संवर है।

(१७) वचन संवर (गा० १२)

यह वचनयोग आस्रव का प्रतिपक्षी है। शुभाशुभ दोनों प्रकार के वचनों का सम्पूर्ण निरोध वचन संवर है।

(१८) काय संवर (गा० १२)

यह काययोग आस्रव का प्रतिपक्षी है। शुभाशुभ दोनों प्रकार के कार्यों का सम्पूर्ण निरोध काय संवर है।

(१९) भंडोपकरण संवर (गा० १३)

यह भंडोपकरण आस्रव का प्रतिपक्षी है। त्यागपूर्वक भंडोपकरणों का सेवन न करना भंडोपकरण संवर है। मुनि के लिए उनमें ममत्व न करना अथवा उनमें अयतना न करना संवर है।

(२०) सूची-कुशाग्र संवर (गा० १३)

यह सूची-कुशाग्र आस्रव का प्रतिपक्षी है। त्यागपूर्वक सूची-कुशाग्र का सेवन न करना सूची-कुशाग्र संवर है। मुनि के लिए उनमें ममत्व न करना अथवा उनमें अयतना न करना संवर है।

टीकम डोसी ने स्वामीजी से चर्चा करते हुए कहा था—"संवर दो तरह के होते हैं—(१) निवर्तक और (२) प्रवर्तक। अप्रमाद में प्रवृत्ति, अकषाय में प्रवृत्ति, शुभ योगों में प्रवृत्ति, दया में प्रवृत्ति, सत्य में प्रवृत्ति, दत्तग्रहण में प्रवृत्ति, शील में प्रवृत्ति, अपरिग्रह में प्रवृत्ति, पाँचों इन्द्रियों की शुभ प्रवृत्ति, मन-वचन-काय की भली प्रवृत्ति आदि सब प्रवर्तक संवर हैं[1]।"

१—टीकम डोसी की चर्चा।

स्वामीजी का इनसे मतभेद रहा। उन्होंने लिखा है—"संवर निरोध लक्षणात्मक है, वह प्रवर्तक नहीं हो सकता। कषायरहित प्रवृत्ति, प्रमादरहित प्रवृत्ति, शुभ योग, मन-वचन काय की शुभ प्रवृत्ति, दया में प्रवृत्ति, सत्य में प्रवृत्ति, दत्तग्रहण में प्रवृत्ति, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह में प्रवृत्ति, पाँचों इन्द्रियों की भली प्रवृत्ति आदि-आदि प्रवृत्तियाँ निर्जरा की करनी हैं। इनसे निर्जरा होती है, इनमें संवर का अंश भी नहीं। संवर तो उसी पदार्थ को कहा जाता है जो आते हुए नए कर्मों को रोकता है। आस्रव उस पदार्थ को कहते हैं जो नए कर्मों को ग्रहण करता है। निर्जरा उस पदार्थ को कहते हैं जो बंधे हुए कर्मों को तोड़ता है। इनके भिन्न भिन्न लक्षणों से वस्तु का निर्णय करना चाहिए। संवर में शुभ प्रवृत्तियों का समावेश नहीं होता[1]।"

४—सम्यक्त्व आदि पाँच संवर और प्रत्याख्यान का सम्बन्ध (गा० ३-६) :

इन गाथाओं में स्वामीजी ने संवर कैसे उत्पन्न होते हैं, इसपर प्रकाश डालते हुए दो बातें कही हैं :

(१) सम्यक्त्व संवर और सर्व विरति संवर प्रत्याख्यान से निष्पन्न होते हैं।

(२) अप्रमाद, अकषाय और अयोग संवर कर्म क्षय से निष्पन्न होते हैं।

नीचे इनका क्रमशः स्पष्टीकरण किया जा रहा है :

१ (क) सम्यक्त्व संवर : निर्ग्रन्थ प्रवचन में हड्डी और मज्जा की तरह प्रेमानुराग होना श्रद्धा है। जिनप्ररूपित तत्त्वों में शङ्कारहित, कांक्षारहित, विचिकित्सारहित श्रद्धा, रुचि प्रतीति को सम्यग्दर्शन अथवा सम्यक्त्व कहते हैं। निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य है, अनुत्तर है, केवलज्ञानी द्वारा कहा हुआ है, प्रतिपूर्ण है, मोक्ष की प्राप्ति करानेवाला है, शुद्ध है, शल्य का नाश करनेवाला है, सिद्धि-मार्ग है, मुक्ति मार्ग है, निर्याण मार्ग है और निर्वाण का मार्ग है। यही सत्य है, यही परमार्थ है, शेष सब अनर्थ है—ऐसी दृढ़ प्रतीति सम्यक्त्व है। ऐसे सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाने पर भी सम्यक्त्व संवर नहीं होता। सम्यक्त्व संवर तब होता है जब मिथ्यात्व का त्याग किया जाता है। विपरीत श्रद्धा का त्याग ही सम्यक्त्व संवर है। इस तरह सम्यक्त्व संवर की निष्पत्ति प्रत्याख्यान से होती है।

इसे इस प्रकार समझा जा सकता है—सिद्धो में सम्यक्त्व होने पर भी सम्यक्त्व सवर क्यो नही है ? जैसे त्याग न होने से उनमें सम्यक्त्व सवर नही, वैसे ही दूसरे और चौथे गुण-स्थान मे सम्यक्त्व होने पर भी त्याग के अभाव में सम्यक्त्व सवर नही होता[1] ।"

(ख) सर्व विरति सवर

भगवान महावीर ने कहा है—"जो प्राणी असयत, अविरत और अप्रतिहतप्रत्याख्यात पापकर्मा होता है, वह सक्रिय, असवृत्त, एकान्तदण्ड देनेवाला, एकान्तबाल, एकान्तसुप्त होता है । ऐसा मनुष्य मन, वचन और काय से पाप करने का विचार भी न करे, वह पाप-पूर्ण स्वप्न भी न देखे तो भी वह पाप-कर्म करता है ।

"जो आत्मा पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय तक के प्राणियो के प्रति असयत, अविरत और अप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा होता है, वह सदा निष्ठुर और प्राणीघात मे चित्त वाला होता है । इसी प्रकार प्राणातिपात यावत् परिग्रह, क्रोध यावत् मिथ्यादर्शनशल्य में चित्तवाला होता है । वह पाप न भी करे, पापपूर्ण स्वप्न भी न देखे तो भी पाप-कर्म करनेवाला है क्योकि ऐसा मनुष्य दिन मे, रात मे, सोते, जागते, सदा अमित्र होता है, मिथ्यासस्थित होता है, नित्य शठ व्यवहारवाला और घात में चित्तवाला होता है । वह सर्व प्राणी, सर्व सत्त्व का रात और दिन, सोते और जागते सदा वैरी बना रहता है । वह अठारह पापो में विद्यमान रहता है । इसलिए मन, वचन और काय से पाप करने का न सोचे, पाप न करे यहाँ तक कि पापपूर्ण स्वप्न भी न देखे तो भी वह पाप करता है[2] ।"

अविरति भाव-शस्त्र है । जैसे बारूद, आग का सयोग मिलते ही, भडक उठता है वैसे ही स्वच्छन्द इच्छाएँ सयोग मिलते ही पाप में प्रवृत्त हो जाती हैं । इच्छाओ को अनियन्त्रित

१—झीणी चर्चा ढा० ६

पहिले गुणठाणे आश्रव बीस, दूजे भेद कह्या उगणीस ।
टलियो मिथ्यात्व तमीस रे ॥१॥
तीजे बीस चौथे उगणीस, यां पिण टलियो मिथ्यात तमीस ।
च्यार सम्यक्त सवर जगीस रे ॥२॥
हिवे सवर नां भेद बीस, पहिला च्यार गुणठाण न दीस ।
आवता कर्म नहीं रुकीस रे ॥२३॥
बीजे चौथे सम्यक्त पाय, पिण मिथ्यात त्यागा विन ताहि ।
सवर कहीजे नांहि रे ॥२४॥
कोई कहे चोथो गुणस्थान, सम्यक्त तो अधिक प्रधान ।
तो सम्यक्त सवर क्यू नहीं जाण रे ॥२६॥
सिद्धा माहि पिण सम्यक्त भावे, विण त्याग सवर नहीं थावे ।
तिम चौथे गुणठाणे न पावे रे ॥२७॥

२—सूयगड २ ४

अयोग सवर के सम्बन्ध मे श्री जयाचार्य लिखते हैं

"छठे गुणस्थान मे अठारह आस्रव होते हैं। मिथ्यात्व आस्रव और अविरति आस्रव नही होते। भगवती सूत्र मे इस गुणस्थान में दो क्रियाएँ कही हैं—(१) माया-प्रत्यया क्रिया। यह कषाय है। (२) आरम्भ-प्रत्यया क्रिया। यह अशुभ योग है। सातवें गुणस्थान मे भी पाँच आस्रव होते हैं—कषाय आस्रव, योग आस्रव, मन आस्रव, वचन आस्रव और काय आस्रव। इस गुणस्थान में माया-प्रत्यया क्रिया होती है। अशुभ योगरूप आरम्भिका क्रिया नही होती। आठवे, नौवें और दसवे गुणस्थान मे भी सातवे गुणस्थानवर्ती पाँचो आस्रव पाये जाते हैं। दो क्रियाएँ होती हैं—माया-प्रत्यया और साम्परायिकी। ग्यारहवें गुणस्थान में चार आस्रव होते हैं—शुभ योग, शुभ मन, शुभ वचन और शुभ काय। बारहवें-तेरहवें गुणस्थान में भी ये ही चार आस्रव होते हैं। चौदहवें गुणस्थान मे कोई आस्रव नही होता—अयोग सवर होता है[1]।"

इससे भी स्पष्ट है कि सर्व सावद्य योगो का प्रत्याख्यान छठे गुणस्थान मे कर लेने पर भी योग आस्रव नही मिटता। वह तेरहवें गुणस्थान तक रहता है।

१—झीणी चर्चा ढा० ६

छठे आश्रव कह्या अठार, टलियो मिथ्यात अव्रत धार।
क्रिया दोय कही जगतार रे ॥ ४ ॥
मायावतिया कषाय नी ताहि, आरभिया अशुभ जोग कहिवाय।
भगवती पहिला शतक माहि रे ॥ ५ ॥
सातमा गुणठाणा माहि, पच आश्रव भेदज पाय।
कषाय जोग मन वच काय रे ॥ ६ ॥
मायावतिया क्रिया तिहा होय, आरभिया अशुभ जोग न कोय।
ए पिण पाठ भगोती मे जोय रे ॥ ७ ॥
अष्टम नवमा दशमां रे मांहि, पच आश्रव तेहिज पाय।
क्रिया मायावतिया सपराय रे ॥ ८ ॥
इग्यारमें हे आश्रव च्यार, जोग मन वच काय उदार।
अशुभ आश्रव ना परिहार रे ॥ ९ ॥
बारमें तेरमें पिण च्यार, जोग मन वच काय उदार।
चवदमें नहीं आश्रव लिगार रे ॥ १० ॥

आस्रव (जो प्रत्याख्यान से उत्पन्न होते हैं) भी कर्म के घटने से घटते हैं। कर्म घटे विना ये भी घटाये नही जा सकते फिर प्रमाद आस्रव, कषाय आस्रव और योग आस्रव की तो बात ही क्या[1] ?'

इससे स्पष्ट है कि अप्रमाद सवर, अकषाय सवर और अयोग सवर की उत्पत्ति प्रत्याख्यान से नही होती, अपितु कर्मों के क्षय और क्षयोपशम से होती है।

५—अन्तिम पद्रह सवर विरति सवर के भेद क्यो ?(गा० १०-१५) :

टिप्पणी क्रमाङ्क तीन में वीस सवरो का विवेचन है। स्वामीजी यहाँ कहते हैं—"वीस सवरो मे प्रथम पाँच—सम्यक्त्व सवर, विरति सवर, अप्रमाद सवर, अकषाय सवर और योग सवर—ही प्रधान हैं। प्राणातिपात सवर से लेकर सूची-कुशाग्र सवर तक का समावेश विरति सवर मे होता है। ये विरति सवर के भेद हैं। इन पद्रह भेदो में प्रत्याख्यान—त्याग की अपेक्षा रहती है।

प्राणातिपात से लेकर सूची-कुशाग्र-सेवन तक पद्रह आस्रव योगास्रव हैं। इन अशुभ योगास्रवो के प्रत्याख्यान से विरति सवर होता है। मन-वचन-काय के शुभ योग अवशेष रहते हैं। उनका सर्वथा निरोध होने पर अयोग सवर होता है।

यहाँ प्रश्न उठता है—प्राणातिपात आदि पन्द्रह आस्रव योगास्रव के भेद हैं तो फिर प्राणातिपात विरमण आदि पद्रह सवर अयोग सवर के भेद न होकर विरति सवर के भेद क्यो ?

इसका उत्तर यह है—अविरति आस्रव के आधार प्राणातिपातादि अठारह पाप हैं। पद्रह आस्रव इन्ही पापो मे समाविष्ट हैं। पापकारी प्रवृत्तियो का त्याग न होना ही अविरति आस्रव है।

उधर पद्रह आस्रव प्रवृत्तिरूप हैं। मन-वचन-काय-योग की असत् प्रवृत्ति से ही प्राणातिपात आदि किये जाते हैं। प्रवृत्ति योग आस्रव का लक्षण है अतएव पद्रह आस्रव योगास्रव मे समाविष्ट हो जाते हैं।

इन पद्रह आस्रवो का प्रत्याख्यान करने से अत्याग-भावनारूप अविरति आस्रव का निरोध होता है, विरति सवर होता है, क्योकि पापकारी वृत्तियाँ ही अविरति आस्रव हैं और उनका प्रत्याख्यान ही विरति सवर है।

अब प्रश्न यह रहा कि इनके प्रत्याख्यान से अयोग सवर क्यो नही होता ? इसका उत्तर यह है कि यौगिक प्रवृत्ति दो प्रकार की है—शुभ और अशुभ। अयोग सवर

१—टीकम डोसी की चर्चा

"आगम मे कपाय-प्रत्याख्यान और योग-प्रत्याख्यान का उल्लेख भी स्पष्ट रूप से प्राप्त है। यदि कपाय और योग के प्रत्याख्यान से अकपाय और अयोग सवर नही होते तो कपाय-प्रत्याख्यान और योग-प्रत्याख्यान का उल्लेख ही क्यो आता ? उत्तराध्ययन मे निम्नोक्त दो प्रश्नोत्तर प्राप्त हैं

(१) 'हे भन्ते ! कपाय प्रत्याख्यान से जीव को क्या होता है ?' 'कपाय-प्रत्याख्यान से जीव वीतराग भाव का उपार्जन करता है, जिससे जीव सुख-दु ख में समभाववाला होता है[1] ।'

(२) 'हे भगवन् ! योग प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है ?' 'योग-प्रत्याख्यान से जीव अयोगीत्व प्राप्त करता है। अयोगी जीव नए कर्मो का वन्ध नही करता और पूर्व सचित कर्मो की निर्जरा करता है[2] ।'

"इन प्रश्नोत्तरो से भी स्पष्ट है कि अकपाय और अयोग सवर भी प्रत्याख्यान से होते हैं। अप्रमाद सवर के विपय में भी यही वात लागू पडती है।"

इस प्रश्न का समाधान करते हुए स्वामीजी कहते हैं—"आगम में उपर्युक्त प्रत्याख्यान के साथ ही शरीर-प्रत्याख्यान का भी उलेख है[3]। पर जैसे शरीर का प्रत्याख्यान करने पर भी शरीर छटता नही, वैसे ही प्रमाद, कपाय और शुभ योगो का प्रत्याख्यान करने पर भी उनसे छुटकारा नही होता। शरीर-प्रत्याख्यान का अर्थ है शरीर के ममत्व का त्याग। वैसे ही कपाय प्रत्याख्यान और योग-प्रत्याख्यान का अर्थ है कपाय और योग के ममत्व का त्याग। जिस तरह शरीर-प्रत्याख्यान से शरीर-मुक्ति नही होती, वैसे ही कपाय-प्रत्याख्यान और योग-प्रत्याख्यान से कपाय आस्रव और योगास्रव से मुक्ति नही होती। उनसे अकपाय सवर अथवा अयोग सवर नही होते। अप्रमाद, कपाय और अयोग सवर तो तत्सम्वन्वी कर्मो के क्षय और उपशम से ही होते हैं[4]।"

१—उत्त० २६ ३६

कसायपच्चक्खाणेण भन्ते जीवे कि जणयइ॥ क० वीयरागभाव जणयइ। वीयराग भावपाडिवन्ने वि य ण जीवे समसुहदुक्खे भवइ॥

२—उत्त० २६ ३७

जोगपच्चक्खाणेण भन्ते जीवे किं जणयइ॥ जो० अजोगत्त जणयइ। अजोगी ण जीवे नव कम्म न वन्धइ पुव्वयद्ध निज्जरेइ॥

३—उत्त० २६ ३८

सरीरपच्चक्खाणेण भन्ते जीवे कि जणयइ॥ स० सिद्धाइसयगुणकित्तण निव्वत्तेइ। सिद्धाइसयगुणसपन्ने य ण जीवे लोगग्गमुवगए परमसुही भवइ॥

४—टीकम डोसी की चर्चा

(२) पाँच निर्ग्रन्थ सवरयुक्त हैं।

भगवती मे निर्ग्रन्थो का वर्णन इस प्रकार मिलता है

"निर्ग्रन्थ पाँच प्रकार के हैं—(१) पुलाक, (२) बकुश, (३) कुशील, (४) निर्ग्रन्थ और (५) स्नातक[१]।"

जो साधु सयमी होने तथा वीतराग-प्रणीत आगम से चलित न होने पर भी मूल उत्तरगुण में दोप लगाने से सयम को पुलाक—निस्सार धान के कण की तरह कुछ निस्सार करता है अथवा उसमे परिपूर्णता नही प्राप्त करता, उसे 'पुलाक निर्ग्रन्थ' कहते हैं।

जो साधु उत्तरगुण मे दोप लगाता है, शरीर और उपकरणो को सुशोभित रखने की चेष्टा मे प्रयत्नशील होता है, ऋद्धि और कीर्ति का इच्छुक होता है तथा अतिचारयुक्त होता है, उसे 'बकुश निर्ग्रन्थ' कहते हैं।

जिसका शील उत्तरगुण मे दोप लगने से अथवा सज्ज्वलन कपाय से कुत्सित हुआ हो, उसे 'कुशील निर्ग्रन्थ' कहते हैं।

जिसके कपाय क्षय को प्राप्त हो गए हो, वैसे—क्षीणकपाय अथवा जिसका मोह शान्त हो गया हो वैसे उपशान्तमोह मुनि को 'निर्ग्रन्थ' कहते हैं।

जो समस्त घाती कर्मों का प्रक्षालन कर स्नात—शुद्ध हो गया हो और जो सयोगी अथवा अयोगी केवली हो, उसे 'स्नातक निर्ग्रन्थ' कहते हैं।

स्वामीजी कहते हैं—पाँचो ही प्रकार के निर्ग्रन्थ सर्वविरति चारित्र मे अवस्थित हैं। चारित्र मोहनीयकर्म की क्षयोपशमादि जन्य विशेपता के कारण निर्ग्रन्थो के पुलाक आदि पाँच भेद हैं। पाँचो निर्ग्रन्थो में सयम है। सब सवरयुक्त हैं।

श्री जयाचार्य कहते हैं "छह निर्ग्रन्थ छठे से चौदहवें गुणस्थानो मे से भिन्न-भिन्न गुणस्थान में होते हैं। यदि कोई साधु नई दीक्षा आए वैसे दोप का सेवन करता है अथवा दोप की स्थापना करता है तभी छठा गुणस्थान लुप्त होता है। मासिक अथवा चौमासिक दण्ड से छठा गुणस्थान नही जाता। वह तो विपरीत श्रद्धा और स्थापना से तथा बडे दोप के सेवन से जाता है[१]।"

१—झीणी चर्चा ढाल २१

भगवती शतक पचीस में रे, छठे उदेसे जोय रे।
छे नेठा क्ह्या जुवा २ रे भाई २, छठा स्यु चवदमें जोय ॥३॥
नूइ दिख्या आवै जीसो रे, दोपण सेवै कोय रे।
अथवा थाप करै दोपनी रे भाई २, फिरै छठो गुणठाणो सोय ॥२०॥
मासी चउमासी डड थकी रे, छठो गुणठाणो नहीं फिरै कोय रे।
फिरै उधी श्रद्धा तथा थाप थी रे भाई २, तथा जबर दोप थी जोय ॥२१॥

एक बार गौतम के प्रश्न पर भगवान महावीर ने उत्तर मे कहा था—"पुलाक निर्ग्रन्थ सामायिक सयम और छेदोपस्थापनीय सयम मे होता है, पर परिहारविशुद्धिक और सूक्ष्मसपराय अथवा यथाख्यात सयम मे नही होता । यही बात बकुश निर्ग्रन्थ और प्रतिसेवनाकुशील निर्ग्रन्थ के सम्बन्ध मे समझनी चाहिए । कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ सामायिक सयम यावत् सूक्ष्मसम्पराय सयम मे होता है, पर यथाख्यात सयम में नही होता। निर्ग्रन्थ सामायिक यावत् सूक्ष्मसम्पराय सयम में नही होता, पर यथाख्यात सयम में होता है । स्नातक के विषय मे भी ऐसा ही समझना चाहिए[1] ।"

इन वार्त्ता से स्पष्ट है कि पाँचो ही निर्ग्रन्थ सवृतात्मा होते हैं—सवरयुक्त होते हैं।

८—सामायिक चारित्र (गा० १६-२०)

सूक्ष्मसपराय—ये चार चारित्र मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न भाव हैं अत क्षायोपशमिक हैं[1]।

स्वामीजी ने गा० १६-२० मे सामायिक चारित्र की उत्पत्ति का क्रम बडे सुन्दर ढग से उपस्थित किया है। सक्षेप मे वह इस प्रकार है

१—चारित्रावरणीय कर्म के क्षयोपशम से वैराग्य उत्पन्न होता है।

२—वैराग्योत्पत्ति से जीव काम-भोगो से विरक्त होता है।

३—काम-भोगो से विरक्त होने पर वह सावद्य कार्यों का त्याग—प्रत्याख्यान कर देता है।

४—सर्व सावद्य कार्यों के सर्वथा त्याग से सर्व विरति सवर होता है। यही सामायिक चारित्र है। सामायिक चारित्र मे सर्व सावद्य योगो का त्याग होने से सर्वविरत साधु के अविरति के पाप सर्वथा नही लगते। सामायिक चारित्र एकान्त गुणमय होता है।

६—औपशमिक चारित्र (गा० २१-२३) :

सर्व सावद्य योगो का त्याग कर सामायिक चारित्र ग्रहण कर लेने पर अविरति आस्रव का सर्वथा अभाव हो जाता है। पर मोहकर्म का उदय नही मिटता। अविरति के कर्म नही लगने पर भी मोहकर्म के उदय से सामायिक चारित्रवालो द्वारा भी ऐसे कर्तव्य हो जाते हैं जिनसे उनके भी पाप कर्म लगते रहते हैं। शुभ ध्यान और शुभ लेश्या से मोहकर्म का उदय घटता है तब उदयजनित सावद्य कर्तव्य भी कम हो जाते हैं। वैसी हालत मे उदय के कर्तव्यो के पाप भी कम लगते हैं। इस तरह मोहकर्म का उदय कम होते २ उसका सम्पूर्ण उपशम हो जाता है तब औपशमिक चारित्र उत्पन्न होता है। इसी कारण कहा है--सम्यक्त्व और चारित्र—ये दो औपशमिक भाव हैं[2]। मोहकर्म के उपशम से जीव निर्मल तथा शीतल हो जाता है और उसके पापकर्म नही लगते।

१—झीणी चर्चा १६ १६

मोह कर्म क्षयोपशम थकी लहै रे, देशवरत चिहुं चारित्र देख रे।
ए पांचूई निरवद्य करणी लेखै कह्या रे, त्रिदृष्टी उज्वल निरवद्य देख रे॥

२—(क) तत्त्वा० २ ३ भाष्य :

सम्यक्त्व चारित्र च द्वावौपशमिकौ भावौ भवत इति।

(ख) झीणी चर्चा १६ १०

उपशम मोहकर्म पुद्‌गल छ रे, उपशम निपन्न जीव पवित्र रे।
उपशम निपन्न रा दोय भेद छै, उपशम समकित उपशम चारित्र रे॥

जैसे जल को स्वच्छ करने की प्रक्रिया मे कतक (फिटकरी) आदि द्रव्यो के सम्बन्ध से जल मे पक नीचे बैठ जाता है और जल गँदला नहीं रहता उसी प्रकार जीव के बंधे हुए कर्म भी निमित्त पाकर उपशमित हो जाते हैं। कर्म की स्वशक्ति का किसी कारण से प्रकट न होना उपशम कहलाता है[1]। कर्मों के उपशम से जीव में जो भाव उत्पन्न होते हैं, उन्हें औपशमिक भाव कहते हैं। औपशमिक चारित्र समस्त मोहनीयकर्म के उपशम से उत्पन्न होता है[2]। अत अपने इस निमित्त के अनुसार औपशमिक चारित्र कहलाता है।

यथाख्यात चारित्र औपशमिक चारित्र है।

१०—यथाख्यात चारित्र (गा०२४) :

सपक जल को कतक आदि से स्वच्छ करने की प्रक्रिया मे एक स्थिति ऐसी आती है जब सारा पक नीचे बैठ जाता है। अब यदि निर्मल जल को दूसरे बर्तन मे डाल दिया जाय तो उसमें पक की सत्ता भी नहीं पाई जाती। इसी प्रकार जब जीव बंधे हुए कर्मों का सर्वथा क्षय कर देता है तब क्षायिक अवस्था उत्पन्न होती है[3]। क्षायिक अवस्था मे जीव मे जो भाव उत्पन्न होते हैं, उन्हें क्षायिकभाव कहते हैं।

यह यथाख्यात चारित्र चारित्र-मोहनीयकर्म के सर्वथा क्षय से उत्पन्न होता है, अतः क्षायिक चारित्र कहलाता है[4]।

चारित्र मे उस की सत्ता भी नही रहती। औपशमिक चारित्र की स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होती है जब कि क्षायिक चारित्र की उत्कृष्ट स्थिति देशन्यून करोड पूर्वो की और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की होती है।

यथाख्यात चारित्र औपशमिक और क्षायिक दोनो प्रकार का होता है।

११—क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक चारित्रो की तुलना (गा० २५-२७) :

सामायिक चारित्र, छेदोपस्थापनीय चारित्र, परिहारविशुद्धिक चारित्र और सूक्ष्म-सपराय चारित्र—ये क्षायोपशमिक चारित्र हैं और यथाख्यात चारित्र औपशमिक तथा क्षायिक।

सामायिक चारित्र, छेदोपस्थापनीय चारित्र और परिहारविशुद्धिक चारित्र इच्छाकृत होते हैं। उनमें से प्रथम दो मे सर्व सावद्य योगो का त्याग किया जाता है। तीसरे में विशिष्ट तप किया जाता है। सूक्ष्मसपराय चारित्र और यथाख्यात चारित्र इच्छाकृत नही होते, न उनमे सावद्य योगो के त्याग ही करने पडते हैं। वे आत्मिक निर्मलता की स्वाभाविक स्थितिस्वरूप है। यथाख्यात चारित्र मोहनीयकर्म के उपशम अथवा क्षय से उत्पन्न होता है। सामायिक आदि चार चारित्र मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न भाव हैं। ये उपशम अथवा क्षायिक भाव नही।

सामायिक चारित्र छठे से नवें गुणस्थान में, औपशमिक यथाख्यात चारित्र ग्यारहवें गुणस्थान मे और क्षायिक यथाख्यात चारित्र बारहवें, तेरहवें तथा चौदहवें गुणस्थान मे होता है [1]।

१२—सर्वविरति चारित्र एवं यथाख्यात चारित्र की उत्पत्ति (गा० २८-३२) :

स्वामीजी ने चारित्र को जीव का स्वाभाविक गुण कहा है उसका आधार आगम की निम्न गाथा है

१—झीणी चर्चा १२ ७-८

चारित्र मोह नों उदै कहीजे, पहला सू ले दशमा लग जाण।
चारित्र मोह रो सर्वथा उपशम छै० एक एकादश में गुणठाण॥
चारित्र मोह तणो क्षायक कहीजे, बारमें तेरमें चवदमें होय।
चारित्र मोह तणो क्षयोपशम, पहला सू ले दशमा लग जोय॥

नाण च दसण चेव चरित्त च तवो तहा ।
वीरिय उवओगो य एय जीवस्स लक्खण[1] ॥

चारित्र जीव का स्वाभाविक गुण है अत वह जीव से पृथक् नहीं किया जा सकता। पर वह चारित्रावरणीय कर्म के प्रभाव से ढक जाता है। जब मोहनीयकर्म घटता है तब चारित्र गुण प्रकट होता है और मनुष्य सामायिक चारित्र ग्रहण कर गुण-सम्पन्न होता है। चारित्रावरणीय कर्म मोहनीयकर्म का ही एक भेद है। उसके अनन्त प्रदेश होते हैं। उसके उदय से जीव के स्वाभाविक गुण विकृत हो जाते हैं और इससे जीव को अनेक तरह के क्लेश प्राप्त होते हैं। जब चारित्रावरणीय कर्म के अनन्त प्रदेश अलग होते हैं तो जीव अनन्तगुना उज्ज्वल हो जाता है। ऐसी स्थिति में वह सावद्य योग का सर्वथा त्याग—प्रत्याख्यान करता है। यही सर्वविरति सवर है।

मोहनीयकर्म के प्रदेशो के दूर होने से दो बातें होती हैं—(१) जीव के प्रदेशों से कर्म झडते हैं—वह उज्ज्वल होता है। यह निर्जरा है। (२) सर्वविरति सवर होता है। नये कर्म नही बधते।

सर्वविरति सवर की विशेषता यह है कि उसके द्वारा सावद्य योगो की अविरति का सम्पूर्ण अवरोध हो जाने से नये कर्मों का आना रुक जाता है।

मोहनीयकर्म क्षीण होते-होते अन्त में सम्पूर्ण क्षय को प्राप्त होता है अब जीव अत्यन्त स्वच्छ होता है और उसे यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति होती है। यथाख्यात चारित्र मोहनीयकर्म के सर्वथा क्षय से उत्पन्न भाव है और सर्वोत्कृष्ट उज्ज्वल चारित्र है।

१३—सयम-स्थान और चारित्र-पर्यव (गा० ३३-४३) :

सयम (चारित्र) की शुद्धि-अशुद्धि के तारतम्य की अपेक्षा से उसके अनेक भेद होते हैं। चारित्र मोहनीयकर्म का क्षयोपशम एक-सा नहीं होता। वह विविध मात्राओं मे होता है। और इसी कारण सयम अथवा चारित्र के असख्यात पर्यव-भेद अथवा स्थानक होते हैं। स्वामीजी ने सयतो के सयम-स्थान और चारित्र-पर्यवो के विषय मे जो प्रकाश गा० ३३-४३ मे डाला है उसका आधार भगवती सूत्र है।

पाँच सयतो के सयम-स्थानो के विषय मे उक्त सूत्र मे निम्नलिखित वार्तालाप है

"हे भगवन् ! सामायिक सयत के कितने सयम-स्थान कहे गए हैं ?"

१—उत्त० २८ ११

"हे गौतम ! असख्य सयम-स्थान कहे गए हैं। इसी प्रमाण यावत् परिहारविशुद्धिक-सयत तक जानने चाहिए।"

"हे भगवन् ! सूक्ष्मसपराय सयत के कितने सयम-स्थान कहे गए हैं ?"

"हे गौतम ! उसके अन्तर्मुहूर्त वाले असख्य सयम-स्थान कहे गए है"

"हे भगवन् ! यथाख्यात सयत के कितने सयम-स्थान कहे गए हैं ?"

"हे गौतम ! उसका अजघन्य और अनुत्कृष्ट एक सयम-स्थान कहा गया है।"

"हे भगवन् ! सामायिक सयत, छेदोपस्थापनीय सयत, परिहारविशुद्धिक सयत, सूक्ष्मसपराय सयत और यथाख्यात सयत—इनके सयम-स्थानो में किसके सयम-स्थान किस से विशेपाधिक हैं ?"

"हे गौतम ! यथाख्यात सयत का अजघन्य और अनुत्कृष्ट एक सयम-स्थान होने से सबसे अल्प है। उनसे सूक्ष्मसपराय सयत के अन्तर्मुहूर्त तक रहनेवाले सयम स्थान असख्यगुना हैं। उनसे परिहारविशुद्धिक के सयम स्थान असख्यगुना हैं। उससे सामायिक सयत और छेदोपस्थापनीय सयत के सयम-स्थान असख्यगुना हैं और परस्पर समान हैं[१]।"

चारित्र-पर्यवो के विषय में निम्नलिखित सवाद मिलता है

"हे भगवन् ! सामायिक सयत के कितने चारित्र-पर्यव कहे गये हैं ?"

"हे गौतम ! उसके अनन्त चारित्र-पर्यव कहे गये हैं। इसी प्रकार यथाख्यात सयत तक जानना चाहिए।"

"हे भगवन् ! सामायिक सयत दूसरे सामायिक सयत के सजातीय चारित्रपर्यवो की अपेक्षा हीन होता है, तुल्य होता है या अधिक होता है ?"

"हे गौतम ! कदाचित् हीन होता है, कदाचित् तुल्य होता है और कदाचित् अधिक। और हीनाधिकत्व मे छह स्थान पतित होता है।"

"हे भगवन् ! एक सामायिक सयत छेदोपस्थापनीय सयत के विजातीय चारित्रपर्यवो के सम्बन्ध की अपेक्षा मे क्या हीन होता है ?"

"हे गौतम ! कदाचित् हीन होता है, इत्यादि छह स्थान पतित होता है। इसी प्रकार परिहारविशुद्धिक सयत के सम्बन्ध मे भी जानना चाहिए।"

"हे भगवन् ! एक सामायिक सयत सूक्ष्मसपराय सयत के विजातीय चारित्रपर्यवो की अपेक्षा क्या हीन होता है ?"

१—भगवती २५ ७

"हे गौतम ! हीन होता है, तुल्य नहीं होता, न अधिक होता है। अनन्तगुना हीन होता है। इसी प्रकार यथाख्यात सयत के सम्बन्ध मे भी जानना चाहिए। इसी प्रकार छेदोपस्थापनीय भी नीचे के तीन चारित्र की अपेक्षा छह स्थान पतित होता है और ऊपर के दो चारित्र से उसी प्रकार अनन्तगुना हीन होता है। जिस प्रकार छेदोपस्थापनीय सयत के सम्बन्ध मे कहा है उसी प्रकार परिहारविशुद्धिक के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए।"

"हे भगवन् ! सूक्ष्मसपराय सयत सामायिक सयत के विजातीय पर्यवो की अपेक्षा क्या हीन है ?"

"हे गौतम ! वह हीन नही, तुल्य नही, पर अधिक है और अनन्तगुना अधिक है। इसी प्रकार छेदोपस्थापनीय और परिहारविशुद्धिक के सम्बन्ध मे भी समझना चाहिए। अपने सजातीय पर्यवो की अपेक्षा कदाचित् हीन होता है, कदाचित् तुल्य होता है और कदाचित् अधिक होता है। हीन होने पर अनन्तगुना हीन होता है और अधिक होने पर अनन्तगुना अधिक होता है।"

"हे भगवन् ! सूक्ष्मसपराय सयत यथाख्यात सयत के विजातीय चारित्रपर्यवो की अपेक्षा क्या हीन होता है ?"

"हे गौतम ! वे हीन हैं, तुल्य नही, अधिक नही। वे अनन्तगुना हीन हैं। यथाख्यात सयत नीचे के चारो की अपेक्षा हीन नही, तुल्य नही, पर अधिक है और वह अनन्तगुना अधिक है। अपने स्थान मे हीन और अधिक नही, पर तुल्य है।"

"हे भगवन् ! सामायिक सयत, छेदोपस्थापनीय सयत, परिहारविशुद्धिक सयत, सूक्ष्मसपराय सयत और यथाख्यात सयत इनके जघन्य और उत्कृष्ट चारित्रपर्यवो में कौन किससे विशेषाधिक है ?।"

"हे गौतम ! सामायिक सयत और छेदोपस्थापनीय सयत—इन दो के जघन्य चारित्र पर्यव परस्पर तुल्य और सबसे थोडे हैं। उससे परिहारविशुद्धिक सयत के जघन्य चारित्र पर्यव अनन्तगुना हैं और उससे उसी के उत्कृष्ट चारित्रपर्यव अनन्तगुना हैं। उससे सामायिक सयत और छेदोपस्थापनीय सयत के उत्कृष्ट चारित्रपर्यव अनन्तगुना और परस्पर तुल्य हैं। उससे सूक्ष्म सपराय सयत के जघन्य चारित्रपर्यव अनन्तगुना हैं और उससे उसके ही उत्कृष्ट चारित्रपर्यव अनन्तगुना हैं। और उससे यथाख्यात सयत के अजघन्य और अनुत्कृष्ट चारित्रपर्यव अनन्तगुना हैं[1]।"

१—भगवती २५ ७

१४—योग-निरोध और फल (गा० ४६-५४) :

योग दो तरह के होते हैं—सावद्य और निरवद्य। इनके निरोध से क्या फल होता है, इसका विवेचन उक्त गाथाओ मे है।

प्रत्याख्यान द्वारा सावद्य योगो के निरोध से विरति सवर होता है। निरवद्य योगो के रूँधने से सवर होता है। मन-वचन-काय के निरवद्य योग घटने से सवर होता है और सर्व योगो के सर्वथा क्षय से अयोग सवर होता है।

साधु का कल्पनीय वस्तुओ का आहार करना निरवद्य योग है। श्रावक का आहार करना सावद्य योग है। जब साधु कर्म-निर्जरा के लिये आहारादि का त्यागकर उपवास आदि तप करता है तब तप के साथ निरवद्य योग के रूँधने से सहचर सवर होता है। जब श्रावक कर्म-निर्जरा के लिए आहार-त्याग कर उपवास आदि तप करता है तब तप के साथ सावद्य योग के निरोध से सहचररूप से विरति सवर होता है। श्रावक पुद्गलो का उपभोग करता है, वह सावद्य योग—व्यापार है। इसके त्याग से विरति सवर होता है और साथ ही तप—निर्जरा भी होती है। साधु कल्प्य-पुद्गलो के भोग का त्याग करता है तब तपस्या होती है तथा निरवद्य योग के निरोध से सवर होता है।

साधु का चलना, बैठना, बोलना आदि सारी क्रियाएँ निरवद्य योग हैं। इन निरवद्य योगो का जितना-जितना निरोध किया जाता है उतना-उतना सवर होता है साथ ही तप भी होता है। श्रावक का चलना, बैठना, बोलना आदि क्रियाएँ सावद्य-निरवद्य दोनो प्रकार की होती हैं। सावद्य के त्याग से विरति सवर होता है। निरवद्य के त्याग से सवर होता है।

चारित्र विरति सवर है। वह अविरति के त्याग से उत्पन्न होता है। अयोग सवर शुभ योग के निरोध से होता है।

१५—सवर भाव जीव है (गा० ५५) :

जीव के दो भेद हैं—द्रव्य-जीव और भाव-जीव। चैतन्य गुणयुक्त पदार्थ द्रव्य-जीव है। उसके पर्याय भाव-जीव हैं।

भगवती सूत्र में आठ आत्माएँ कही हैं—द्रव्य-आत्मा, कषाय-आत्मा, योग आत्मा, उपयोग आत्मा, ज्ञान-आत्मा, दर्शन-आत्मा, चारित्र-आत्मा और वीर्य-आत्मा[1]। ये

१—पाठ के लिए देखिये पृ० ४०५ टि० २४

"हे गौतम ! हीन होता है, तुल्य नहीं होता, न अधिक होता है। अनन्तगुना हीन होता है। इसी प्रकार यथाख्यात सयत के सम्बन्ध मे भी जानना चाहिए। इसी प्रकार छेदोपस्थापनीय भी नीचे के तीन चारित्र की अपेक्षा छह स्थान पतित होता है और ऊपर के दो चारित्र से उसी प्रकार अनन्तगुना हीन होता है। जिस प्रकार छेदोपस्थापनीय सयत के सम्बन्ध मे कहा है उसी प्रकार परिहारविशुद्धिक के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए।"

"हे भगवन् ! सूक्ष्मसपराय सयत सामायिक सयत के विजातीय पर्यवो की अपेक्षा क्या हीन है ?"

"हे गौतम ! वह हीन नहीं, तुल्य नहीं, पर अधिक है और अनन्तगुना अधिक है। इसी प्रकार छेदोपस्थापनीय और परिहारविशुद्धिक के सम्बन्ध मे भी समझना चाहिए। अपने सजातीय पर्यवो की अपेक्षा कदाचित् हीन होता है, कदाचित् तुल्य होता है और कदाचित् अधिक होता है। हीन होने पर अनन्तगुना हीन होता है और अधिक होने पर अनन्तगुना अधिक होता है।"

"हे भगवन् ! सूक्ष्मसपराय सयत यथाख्यात सयत के विजातीय चारित्रपर्यवो की अपेक्षा क्या हीन होता है ?"

"हे गौतम ! वे हीन हैं, तुल्य नहीं, अधिक नहीं। वे अनन्तगुना हीन हैं। यथाख्यात सयत नीचे के चारो की अपेक्षा हीन नहीं, तुल्य नहीं, पर अधिक है और वह अनन्तगुना अधिक है। अपने स्थान मे हीन और अधिक नहीं, पर तुल्य है।"

"हे भगवन् ! सामायिक सयत, छेदोपस्थापनीय सयत, परिहारविशुद्धिक सयत, सूक्ष्मसपराय सयत और यथाख्यात सयत इनके जघन्य और उत्कृष्ट चारित्रपर्यवो में कौन किससे विशेषाधिक है ?।"

"हे गौतम ! सामायिक सयत और छेदोपस्थापनीय सयत—इन दो के जघन्य चारित्र पर्यव परस्पर तुल्य और सबसे थोडे हैं। उससे परिहारविशुद्धिक सयत के जघन्य चारित्र पर्यव अनन्तगुना हैं और उससे उसी के उत्कृष्ट चारित्रपर्यव अनन्तगुना हैं। उससे सामायिक सयत और छेदोपस्थापनीय सयत के उत्कृष्ट चारित्रपर्यव अनन्तगुना और परस्पर तुल्य हैं। उनसे सूक्ष्म सपराय सयत के जघन्य चारित्रपर्यव अनन्तगुना हैं और उससे उसके ही उत्कृष्ट चारित्रपर्यव अनन्तगुना हैं। और उससे यथाख्यात सयत के अजघन्य और अनुत्कृष्ट चारित्रपर्यव अनन्तगुना हैं[1]।"

१—भगवती २५.७

१४—योग-निरोध और फल (गा० ४६-५४) .

योग दो तरह के होते हैं—सावद्य और निरवद्य। इनके निरोध से क्या फल होता है, इसका विवेचन उक्त गाथाओ मे है।

प्रत्याख्यान द्वारा सावद्य योगो के निरोध से विरति सवर होता है। निरवद्य योगो के रूँधने से सवर होता है। मन-वचन-काय के निरवद्य योग घटने से सवर होता है और सर्व योगो के सर्वथा क्षय से अयोग सवर होता है।

साधु का कल्पनीय वस्तुओ का आहार करना निरवद्य योग है। श्रावक का आहार करना सावद्य योग है। जब साधु कर्म-निर्जरा के लिये आहारादि का त्यागकर उपवास आदि तप करता है तब तप के साथ निरवद्य योग के रूँधने से सहचर सवर होता है। जब श्रावक कर्म-निर्जरा के लिए आहार-त्याग कर उपवास आदि तप करता है तब तप के साथ सावद्य योग के निरोध से सहचररूप से विरति सवर होता है। श्रावक पुद्गलो का उपभोग करता है, वह सावद्य योग—व्यापार है। इसके त्याग से विरति सवर होता है और साथ ही तप—निर्जरा भी होती है। साधु कल्प्य-पुद्गलो के भोग का त्याग करता है तब तपस्या होती है तथा निरवद्य योग के निरोध से सवर होता है।

साधु का चलना, बैठना, बोलना आदि सारी क्रियाएँ निरवद्य योग हैं। इन निरवद्य योगो का जितना-जितना निरोध किया जाता है उतना-उतना सवर होता है साथ ही तप भी होता है। श्रावक का चलना, बैठना, बोलना आदि क्रियाएँ सावद्य-निरवद्य दोनो प्रकार की होती हैं। सावद्य के त्याग से विरति सवर होता है। निरवद्य के त्याग से सवर होता है।

चारित्र विरति सवर है। वह अविरति के त्याग से उत्पन्न होता है। अयोग सवर शुभ योग के निरोध से होता है।

१५—सवर भाव जीव है (गा० ५५) :

जीव के दो भेद हैं—द्रव्य-जीव और भाव-जीव। चैतन्य गुणयुक्त पदार्थ द्रव्य-जीव है। उसके पर्याय भाव-जीव हैं।

भगवती सूत्र में आठ आत्माएँ कही हैं—द्रव्य-आत्मा, कषाय-आत्मा, योग आत्मा, उपयोग आत्मा, ज्ञान-आत्मा, दर्शन-आत्मा, चारित्र-आत्मा और वीर्य-आत्मा[1]। ये

१—पाठ के लिए देखिये पृ० ४०५ टि० २४

आठो ही आत्माएँ जीव हैं। द्रव्य-आत्मा मूल जीव है। अवशेष ७ आत्माएँ भाव-जीव हैं। द्रव्य-आत्मा की पर्याय हैं। उसके गुण हैं। उसके लक्षण हैं। इन आठ आत्माओ मे चारित्र-आत्मा भी समाविष्ट है। अत वह भी भाव-जीव है। चारित्र सवर ही है अत सवर भाव-जीव है।

आस्रव को अजीव और रूपी मानते हुए भी सवर को प्राय जीव और अरूपी माना जाता रहा[1]। स्वामीजी के समय मे सवर को अजीव माननेवाला कोई समुदाय था, ऐसा नही देखा जाता। श्री जयाचार्य ने ऐसे सम्प्रदाय का उल्लेख किया है[2] और सवर किस प्रकार भाव जीव है, यह भी सिद्ध किया है। इस सम्बन्ध मे उन्होने निम्न प्रमाण उपस्थित किए हैं

१—उत्तराध्ययन में ज्ञान, दर्शन, तप, वीर्य और उपयोग के साथ चारित्र को भी जीव का लक्षण कहा है[3]। चारित्र विरति सवर है। इस तरह सवर भी जीव का लक्षण सिद्ध होता है। जिस तरह ज्ञान, दर्शन, उपयोग—जीव के ये लक्षण भाव जीव हैं उसी प्रकार चारित्र—विरति सवर भी भाव-जीव है।

२—अनुयोग द्वार में लिखा है—"गुणप्रमाण दो प्रकार का कहा गया है—(१) जीव गुणप्रमाण और (२) अजीव गुणप्रमाण। अजीव गुणप्रमाण पाँच प्रकार का है—(१) वर्ण गुणप्रमाण (२) गन्ध गुणप्रमाण (३) रस गुणप्रमाण (४) स्पर्श गुणप्रमाण और (५) सस्थान गुणप्रमाण। जीव गुणप्रमाण तीन प्रकार का है—(१) ज्ञान गुणप्रमाण, (२) दर्शन गुणप्रमाण और (३) चारित्र गुणप्रमाण[4]।"

१—(क) नवतत्त्वसाहित्यसग्रह वृत्यादिसमेत नवतत्त्वप्रकरणम्

जीवो सवर निज्जर मुक्खो चत्तारि हुति अरूपी।
रूपी बधासवपुन्नपावा मिस्सो अजीवो य॥ [१०५।१३३]

(ख) वही पृ० ८० यत्र

(ग) वही हेमचन्द्रसूरिकृत सप्ततत्त्वप्रकरणम् (पृ० १८)

२—भ्रमविध्वसनम् सवराऽधिकार पृ० ६२८

केतला एक अज्ञानी सवर ने अजीव कहे छै।

३—उत्त० २८ ११ (पृ० ५४२ पर उद्धृत)

४—अनुयोग द्वार

से कि त जीवगुणप्पमाणे ?, जीवगुणप्पमाणे तिविहे पण्णत्ते, त जहा णाणगुणप्पमाणे दसणगुणप्पमाणे चरित्तगुणप्पमाणे

जीव गुणप्रमाण में चारित्र गुण का भी उल्लेख है। चारित्र सवर है। अत वह जीव-प्रमाण सिद्ध होता है।

चारित्र गुणप्रमाण का भेद बताते हुए पाँचो चारित्रो का नामोल्लेख करने के बाद लिखा है—'से त चरित्तगुणप्पमाणे, से त जीवगुणप्पमाणे।' इससे पाँचो ही चारित्र—विरति सवर भाव-जीव ठहरते हैं।

३—ठाणाङ्ग मे दसविध जीव-परिणाम मे ज्ञान और दर्शन को जीव-परिणाम कहा है। वैसे ही चारित्र को भी जीव-परिणाम कहा है[1]। जिस तरह जीव-परिणाम ज्ञान और दर्शन भाव-जीव हैं उसी तरह जीव-परिणाम चारित्र भी भाव-जीव है।

४—पार्श्वनाथ के वश मे हुए कालास्यवेपिपुत्र नामक अनगार ने महावीर के स्थविरो के पास आकर कुछ वार्त्तालाप के बाद प्रश्न किया—"हे आर्यो! सामायिक क्या है, सामायिक का अर्थ क्या है, प्रत्याख्यान क्या है, प्रत्याख्यान का अर्थ क्या है, सयम क्या है, सयम का अर्थ क्या है, सवर क्या है, सवर का अर्थ क्या है, विवेक क्या है, विवेक का अर्थ क्या है, और व्युत्सर्ग क्या है, व्युत्सर्ग का अर्थ क्या है?"

स्थविरो ने उत्तर दिया—"हे कालास्यवेपिपुत्र! हमारी आत्मा ही सामायिक और हमारी आत्मा ही सामायिक का अर्थ है, हमारी आत्मा ही प्रत्याख्यान और हमारी आत्मा ही प्रत्याख्यान का अर्थ है, हमारी आत्मा ही सयम और हमारी आत्मा ही सयम का अर्थ है, हमारी आत्मा ही सवर और हमारी आत्मा ही सवर का अर्थ है, हमारी आत्मा ही विवेक और हमारी आत्मा ही विवेक का अर्थ है तथा हमारी आत्मा ही व्युत्सर्ग और हमारी आत्मा ही व्युत्सर्ग का अर्थ है[2]।"

यहाँ सामायिक, प्रत्याख्यान, सयम, विवेक और कायोत्सर्ग को आत्मा कहा है वहाँ सवर को भी आत्मा कहा है। अत सवर भाव-जीव है।

५—गौतम ने पूछा—"भगवन्! प्राणातिपात विरमण यावत् परिग्रह विरमण, क्रोध-विवेक यावत् मिथ्यादर्शनशल्य-विवेक—इनके कितने वर्ण यावत् स्पर्श कहे गए हैं?"

भगवान ने उत्तर दिया—"गौतम! प्राणातिपात विरमण यावत् मिथ्यादर्शनशल्य विवेक अवर्ण, अगध, अरस और अस्पर्श हैं[3]।"

१—पाठ के लिए देखिए—पृ० ४०५ टि० २४

२—भगवती १ ९

३—भगवती १२ ५

अठारह पाप का विरमण सर्वविरति सवर है अत' सवर अरूपी है, वह अरूपी और भाव-जीव सिद्ध होता है।

६—उत्तराध्ययन मे चारित्र का गुण—कर्मों को रोकना बताया गया है[1]। कर्मों को रोकनेवाला सवर जीव ही हो सकता है अजीव कर्म कैसे रोकेगा ?

७—चारित्रावरणीय कर्म का अर्थ है वह कर्म जो चारित्र का आवरण हो। यह जीव के गुण का आवरण है, अजीव का नही।

८—एक वार गौतम ने पूछा—"भगवन् ! आराधना कितने प्रकार की कही गई है ?" भगवान ने उत्तर दिया—"गौतम ! आराधना तीन प्रकार की कही गई हैं—(१) ज्ञानाराधना, (२) दर्शनाराधना और (३) चारित्राराधना[2]।"

चारित्राराधना का अर्थ है—चारित्र-गुण की आराधना। चारित्र जीव का गुण—भाव है। उसकी आराधना चारित्राराधना है। अजीव की आराधना क्या होगी ? चारित्र सवर है। इस तरह सवर भी जीव-गुण, भाव-जीव सिद्ध होता है।"

१—उत्त० २८.३५

चरित्तेण निगिण्हाइ

२—भगवती ८ १०

निरजरा पदारथ (ढाल १)

दुहा

१—निरजरा पदार्थ सातमो, ते तो उजल वसत अनूप।
ते निज गुण जीव चेतन तणो, ते सुणजो धर चूप॥

ढाल : १

(धन्य धन्य जबू स्वाम ने—ए देशी)

१—आठ करम छे जीव रे अनाद रा, त्यारी उतपत आश्रव दुवार हो। मुणिंद*
ते उदे थइ ने पछे निरजरे, वले उपजे निरतर लार हो॥ मुणिंद*
निरजरा पदार्थ ओलखो*॥

२—दरब जीव छ तेहने, असख्याता परदेम हो।
सारा परदेसा आश्रव दुवार छे, सारा परदेसा करम परवेस हो॥

३—एक एक परदेस तेहने, समे समे करम लागत हो।
ते परदेस एकीका करम ना, समे समे लागे अनत हो॥

४—ते करम उदे थइ जीव रे, समे समे अनता झड जाय हो।
भरीया नीगल ज करम मिटे नही, करम मिटवा रो न जाणे उपाय हो॥

*चिन्हित शब्द और आकडी इन्ही स्थलो पर आगे की गाथाओ मे भी पढने चाहिए।

: ७ :

निर्जरा पदार्थ (ढाल १)

दोहा

१—निर्जरा सातवाँ पदार्थ है। यह अनुपम उज्ज्वल वस्तु है और जीव चेतन का स्वाभाविक गुण है। निर्जरा का विवेचन ध्यान लगा कर सुनो[१]।

निर्जरा सातवाँ पदार्थ है।

ढाल : १

१—अनादिकाल से जीव के आठ कर्मों का बंध है। इन कर्मों की उत्पत्ति के हेतु आश्रव-द्वार हैं। बंधे हुए कर्म उदय में आते हैं और फिर झड़ जाते हैं। कर्म इस तरह झड़ते और निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं।

निर्जरा कैसे होती है (गा० १-८)

२—जीव द्रव्य के असंख्यात प्रदेश होते हैं। प्रत्येक प्रदेश कर्म आने का द्वार है। प्रत्येक प्रदेश से कर्मों का प्रवेश होता है।

३—आत्मा के एक-एक प्रदेश के प्रतिसमय अनन्त कर्म लगते हैं। इस प्रकार एक-एक प्रकार के कर्म के अनन्त-अनन्त प्रदेश, आत्मा के एक-एक प्रदेश के लगते हैं।

४—ये कर्म उदय में आकर जीव के प्रदेशों से प्रतिसमय अनन्त संख्या में झड़ जाते हैं। परन्तु भरे घाव की तरह कर्मों का अन्त नहीं आता। कर्मों के अन्त करने के उपाय को न जानने से उनका अन्त नहीं आ सकता[२]।

५—आठ करमा मे च्यार घनघातीया, त्यासू चेतन गुणा री हुइ घात हो।
ते असमात्र पयउपसम रहे सदा, तिण सू उजलो रहै असमात हो॥

६—कायक घनघातीया पयउपसम हूआ, जब कायक उदे रह्या लार हो।
पयउपसम थी जीव उजलो हुवो, उदे थी उजलो नही छे लिगार हो॥

७—कायक करम खय हुवे, कायक उपसम हुवें ताय हो।
ते पयउपसम भाव छैं उजलो, चेतन गुण पर्याय हो॥

८—जिम २ करम पयउपसम हुवे, तिम २ जीव उजल हुवे आम हो।
जीव उजलो तेहिज निरजरा, ते भाव जीव छे ताम हो॥

९—देस थकी जीव उजलो हुवें, तिणनें निरजरा कही भगवान हो।
सर्व उजल ते मोप छैं, ते मोप छे परम निधान हो॥

१०—ग्यानावरणी षयउपसम हूआ नीपजे, च्यार ग्यान ने तीन अग्यान हो।
भणवो आचारग आदि दे, चवदे पूर्व रो ग्यान हो॥

११—ग्यानवरणी री पाच प्रकत मभैं, दोय षयउपसम रहे छे सदीव हो।
तिण सू दोय अग्यान रहे सदा, अस मात्र उजल रहे जीव हो॥

५—आठ कर्मों मे चार धनघाती कर्म हैं। इन कर्मों से चेतन जीव के स्वाभाविक गुणों की घात होती है, परन्तु इन कर्मों का भी सब समय कुछ-न-कुछ क्षयोपशम रहता हे जिससे जीव कुछ अश मे उज्ज्वल रहता है।

६—घनघाती कर्मों का कुछ क्षयोपशम होने से कुछ उदय बाकी रहता है। जीव कर्मों के क्षयोपशम से उज्ज्वल होता हे। पर वह कर्मों के उदय से जरा भी उज्ज्वल नही होता।

७—कर्मों के कुछ क्षय और कुछ उपशम से क्षयोपशम भाव होता है। यह क्षयोपशम भाव उज्ज्वल भाव है और चेतन जीव का गुण अथवा पर्याय है।

निर्जरा की परिभाषा

८—जैसे-जैसे कर्मों का क्षयोपशम अधिक होता है वैसे-वैसे जीव अधिकाधिक आवरणरहित—उज्ज्वल होता जाता है। इस प्रकार जीव का उज्ज्वल होना निर्जरा है। यह निर्जरा भाव-जीव है[3]।

निर्जरा और मोक्ष मे अन्तर

९—जीव के देशरूप उज्ज्वल होने को ही भगवान ने निर्जरा कहा है। सर्वरूप उज्ज्वल होना मोक्ष है और यह मोक्ष ही परम निधान—सम्पूर्ण कर्मक्षय का स्थान है[4]।

ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से निष्पन्न भाव (गा० १०-१८)

१०—ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने से चार ज्ञान और तीन अज्ञान उत्पन्न होते हैं तथा आचाराङ्ग आदि चौदह पूर्व का अभ्यास होता है।

११—ज्ञानावरणीय कर्म की पाँच प्रकृतियो में से दो का सदा क्षयोपशम रहता है, जिससे दो अज्ञान सदा रहते है और जीव सदा अशमात्र उज्ज्वल रहता है।

१२—मिथ्याती रे तो जगन दोय अग्यान छे, उतकष्टा तीन अग्यान हो।
देस उणो दस पूर्व उतकष्टो भणे, इतरो उतकष्टो पयउपसम अग्यान हो॥

१३—समदिष्टी रे जगन दोय ग्यान छे, उतकष्टा च्यार ग्यान हो।
उतकष्टो चवदें पूर्व भणे, एहवो पयउपसम भाव निधान हो॥

१४—मत ग्यानावरणी पयउपसम हूआ, नीपजे मत ग्यान मत अग्यान हो।
सुरत ग्यानावरणी खयउपसम हूआ, नीपजे सुरत ग्यान अग्यान हो॥

१५—वले भणवो आचारग आदि दे, समदिष्टी रे चवदे पूर्व ग्यान हो।
मिथ्याती उतकष्टो भणे, देस उणो देस पूर्व लग जाण हो॥

१६—अवधि ग्यानावरणी पयउपसम हूआ, समदिष्टी पामे अवध ग्यान हो।
मिथ्यादिष्टी नें विभग नाण उपजे, षयउपसम परमाण जाण हो॥

१७—मन पजवावर्णी षयउपसम्या, उपजें मनपजव नाण हो।
ते साधु समदिष्टी ने उपजे, एहवो पयउपसम भाव परधान हो॥

१८—ग्यान अग्यान सागार उपीयोग छे, दोया रो एक सभाव हो।
करम अलगा हुआ नीपजें, ए षयउपसम उजल भाव हो॥

१९—दरसणावर्णी खयउपसम हूआ, आठ बोल नीपजे श्रीकार हो।
पाच इद्री नें तीन दरसण हुवे, ते निरजरा उजला तत सार हो॥

१२—मिथ्यात्वी के कम-से-कम दो और अधिक-से-अधिक तीन अज्ञान रहते हे। उत्कृष्ट मे देश-न्यून दस पूर्व पढ़ सके, इतना उत्कृष्ट क्षयोपशम अज्ञान उसको होता है।

१३—समदृष्टि के कम-से-कम दो और अधिक-से-अधिक चार अज्ञान होते हें। अधिक-से-अधिक चौदह पूर्व तक पढ सके, ऐसा क्षयोपशम भाव उसके रहता है।

१४—मतिज्ञानावरणीय के क्षयोपशम होने से मतिज्ञान और मति-अज्ञान उत्पन्न होते हे। और श्रुतज्ञानावरणीय के क्षयोपशम होने से श्रुतज्ञान और श्रुत-अज्ञान।

१५—समदृष्टि आचाराङ्ग आदि १४ पूर्व का ज्ञानाभ्यास कर सकता है और मिथ्यात्वी देश-न्यून दस पूर्व तक का ज्ञानाभ्यास।

१६—अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने से समदृष्टि अवधि-ज्ञान प्राप्त करता है और मिथ्यादृष्टि को क्षयोपशम के परिमाणानुसार विभङ्ग अज्ञान उत्पन्न होता है।

१७—मन पर्यवज्ञानावरणी कर्म के क्षयोपशम होने से मन पर्यव ज्ञान उत्पन्न होता है। यह प्रधान क्षयोपशम भाव सम्यक् दृष्टि साधु को उत्पन्न होता है[५]।

ज्ञान, अज्ञान दोनो साकार उपयोग

१८—ज्ञान, अज्ञान दोनो साकार उपयोग है और इन दोनों का स्वभाव एक-सा है। ये कर्मों के दूर होने से उत्पन्न होते हैं और उज्ज्वल क्षयोपशम भाव हैं[६]।

दर्शनावरणीय कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न भाव

१९—दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने से आठ उत्तम बोल उत्पन्न होते हें—पांच इन्द्रिया और तीन दर्शन। ये निर्जरा-जन्य उज्ज्वल बोल हे।

(गा० १९-२३)

२०—दरसणावर्णी री नव प्रकत मझे, एक प्रकत षयउपसम सदीव हो।
तिण सू अचषू दरसण ने फरस इदरी सदा रहे, षयउपसम भाव जीव हो॥

२१—चषू दरसणावर्णी षयउपसम हूआ, चषू दरसण ने चषू इद्री होय हो।
करम अलगा हूआ उजलो हूओ, जब देखवा लागो सोय हो॥

२२—अचषू दरसणावर्णी वशेष थी, षयउपसम हुवें तिण वार हो।
चषू टाले सेष इद्री, षयउपसम हुवे इद्री च्यार हो॥

२३—अवधि दरसणावर्णी षयउपसम हुआ, उपजे अवधि दरसण वशेष हो।
जब उतकृष्टो देखे जीव एतलो, सर्व रूपी पुदगल ले देख हो॥

२४—पाच इद्री ने तीन्इ दरसण, ते षयउपसम उपीयोग मणागार हो॥
ते वानगी केवल दरसण माहिली, तिणमे सका म राखो लिगार हो॥

२५—मोह करम षयउपसम हूआ, नीपजे आठ बोल अमाम हो।
च्यार चारित ने देस विरत नीपजे, तीन दिष्टी उजल होय ताम हो॥

२६—चारित मोह री पचीस प्रकत मझे, केइ सदा षयउपसम रहे ताय हो।
तिण सू अस मात उजलो रहे, जब भला वरते छे अधवसाय हो॥

२७—कदे षयउपसम इधकी हुवे, जब इधका गुण हुवे तिण माय हो।
षिमा दया सतोपादिक गुण वधे, भली लेस्यादि वरते जब आय हो॥

२०—दर्शनावरणीय कर्म की नौ प्रकृतियों में से एक प्रकृति सदा क्षयोपशमरूप रहती है। उससे अचक्षु दर्शन और स्पर्श इन्द्रिय सदा रहती है। यह क्षयोपशम भाव-जीव है।

२१—चक्षुदर्शनावरणीय के क्षयोपशम होने से चक्षु दर्शन और चक्षु इन्द्रिय होता है। कर्म दूर होने से जीव उज्ज्वल होता है, जिससे देखने में सक्षम होता है।

२२—अचक्षुदर्शनावरणीय के विशेष क्षयोपशम से चक्षु को छोड़ कर बाकी चार क्षयोपशम इन्द्रियाँ प्राप्त होती हैं।

२३—अवधिदर्शनावरणीय के क्षयोपशम होने से विशेष अवधि-दर्शन उत्पन्न होता है। अवधि-दर्शन उत्पन्न होने से जीव उत्कृष्ट में सर्व रूपी पुद्गल को देखने लगता है।

अनाकार उपयोग

२४—पांच इन्द्रियाँ और तीनों दर्शन दर्शनावरणीय के क्षयोपशम से होते हैं। ये अनाकार उपयोग हैं। ये केवलदर्शन के नमूने हैं। इसमें जरा भी शंका मत करो[७]।

मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न भाव (गा० २५-४०)

२५—मोहनीयकर्म के क्षयोपशम होने से आठ विशेष बोल उत्पन्न होते हैं—चार चारित्र, देश-विरति और उज्ज्वल तीन दृष्टि।

२६—चारित्रमोहनीय कर्म की पचीस प्रकृतियों में से कई सदा क्षयो-पशम रूप में रहती हैं, इससे जीव अंशत उज्ज्वल रहता है। और इस उज्ज्वलता से शुभ अध्यवसाय का वर्तन होता है।

२७—कभी क्षयोपशम अधिक होता है तब उससे जीव के अधिक गुण उत्पन्न होते हैं। क्षमा, दया, संतोषादि गुणों की वृद्धि होती है और शुभ लेश्याएँ वर्तती हैं।

२८—भला परिणाम पिण वरते तेहने, भला जोग पिण वरते ताय हो।
धर्म ध्यान पिण ध्यावे किण समे, ध्यावणी आवे मिटीया कपाय हो॥

२९—ध्यान परिणाम जोग लेस्या भली, वले भला वरते अधवसाय हो।
सारा वरते अनराय पयउपसम हूआ, मोह करम अलगा हूआ ताय हो॥

३०—चोकडी अताणुबधी आदि दे, घणी प्रकृत्या पयउपसम हुवे ताय हो।
जब जीव रे देस विरत नीपजे, इण हिज विध च्यारू चारित आय हो॥

३१—मोहणी पयउपसम हुआ नीपनो, देस विरत ने चारित च्यार हो।
वले खिमा दयादिक गुण नीपना, सगलाइ गुण श्रीकार हो॥

३२—देस विरत ने च्यारूई चारित भला, ते गुण रतना री खान हो।
ते खायक चारित री वानगी, एहवो पयउपसम भाव परधान हो॥

३३—चारित ने विरत सवर कह्यो, तिण सू पाप रूधे छे ताय हो।
पिण पाप झरी ने उजल हुओ, तिणने निरजरा कही इण न्याय हो॥

३४—दरसण मोहणी पयउपसम हुआ, नीपजे साची सुध सरधान हो।
तीनू दिष्ट मे सुध सरधान छे, ते तो षयउपसम भाव निधान हो॥

३५—मिथ्यात मोहणी पयउपसम हुआ, मिथ्या दिष्टी उजली होय हो।
जब केयक पदार्थ सुध सरधलें, एहवो गुण नीपजे छे सोय हो॥

२८—चारित्रमोहनीय कर्म के विशेष क्षयोपशम से जीव के शुभ परिणाम तथा शुभ योगों का वर्तन होता है। कभी-कभी धर्म-ध्यान भी होता है परन्तु बिना कषाय के दूर हुए पूरा धर्म-ध्यान नहीं हो सकता।

२९—शुभ ध्यान, शुभ परिणाम, शुभ योग, शुभ लेश्या और शुभ अध्यवसाय—ये सब उसी समय वर्तते हैं जब अंतराय कर्म का क्षयोपशम हो जाता है तथा मोहकर्म दूर हो जाता है।

३०—अनन्तानुबंधी आदि कषाय की चौकड़ी तथा अन्य बहुत-सी प्रकृतियों के क्षयोपशम होने से जीव के देश-विरति उत्पन्न होती है और इसी तरह से चारों चारित्र प्राप्त होते हैं।

३१—मोहनीयकर्म के क्षयोपशम होने से देश-विरति और चार चारित्र तथा क्षमा, दया आदि उत्पन्न होते हैं। ये उत्तम गुण हैं।

३२—देश-विरति और चारों चारित्र—ये गुणरूपी रत्नों की खान हैं। ये क्षायिक चारित्र की वानगी हैं। क्षयोपशम भाव ऐसा ही प्रधान है।

३३—चारित्र को विरति-संवर कहा गया है। उससे जीव पापों का निरोध करता है। पाप-क्षय होकर जीव उज्ज्वल हुआ, इस न्याय से इसे निर्जरा कहा है।

३४—दर्शनमोहनीय कर्म के क्षयोपशम होने से सच्ची एवं शुद्ध श्रद्धा उत्पन्न होती है। तीनों दृष्टियों में शुद्ध श्रद्धान है। क्षयोपशम भाव ऐसा उत्तम है।

३५—मिथ्यात्व मोहनीयकर्म के क्षयोपशम होने से मिथ्या-दृष्टि उज्ज्वल होती है। जिससे जीव कई पदार्थों में ठीक-ठीक श्रद्धा करने लगता है। मिथ्यात्व मोहनीय के क्षयोपशम से ऐसा गुण उत्पन्न होता है।

३६—मिश्र मोहणी षयउपसम हुआ, सममिथ्या दिप्टी उजली हुवे ताम हो।
जव घणा पदार्थ सुध सरधले, एहवो गुण नीपजे अमाम हो॥

३७—समकत मोहणी षयउपसम हूआ, नीपजे समकत रतन परधान हो।
नव ही पदार्थ सुध सरधले, एहवो षयउपसम भाव निधान हो॥

३८—मिथ्यात मोहणी उदे छे ज्या लगे, सममिथ्या दिप्टी नही आवत हो।
मिश्र मोहणी रा उदे थकी, समकत नही पावत हो॥

३९—समकत मोहणी ज्या लगे उदे रहे, त्या लग पायक समकत आवें नाहि हों।
एहवी छाक छै दरसण मोह करम नी, न्हाखै जीव ने भ्रमजाल माय हो॥

४०—षयउपसम भाव तीनूइ दिप्टी छे, ते सगलोइ सुध सरधान हो।
ते खायक समकत माहिली वानगी, मातर गुण निधान हो॥

४१—अतराय करम षयउपसम हूआ, आठ गुण नीपजे श्रीकार हो।
पाच लब्द तीन वीर्य नीपजे, हिवे तेहनो सुणो विसतार हो॥

४२—पाचूइ प्रकत अतराय नी, सदा षयउपसम रहे छे साख्यात हो।
तिण सू पाच् लब्द वालवीर्य, उजल रहे छे अल्प मात हो॥

४३—दानातराय षयउपसम हूआ, दान देवा री लब्द उपजत हो।
लाभातराय षयउपसम हूआ, लाभ री लब्द खुलत हो॥

३६—मिश्रमोहनीय कर्म के क्षयोपशम होने से सममिथ्या दृष्टि उज्ज्वल होती है। तब जीव अधिक पदार्थों को शुद्ध श्रद्धने लगता है। क्षयोपशम से ऐसा गुण उत्पन्न होता है।

३७—सम्यक्त्व-मोहनीय कर्म के क्षयोपशम होने से सम्यक्त्व रूपी प्रधान रत्न उत्पन्न होता है। इस क्षयोपशम से जीव नवों ही पदार्थों की शुद्ध श्रद्धा करने लगता है। क्षयोपशम भाव ऐसा ही गुणकारी है।

३८—जब तक मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म उदय मे रहता है, तब तक सममिथ्या दृष्टि नहीं आती। मिश्र-मोहनीय कर्म के उदय से जीव सम्यक्त्व नहीं पाता।

३९—सम्यक्त्व-मोहनीय कर्म जब तक उदय में रहता है तब तक क्षायिक सम्यक्त्व नहीं आता। मोहनीय कर्म का ऐसा ही आवरण है कि यह जीव को भ्रम-जाल में डाल देता है।

४०—तीनों ही दृष्टियाँ क्षयोपशम भाव हैं। ये तीनों ही शुद्ध श्रद्धा रूप है। ये तो क्षायिक सम्यक्त्व की वानगी—नमूने मात्र हैं[८]।

अंतराय कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न भाव
(गा० ४१-५५)

४१—अंतराय कर्म के क्षयोपशम होने से आठ उत्तम गुण उत्पन्न होते हैं—पांच लब्धि और तीन वीर्य। अब इनका विस्तार सुनो।

४२—अंतराय कर्म की पाँचों ही प्रकृतियाँ सदा प्रत्यक्षत क्षयोपशम रूप में रहती हैं, जिससे पाँच लब्धि और बालवीर्य अल्प प्रमाण में उज्ज्वल रहते हैं।

४३—दानांतराय कर्म के क्षयोपशम होने से दान देने की लब्धि उत्पन्न होती है, लाभांतराय कर्म के क्षयोपशम होने से लाभ की लब्धि प्रकट होती है।

४४—भोगातराय पयउपसम्या, भोग लब्द उपजे छे ताय हो।
उपभोगातराय खयउपसम हूआ, उपभोग लब्द उपजे आय हो॥

४५—दान देवा री लब्द निरतर, दान देवे ते जोग व्यापार हो।
लाभ लब्द पिण निरतर रहे, वस्त लाभे ते किण ही वार हो॥

४६—भोग लब्द तो रहे छे निरतर, भोग भोगवे ते जोग व्यापार हो।
उपभोग पिण लब्द छें निरतर, उपभोग भोगवे जिण वार हो॥

४७—अतराय अलगी हूआ जीव रे, पुन सारु मिलसी भोग उपभोग हो।
सावु पुदगल भोगवे ते सुभ जोग छें, ओर भोगवे ते असुभ जोग हो॥

४८—वीर्य अतराय षयउपसम हूआ, वीर्य लब्द् उपजें छे ताय हो।
वीर्य लब्द ते सगत छे जीव री, उत्कष्टी अनती होय जाय हो॥

४९—तिण वीर्य लब्द रा तीन भेद छे, तिणरी करजो पिछाण हो।
वाल वीर्य कह्यो छें वाल रो, ते चोथा गुणठाणा ताई जाण हो॥

५०—पिडत वीर्य कह्यो पिडत तणो, छठा थी लेइ चवदमे गुणठाण हो।
वालपिडत वीर्य कह्यो छे श्रावक तणो, ए तीनोई उजल गुण जाण हो॥

५१—कदे जीव वीर्य ने फोडवे, ते छे जोग व्यापार हो।
सावद्य निरवद्य तो जोग छे, ते वीर्य सावद्य नही छें लिगार हो॥

४४—भोगांतराय कर्म के क्षयोपशम होने से भोग की लब्धि उत्पन्न होती है और उपभोगातराय कर्म के क्षयोपशम होने से उपभोगलब्धि उत्पन्न होती है।

४५—दान देने की लब्धि बराबर रहती है। दान देना योग-व्यापार है। लाभ की लब्धि भी निरन्तर रहती है जिससे यदा कदा वस्तु का लाभ होता रहता है।

४६—भोग की लब्धि भी निरन्तर रहती है। भोग-सेवन योग-व्यापार है। उपभोग-लब्धि भी निरन्तर रहती है जिससे उपभाग-सेवन होता रहता है।

४७—अतराय कर्म का क्षयोपशम होने से जीव को पुण्यानुसार भोग-उपभोग मिलते है। साधु पुद्गलो का सेवन करते हैं, वह शुभ योग है। साधु के सिवा अन्य जीव पुद्गलों का भोग करते है, वह अशुभ योग है।

४८—वीर्यांतराय कर्म के क्षयोपशम होने से वीर्य-लब्धि उत्पन्न होती है। वीर्य लब्धि जीव की स्वाभाविक शक्ति है और वह उत्कृष्ट रूप मे अनन्त होती है।

४९—वीर्यलब्धि के तीन भेद हैं उसकी पहचान करो। बाल-वीर्य बाल के होता है और चतुर्थ गुणस्थान तक रहता है।

५०—पण्डितवीर्य पण्डित के बतलाया गया है, यह छठे से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक रहता है। बालपण्डितवीर्य श्रावक के होता है। इन तीनों ही वीर्यों को जीव के उज्ज्वल गुण जानो।

५१—जीव कभा इस वीर्य को फोडता है, वह योग-व्यापार है। सावद्य-निरवद्य योग होते है परन्तु वीर्य जरा भी सावद्य नहीं होता।

५२—वीर्य तो निरतर रहे, चवदमा गुण ठाणा लग जाण हो।
वारमा ताइ तो पयउपसम भाव छे, खायक तेरमे चवदमे गुण ठाण हो॥

५३—लब्द वीर्य ने तो वीर्य कह्यो, करण वीर्य ने कह्यो जोग हो।
ते पिण सगत वीर्य ज्या लगे, त्या लग रहे पुदगल सजोग हो॥

५४—पुदगल विण वीर्य सगत हुवे नही, पुदगल विना नही जोग व्यापार हो।
पुदगल लागा छे ज्या लग जीव रे, जोग वीर्य छें ससार मझार हो॥

५५—वीर्य निज गुण छे जीव रो, अतराय अलगा हूआ जाण हो।
ते वीर्य निश्चेइ भाव जीव छे, तिण मे सका मूल म आण हो॥

५६—एक मोह करम उपसम हुवे, जव नीपजे उपसम भाव दोय हो।
उपसम समकत उपसम चारित हुवे, ते तो जीव उजलो हुवो सोय हो॥

५७—दरसण मोहणी करम उपसम हुवा, निपजे उपसम समकत निधान हो।
चारित मोहणी उपसम हूआ, परगटे उपसम चारित परधान हो॥

५८—च्यार घणघातीया करम षय हुवे, जव परगट हुवे खायक भाव हो।
ते गुण सरवथा उजला, त्यारो जूओ २ सभाव हो॥

५९—ग्यानावरणी सरवथा खय हूआ, उपजे केवल ग्यान हो।
दरसणावर्णी पिण खय हूवें सरवथा, उपजे केवल दरसण परधान हो॥

५२—वीर्य-लब्धि निरन्तर चौदहवे गुणस्थान तक रहती है। बारहवें गुणस्थान तक क्षयोपशम भाव है तथा तेरहवे और चौदहवें गुणस्थान मे क्षायिक भाव।

५३—लब्धि-वीर्य को वीर्य कहा गया है और करण-वीर्य को योग कहा गया है। जब तक लब्धि-वीर्य रहता है तभी तक करण-वीर्य रहता है और तभी तक पुद्गल-सयोग रहता है।

५४—पुद्गल के बिना वीर्य शक्ति नहीं होती। पुद्गल के बिना योग-व्यापार भी नहीं होता। जब तक जीव से पुद्गल लगे रहते है तब तक योग वीर्य रहता है।

५५—वीर्य जीव का स्वाभाविक गुण है और यह अतराय कर्म अलग होने से प्रकट होता है। यह वीर्य भाव-जीव है, इसमें जरा भी शका मत करो[९]।

उपशम भाव (गा० ५६-५७)

५६—एक मोहकर्म के उपशम होने से दो उपशम-भाव उत्पन्न होते है—(१) उपशम सम्यक्त्व और (२) उपशम चारित्र। यह जीव का उज्ज्वल होना है।

५७—दर्शनमोहनीय कर्म के उपशम होने से उपशम सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। चारित्रमोहनीय कर्म के उपशम होने से प्रधान उपशम चारित्र प्रकट होता है[१०]।

क्षायिक भाव (गा० ५८-६२)

५८—चार घनघाती कर्मों के क्षय होने से क्षायिक-भाव प्रकट होता है। ये जीव के सर्वथा उज्ज्वल गुण है। इनके स्वभाव भिन्न-भिन्न है।

५९—ज्ञानावरणीय कर्म के सम्पूर्ण क्षय होने से केवलज्ञान उत्पन्न होता है और दर्शनावरणीय कर्म के सम्पूर्ण क्षय होने से प्रधान केवलदर्शन उत्पन्न होता है।

६०—मोहणी करम खय हुवे सरवथा, बाकी रहे नही असमात हो।
जब खायक समकत परगटे, वले खायक चारित जथाख्यात हो॥

६१—दरसण मोहणी खय हुवे सरवथा, जब निपजे खायक समकत परधान हो।
चारित मोहणी खय हूआ, नीपजे खायक चारित निधान हो॥

६२—अंतराय करम अलगो हुआ, खायक वीर्य सगते हुवे ताय हो।
खायक लब्द पाचूइ परगटे, किण ही बात री नही अंतराय हो॥

६३—उपसम खायक षयउपसम भाव निरमला, ते निज गुण जीवरा निरदोष हो।
ते तो देस थकी जीव उजलो, सर्व उजलो ते मोख हो॥

६४—देस विरत श्रावक तणी, सर्व विरत साधु री छे ताय हो।
देस विरत समाइ सर्व विरत मे, ज्यू निरजरा समाइ मोख माय हो॥

६५—देस थी जीव उजले ते निरजरा, सर्व उजलो ते जीव मोख हो।
तिण सू निरजरा ने मोख दोनू जीव छे, उजल गुण जीवरा निरदोष हो॥

६६—जोड कीधी निरजरा ओलखायवा, नाथ दुवारा सहर मझार हो।
सवत अठारे वरस छपने, फागण सुद दसम गुरवार हो॥

६०—मोहनीय कर्म के सम्पूर्ण क्षय होने से—उसके अशमात्र भी न रहने से क्षायिक सम्यक्त्व प्रकट होता है और यथाख्यात क्षायिक चारित्र प्रकट होता है।

६१—दर्शनमोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय से प्रधान क्षायिक सम्यक्त्व प्रकट होता है। चारित्रमोहनीय कर्म के क्षय होने से क्षायिक चारित्र उत्पन्न होता है।

६२—अतराय कर्म के सम्पूर्ण दूर होने से क्षायिक वीर्य—शक्ति उत्पन्न होती है तथा पाँचों ही क्षायिक लब्धियाँ प्रकट होती है। किसी भी वात की अतराय नहीं रहती[११]।

तीन निर्मल भाव

६३—उपशम, क्षायिक और क्षयोपशम—ये तीनों निर्मल भाव हैं। ये जीव के निर्दोष स्वगुण हैं। इनसे जीव देशरूप निर्मल होता है, वह निर्जरा है और सर्वरूप निर्मल होता है, वह मोक्ष है।

निर्जरा और मोक्ष (गा० ६४-६५)

६४—श्रावक की देशविरति होती है और साधु की सर्वविरति। जिस तरह श्रावक की देशविरति साधु की सर्वविरति में समा जाती है, उसी तरह निर्जरा मोक्ष में समा जाती है।

६५—जीव का एक देश उज्ज्वल होना निर्जरा है और सर्व देश उज्ज्वल होना मोक्ष। इसलिए निर्जरा और मोक्ष दोनों भावजीव हैं। दोनों ही जीव के निर्दोष उज्ज्वल गुण हैं[१२]।

रचना-स्थान और काल

६६—निर्जरा को समझाने के लिए यह जोड नाथद्वारा शहर में स० १८५६ की फाल्गुन शुक्ला दशमी गुरुवार को की गई है।

टिप्पणियाँ

१—निर्जरा सातवाँ पदार्थ है (दो० १) :

तत्वार्थसूत्र के अनुसार, पुण्य और पाप को यथास्थान रखने पर, निर्जरा पदार्थ का स्थान आठवाँ होता है[1]। उत्तराध्ययन में भी इसका क्रम आठवाँ है[2]। अन्य आगमो में इसका स्थान सातवाँ है[3]। दिगम्बर ग्रन्थो में इसका क्रम प्राय सातवाँ है[4]।

आगम मे इसकी गिनती सद्भाव पदार्थ और तथ्यभावो मे की गई है[5]।

भगवान महावीर ने कहा है—"ऐसी सज्ञा मत करो कि वेदना और निर्जरा नहीं हैं, पर ऐसी सज्ञा करो कि वेदना और निर्जरा हैं[6]।"

द्विपदावतारो में इसे वेदना का प्रतिपक्षी पदार्थ कहा है[7]।

उमास्वाति ने 'वेदना' को 'निर्जरा' का पर्यायवाची वतलाया है[8]। पर आगम इसे निर्जरा का प्रतिद्वन्दी तत्त्व वतलाते हैं[9]। वेदना का अर्थ है—कर्म-भोग, निर्जरा का अर्थ है—कर्मों को दूर करना।

१—तत्त्वा० १ ४ (देखिए पृ० १५१ पाद-टिप्पणी १)

२—उत्त० २८ १४ (पृ० २५ पर उद्धृत)

३—ठाणाङ्ग ६ ३ ६६५ (पृ० २२ पाद-टि० १ मे उद्धृत)

४—(क) गोम्मटसार जीवकाड ६२१

णव य पदत्था जीवाजीवा ताण च पुण्णपावदुग।
आसवसवरणिज्जरबधा मोक्खो य होतित्ति॥

(ख) पञ्चास्तिकाय २ १०८ (पृ० १५० पाद-टि० २ मे उद्धृत)

५—(क) उत्त० २८ १४ (पृ० २५ पर उद्धृत)

(ख) ठाणाङ्ग ६ ३ ६६५ (पृ०२२ पाद-टि० १ मे उद्धृत)

६—सूयगड २ ५ १८

नत्थि वेयणा निज्जरा वा नेव सन्न निवेसए।
अत्थि वेयणा निज्जरा वा एवं सन्न निवेसए॥

७—ठाणाङ्ग २ ५७

जदत्थि ण लोगे त सव्वं दुपओआर, तजहा······वेयणा चेव निज्जरा चेव

८—तत्त्वा० ९ ७ भाष्य :

निर्जरा वेदना विपाक इत्यनर्थान्तरम्

९—भगवती ६.१

इन सव आगम-प्रमाणो से यह स्वयसिद्ध है कि भगवान महावीर ने निर्जरा को एक स्वतत्र पदार्थ माना है ।

आगम में कहा है—"वुद्ध कर्मों के सवर और क्षपण मे सदा यत्नशील हो[1] ।" इसका अर्थ है वह नये कर्मों को न आने दे और पुराने कर्मों का नाश करे ।

आगमो में कहा है "ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—ये चार मुक्ति के मार्ग हैं[2] ।" "इसी मार्ग को प्राप्त कर जीव सुगति को प्राप्त करता है[3] ।"

षट् द्रव्य और नव पदार्थों के गुण और पर्याय के यथार्थ ज्ञान को सम्यक्ज्ञान कहा जाता है[4] । नव तथ्यभावो की स्वभाव से या उपदेश से भावपूर्वक श्रद्धा करना सम्यक् दर्शन अथवा सम्यक्त्व है[5] । चारित्र कर्मास्रव को रोकता है । तप वधे हुए कर्मों को झाडता है[6] ।

भगवान ने कहा है "सयम (चारित्र) और तप से पूर्व कर्मों का क्षय कर जीव समस्त दु खो से रहित हो मोक्ष को प्राप्त करता है[7] ।"

चारित्र सवर का हेतु है । तप निर्जरा का हेतु है ।

जीव अनादिकालीन कर्म-वध से ससार मे भ्रमण कर रहा है । जव तक जीव कर्मों से मुक्त नहीं होता तव तक निर्वाण प्राप्त नही होता—"नत्थि अमोक्खस्स निव्वाण" (उत्त० २८ ३०) । जो सयम और तप से युक्त नही उस अगुणी की कर्मों से मुक्ति नही होती—"अगुणिस्स नत्थि मोक्खो" (उत्त० २८ ३०) ।

१—उत्त० ३३ २५

तम्हा एएसि कम्माण अणुभागा वियाणिया ।
एएसि सवरे चेव खवणे य जए वुहो ॥

२—वही २८ १

३—वही २८ २

४—वही २८ ५-१४,३५

५—वही २८ १५,३५

६—वही २८ ३५

नाणेण जाणई भावे दसणेण य सद्दहे ।
चरित्तेण निगिण्हाइ तवेण परिसुज्झई ॥

७—वही २८ ३६

खवेत्ता पुव्वकम्माइ सजमेण तवेण य ।
सव्वदुक्खपहीणट्ठा पक्कमति महेसिणो ॥

सवर और निर्जरा ही ऐसे गुण हैं जिनसे सद्ज्ञानी और सम्यग्दृष्टि जीव को निर्वाण की प्राप्ति होती है।

मोक्ष-मार्ग मे निर्जरा पदार्थ को जो महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है, वह उपर्युक्त विवेचन से भलीभाँति समझा जा सकता है।

तप को चारित्र की तरह ही जीव का लक्षण कहा है[1]। तप निर्जरा का ही दूसरा नाम है। अत निर्जरा जीव का लक्षण है।

कर्मों का एक देशरूप से आत्मा से छूटना निर्जरा है—"एकदेशकर्मसक्षयलक्षणा निर्जरा" (तत्त्वा० १ ४ सर्वार्थसिद्धि)। कर्मों के क्षय से आत्म-प्रदेशो में स्वाभाविक उज्ज्वलता प्रकट होती है। जीव की स्वच्छता निर्जरा है। इसीलिए कहा है—"देशत कर्मों का क्षय कर देशत आत्मा का उज्ज्वल होना निर्जरा है[2]।"

आगम मे कहा है—"जब अनास्रवी जीव तप से सचित पापकर्मों का शोषण करता है तब पापकर्मो का क्षय होता है। जिस प्रकार एक महा तालाब हो, वह पानी से भरा हो और उसे रिक्त करने का सवाल हो तो पहले उस के स्रोतो को रोका जाता है और फिर उसके जल को उलीच कर उसे खाली किया जाता है, उसी प्रकार पापकर्म के आस्रव को पहले रोकने से सयमी करोडो भवो से सचित कर्मों को तपस्या द्वारा झाड सकता है[3]।"

२—अनादि कर्मबंध और निर्जरा (गा० १-४)

गुरु और शिष्य मे निम्न सवाद हुआ

शिष्य—"जीव और कर्म का आदि है, यह बात मिलती है या नही ?"

१—उत्त० २८ ११

नाण च दसण चेव चरित्त च तवो तहा।
वीरिय उवओगो य एय जीवस्स लक्खण॥

२—तेराद्वार दृष्टान्तद्वार

३—उत्त० ३० ५-६

जहा महातलायस्स सन्निरुद्धे जलागमे।
उस्सिचणाए तवणाए कमेण सोसणा भवे॥
एव तु सजयस्सावि पावकम्मनिरासवे।
भवकोडीसचिय कम्म तवसा निज्जरिज्जइ॥

गुरु—"नहीं मिलती, क्योंकि जीव अनुत्पन्न है—अनादि है।"

शिष्य—"पहले जीव फिर कर्म, यह बात मिलती है या नहीं ?"

गुरु—"नहीं मिलती, क्योंकि कर्म बिना जीव कहाँ रहा ? मोक्ष जाने के बाद तो जीव वापिस नहीं आता।"

शिष्य—"पहले कर्म पीछे जीव, यह बात मिलती है या नहीं ?"

गुरु—"नहीं मिलती, क्योंकि कर्म कृत होते हैं। जीव बिना कर्म को किसने किया ?"

शिष्य—"दोनों एक साथ उत्पन्न हैं, यह बात मिलती है या नहीं ?"

गुरु—"नहीं मिलती, क्योंकि जीव और कर्म को उत्पन्न करनेवाला कौन है ?"

शिष्य—"जीव कर्मरहित है, यह बात मिलती है या नहीं ?"

गुरु—"नहीं मिलती। यदि जीव कर्मरहित हो तो फिर करनी करने की चेष्टा ही कौन करेगा ? कर्मरहित जीव मुक्ति पाने के बाद वापिस नहीं आता।"

शिष्य—"फिर जीव और कर्म का मिलाप किस तरह होता है ?"

गुरु—"अपश्चातानुपूर्वी न्याय से जीव और कर्म का मिलाप चला आ रहा है। जैसे अंडे और मुर्गी में कौन पहले है और कौन पीछे, यह नहीं कहा जा सकता, वैसे ही प्रवाह की अपेक्षा जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है[1]।"

स्वामीजी ने जो यह कहा है—'**आठ करम छे जीव रे अनाद रा**' उसका भावार्थ उपरोक्त वार्तालाप से अच्छी तरह समझा जा सकता है। इन कर्मों की उत्पत्ति आस्रव पदार्थ से होती है क्योंकि मिथ्यात्व आदि आस्रव ही जीव के कर्मागमन के द्वार हैं।

जैसे वृक्ष से लगा हुआ फल पक कर नीचे गिर जाता है वैसे ही कर्म उदय में—विपाक अवस्था में आते हैं और फल देकर झड़ जाते हैं। कर्मों से बंधा हुआ संसारी जीव इस तरह कर्मों के झड़ने पर भी कर्मों से सर्वथा मुक्त नहीं होता क्योंकि वह आस्रव-द्वारों से सदा कर्म-संचय करता रहता है। यह पहले बताया जा चुका है कि जीव असंख्यात प्रदेशी चेतन द्रव्य है। उसका एक एक प्रदेश आस्रव द्वार है[2]। जीव के एक-एक प्रदेश से प्रतिसमय अनन्तानन्त कर्म लगते रहते हैं। एक-एक प्रकार के अनन्तानन्त कर्म एक-एक प्रदेश में लगते हैं। ये कर्म जैसे लगते हैं वैसे ही फल देकर प्रतिसमय अनन्त

१—तेराद्वार : दृष्टान्तद्वार

२—देखिए पृ० ४१७ टि० ३८ (२)

सख्या मे झडते भी रहते हैं। इस तरह बधने और झडने का चक्र चलता रहता है और जीव कर्मो से मुक्त नही होता।

स्वामीजी कहते हैं—"कर्मो को झाडने की प्रक्रिया को अच्छी तरह समझे बिना कर्मों से मुक्त होना असम्भव है। जैसे घाव मे सुराख हो और पीप आती रहे तो उस अवस्था मे ऊपर का मवाद निकलने पर भी घाव खाली नही होता, वैसे ही जब तक नये कर्मो के आगमन का स्रोत चलता रहता है तब तक फल देकर पुराने कर्मों के झडने रहने पर भी जीव कर्मो से मुक्त नही होता।"

३—उदय आदि भाव और निर्जरा (गा० ५-८)

उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम और परिणामी—इन पाच भावो का विवेचन पहले विस्तार से किया जा चुका है (देखिए पृ० ३८ टि० ६)।

संसारी जीव अनादि काल से कर्मबद्ध अवस्था में है। बधे हुए कर्मों के निमित्त से जीव की चेतना में परिणाम—अवस्थान्तर होते रहते हैं। जीव के परिणामो के निमित्त से नए पुद्गल कर्मरूप परिणमन करते हैं। नए कर्म-पुद्गलो के परिणमन से आत्मा मे फिर नए भाव होते हैं[1]। यह क्रम इस तरह चलता ही रहता है। पुद्गल-कर्म जन्य जैविक परिवर्तन पर आत्मिक विकास-ह्रास, आरोह-अवरोह का क्रम अवलम्बित रहता है।

कर्म-परिणमन से जीव मे नाना प्रकार की अवस्थाएँ और परिणाम होते हैं। उससे जीव मे निम्न पारिणामिक भाव उत्पन्न होते हैं—

१-गति परिणाम—नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देवगति रूप
२-इन्द्रिय परिणाम—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि रूप
३-कषाय परिणाम—राग द्वेष रूप
४-लेश्या परिणाम—कृष्णलेश्यादि रूप
५-योग परिणाम—मन-वचन-काय व्यापार रूप
६-उपयोग परिणाम—बोध-व्यापार
७-ज्ञान परिणाम
८-दर्शन परिणाम—श्रद्धान रूप
९-चारित्र परिणाम
१०-वेद परिणाम[2]—स्त्री, पशु, नपुसक वेद रूप

१—जीवपरिणामहेऊ कम्मत्ता पोग्गला परिणमति।
पुग्गलकम्मनिमित्त जीवो वि तहेव परिणमइ॥

२—ठाणाङ्ग १० ७१३

बधे हुए कर्मों के उदय मे आने पर जीवो मे निम्न ३३ औदयिक भाव-अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं

गति—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देवगति ।

काय—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, त्रसकाय ।

कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ ।

वेद—स्त्री, पुरुष, नपुसक ।

लेश्या—कृष्ण, नील, कापोत, तेजस्, पद्म, शुक्ल ।

अन्यभाव—मिथ्यात्व, अविरति, असज्ञीभाव, अज्ञानता, आहारता, छद्मस्थता, सयोगित्व, अकेवलीत्व, सांसारिकता, असिद्धत्व ।

उदयावस्था परिपाक अवस्था है। बधे हुए कर्म सत्तारूप में पडे रहते हैं। फल देने का समय आने पर वे उदय मे आते हैं। उदय मे आने पर जीव में जो भाव उत्पन्न होते हैं, वे औदयिक भाव हैं।

उदय आठो कर्मा का होता है। कर्मोदय जीव में उज्ज्वलता उत्पन्न नही करता।

आस्रव पदार्थ उदय और पारिणामिक भाव है। वह बध-कारक है। वह ससार बढाता है, उसे घटने नहीं देता।

मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से सम्यक् श्रद्धा और चारित्र का प्रादुर्भाव होता है। उपशम से औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र—ये दो भाव उत्पन्न होते हैं। क्षय से अटल सम्यक्त्व और परम विशुद्ध यथाख्यात चारित्र उत्पन्न होते हैं।

सवर औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक भाव है।

मोक्ष-प्राप्ति के दो चरण हैं—

(१) नये कर्मों का सचय न होने देना और

(२) पुराने कर्मो का दूर करना।

सवर प्रथम चरण है। वह नवीन मलीनता को उत्पन्न नही होने देता अत आत्म-शुद्धि का ही प्रबल उपक्रम है। निर्जरा द्वितीय चरण है। वह बधे हुए कर्मों को दूर करती है।

निर्जरा क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक भाव है।

आठ कर्मो मे ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय—ये चार कर्म घनघाती हैं, यह पहले बताया जा चुका है (देखिए पृ० २९८-३०० टि० ३)। इन

कर्मों के स्वभाव का विस्तृत वर्णन भी किया जा चुका है (देखिए पृ० ३०३-३२७ टि० ४-८)।

अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त श्रद्धा और चारित्र तथा अनन्त वीर्य—ये जीव के स्वाभाविक गुण हैं। ज्ञानावरणीय कर्म अनन्त ज्ञान को प्रकट नहीं होने देता—उसे आवृत्त कर रखता है। दर्शनावरणीय कर्म अनन्त दर्शन-शक्ति को आवृत्त कर रखता है। मोहनीय कर्म जीव की अनन्त श्रद्धा और चारित्र को प्रकट नहीं होने देता—उसे मोह-विह्वल रखता है। अन्तराय कर्म अनन्त वीर्य के प्रकट होने में बाधक होता है। इस तरह ज्ञानावरणीय आदि चारो कर्म जीव के स्वाभाविक गुणो को प्रकट नहीं होने देते। घन—बादलो की तरह वे उनको आच्छादित कर रखते हैं इससे वे घनघाती कहलाते हैं।

इन घनघाती कर्मो का उदय चाहे कितना ही प्रबल क्यो न हो, वह जीव के ज्ञान' दर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र और वीर्य गुणो को सम्पूर्णत आवृत्त नही कर सकता। ये शक्तियाँ कुछ-न कुछ मात्रा में सदा अनावृत रहती हैं। ज्ञानावरणीय आदि घाति कर्म —ज्ञानादि गुणो की घात करते हैं पर उनके अस्तित्व को सर्वथा नही मिटा सकते। यदि मिटा सकते तो जीव अजीव हो जाता। ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का सदा काल कुछ-न-कुछ क्षयोपशम रहता ही है जिससे ज्ञानादि गुण जीव मे न्यूनाधिक मात्रा में हमेशा प्रकट रहते हैं। कहा है—"सब जीवो के अक्षर का अनन्तवाँ भाग नित्य प्रकट रहता है यदि वह भी आवृत्त होता तो जीव अजीवत्व को प्राप्त होता। अत्यन्त घोर बादलो द्वारा सूर्य और चन्द्रमा की किरणें तथा रश्मियो का आच्छादन होने पर भी उनका एकान्त तिरोभाव नही हो पाता। अगर ऐसा हो तो फिर रात और दिन का अन्तर ही न रहे। प्रबल मिथ्यात्व के उदय के समय भी दृष्टि किंचित् शुद्ध रहती है। इसी से मिथ्यादृष्टि के भी गुणस्थान सभव होता है[1]।"

१—कर्मग्रन्थ २ टीका

'सव्व जीवाण पि अण अक्खरस्स अणतभागो निच्चुग्घाडिओ चिट्ठइ, जइ पुण सोवि आवरिज्जा, तेण जीवो अजीवत्तण पाविज्जा', इत्यादि। तथाहि समुन्नततिबहलजीमूतपटलेन दिनकररजनीकरकरनिकरतिरस्कारेऽपि नैकान्तेन तत्प्रभानाश सपद्यते, प्रतिप्राणिप्रसिद्धदिनरजनीविभागाभावप्रसङ्गात्। एवमिहापि प्रबलमिथ्यात्वोदये काचिदविपर्यस्तापि दृष्टिर्भवतीति तदपेक्षया मिथ्यादृष्टेरपि गुणस्थानसभव।

इसी तरह कर्मों के क्षयोपशम से जीव हमेशा कुछ-न-कुछ स्वच्छ—उज्ज्वल रहता है। जीव प्रदेशो की यह स्वच्छता—उज्ज्वलता निर्जरा है। जैसे-जैसे कर्मों का क्षयोपशम बढ़ता है वैसे-वैसे आत्मा के स्वाभाविक गुण अधिकाधिक प्रकट होते जाते हैं—आत्मा की स्वच्छता—निर्मलता—उज्ज्वलता बढ़ती जाती है। उज्ज्वलता का यह क्रमिक विकास ही निर्जरा है।

४—निर्जरा और मोक्ष में अन्तर (गा० ६) :

निर्जरा शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा गया है—"निर्ज्जरण निर्जरा विशरण परिशटनमित्यर्थ[1]।" इसका अर्थ है—कर्मों का परिशटन—दूर होना निर्जरा है। मोक्ष भी कर्मों का दूर होना ही है। फिर दोनो मे क्या अन्तर है ? इसका उत्तर है—"देशत कर्मक्षयो निर्जरा सर्वतस्तु मोक्ष इति[2]।" देश कर्मक्षय निर्जरा है और सर्व कर्मक्षय मोक्ष। आचार्य पूज्यपाद ने भी यही अन्तर बतलाया है—"एकदेशकर्मसक्षयलक्षणा निर्जरा। कृत्स्नकर्मवियोगलक्षणो मोक्ष[3]।" निर्जरा का लक्षण है एकदेश कर्मक्षय और मोक्ष का लक्षण है सम्पूर्ण कर्म वियोग।

५—ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम और निर्जरा (गा० १०-१७) :

गा० १०-१७ के भाव को समझने के लिए निम्न बातो की जानकारी आवश्यक है (१)—ज्ञान पांच प्रकार का है—(१) मतिज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मन पर्यवज्ञान और (५) केवलज्ञान[4]। इनकी सक्षिप्त परिभाषा पहले दी जा चुकी है[5]। यहाँ इन ज्ञानो की विशेषताओ पर कुछ प्रकाश डाला जा रहा है

(१) आभिनिबोधिकज्ञान (मतिज्ञान) अभिमुख आये हुए पदार्थ का जो नियमित बोध कराता है उस इन्द्रिय और मन से होने वाले ज्ञान को आभिनिबोधिकज्ञान कहते हैं[6]।

१—ठाणाङ्ग १ १६ टीका

२—वही

३—तत्त्वा० १ ४ सर्वार्थसिद्धि

४—(१) भगवती ८ २

(ख) नन्दी सूत्र १

५—देखिए पृ० २०४

६—नन्दी सू० २४

अभिणिबुज्झइ त्ति आभिणिबोहियनाण

आभिनिवोधिक ज्ञानी आदेश से (सामान्य रूप से) सर्व द्रव्य, सर्व क्षेत्र, सर्व काल और सर्व भाव को जानता-देखता है[1]।

(२) श्रुतज्ञान जो सुना जाए वह श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है। परन्तु मति श्रुतपूर्विका नही होती[2]। उपयुक्त (उपयोग सहित) श्रुतज्ञानी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा सर्व द्रव्य, सर्व क्षेत्र, सर्व काल और सर्व भाव को जानता-देखता है[3]।

(३) अवधिज्ञान . द्रव्य से अवधिज्ञानी विना किसी इन्द्रिय और मन की सहायता से जघन्य अनन्त रूपी द्रव्यो को और उत्कृष्ट सभी रूपी द्रव्यो को जानता-देखता है। क्षेत्र से जघन्य अगुल मात्र क्षेत्र को और उत्कृष्ट लोकप्रमाण असख्य खण्डो को अलोक मे जानता-देखता है। काल से जघन्य आवलिका के असख्य काल भाव को और उत्कृष्ट असख्य उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी रूप अतीत-अनागत काल को जानता-देखता है। भाव से जघन्य और उत्कृष्ट से अनन्त भावो को जानता-देखता है। सर्व भावो के अनन्तवें भाग को जानता-देखता है[4]।

(४) मन पर्यवज्ञान यह ज्ञान विना किसी मन या इन्द्रिय की सहायता से सभी जीवो के मन मे सोचे हुए अर्थ को प्रकट करनेवाला है[5]। ऋजुमति मन पर्यवज्ञानी द्रव्य से अनन्त प्रदेशी अनन्त स्कन्धो को जानता-देखता है। क्षेत्र से जघन्य अगुल के असख्यात भाग और उत्कृष्ट नीचे—इस रत्नप्रभा पृथ्वी के ऊपरी भाग के नीचे के छोटे प्रतरो तक जानता है, उपर ज्योतिष्क विमान के उपरी तलपर्यन्त, तथा तिर्यक्-मनुष्य क्षेत्र के भीतर

१—भगवती ८ २

दव्वओ ण आभिणिबोहियनाणी आएसेण सव्वदव्वाइ जाणइ पासति, खेत्तओ ण आभिणिबोहियनाणी आएसेण सव्वखेत्त जाणइ पासति, एव कालओ वि, एव भावओ वि।

२—नन्दी सूत्र २४

सुणेइत्ति सुय

३—भगवती ८ २

दव्वओ ण सुयनाणी उवउत्ते सव्वदव्वाइ जाणति पासति, एव खेत्तओ वि, कालओ वि। भावओ ण सुयनाणी उवउत्ते सव्वभावे जाणति, पासति।

४—नन्दी सूत्र १६

५—नन्दी सूत्र १८ गा० ६५

मणपज्जवनाण पुण, जणमणपरिचिंतिअत्थपागडण

ढाई द्वीप समुद्र पर्यन्त रहे हुए सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त जीवो के मनोगत भावो को जानता-देखता है। काल से जघन्य और उत्कृष्टत पल्योपम के असख्यातवें भाग भूत व भविष्य काल को जानता-देखता है। भाव से अनन्त भावो को जानता-देखता है। सभी भावो के अनन्तवें भाग को जानता-देखता है। विपुलमति मन पर्यवज्ञानी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को कुछ अधिक विपुल, विशुद्ध तथा अन्धकाररहित जानता-देखता है[1]।

(५) केवलज्ञान , केवलज्ञानी विना किसी इन्द्रिय और मन की सहायता से द्रव्य से सर्व द्रव्यो को, क्षेत्र से लोकालोक सर्व क्षेत्र को, काल से सर्व काल को, भाव से सर्व भावो को जानता-देखता है। केवलज्ञान सभी द्रव्यो के परिणाम और भावो का जाननेवाला है। वह अनन्त, शाश्वत तथा अप्रतिपाती—नही गिरनेवाला होता है। केवलज्ञान एक प्रकार का है[2]।

२—अज्ञान तीन हैं—(१) मतिअज्ञान, (२) श्रुतअज्ञान और (३) विभगज्ञान। यहाँ अज्ञान शब्द ज्ञान के विपरीतार्थ रूप में प्रयुक्त नही है। उसका अर्थ ज्ञान का अभाव ऐसा नही है। मिथ्यादृष्टि के मति, श्रुत और अवधिज्ञान को ही क्रमश मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान और विभगज्ञान कहा गया है[3]।

(१) मतिअज्ञान मतिअज्ञानी मतिअज्ञान के विषयभूत द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को जानता-देखता है।

(२) श्रुतअज्ञान श्रुतअज्ञानी श्रुतअज्ञान के विषयभूत द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को कहता, जानता और प्ररूपित करता है।

१—(क) नन्दी सू० १८

(ख) भगवती ८ २

२—(क) नन्दी सू० २२ गा० ६६

अह सव्वदव्वपरिणाम,—भावविण्णत्तिकारणमणत।
सासयमप्पडिवाई, एगविह केवल नाण ॥

(ख) भगवती ८ २

३—नन्दी सू० २५

विसेसिया सम्मदिट्ठिस्स मई मइनाण, मिच्छदिट्ठिस्स मई मइअन्नाण।
विसेसिअ सुय सम्मदिट्ठिस्स सुअ सुयनाण, मिच्छदिट्ठिस्स सुय सुयअन्नाण।

(३) विभगज्ञान   विभगज्ञानी विभगज्ञान के विषयभूत द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को जानता-देखता है[1]।

३—ज्ञानावरणीय कर्म पाँच प्रकार का है—मतिज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय, अवधिज्ञानावरणीय, मन पर्यव ज्ञानावरणीय और केवलज्ञानावरणीय। इनके स्वरूप का विस्तृत विवेचन पहले किया जा चुका है (देखिए पृ० ३०४)।

ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से समुच्चयरूप में निम्न आठ बोल उत्पन्न होते हैं।

(१) केवलज्ञान को छोडकर बाकी चार ज्ञान।

(२) तीनो अज्ञान

(३) आचाराङ्गादि १२ अङ्गो का अध्ययन और उत्कृष्ट मे १४ पूर्वों का अभ्यास

भिन्न-भिन्न ज्ञानावरणीय कर्मों के क्षयोपशम का परिणाम इस प्रकार होता है

(१) मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से सम्यक्त्वी के मतिज्ञान उत्पन्न होता है और मिथ्यात्वी के मतिअज्ञान।

(२) श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से सम्यक्त्वी के श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है और मिथ्यात्वी के श्रुतअज्ञान। सम्यक्त्वी उत्कृष्ट १४ पूर्व का अभ्यास करता है और मिथ्यात्वी देशन्यून १० पूर्व तक।

(३) अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से सम्यक्त्वी के अवधिज्ञान उत्पन्न होता है और मिथ्यात्वी के विभगज्ञान।

(४) मन पर्यव ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से ऋद्धिप्राप्त अप्रमत्त साधु को मन पर्यवज्ञान उत्पन्न होता है और मिथ्यात्वी को यह ज्ञान उत्पन्न नही होता।

(५) केवलज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम नही होता। ज्ञानावरणीय कर्म के सम्पूर्ण क्षय से केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

१—भगवती ८ २

(क) दव्वओ ण मइअन्नाणी मइअन्नाणपरिगयाइ दव्वाइ जाणइ पासइ, एव जाव भावओ मइअन्नाणी मइअन्नाणपरिगए भावे जाणइ पासइ।

(ख) दव्वओ ण सुयअन्नाणी सुयअन्नाणपरिगयाइ दव्वाइ आघवेति, पन्नवेइ, परुवेइ।

(ग) दव्वओ ण विभगनाणी विभगनाणपरिगयाइ दव्वाइ जाणइ पासइ, एव जाव भावओ ण विभगनाणी विभगनाणपरिगए भावे जाणइ पासइ।

पांच ज्ञानावरणीय कर्मों में से मतिज्ञानावरणीय और श्रुतज्ञानावरणीय का सदा कुछ-न-कुछ क्षयोपशम रहता है जिससे हर परिस्थिति मे जीव के कुछ-न-कुछ मात्रा मे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान अनाच्छादित रहते हैं। अर्थात् प्रत्येक जीव के कुछ न-कुछ मति-ज्ञान और श्रुतज्ञान रहते ही हैं। मतिज्ञानावरणीय और श्रुतज्ञानावरणीय कर्मों का किंचित् क्षयोपशम नित्य रहने से, उस क्षयोपशम के अनुपात से जीव कुछ मात्रा में स्वच्छ—उज्ज्वल रहता है। जीव की यह उज्ज्वलता निर्जरा है। भगवती सूत्र के अनुसार दो ज्ञान अथवा दो अज्ञान से कमवाले जीव नही होते। उत्कृष्ट में चार ज्ञान अथवा तीन अज्ञान होते हैं। केवल केवलज्ञानी के एक केवलज्ञान होता है[1]। नन्दीसूत्र मे भी मति और श्रुतज्ञान को तथा मति और श्रुतअज्ञान को एक दूसरे का अनुगत कहा है[2]। इससे भी कम-से कम दो ज्ञान अथवा दो अज्ञानवाले ही जीव सिद्ध होते हैं।

६—ज्ञान और अज्ञान साकार उपयोग और क्षायोपशमिक भाव है (गा०१८):

उपयोग अर्थात् बोधरूप व्यापार। यह जीव का लक्षण है।

जो बोध ग्राह्यवस्तु को विशेपरूप से जानता है, उसे साकार उपयोग कहते हैं और जो बोध ग्राह्यवस्तु को सामान्यरुप से जानता है, उसे निराकार उपयोग कहते हैं। ज्ञान साकार उपयोग है और दर्शन निराकार उपयोग।

उपयोग के विपय मे आगम में निम्न वार्त्तालाप मिलता है[3]—

"हे भगवन्! उपयोग कितने प्रकार का है?"

"हे गौतम! वह दो प्रकार का है—एक साकार उपयोग और दूसरा अनाकार उपयोग।"

"हे भगवन्! साकार उपयोग कितने प्रकार का है?"

१—भगवती ८ २

गोयमा! जीवा नाणी वि अन्नाणी वि, जे नाणी ते अत्थेगतिया दुन्नाणी · जे दुन्नाणी ते आभिणिबोहियनाणी य सुयनाणी य। · · · जे अन्नाणी ते अत्थेगतिया दुअन्नाणी····· ·· जे दुअन्नाणी ते मइअन्नाणी सुयअन्नाणी य।

२—नन्दी सू० २४

जत्थ आभिणिबोहियनाण तत्थ सुयनाण, जत्थ सुयनाणं तत्थाभिणिबोहियनाण दोऽवि एयाइ अण्णमण्णमणुगयाइ

३—(क) पन्नवणा पद २६

(ख) भगवती १६ ७

"हे गौतम ! वह आठ प्रकार का कहा गया है—आभिनिवोधिकज्ञान साकारोपयोग (मतिज्ञान सा०), श्रुतज्ञान सा०, अवधिज्ञान सा०, मन पर्यवज्ञान सा०, केवलज्ञान सा०, मतिअज्ञान सा०, श्रुतअज्ञान सा० और विभगज्ञान साकारोपयोग।"

"हे भगवन् ! अनाकार उपयोग कितने प्रकार का कहा गया है?"

"हे गौतम ! चार प्रकार का—चक्षुदर्शन अनाकारोपयोग, अचक्षुदर्शन अना०, अवधिदर्शन अना०, और केवलदर्शन अनाकारोपयोग।"

स्वामीजी का कथन इसी आगम उल्लेख पर आधारित है।

ज्ञान और अज्ञान दोनो साकार उपयोग हैं और दोनो का स्वभाव वस्तु को विशेष धर्मों के साथ जानना है। जो ज्ञान मिथ्यात्वी के होता है, उसे अज्ञान कहते हैं। ज्ञान और अज्ञान में इतना ही अन्तर है, विशेष नही। जैसे कुएँ का जल निर्मल, ठण्डा, मीठा, एक-सा होता है पर ब्राह्मण के पात्र मे शुद्ध गिना जाता है और मातङ्ग के पात्र मे अशुद्ध, वैसे ही मिथ्यात्वी के जो ज्ञान गुण प्रकट होता है, वह मिथ्यात्वसहित होने से अज्ञान कहा जाता है। वही विशेष बोध जब सम्यक्त्वी के उत्पन्न होता है तब ज्ञान कहलाता है।

ज्ञान-अज्ञान दोनो उज्ज्वल क्षायोपशमिक भाव हैं। वे आत्मा की निर्मलता—उज्ज्वलता के द्योतक हैं। ज्ञान-अज्ञान को प्रकट करनेवाली क्षयोपशमजन्य निर्मलता निर्जरा है।

७—दर्शनावरणीय कर्म का क्षयोपशम और निर्जरा (गा० १९-२३)

१—दर्शन चार प्रकार का कहा गया है—(१) चक्षुदर्शन (२) अचक्षुदर्शन (३) अवधिदर्शन और (४) केवलदर्शन। इनकी परिभाषाएँ पहले दी जा चुकी हैं। (देखिए पृ० टि० ३०७)।

२—इन्द्रियाँ पाँच हैं—(१) श्रोत्रेन्द्रिय (२) चक्षुरिन्द्रिय, (३) घ्राणेन्द्रिय, (४) रसनेन्द्रिय और (५) स्पर्शनेन्द्रिय।

३—दर्शनावरणीय कर्म की नौ प्रकृतियाँ हैं—(१) चक्षुदर्शनावरणीय, (२) अचक्षुदर्शनावरणीय, (३) अवधिदर्शनावरणीय, (४) केवलदर्शनावरणीय, (५) निद्रा, (६) निद्रा-निद्रा, (७) प्रचला, (८) प्रचला-प्रचला और (९) स्त्यानर्धि (स्त्यानगृद्धि)। इनकी व्याख्या पहले की जा चुकी है (देखिए पृ० ३०७ टि० ५)।

समुच्चय रूप से दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से आठ बोल उत्पन्न होते हैं—पाँचों इन्द्रियाँ तथा केवलदर्शन को छोड़कर तीन दर्शन।

1

भिन्न-भिन्न दर्शनावरणीय कर्मो के क्षयोपशम से निम्न बोल उत्पन्न होते हैं

(१) चक्षुदर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से दो बोल उत्पन्न होते हैं—(१) चक्षु इन्द्रिय और (२) चक्षु दर्शन।

(२) अचक्षुदर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से श्रोत्र, घ्राण, रस और स्पर्शन—ये चार इन्द्रियाँ और अचक्षुदर्शन प्राप्त होता है

(३) अवधिदर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से अवधिदर्शन उत्पन्न होता है।

(४) केवलदर्शनावरणीय कर्म का क्षयोपशम नही होता। दर्शनावरणीय कर्म के सम्पूर्ण क्षय से केवलदर्शन उत्पन्न होता है।

दर्शनावरणीय कर्म की प्रकृतियो मे अचक्षुदर्शनावरणीय प्रकृति का किंचित् क्षयोपशम सदा रहता है। इससे अचक्षुदर्शन और स्पर्शनइन्द्रिय जीव के सदा रहते हैं। विशेष क्षयोपशम होने से चक्षु को छोड कर अवशेष चार इन्द्रियाँ प्राप्त होती हैं और उनसे अचक्षुदर्शन भी विशेष उत्कर्ष को प्राप्त होता है।

इसी तरह जिस-जिस प्रकृति का और जैसा-जैसा क्षयोपशम होता है उसके अनुसार वैसा-वैसा गुण जीव के प्रकट होता जाता है।

दर्शन किस तरह निराकार उपयोग है, यह पहले बताया जा चुका है। कर्मो के सम्पूर्ण क्षय होने पर जीव अनन्त दर्शन से सम्पन्न होता है तथा मन और इन्द्रियो की सहायता बिना वह सर्व भावो को एक साथ देखने लगता है। क्षयोपशमजनित पाँच इन्द्रिय और तीन दर्शनो से जीव मे देखने की परिमित शक्ति उत्पन्न होती है। इस तरह क्षायोपशमिक दर्शन केवलदर्शन में समा जाता है। केवलदर्शन से जो देखने की अनन्त शक्ति प्रकट होती है उसी का अविकसित अंश क्षयोपशमजनित दर्शन है।

दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जीव मे जो यह दर्शन-विषयक विशुद्धि—उज्ज्वलता उत्पन्न होती है, वह निर्जरा है।

८—मोहनीय कर्म का क्षयोपशम और निर्जरा (गा० २५-४०)

उपर्युक्त गाथाओ के मर्म को समझने के लिए निम्न लिखित बातो को याद रखना आवश्यक है—

१—चारित्र पाँच हैं —(१) सामायिक चारित्र, (२) छेदोपस्थापनीय चारित्र, (३) परिहारविशुद्धिक चारित्र, (४) सूक्ष्मसम्पराय चारित्र और (५) यथाख्यात चारित्र। इनका विवेचन पहले किया जा चुका है (देखिए पृ० ५२३)। ये चारित्र सकल चारित्र हैं।

२—देशविरति यह श्रावक के बारह व्रतरूप है।

३—दृष्टियाँ तीन हैं—(१) सम्यक्‌दृष्टि, (२) मिथ्यादृष्टि और (३) सम्यक्‌मिथ्या दृष्टि।

४—चारित्र मोहनीयकर्म की २५ प्रकृतियाँ हैं। (१-४) अनन्तानुबंधी क्रोध-मान माया-लोभ, (५-८) अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध-मान-माया-लोभ, (९-१२) प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध-मान-माया-लोभ, (१३-१६) सज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभ, (१७) हास्य मोहनीय, (१८) रति मोहनीय, (१९) अरति मोहनीय, (२०) भय मोहनीय, (२१) शोक मोहनीय, (२२) जुगुप्सा मोहनीय, (२३) स्त्री वेद, (२४) पुरुष वेद और (२५) नपुसक वेद।

५—दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियाँ होती हैं—(१) सम्यक्त्व मोहनीय, (२) मिथ्यात्व मोहनीय और (३) मिश्र मोहनीय।

मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से समुच्चयरूप से आठ बातें उत्पन्न होती हैं—यथाख्यात चारित्र को छोडकर अवशेष चार चारित्र, देशविरति और तीन दृष्टियाँ। चारित्र मोहनीय के क्षयोपशम से चार चारित्र और देशविरति तथा दर्शन मोहनीय के क्षयोपशम से तीन दृष्टियाँ उत्पन्न होती हैं।

स्वामीजी ने चारित्र मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से किस प्रकार उत्तरोत्तर चारित्रिक विशुद्धता प्राप्त होती है, इसका वर्णन यहाँ बडे सुन्दर ढग से किया है। क्रम इस प्रकार है

(१) चारित्र मोहनीय की २५ प्रकृतियो मे से कुछ सदा क्षयोपशमरूप म रहती हैं। इससे जीव अशत उज्ज्वल रहता है। इस उज्ज्वलता मे शुभ अध्यवसाय का वर्तन होता है।

(२) जब क्रमश यह क्षयोपशम बढता है तब गुणो मे उत्कृष्टता आती है—क्षमा, दया आदि गुणो में वृद्धि होती है। शुभ लेश्या, शुभ योग, शुभ ध्यान, और शुभ परिणाम का वर्तन होता है। ऐसा अन्तराय कर्म के क्षयोपशम और मोहनीयकर्म के दूर होने से होता है।

(३) इस तरह शुभ ध्यान-परिणाम-योग-लेश्या से क्षयोपशम की वृद्धि होती है। अनन्तानुबंधी क्रोध-मान माया-लोभ की प्रकृतिया क्षयोपशम को प्राप्त होती हैं और देशविरति उत्पन्न होती है। इसी तरह क्षयोपशम की वृद्धि होते-होते यथाख्यात चारित्र के सिवाय चारो चारित्र उत्पन्न होते हैं।

(४) चारित्र मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न उपर्युक्त सारे गुण उत्तम हैं। सर्वचारित्र मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न यथाख्यात चारित्र के प्राप्त होने से जो गुण उत्पन्न होते हैं उनके ही अंशरूप हैं—उन्ही के नमूने हैं।

(५) चारित्र विरति संवर है। उससे नए कर्मों का आगमन रुकता है। जीव पापो के दूर होने से निर्मल होता है तब चारित्र उत्पन्न होता है। चारित्र की क्रिया शुभयोग में है और उससे कर्म कटते हैं तथा क्षयोपशम भाव से जीव उज्ज्वल होता है। जीव के आत्म-प्रदेशो की यह निर्मलता निर्जरा है।

दर्शन मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से समुच्चयरूप से शुभ श्रद्धान उत्पन्न होता है—तीन उज्ज्वल दृष्टियाँ उत्पन्न होती हैं।

मिथ्यात्व मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से मिथ्यादृष्टि उज्ज्वल होती है। इससे जीव कुछ पदार्थों की सत्य श्रद्धा करने लगता है।

मिश्र मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से सममिथ्यादृष्टि उज्ज्वल होती है। अब जीव और भी पदार्थो की शुद्ध श्रद्धा करने लगता है।

सम्यक्त्व मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से शुद्ध सम्यक्त्व प्रकट होता है और जीव नवो ही पदार्थो की शुद्ध श्रद्धा करने लगता है।

जब तक मिथ्यात्व मोहनीयकर्म का उदय रहता है तब तक सम्यक्मिथ्या दृष्टि नही आती। सम्यक्त्व मोहनीय का उदय रहता है तब तक क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न नही होता।

दर्शन मोहनीयकर्म का स्वभाव ही मनुष्य को भ्रम-जाल में डाले रहना—शुभ दृष्टि उत्पन्न न होने देना है।

दर्शन मोहनीयकर्म के सम्पूर्ण क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। सम्यक्त्व सम्पूर्णत विशुद्ध और अटल होता है। दर्शन मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न तीनो दृष्टियाँ क्षायिक सम्यक्त्व की अंशरूप हैं।

६—अन्तराय कर्म का क्षयोपशम और निर्जरा (गा०४१-५५) :

१—पांच लब्धियां इस प्रकार हैं—(१) दान लब्धि, (२) लाभ लब्धि, (३) भोग लब्धि, उपभोग लब्धि और (५) वीर्य लब्धि।

२—तीन वीर्य इस प्रकार हैं—(१) बाल वीर्य, (२) पण्डित वीर्य और (३) बालपण्डित वीर्य। इनका वर्णन पहले किया जा चुका है (देखिए पृ० ३२५ टि० ८ (५))।

३ —अन्तराय कर्म की पाँच प्रकृतियाँ हैं—(१) दानान्तराय कर्म (२) लाभान्तराय कर्म (३) भोगान्तराय कर्म (४) उपभोगान्तराय कर्म और (५) वीर्यान्तराय कर्म।

अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से दान लब्धि उत्पन्न होती है जिससे जीव दान देता है।

अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से समुच्चयरूप में पाँच लब्धियाँ और तीन वीर्य उत्पन्न होते हैं।

दानान्तराय कर्म के क्षयोपशम से दान लब्धि उत्पन्न होती है जिससे जीव दान देता है।

लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से लाभ लब्धि प्रकट होती है जिससे जीव वस्तुओं को प्राप्त करता है।

भोगान्तराय कर्म के क्षयोपशम से भोग लब्धि उत्पन्न होती है जिससे जीव वस्तुओं का भोग करता है।

उपभोगान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उपभोग लब्धि उत्पन्न होती है जिससे जीव वस्तुओं का बार-बार भोग करता है।

वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से वीर्य लब्धि उत्पन्न होती है जिससे शक्ति उत्पन्न होती है।

अन्तराय कर्म की पाचों प्रकृतियों का सदा देश क्षयोपशम रहता है जिससे जीव में पाँचों लब्धियाँ कुछ न कुछ मात्रा में रहती ही हैं।

अन्तराय कर्म की पाचों प्रकृतियों का सदा देश क्षयोपशम रहने से पाँचों लब्धियों का निरन्तर अस्तित्व रहता है और जीव अंशमात्र उज्ज्वल रहता है।

जीव जब लब्धियों के अस्तित्व के कारण दान देता, लाभ प्राप्त करता, भोगोपभोगों का सेवन करता है तब योग-प्रवृत्ति होती है।

अन्तराय कर्म के न्यूनाधिक क्षयोपशम के अनुसार जीव को भोगोपभोगों की प्राप्ति होती है। साधु का खाना-पीना आदि भोगोपभोग निरवद्य योग है और गृहस्थ का भोगोपभोग सावद्य योग।

ऊपर कहा जा चुका है कि वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम भी निरन्तर रहता है। इसके परिणामस्वरूप वीर्य लब्धि भी किंचित् मात्रा में हर समय मौजूद रहती है। जीव में हर समय कुछ-न-कुछ मात्रा वीर्य रहता ही है।

वीर्य लब्धि का अस्तित्व निरन्तर रूप से चौदहवें गुणस्थान तक रहता है। बारहवें गुणस्थान तक यह क्षायोपशमिक भाव के रूप में रहती है और तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान मे क्षायिक भाव के रूप में। वीर्य लब्धि जीव का गुण है। वह जीव की एक प्रकार की शक्ति है और उत्कृष्ट रूप मे वह अनन्त होती है। अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से वह देश रूप मे प्रकट होती है और क्षय से अनन्त रूप में।

यह पहले कहा जा चुका है कि वीर्य के तीन भेद हैं—बाल वीर्य, पण्डित वीर्य और बालपण्डित वीर्य।

जो अविरत होता है उसके वीर्य को बाल वीर्य कहते हैं। चतुर्थ गुणस्थान तक जीव के विरति नही होती। अत उस गुणस्थान तक के जीवो के वीर्य को बाल वीर्य कहते हैं।

जो सम्पूर्ण सयमी होता है उसके वीर्य को पण्डित वीर्य कहते हैं। सयमी छठे से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक होता है। अत पडित वीर्य का अस्तित्व भी इन गुणस्थानो में रहता है।

जो कुछ अशो मे विरत और कुछ अशो में अविरत होता है, उसे बालपडित, श्रमणोपासक अथवा श्रावक कहते हैं। देशविरति पाँचवें गुणस्थान में होती है अत बाल-पडित वीर्य का अस्तित्व पाँचवें गुणस्थान में ही होता है।

वीर्य शक्ति है और योग वीर्य के स्फोटन से उत्पन्न मन, वचन और काय का व्यापार। योग दो तरह के होते हैं—सावद्य और निरवद्य। पर वीर्य क्षयोपशम और क्षायिक भाव है अत वह किंचित् भी सावद्य नही।

वीर्य के अन्य दो भेद भी मिलते हैं—एक लब्धि वीर्य और दूसरा करण वीर्य। लब्धि वीर्य जीव की सत्तात्मक शक्ति है। लब्धि वीर्य सब जीवो के होता है। करण वीर्य क्रियात्मक शक्ति है—योग है—मन, वचन और काय की प्रवृत्तिस्वरूप है। यह जीव और शरीर दोनो के सहयोग से उत्पन्न होती है।

लब्धि वीर्य जीव की स्वाभाविक शक्ति है और करण वीर्य उस शक्ति का प्रयोग। जब तक जीव के शरीर-सयोग रहता है तभी तक करण वीर्य रहता है।

जब तक करण वीर्य रहता है तब तक पुद्गल-सयोग होता रहता है। पौद्गलिक सयोग के अभाव में करण वीर्य नही होता। और न उसके अभाव में योग-व्यापार होता है। जब तक जीव के कर्म लगते रहते हैं उसके योग और करण वीर्य समझना चाहिए।

लब्धि वीर्य तो जीव का स्वगुण है और वह अन्तराय कर्म के दूर होने से प्रकट होता है। आठ आत्माओं मे वीर्य आत्मा का उल्लेख है। अत लब्धि वीर्य भाव जीव है।

अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न लब्धियां आत्मा की अशत. उज्ज्वलता की द्योतक हैं।

क्षयोपशम से उत्पन्न यह स्वच्छता—उज्ज्वलता निर्जरा है।

१०—मोहकर्म का उपशम और निर्जरा (गा० ५६-५७) :

आठ कर्मों मे उपशम एक मोहकर्म का ही होता है। अन्य सात कर्मों का उपशम नही होता[1]। मोहनीयकर्म के उपशम से जीव मे जो भाव उत्पन्न होते हैं, उन्हें औपशमिक भाव कहते हैं। सम्यक्त्व और चारित्र औपशमिक भाव हैं। मोहनीयकर्म दो प्रकार का है—दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय के उपशम से उपशम सम्यक्त्व उत्पन्न होता है और चारित्र मोहनीय के उपशम से उपशम चारित्र।

श्री जयाचार्य ने कहा है—"कर्म के उपशम से उत्पन्न भावो को उपशम भाव कहते हैं। प्रश्न है उपशम भाव छह द्रव्यो में कौन-सा द्रव्य है एव नव पदार्थों में कौन-सा पदार्थ ? उपशम भाव षट द्रव्यो में जीव है तथा नव पदार्थों मे जीव और संवर[2]।"

११—क्षायिक भाव और निर्जरा (गा० ५८-६२)

कर्मों के सम्पूर्ण क्षय से जो भाव उत्पन्न होते हैं, उन्हे क्षायिक भाव कहते हैं। क्षय आठो ही कर्मों का होता है[3]।

१—(क) अनुयोगद्वार ११३

से किं त उवसमे ? उवसमे मोहणिज्ज कम्मस्स उवसमेण, से त उवसमे

(ख) झीणी चर्चा ढा० २.२१

सात कर्म रो तो उपशम न होवे, मोहकर्म रो होय।

२—(क) झीणीचर्चा ढा० २.८

उपशम निपन छ में जीव कहीजे, नवतत्त्व माहि दोय वर न्याय।
जीव अने संवर विहु जाणो, कर्म उपशमिया निपना उपशम भाव॥

(ख) वही ढा० २.५

मोहकर्म उपशम निपन्न ते, छ द्रव्य माहि जीव।
नव में जीव संवर कह्यो, उत्तम गुण है अतीव॥

३—अनुयोग द्वार ११४

से किं त खइए ? खइए अट्ठण्ह कम्म पगडीणं खएणं से त खइए

स्वामीजी ने यहाँ घनघाती कर्मों के क्षय से उत्पन्न क्षायिकभावो की चर्चा की है।

चारो घनघाती कर्मो के क्षय से समुच्चयरूप से जीव के नौ बोल उत्पन्न होते हैं—केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र, दान लब्धि, लाभ लब्धि, भोग लब्धि, उपभोग लब्धि और वीर्य लब्धि।

भिन्न-भिन्न घाती कर्मों की अपेक्षा क्षय से उत्पन्न भावो का विवरण इस प्रकार है :

ज्ञानावरणीय कर्म के सर्वथा क्षय होने से क्षायिकभाव केवलज्ञान उत्पन्न होता है। दर्शनावरणीय कर्म के सर्वथा क्षय से क्षायिकभाव केवलदर्शन उत्पन्न होता है। मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय से क्षायिकभाव सम्यक्त्व और क्षायिकभाव चारित्र प्राप्त होते हैं। अन्तराय कर्म के सर्वथा क्षय से पाचो क्षायिक लब्धियाँ—दानलब्धि, लाभ लब्धि, भोग लब्धि, उपभोग लब्धि और वीर्य लब्धि प्रकट होती हैं। क्षायिक अनन्त वीर्य उत्पन्न होता है।

घाती कर्मो के सर्वथा क्षय से जो भाव उत्पन्न होते हैं—वे आत्मा की विशुद्ध स्थिति के द्योतक हैं। इन कर्मों के क्षय से आत्मा मे अनन्त चतुष्टय उत्पन्न होता है—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्त वीर्य। घाती कर्मों के क्षय से *आत्मा का इस प्रकार से उज्ज्वल होना निर्जरा है।*

श्री जयाचार्य लिखते हैं—

"ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से निष्पन्न क्षायिक केवलज्ञान षट् द्रव्यो में जीव और नौ पदार्थों मे जीव और निर्जरा है। दर्शनावरणीय कर्म के क्षयसे निष्पन्न क्षायिक केवल दर्शन षट् द्रव्यो मे जीव और नौ पदार्थों में जीव और निर्जरा है। मोहकर्म के क्षय से निष्पन्न क्षायिक सम्यक्त्व और चारित्र षट् द्रव्यो मे जीव और नौ पदार्थों मे जीव, सवर और निर्जरा है। दर्शनमोह के क्षय से उत्पन्न क्षायिक सम्यक्त्व षट् द्रव्यो मे जीव और नौ पदार्थों में जीव, सवर और निर्जरा है। चतुर्थ गुणस्थान में होनेवाला क्षायिक सम्यक्त्व षट् द्रव्यो मे जीव और नौ पदार्थो मे जीव और निर्जरा है। वह सवर नही है। विरत की क्षायिक सम्यक्त्व षट् द्रव्यो में जीव और नौ पदार्थों मे जीव और सवर है। यह पाँचवें गुणस्थान से शुरू होता है। चारित्रमोह के क्षय से उत्पन्न क्षायिक चारित्र षट् द्रव्यो मे जीव और नव पदार्थों मे जीव और सवर है। अन्तराय कर्म के क्षय से

उत्पन्न पांच क्षायिक लब्धियां षट् द्रव्यों में जीव और नौ पदार्थों मे जीव और निर्जरा है[1] ।"

१२—तीन निर्मल भाव (गा० ६३-६५)

उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम—इन चार भावों में उदयभाव बंध का हेतु है और बाद के तीन भाव मुक्ति के हेतु। कर्मों के उदय से आत्मा मलीन होती है और उनके उपशम, क्षय और क्षयोपशम से निर्मल—उज्ज्वल। उपशम और क्षयोपशम आत्मा के प्रदेशो को सर्वत उज्ज्वल नहीं करते, पर उनमे देश उज्ज्वलता लाते हैं। कर्मों के उपशम और क्षयोपशम से उत्पन्न भाव जीव के गुणरूप होते हैं। इन भावो से जीव को आत्मा के मूल स्वरूप की देश अनुभूति होती है। निर्जरा और मोक्ष मे इतना ही अन्तर है कि मोक्ष आत्मा के शुद्ध स्वरूप की सम्पूर्ण अनुभूति है और निर्जरा अकृत्स्न अनुभूति। "स्वामीजी कहते हैं—जैसे देश विरति सम्पूर्ण विरति का अंश है वैसे ही निर्जरा मोक्ष का अंश है। जैसे सम्पूर्ण त्याग कर देने से देश विरति ही सम्पूर्ण विरति मे परिणत होती है वैसे ही सम्पूर्ण कर्म-क्षय होने पर निर्जरा ही मोक्ष का रूप धारण कर लेती है। जैसे

१—झीणीचर्चा ३

ज्ञानावर्णी क्षायक निपन्न ते, ७ मे जीव पिछाण।
नव मे जीव ने निर्जरा, केवलज्ञान सुजाण॥
दर्शनावर्णी क्षायक निपन्न ते, ७ मे जीव पिछाण।
नव मे दोय जीव निर्जरा, केवलदर्शण जाण॥
मोह कर्म क्षायक निपन्न ते, ७ मे जीव सुजोय।
नव मे जीव संवर निर्जरा, दर्शण चारित्र दोय॥
दर्शण मोह क्षायक निपन्न ते, ७ मे जीव है ताम।
नव मे जीव संवर निर्जरा, क्षायक सम्यक्त पाम॥
क्षायक सम्यक्त चौथा गुण ठाणा तणी, ७ मे जीव विख्यात।
नव मे दोय जीव निर्जरा, संवर नहीं तिलमात॥
क्षायक सम्यक्त विरतवंत री, ७ मे जीव सुजाण।
नव मे जीव संवर कह्यो, पांचमा सू पिछाण॥
चारित्र मोह क्षायक निपन्न ते, ७ मे जीव सुजाण।
नव मे जीव संवर विरत ते, क्षायक चारित्र पिछाण॥
अंतराय क्षायक निपन्न ते, ७ मे जीव पिछाण।
नव मे दोय जीव निर्जरा, पांच क्षायक लब्ध जाण॥

समुद्र के जल का एक बिंदु समुद्र के समग्र जल से भिन्न नहीं होता वैसे ही निर्जरा मोक्ष से भिन्न तत्त्व नहीं, पर केवल उसका एक अंश है। देशत कर्मों का क्षय कर आत्म-प्रदेशों का देशत उज्ज्वल होना निर्जरा है और सम्पूर्णरूप से कर्म-क्षय कर आत्म-प्रदेशों का सम्पूर्णत उज्ज्वल होना मोक्ष।

"जैसे संवर आस्रव का प्रतिपक्ष है वैसे ही निर्जरा बन्ध का प्रतिपक्ष है। आस्रव का संवर और बन्ध की निर्जरा होती है। निर्जरा से आत्मा का परिमित स्वरूपोदय होता है। पूर्ण संयम और पूर्ण निर्जरा होते ही आत्मा का पूर्णोदय हो जाता है—मोक्ष हो जाता है[१]।"

निरजरा पदारथ (ढाल : २)

दुहा

१—निरजरा गुण निरमल कह्यो, ते उजल गुण जीव रो वशेख ।
ते निरजरा हुवे छे किण विधे, सुणजो आण ववेक ॥

२—भूख तिरषा सी तापादिक, कष्ट भोगवे विविध परकार ।
उदे आया ते भोगव्या, जब करम हुवे छे न्यार ॥

३—नरकादिक दु ख भोगव्या, करम घस्या थी हलको थाय ।
आ तो सहजा निरजरा हुइ जीव रे, तिणरो न कीयो मूल उपाय ॥

४—निरजरा तणो कामी नही, कष्ट करे छे विविध परकार ।
तिणरा करम अल्प मातर झरे, अकाम निरजरा नो एह विचार ॥

५—अह लोक अर्थे तप करे, चक्रवतादिक पदवी काम ।
केइ परलोक ने अर्थे करे, नही निरजरा तणा परिणाम ॥

६—केइ जस महिमा वधारवा, तप करे छे ताम ।
इत्यादिक अनेक कारण करे, ते निरजरा कही छे अकाम ॥

७—सुध करणी करे निरजरा तणी, तिण सू करम कटे छे ताम ॥
थोडा घणा जीव उजलो हुवे, ते सुणजो राखे चित ठाम ॥

निर्जरा पदार्थ (ढाल २)

दोहा

१—भगवान ने निर्जरा को निर्मल गुण कहा है। निर्जरा जीव का विशेष उज्ज्वल गुण है। अब निर्जरा किस प्रकार होती है, यह विवेकपूर्वक सुनो।

अकाम सकाम निर्जरा (दो० २-६)

२—जीव भूख, प्यास, शीत, तापादि के विविध कष्टों को भोगता है। उदय में आए हुए कर्मों को इस तरह भोगने से कर्म अलग होते हैं।

३—नरकादिक दुःखों के भोगने से उदय में आए हुए कर्म घिस कर हल्के हो जाते हैं। यह जीव के सहज निर्जरा होती है। इसके लिए जीव की ओर से जरा भी प्रयास नहीं होता।

४—जो निर्जरा का कामी नहीं होता फिर भी अनेक तरह के कष्ट करता है, उसके कर्म अल्पमात्र झड़ते हैं। यह अकाम निर्जरा का स्वरूप है।

५-६—कई इस लोक के सुख के लिए—चक्रवर्ती आदि पदवियों की कामना से, कई परलोक के सुख के लिए और कई यश-महिमा बढ़ाने के लिए तप करते हैं। इत्यादि अनेक कारणों से जो तप किया जाता है तथा जिस तप में कर्म-क्षय करने के परिणाम नहीं रहते—वह अकाम निर्जरा कहलाती है[१]।

७—अब निर्जरा की शुद्ध करनी के विषय में ध्यानपूर्वक सुनो, जिससे कम अधिक मात्रा में कर्म कटते हैं।

ढाल : २

(दूजो मगल सिद्ध नमु नित—ए देशी)

१—देस थकी जीव उजल हुवो छैं, ते तो निरजरा अनूप जी।
हिवें निरजरा तणी सुध करणी कहूं छू, ते सुणजो धर चूप जी॥
आ सुध करणी छैं करम काटण री*॥

२—ज्यू साबू दे कपडा ने तपावें, पांणी सू छाटे करें सभाल जी।
पछे पाणी सूं धोवे कपडा नें, जब मेल छूटे ततकाल जी॥

३—ज्यू तप कर ने आतम ने तपावे, ग्यान जल सू छाटे ताय जी।
ध्यान रूप जल माहे झकोले, जब करम मेल छट जाय जी॥

४—ग्यान रूप साबण सुध चोखो, तप रूपी निरमल नीर जी।
धोबी ज्यू छैं अतर आतमा, ते धोवे छे निज गुण चीर जी॥

५—कामी छे एकत करम काटण रो, और वछा नही काय जी।
ते तो करणी एकत निरजरा री, तिण सू करम झड जाय जी॥

६—करम काटण री करणी चोखी, तिणरा छे बारे भेद जी।
तिण करणी कीया जीव उजल हुवे छे, ते सुणजो आण उमेद जी॥

७—अणसण करे च्यारू आहार त्यागे, करे जावजीव पचखाण जी।
अथवा थोडा काल ताई त्यागे, एहवी तपसा करे जाण रे जी॥

---

*आगे की प्रत्येक गाथा के अन्त में यह आंकडी पढ़नी चाहिए।

ढाल : २

१—जीव का एकदेश उज्ज्वल होना अनुपम निर्जरा है। अब निर्जरा की शुद्ध करनी का विवेचन करता हूँ। स्थिर चित्त रहकर सुनो। नीचे बताई हुई करनी कर्म काटने की शुद्ध विधि है।

२-३—जिस तरह पहिले साबुन डालकर कपड़ों को तपाया जाता है फिर उनको सभाल कर जल से छाँटा जाता है और फिर साफ जल से धोने से तत्काल कपड़ों का मैल छूट जाता है, उसी तरह आत्मा को पहिले तप द्वारा तपाने से, फिर ज्ञानरूपी जल से छांटने से और अन्त में ध्यानरूपी जल मे धोने से जीव का कर्मरूपी मैल दूर हो जाता है।

निर्जरा और धोबी का दृष्टान्त (गा० २-४)

४—ज्ञानरूपी शुद्ध साबुन से, तपरूपी निर्मल नीर से, अतर आत्मारूपी धोबी अपने निज गुणरूपी कपड़ों को धोता है[२]।

५—जो केवल कर्म-क्षय करने का ही कामी है, जिसे और किसी प्रकार की कामना नहीं है, वही निर्जरा की सच्ची करनी करता है और उसका कर्म-मैल झड़ जाता है।

निर्जरा की शुद्ध करनी

६—कर्म-क्षय करने की उत्तम करनी के बारह भेद हैं। उन्हें उल्लासपूर्वक सुनो। इस करनी से जीव उज्ज्वल होता है[३]।

निर्जरा की करनी के बारह भेद (गा० ६-४५)

७—निर्जरा की हेतु प्रथम करनी अनशन है। चार प्रकार के आहार का कुछ काल के लिए या यावज्जीवन के लिए स्वेच्छापूर्वक त्याग कर तपस्या करना अनशन कहलाता है।

अनशन (गाथा ७-९)

८—सुध जोग रुंध्या साधु रे हूवो सवर, श्रावक रे विरत हुइ ताय जी।
पिण कष्ट सह्या सू निरजरा हूवे, तिणसू घाल्यो छे निरजरा माय जी॥

९—ज्यूं २ भूख तिरपा लागे, ज्यू २ कप्ट उपजे अतत जी।
ज्यूं २ करम कटे हुवे न्यारा, समें २ खिरे छे अनत जी॥

१०—उणो रहें ते उणोदरी तप छे, ते तो दरब ने भाव छे न्यार जी।
दरब ते उपगरण उणा राखे, वले उणोइ करे आहार जी॥

११—भाव उणोदरी क्रोधादिक वरजे, कलहादिक दिये छे निवार जी।
समता भाव छे आहार उपधि थी, एहवो उणोदरी तप सार जी॥

१२—भिष्याचरी तप भिष्या त्यागया हुवे, ते अभिग्रहा छे विवध परकार जी।
ते तो दरब पेतर काल भाव आभगह छे, त्यारो छे बोहत विस्तार जी॥

१३—रस रो त्याग करे मन सुधे, छाड्यो विगयादिक रो सवाद जी।
अरस विरस आहार भोगवे समता सू, तिणरे तप तणी हुवे समाद जी॥

१४—काया क्लेस तप कष्ट कीया हुवे, आसण करे विविध परकार जी।
सी तापादिक सहे गात न ढके, वले न करे सोभा न सिणगार जी॥

१५—परीसलीणीया तप च्यार परकारे, त्यारा जूआजूआ छे नाम जी।
इंद्री कषाय ने जोग सलीणीया, विवतसेणासणसेवणा ताम जी॥

१६—सोतइंद्री ने विषे ना सब्द सूं रूंधे, विषे सब्द न सुणे किं वार जी।
कदा विषे रा सब्द काना मे पड़ीया, तो राग धेष न करे लिगार जी॥

१७—इम चखूइंद्री रूप सूं सलीनता, घ्रणइंद्री गंध सूं जाण जी।
रसइंद्री रस सूं ने फरसइंद्री फरस सूं, सुरतइंद्री ज्यूं लीजो पिछाण जी॥

१८—क्रोध उपजावारो रूंधण करवो, उदे आयो निरफल करे ताम जी।
मान माया लोभ इम हिज जाणो, कषाय सलीणीया तप हुवे आम जी॥

१९—माठुआ मन ने रूंधे देणो, भलो मन परवरतावणो ताम जी।
इम हिज वचन ने काया जाणो, जोग सलीणीया हुवे आम जी॥

२०—अस्त्री पसू पिंडग रहीत थानक सेवे, ते सुध निरदोषण जाण जी।
पीढ़ पाटादिक निरदोषण सेवे, विवतसेंणासण एम पिछाण जी॥

२१—छव परकारे बाह्य तप कह्यो छे, ते प्रसिध चावो दीसत जी।
हिवें छ परकारे अभितर तप कहूं छूं, ते भाख्यो छे श्री भगवत जी॥

प्रतिसलीनता (गा० १५-२०)

१५—प्रतिसलीनता तप चार प्रकार का होता है। अलग-अलग नाम ये हैं—(१) कषाय प्रतिसलीनता, (२) इन्द्रिय प्रतिसलीनता, (३) योग प्रतिसलीनता और (४) विविक्त-शयनासनसेवनता।

१६—श्रुत इन्द्रिय को विषयपूर्ण शब्दों से रोकना, विषय के शब्द न सुनना, विषय के शब्द कान मे पडें तो उन पर राग द्वेष न लाना श्रुत इन्द्रिय प्रतिसंलीनता तप है।

१७—इसी तरह चक्षुरिन्द्रिय का विषय रूप, घ्राणेन्द्रिय का विषय गध, रसनेन्द्रिय का विषय रस और स्पर्शनेन्द्रिय का विषय स्पर्श है। इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से रोकना क्रमश श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय प्रतिसलीनता तप कहलाता है।

१८—क्रोध को उत्पन्न न होने देना, उदय में आने पर उसे निष्फल करना, इसी तरह मान, माया और लोभ को रोकना और उदय में आने पर उन्हें निष्फल करना कषाय सलीनता तप कहलाता है।

१९—मन की अशुभ प्रवृत्ति को रोकना और शुभ भावों में उनकी प्रवृत्ति करना और इसी तरह वचन और काय के सम्बन्ध में करना योग सलीनता तप कहलाता है।

२०—स्त्री, पशु और नपुसकरहित तथा निर्दोष स्थानक एव शय्या आसन का सेवन करना विविक्तशय्यासन तप कहलाता है[९]।

बाह्य तप

आभ्यन्तर तप

२१—अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचरी, रस-परित्याग, कायक्लेश और प्रतिसलीनता—ये जो तप ऊपर में कहे गए हैं, वे छहों बाह्य तप है। वे लोक-प्रसिद्ध और बाहर से प्रकट होते हैं अत उन्हें बाह्य तप कहा गया है। भगवान ने आभ्यन्तर तप भी छह बतलाए हैं। अब उनका वर्णन करता हूँ[१०]।

२२—प्रायछित कह्यो छे दस परकारे, दोप आलोए प्रायछित लेवत जी ।
ते करम खपाय आराधक थावे, ते तो मुगत मे वेगो जावत जी ॥

२३—विनो तप कह्यो सात परकारे, त्यारो छे बोहत विसतार जी ।
ग्यान दरसण चारित मन विनो, वचन काया ने लोग ववहार जी ॥

२४—पाचू ग्यान तणा गुण ग्राम करणा, ए ग्यान विनो करणो छे एह जी ।
दरसण विना रा दोय भेद छे, सुसरपा ने अणासातणा तेह जी ॥

२५—सुसरपा वडा री करणी, त्याने वदणा करणी सीस नाम जी ।
ते सुसरपा दस विध कही छे, त्यारा जूआजूआ नाम छे ताम जी ॥

२६—गुर आया उठ उभो होवणो, आसन छोडणो ताम जी ।
आसन आमत्रणो हरप सू देणो, सतकार ने समाण देणो आम जी ॥

२७—वदणा कर हाथ जोडी रहे उभो, आवता देख साह्मो जाय जी ।
गुर उभा रहे त्या लग उभा रहिणो, जाये जब पोहचावण जावे ताय जी ॥

२८—अणअसातणा विना रा भेद, पैतालीस कह्या जिणराय जी ।
अरिहंत ने अरिहंत परूप्यो धर्म, वले आचार्य ने उवझाय जी ॥

२९—थिवर कुल गण सघ नो विनो, क्रियावादी सभोगी जाण जी ।
मति ग्यानादिक पाचूंई ग्यान रो, ए पनरेइ बोल पिछाण जी ॥

२२—प्रथम आभ्यन्तर तप प्रायश्चित्त है। प्रायश्चित्त दस प्रकार का बत [illegible] गया है। प्रायश्चित्त का अर्थ दोषों की आलोचन [illegible]र उनके लिए दण्ड लेना होता है। जो दोषों की आलोचना कर प्रायश्चित्त करते है, वे कर्मों का क्षय करते है और आराधक बन शीघ्र मोक्ष को पहुँचते है[११]। — प्रायश्चित्त

२३—विनय दूसरा आभ्यन्तर तप है। यह सात प्रकार का कहा गया है—(१) ज्ञान, (२) दर्शन, (३) चारित्र, (४) मन, (५) वचन, (६) काय और (७) लोक-व्यवहार विनय। इनका बहुत विस्तार है। — विनय (गा० २३-३७)

२४—पांचों प्रकार के ज्ञान की गुणगरिमा करना ज्ञानविनय है। दर्शनविनय के दो भेद हैं—(१) शुश्रूषा और (२) अनासातना।

२५ शुश्रूषा अर्थात् वयोवृद्ध साधुओं की सेवा करना, नत मस्तक हो उनकी वन्दना करना। यह शुश्रूषा भिन्न-भिन्न नाम से दस प्रकार की है।

२६-२७—गुरु आने से खड़ा होना, आसन छोड़ना, आसन के लिए आमन्त्रण कर हर्षपूर्वक आसन देना, सत्कार-सन्मान देना, वन्दना कर हाथ जोड़े खड़ा रहना, आते देखकर सामने जाना, जब तक गुरु खड़े रहें खड़ा रहना, जब जाये तब पहुँचाने जाना—शुश्रूषा विनय है।

२८-२९—अनासातनाविनय के भगवान ने ४५ भेद कहे हैं। अरिहत और अरिहतप्ररूपित धर्म, आचार्य और उपाध्याय, स्थविर, कुल, गण, सघ, क्रियावादी, सभोगी (समान धार्मिक), मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्यवज्ञान और केवलज्ञान—ये पद्रह बोल हैं।

३०—यारी आसातना टालणी ने विनो करणो, भगत कर देणो बहु समाण जी।
गुणग्राम करे ने दीपावणा त्याने, दरसण विनो छे सुध सरधान जी॥

३१—या पनरा बोला मे पाच ग्यान फेर कह्या छे, ते दीसे छे चारित सहीत जी।
ए पाच ग्यान ने फेर कह्या त्यारी, विना तणी ओर रीत जी॥

३२—सामायक आदि दे पाचूई चारित, त्यारो विनो करणो जथा जोग जी।
सेवा भगत त्यारी हरप सू करणी, त्यासू करणो निरदोप सभोग जी॥

३३—सावद्य मन नें परो निवारे, ते सावद्य छे बारे परकार जी।
बारे परकार निरवद मन परवरतावे, तिण सू निरजरा हुवे श्रीकार जी॥

३४—इम हिज सावद्य वचन बारे भेदे, तिण सावद्य ने देवे निवार जी।
निरवद वचन बोले निरदोपण, बारेइ बोल वचन विचार जी॥

३५—काया अजेणा सू नही प्रवरतावे, तिणरा भेद कह्या सात जी।
ज्यू सात भेद काया जेणा सू परवरतावे, जब करम तणी हुवे घात जी॥

३६—लोग ववहार विनो कह्यो सात परकारे, गुर समीपे वरतवो ताम जी।
गुरवादिक रे छादे चालणो, ग्यानादिक हेते करणो त्यारो काम जी॥

३७—भणायो त्यारो विनो वीयावच करणी, आरत गवेप करणो त्यारो काम जी।
प्रसनाव अवसर नो जाण हुवेणो, सर्व कार्य करणो अभिराम जी॥

३०—इनकी असातना से दूर रह इनका विनय करना, भक्ति कर बहुमान देना तथा गुणगान कर उनकी महिमा बढाना—यह दर्शन विनय की शुद्ध रीति है।

३१—उपर्युक्त पन्द्रह बोलों मे पांच ज्ञान का पुनरुल्लेख हुआ है। वे चारित्र सहित ज्ञान मालूम देते हैं। ये जो यहाँ पांच ज्ञान कहे हैं, उनके विनय की रीति भिन्न है।

३२—सामायिक आदि पांचों चारित्रशीलों का यथायोग्य विनय करना, उनकी हर्षपूर्वक सेवा-भक्ति करना और उनसे निर्दोष संभोग करना—ज्ञान विनय है

३३—सावद्य मन, जो बारह प्रकार का है, उसे दूर करना और उतने ही प्रकार का जो निरवद्य मन है उसकी प्रवृत्ति करना मन-विनय है। इससे उत्तम निर्जरा होती है।

३४—इसी तरह सावद्य भाषा बारह प्रकार की है। सावद्य को दूर कर निर्दोष—निरवद्य भाषा बोलना वचन-विनय है।

३५—अयतनापूर्वक काय-प्रवृत्ति के ७ भेद हैं। इनको दूर कर काय की यतनापूर्वक प्रवृत्ति करने से कर्मों का क्षय होता है। यतनापूर्वक काय-प्रवृत्ति के भी सात भेद हैं, यह काय-विनय तप है।

३६-३७—लोक व्यवहार (लोकोपचार) विनय के सात भेद हैं—(१) गुरु के समीप रहना, (२) गुरु की आज्ञा अनुसार चलना, (३) ज्ञानादि के लिए उनका कार्य करना, (४) ज्ञान दिया हो उनकी वैयावृत्त्य करना, (५) आर्त-गवेषणा करना, (६) अवसर का जानकार होना और (७) गुरु के सब कार्य अच्छी तरह करना[१२]।

३८—वीयावच तप छे दस परकारे, ते वीयावच साधा री जाण जी।
करमा री कोड खपे छे तिण थी, नेडी हुवे छे निरवाण जी॥

३९—सभाय तप छे पाच परकारे, जे भाव सहीत करे सोय जी।
अर्थ ने पाठ विवरा सुध गिणीया, करमा रा भड खय होय जी॥

४०—आरत रुदर ध्यान निवारे, ध्यावे धर्म ने सुकल ध्यान जी।
ध्यावतो २ उतकष्टो ध्यावे, तो उपजे केवलग्यान जी॥

४१—विउसग तप छे तजवा रो नाम, ते तो दरब ने भाव छे दोय जी।
दरब विउसग च्यार परकारे, ते विवरो सुणो सहू कोय जी॥

४२—सरीर विउसग सरीर रो तजवो, इम गण नो विउसग जाण जी।
उपधि नो तजवो ते उपधि विउसग, भात पाणी रो इमहिज पिछाण जी॥

४३—भाव विउसग रा तीन भेद छे, कषाय ससार ने करम जी।
कपाय विउसग च्यार परकारे, क्रोधादिक च्यारू छोड्या छे धर्म जी॥

४४—ससार विउसग ससार नो तजवो, तिणरा भेद छे च्यार जी।
नरक तिर्यंच मिनष ने देवा, त्याने तज ने त्यासू हुवे न्यार जी॥

४५—करम विउसग छें आठ परकारे, तजणा आठू करम जी।
त्यानें ज्यू ज्यू तजे ज्यू हलको होवे, एहवी करणी थी निरजरा धर्म जी॥

३८—वैयावृत्त्य तीसरा आभ्यन्तर तप है। यह तप दस प्रकार का है। ये दसों ही वैयावृत्त्य साधु की होती हैं। इनसे कर्म-कोटि का क्षय होता है और जीव मोक्ष के समीप होता है[१३]।

वैयावृत्त्य

३९—स्वाध्याय तप चौथा आभ्यन्तर तप है। स्वाध्याय तप पांच प्रकार का है। शुद्ध अर्थ और पाठ का भाव सहित स्वाध्याय करने से कर्म-कोटि का नाश होता है[१४]।

स्वाध्याय

४०—आर्त और रौद्र ध्यान का निवारण कर धर्म और शुक्ल ध्यान का ध्याना—ध्यान नामक पांचवा आभ्यन्तर तप है। इस प्रकार ध्यान ध्याते-ध्याते उत्कृष्ट शुक्ल और धर्मध्यान के ध्याने से केवलज्ञान प्राप्त होता है[१५]।

ध्यान

४१—व्युत्सर्ग तप छठा आभ्यन्तर तप है। व्युत्सर्ग का अर्थ है—त्यागना। यह द्रव्य और भाव—इस तरह दो प्रकार का होता है। द्रव्य व्युत्सर्ग चार प्रकार का होता है। उसका विवरण सब कोई सुनें।

व्युत्सर्ग (गा० ४१-४५)

४२—शरीर को छोडना शरीर-व्युत्सर्ग है, गण को छोडना गण-व्युत्सर्ग है, उपधि को छोडना उपधि-व्युत्सर्ग है और भात-पानी को छोडना भात-पानी-व्युत्सर्ग।

४३—भाव व्युत्सर्ग के तीन भेद है। (१) कषाय-व्युत्सर्ग अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ—इन चारों कषायों का त्याग करना। इन चारों के त्याग से निर्जरा धर्म होता है।

४४—(२) ससार-व्युत्सर्ग अर्थात् ससार का त्याग करना। इसके चार प्रकार हैं—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव—इन चारगतियों की अपेक्षा चार ससार का त्याग।

४५—(३) कर्म-व्युत्सर्ग—आठों कर्मों को त्यजना। इनको ज्यों-ज्यों जीव छोडता है त्यों-त्यों हल्का होता जाता है। ऐसी करनी से निर्जरा धर्म होता है[१६]।

४६—वारे परकारे तप निरजरा री करणी, जे तपसा करे जाण २ जी।
ते करम उदीर उदे आण खेरे, त्यानें नेडी होसी निरवाण जी॥

४७—साध रे वारे भेदे तपसा करता, जिहा २ निरवद जोग रुधाय जी।
तिहा २ सवर हुवे तपसा रे लारे, तिण सू पुन लागता मिट जाय जी॥

४८—इण तप माहिलो तप श्रावक करता, कठे उसभ जोग रुधाय जी।
जब विरत सवर हुवे तपसा लारे, लागता पाप मिट जाय जी॥

४९—इण तप माहिलो तप इविरती करता, तिणरे पिण करम कटाय जी।
कोइ परत ससार करे इण तप थी, वेगो जाए मुगत रे माय जी॥

५०—साध श्रावक समदिष्टी तपसा करता, त्यारे उतकृष्टी टले करम छोत जी।
कदा उतकृष्टो रस आवे तिणरे, तो वधे तीथकर गोत जी॥

५१—तप थी आणे ससार नो छेहडो, वले आणे करमा रो अत जी।
इण तपसा तणे परतापे जीवडो, ससारी रो सिध होवत जी॥

५२—कोड भवा रा करम सचीया हुवे तो, खिण मे दिये खपाय जी।
एहवो छे तप रतन अमोलक, तिणरा गुण रो पार न आय जी॥

५३—निरजरा तो निरवद उजल हुवा थी, करम निवरते हुओ न्यार जी।
तिण लेखे निरजरा निरवद कही ए, बीजु तो निरवद नहीं छे लिगार जी॥

तपस्या का फल (गा० ४६-५२)

४६—उपर्युक्त बारह प्रकार का तप निर्जरा की क्रिया है। जो इच्छा-पूर्वक तपस्या करता है वह कर्मों को उदीर्ण कर—उदय में लाकर बिखेर देता है। मोक्ष उसके नजदीक आता जाता है।

४७—उपर्युक्त बारह प्रकार के तप करते समय जहाँ-जहाँ साधु के निरवद्य योगों का निरोध होता है, वहाँ-वहाँ तपस्या के साथ-साथ संवर होता है। और संवर होने से पुण्य का नवीन बंध रुक जाता है।

४८—उपर्युक्त बारह प्रकार के तपों में से कोई तप करते हुए जब श्रावक के अशुभ योगों का निरोध होता है, तब तपस्या के साथ-साथ विरति संवर होता है जिससे नए पाप कर्मों का आना रुक जाता है।

४९—इन तपों में से यदि अविरत भी कोई तप करता है तो उसके भी कर्म-क्षय होता है। कई इस तपस्या से संसार को संक्षिप्त कर शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

५०—साधु और सम्यक्दृष्टि श्रावक के तपस्या द्वारा उत्कृष्ट कर्म-भार दूर होता है। और यदि तप में कदाचित् उत्कृष्ट तीव्र भाव आता है तो तीर्थंकर गोत्र तक का बंध होता है।

५१—तपस्या से जीव संसार का अन्त करता है, कर्मों का अन्त लाता है और इसी तपस्या के प्रताप से घोर संसारी जीव भी सिद्ध होता है।

५२—तप करोड़ों भवों के संचित कर्मों को एक क्षण में खपा देता है। तप-रत्न ऐसा अमूल्य है। इसके गुणों का पार नहीं आता[१७]।

निर्जरा निरवद्य है

५३—निर्जरा—जीव का उज्ज्वल होना, कर्मों से निवृत्त होना—उनसे अलग होना है—इसलिए निर्जरा निरवद्य है। निर्जरा उज्ज्वलता की अपेक्षा निर्मल है अन्य किसी अपेक्षा से नहीं।

५४—इण निरजरा तणी करणी छे निरवद, तिण सू करमा री निरजरा होय जी ।
निरजरा ने निरजरा री करणी, ए तो जूआजूआ छे दोय जी ॥

५५—निरजरा तो मोष तणो अस निश्चे, देश थकी उजलो छे जीव जी ।
जिणरे निरजरा करण री चूप लागी छे, तिण दीधी मुगत री नींव जी ॥

५६—सहजा तो निरजरा अनाद री हुवे छे, ते होय २ ने मिट जाय जी ।
करम बधण सू निवरत्यो नाही, ससार मे गोता खाय जी ॥

५७—निरजरा तणी करणी ओलखावण, जोड कीधी नाथदुवारा मझार जी ।
समत अठारे वरस छपने, चेत विद बीज ने गुरवार जी ॥

५४—नि र्जरा की करनी से कर्मों की निर्जरा होती है, इसलिए वह निरवद्य है। निर्जरा और निर्जरा की करनी दोनों भिन्न-भिन्न हैं।

निर्जरा और निर्जरा की करनी भिन्न-भिन्न हैं (गा० ५४-५६)

५५—निर्जरा निश्चय ही मोक्ष का अश है। जीव का देशत उज्ज्वल होना निर्जरा है। जिसके निर्जरा की करनी से प्रेम हो गया है, उसने मुक्ति की नींव डाल दी है।

५६—ऐसे तो निर्जरा सहज ही अनादि काल से हो रही है, पर वह हो-हो कर मिट जाती है। जो जीव नये कर्म बंध से निवृत्त नहीं होता, वह ससार में ही गोता खाता रहता है[१८]।

५७—निर्जरा की करनी को समझाने के लिए श्रीनाथद्वारा मे सवत् १८५६ के चैत वदी २ गुरुवार को यह जोड की गई है।

टिप्पणियाँ

१—निर्जरा कैसे होती है ? (दो० १-७)

स्वामीजी ने प्रथम ढाल मे निर्जरा के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। इस टिप्पणी मे सम्बन्धित दोहो में स्वामीजी निर्जरा किस प्रकार होती है, यह बतलाते हैं।

स्वामीजी के अनुसार निर्जरा निम्न प्रकार से होती है

(१) उदय में आए हुए कर्मों के फलानुभव से।

(२) कर्म-क्षय की कामना से विविध तप करने से।

(३) कर्म-क्षय की आकांक्षा विना नाना प्रकार के कष्ट करने से।

(४) इहलोक-परलोक के लिए नाना प्रकार के तप करते हुए।

इन पर क्रमश विस्तृत प्रकाश डाला जा रहा है।

(१) उदय मे आए हुए कर्मों के फलानुभव से

बधे हुए कर्म उदय में आते हैं। इसमे क्षुधा, तृषा, शीत, ताप आदि नाना प्रकार के कष्ट जीव के उत्पन्न होते हैं। वैसे ही सुख भी उत्पन्न होते हैं। सुख-दु खरूप विविध प्रकार के फल दे चुकने के बाद कर्म-पुद्गल आत्म-प्रदेशो से स्वत निर्जीर्ण होते हैं[१]। यह कर्म-भोग जन्य निर्जरा है।

(२) कर्म-क्षय की कामना से विविध तप करने से

तपो का वर्णन आगे आयगा। जो कर्म-क्षय की अभिलाषा से—आत्मशुद्धि के अभिप्राय से उन विविध तपो का अनुष्ठान करता है उसके भी निर्जरा होती है। यह प्रयोगजा निर्जरा है।

उपर्युक्त दोनो प्रकार की निर्जरा के स्वरूप के सम्बन्ध मे निम्न विवेचन बडे बोधपूर्ण हैं

(अ) श्री देवेन्द्रसूरि कहते हैं—"एकेन्द्रिय आदि तिर्यञ्च छेदन, भेदन, शीत, ताप, वर्षा, तृषा तथा चाबुक और अकुशादि की मार द्वारा, नारकीय जीव तीन प्रकार ... मनुष्य क्षुधा, तृषा, आधि, दारिद्र्य और कारागारवास आदि के कष्ट

---

१ भाष्य, ८ २४ भाष्य
ना फल विपाकोदयोऽनुभावो भवति। विविध पाको विपाक ... मनिर्जरा भवतीति

द्वारा और देवता परवशता और किल्विपता आदि द्वारा असातवेदनीय कर्म का अनुभव कर उसका परिशाटन करते हैं। यह अकाम निर्जरा है। यह सब के होती है। कर्म-क्षय की अभिलापा से बारह प्रकार के तपो के करने से जो निर्जरा होती है, वह सकाम निर्जरा है। यह निर्जराभिलापियो के होती है[1]।"

(आ) "जिससे आत्मा दुर्जर शुभाशुभ कर्मो की निर्जरा करती है, वह निर्जरा दो प्रकार की है। जो व्रत के उपक्रम मे होती है, वह सकाम निर्जरा है और जो नरकवासी आदि जीवो के कर्मो के स्वत विपाक मे होती है, वह अकाम निर्जरा है[2]।"

(इ) वाचक उमास्वाति लिखते हैं—"निर्जरा दो प्रकार की होती है—एक अबुद्धिपूर्वक और दूसरी कुशलमूल। इनमें से नरकादि गतियो मे जो कर्मो के फल का अनुभवन विना किसी तरह के बुद्धिपूर्वक प्रयोग के हुआ करता है, उसको अबुद्धिपूर्वक निर्जरा कहते हैं। तप और परीपहजय कृत निर्जरा कुशलमूल है[3]।"

(ई) स्वामी कार्तिकेय कहते हैं—"ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मो की फल देने की शक्ति को विपाक-अनुभाग कहते हैं। उदय के वाद फल देकर कर्मो के झड जाने को निर्जरा कहते हैं। वह दो प्रकार की होती है—(१) स्वकालप्राप्त और (२) तपकृत। उनमे

१—नवतत्त्वसाहित्यसग्रह देवानन्दसूरिकृत सप्ततत्त्वप्रकरण अ० ६

सकामनिज्जरा पुण निज्जराहिलासीणं "छव्विह वाहिर' ..... छव्विहमब्भतर च तवतवेताण

२—धर्मशर्माभ्युदयम् २१ १२२-१२३

दुर्जरा निर्जरत्यात्मा यया कर्म शुभाशुभम्।
निर्जरा सा द्विधा ज्ञेया सकामाकामभेदत ॥
सा सकामा स्मृता जैनैर्या व्रतोपक्रमै कृता।
अकामा स्वविपाकेन यथा श्वभ्रादिवासिनाम् ॥

३—तत्त्वा० ६ ७ भाष्य ६ :

स द्विविधोऽबुद्धिपूर्व कुशलमूलश्च। तत्र नरकादिपु कर्मफलविपाको योऽबुद्धिपूर्वक-स्तमुयतोऽनुचिन्तयेदकुशलानुबन्ध इति। तप परीपहजयकृत कुशलमूल। त गुणतोऽनुचिन्तयेत् शुभानुबन्धो निरनुबन्धो वेति।

पहिली स्वकाल प्राप्त निर्जरा तो चारो ही गति के जीवो के होती है और दूसरी तप द्वारा की हुई व्रतयुक्त जीवों के[1] ।"

(उ) 'चन्द्रप्रभचरित' में कहा है, "कर्मक्षपण लक्षणवाली निर्जरा दो प्रकार की होती है—एक कालकृत और दूसरी उपक्रमकृत। नरकादि जीवो के कर्म भुक्ति से जो निर्जरा होती है, वह यथाकालजा निर्जरा है और जो तप से निर्जरा होती है, वह उपक्रमकृत निर्जरा है[2] ।

(ऊ) 'तत्त्वार्थसार' में लिखा है—"कर्मो के फल देकर झडने से जो निर्जरा होती है, वह विपाकजा निर्जरा है और अनुदीर्ण कर्मो को तप की शक्ति से उदयावलि में लाकर वेदने से जो निर्जरा होती है वह अविपाकजा निर्जरा है[3] ।"

स्वामीजी ने पहली प्रकार की निर्जरा को सहज निर्जरा कहा है। उनके अनुसार यह अप्रयत्नमूला है। यह बिना उपाय, बिना चेष्टा और बिना प्रयत्न होती है। यह इच्छाकृत नहीं, स्वयभूत है। इस निर्जरा को स्वकालप्राप्त, विपाकजा आदि जो विशेषण प्राप्त हैं, वे इस बात को अच्छी तरह सिद्ध करते हैं। यह ध्यान देने की बात है कि स्वामीजी ने कर्मभोग

१—द्वादशानुप्रेक्षा निर्जरा अनुप्रेक्षा १०३,१०४

सव्वेसिं कम्माण, सत्तिविवाओ हवेइ अणुभाओ ।
तदणतर तु सडण, कम्माण णिज्जरा जाण ॥
सा पुण दुविहा णेया, सकालपत्ता तवेण कयमाणा ।
चादुगदीण पढमा, वयजुत्ताण हवे विदिया ॥

२—चन्द्रप्रभचरितम् १८.१०९-११०

यथाकालकृता काचिदुपक्रमकृतापरा ।
निर्जरा द्विविधा ज्ञेया कर्मक्षपणलक्षणा ॥
या कर्मभुक्ति श्वभ्रादौ सा यथाकालजा स्मृता ।
तपसा निर्जरा या तु सा चोपक्रमनिर्जरा ॥

३—तत्त्वार्थसार : ७ २-४

उपात्तकर्मण पातो निर्जरा द्विविधा च सा ।
आद्या विपाकजा तत्र द्वितीया चाविपाकजा ॥
अनादिबन्धनोपाधिविपाकवशवर्त्तिन ।
कर्मारब्धफल यत्र क्षीयते सा विपाकजा ॥
अनुदीर्ण तप शक्त्या यत्रोदीर्णोदयावलीम् ।
प्रवेश्य वेद्यते कर्म सा भवत्यविपाकजा ॥

जन्य निर्जरा को 'अकाम निर्जरा' नही कहा है। कारण इस निर्जरा मे उन हेतुओ—क्रियाओ—साधनो के प्रयोग का सर्वथा अभाव है जिनसे निर्जरा होती है। यह निर्जरा तो कर्मो के स्वाभाविक तौर पर फल देकर दूर होने से स्वत उत्पन्न होती है। अकाम निर्जरा तब होती है जब क्रिया—साधन तो रहते हैं पर उनका प्रयोग कर्म-क्षय की अभिलाषा से नही होता। कर्मभोग-जन्य निर्जरा में साधनो का ही अभाव है।

दूसरे प्रकार की निर्जरा, जो शुद्ध करनी द्वारा उत्पन्न होती है, उसे स्वामीजी ने अनुपम निर्जरा कहा है। इस अनुपम निर्जरा से ही जीव मुक्ति को समीप लाता है। अपनी क्रिया की उत्कृष्टता के अनुसार उसकी आत्मा न्यूनाधिक उज्ज्वल होती जाती है। यह निर्जरा इच्छाकृत होती है। जब कर्म-क्षय की अभिलाषा से शुद्ध क्रिया की जाती है तभी यह निर्जरा उत्पन्न होती है अत यह सहज नही, प्रयोगजा है।

आगमो में 'अकाम निर्जरा' शब्द मिलता है। 'सकाम निर्जरा' शब्द नही मिलता। 'सकाम निर्जरा' शब्द आगमो मे उपलब्ध न होने पर भी 'अकाम निर्जरा' के प्रतिपक्षी तत्त्व के रूप मे वह अपने आप फलित होता है। पहली निर्जरा सहज है क्योकि वह विना अभिलाषा—विना उपाय—विना चेष्टा होती है। दूसरी निर्जरा सकाम निर्जरा है क्योकि वह प्रयत्नमूला है। वह कर्म-क्षय की अभिलाषा से उत्पन्न उपाय—चेष्टा, प्रयत्न से होती है। कहा है—"कर्मणा फलवत् पाको, यदुपायात् स्वतोऽपि च"—फल की तरह कर्मो का पाक भी दो तरह से होता है—उपाय से और स्वत। सकाम निर्जरा उपायकृत होती है और अकाम निर्जरा सहज रूप से स्वत होनेवाली। अकाम निर्जरा सब के होती है और सकाम निर्जरा बारह प्रकार के तपो को करनेवाले निर्जराभिलाषी व्यक्तियो के।

पहली प्रकार की निर्जरा किस के होती है, इस विषय मे कोई मतभेद नही है। वह सर्वमत से 'सव्वजीवाण'—सर्व जीवो के होती है। दूसरी प्रकार की निर्जरा के विषय मे मतभेद है।

श्री हेमचन्द्रसूरि कहते हैं—"सकाम निर्जरा यमियो—सयमियो के ही होती है और अन्य दूसरे प्राणियो के[1]।"

१—नवतत्त्वसाहित्यसग्रह हेमचन्द्रसूरिप्रणीत सप्ततत्त्वप्रकरण गा० १२८ :
ज्ञेया सकामा यमिनामकामान्यदेहिनाम्।

स्वामी कार्तिकेय ने भी लिखा है—"प्रथम चार गतियो के जीवो के होती है और दूसरी व्रतियो के[1] ।" "अविपाका मुनीन्द्रानां सविपाकाखिलात्मनाम्"—भी इसी बात को प्रकट करता है। एक मत यह भी है कि सकाम निर्जरा सम्यक्दृष्टि के ही होती है, वह मिथ्यादृष्टि के नही होती।

स्वामीजी के अनुसार सकाम निर्जरा साधु-श्रावक, व्रती-अव्रती, सम्यक्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि सब के हो सकती है[2]। शर्त इतनी ही है कि तप निरवद्य और लक्ष्य कर्म-क्षय हो। जहाँ लक्ष्य कर्म-क्षय नही वहाँ शुद्ध तप भी सकाम निर्जरा का हेतु नहीं होता[3]।

प० खूबचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री ने एक विचार दिया है—"यथाकाल निर्जरा सभी ससारी जीवो के और सदाकाल हुआ करती है, क्योकि बधे हुए कर्म अपने समय पर फल देकर निर्जीर्ण होते ही रहते हैं। अतएव इसको निर्जरा-तत्त्व में नही समझना चाहिये। दूसरी तरह की निर्जरा तप आदि के प्रयोग द्वारा हुआ करती है। यह निर्जरा तत्त्व है और इसीलिए मोक्षका कारण है। इस प्रकार दोनो के हेतु मे और फल में अन्तर है[4] ।"

इसी विचार को मुनि सूर्यसागरजी ने इस प्रकार उपस्थित किया है "औदयिक भाव से प्रेरा हुआ यथा क्रमानुसार विपाक काल को प्राप्त हुआ जो शुभ-अशुभ कर्म अपनी बधी हुई स्थिति के पूर्ण होने पर उदय में आता है, उसके भोग चुकने पर जो कर्म की आत्म-प्रदेशो से जुदाई होती है वह सविपाक निर्जरा कहलाती है। यह द्रव्य रूप है। इस निर्जरा से आत्मा कभी भी कर्म से मुक्त नही होता। क्योकि जो कर्म छूटता है उससे अधिक उसी समय बध जाता है[5] । जो तपस्या द्वारा बिना फल दिये हुए

१—द्वादशानुप्रेक्षा निर्जरा अनुप्रेक्षा १०४ (पृ० ६१० पा० टि० १ मे उद्धृत)

२—देखिए गा० ४७-५०

३—इस प्रश्न का आगे विस्तार से विवेचन किया जायगा।

४—सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र पृ० ३७८

५—सयम-प्रकाश (उत्तरार्द्ध) प्रथम किरण पृ० ५८-५९

इस बात को समझाने के लिए उन्होने उदाहरण दिया है—जैसे एक मनुष्य को चारित्र मोहनीय के उदय से क्रोध आया और क्रोध आने पर उसने क्रोधवश निज पर को मन-वचन-काय से अनेक कष्ट दिये और अनेकों से बैर बांध लिया। ऐसी दशा मे पहिला कर्म तो क्रोध को उत्पन्न करके दूर हो गया, परन्तु, क्रोधवश जो क्रियाये उस जीव ने की उनसे फिर अनेक प्रकार के नवीन कर्म बध गये। अत मोक्षार्थी के लिए सविपाक निर्जरा काम की नहीं है।

कर्मों की निर्जरा होती है अर्थात् तपश्चरण द्वारा कर्मो की फल देने की शक्ति का नाश करके जो निर्जरा होती है उसको अविपाक निर्जरा कहते हैं। वही आत्मा का हित करनेवाली है। इसीसे शनैं शनैं सम्पूर्ण कर्मो का क्षय होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है[1]।"

वाचक उमास्वाति ने भी तप और परीषहजय कृत निर्जरा को ही कुशलामूल तथा शुभानुवन्धक और निरनुवन्धक कहा है। अबुद्धिपूर्वा निर्जरा को उन्होने अकुशलानुवन्धक कहा है[2]।

स्वामीजी ने अपनी वात निम्न रूप में कही है—

आठ कर्म छे जीव रे अनाद रा, त्यांरी उतपत आश्रव द्वार हो।
ते उदे थइ नें पछे निरजरे, वले उपजे निरतर लार हो॥
ते करम उदे थइ जीव रे, समें समे अनन्ता झड जाय हो।
भरीया नीगल जू करम मिटें नही, करम मिटवा रो न जांणे उपाय हो॥
वारे परकारे तप निरजरा री करणी, जे तपसा करे जांण २ जी।
ते करम उदीर उदे आंण खेरे,त्यांने नेडी होसी निरवाण जी॥
सहजां तो निरजरा अनाद री हुवे छें, ते होय २ नें मिट जाय जी।
करम वधण सू निवरत्यो नांही, ससार मे गोता खाय जी॥
सावद्य जोगां सू सेवे पाप अठारें, ते तो पाप री करणी जांणो रे।
ते सावद्य करणी करता पिण निरजरा हुवें छे, त्यांरो न्याय हीया में पिछांणो रे॥
उदीरी उदीरी ने करें क्रोधादिक, जब लागे छें पाप ना पूरो रे।
उदीरी नें क्रोधादिक उदें आण्या ते, करम झरे पडे दूरो रे॥
पाप री करणी करतां निरजरा हुवें छे, तिण करणी मे जावक खांमी रे।
सावद्य जोगां पाप ने निरजरा हुवें छें, ते निरजरा तणो नही कामी रे[3]॥

(२) कर्म-क्षय की आकाक्षा विना नाना प्रकार के कष्ट करने से

इस निर्जरा के उदाहरण इस प्रकार दिये जा सकते हैं

(क) एक मनुष्य को कर्म-क्षय की या मोक्ष की अभिलाषा तो नही है पर वह तृषा, क्षुधा, ब्रह्मचर्यवास, अस्नान, सर्दी, गर्मी, दश-मशक, स्वेद, धूलि, पक और मल के तप, कष्ट, परीषह से थोडे या अधिक समय के लिए आत्मा को परिक्लेशित करता है। इस कष्ट से कर्मो की निर्जरा होती है।

१—सयम-प्रकाश (पूर्वार्द्ध) चतुर्थ किरण पृ० ६५५-५६

२—देखिए पृ० ६०६ पा० टि० ३

३—(क) १ १,४, (ख) २.४६,५६ (ग) टीकम डोसी री चर्चा ३ २१-२३

(ख) एक स्त्री है। उसका पति कहीं चला गया अथवा मर गया है। वह बाल विधवा है, अथवा पति द्वारा छोड़ दी गई है। वह मातादि से रक्षित है। वह अपने शरीर का संस्कार नहीं करती। उसके नख, केश और कांख के बाल बड़े होते हैं। वह धूप, पुष्प, गन्ध, माल्य और अलंकारों को धारण नहीं करती। वह अस्नान, स्वेद, जल्ल, मल, पंक के कष्टों को सहन करती है। दूध, दही, मक्खन, घी, तेल, गुड़, नमक, मधु, मद्य और मांस का भोजन नहीं करती। वह ब्रह्मचर्य का पालन करती हुई पति की शय्या का उल्लंघन नहीं करती। ऐसी स्त्री के निर्जरा होती है।

स्वामीजी कहते हैं—"इस प्रकार जो नाना प्रकार के कष्ट किए जाते हैं उनसे भी अल्प मात्रा में कर्मों का क्षय होता है—निर्जरा होती है। पर यह अकाम निर्जरा है क्योंकि इन कष्टों के करने वाले का लक्ष्य कर्म-क्षय नहीं।" यहाँ क्रिया शुद्ध होने पर भी लक्ष्य न होने से जो निर्जरा होती है वह अकाम निर्जरा है। जो कर्म-क्षय की दृष्टि से बारह प्रकार के तपों को करता है अथवा परीषहों का सहन करता है उसको सकाम निर्जरा होती है और जो बिना ऐसी अभिलाषा के इन तपों को करता है अथवा परीषहों का सहन करता है उसको अकाम निर्जरा होती है।

श्री जयाचार्य के सामने एक सिद्धान्त आया—"जो अग्नि, जल आदि में प्रवेश कर मरते हैं वे इस कष्ट से देवता होते हैं।"

श्री जयाचार्य ने इसका उत्तर इस प्रकार दिया—"ते तो आगला भव में अशुभ कर्म बांध्या ते उदय आया भोगवे छै। पिण जीव री हिंसा रूप सावद्य कार्य ते निर्जरा री करणी नहीं। एह थी पुन्य पिण बंधे नहीं। इम सावद्य कार्य ना कष्ट थी पुन्य बंधे तो नीलो घास काटता कष्ट हुवै। संग्राम में मनुष्यां ने खड्गादिक थी मारतां हाथ दुखे हुवै। कष्ट हुवै। मोटा अणाचार सेवता, शीत काल में प्रभाते स्नान करता कष्ट हुवै। तिण रे लेखे एह थी पिण पुन्य बंधे। ते माटे ए सावद्य करणी थी पुन्य बंधे नहीं अने जे जीव हिंसारहित कार्य शीतकाल में शीत खमैं, उष्णकाल में सूर्य नी आतापना लेवे, भूख तृषादिक खमे निर्जरा अर्थे ते सकाम निर्जरा छै। तिणरी केवली आज्ञा देवे। तेहथी पुन्य बंधे। अने बिना मन भूख तृषा शीत तावड़ादि खमैं, बिना मन ब्रह्मचर्य पाले ते निर्जरा रा परिणाम बिना तपसादि करे ते पिण अकाम निर्जरा आज्ञा माहि छै[1]।"

१—भगवती नी जोड़ लघुक अधिकार ८

(४) इहलोक-परलोक के लिए तप कर हुए

मुझे स्वर्ग प्राप्त हो, मेरा अमुक लौकिक कार्य सिद्ध हो, मुझे यश-कीर्ति प्राप्त हो—इस भावना से जो क्षुधा, तृष्णा आदि का कष्ट सहन करता है अथवा तपस्या करता है उसके भी स्वामीजी ने अकाम निर्जरा की निष्पत्ति बतलायी है। स्वामीजी कहते हैं—"इहलोक परलोक के हेतु से जो तपस्या की जाती है वह अकाम निर्जरा है। कारण यहाँ लक्ष्य कर्म-क्षय नही, पर लौकिक-पारलौकिक सिद्धियाँ हैं।"

दशवैकालिक सूत्र में कहा है—इस लोक के लिए तप न करे, परलोक के लिए तप न करे, कीर्ति-वर्ण-शब्द और श्लोक के लिए तप न करे। एक निर्जरा को छोड कर अन्य लक्ष्य के लिए तप न करे। पाठ इस प्रकार है :

चउव्विहा खलु तव-समाही भवइ, त जहा। नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा, नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा, नो कित्ति-वण-सद्द-सिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा, नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा चउत्थं पयं भवइ[1]।

ऐसा ही पाठ आचार-समाधि के विषय मे भी है।

स्वामीजी ने दशवैकालिक सूत्र के उपर्युक्त स्थल को ध्यान मे रखते हुए निम्न विचार दिए हैं—

विनें करें सूतर भणें रे, करें तपसा नें पालें आचार रे।
इहलोक परलोक जस कारणें रे लाल, ते तो भगवत री आग्या वार रे॥
इहलोकादिक अर्थे तपसा करें रे, वले करें सलेखणा सथार रे।
कह्यो दसवीकालक नवमा अधेन में रे, आग्यां लोपी नें परीया उजाड रे[2]॥

स्वामीजी ने अन्यत्र निम्न गाथा दी है—

जिण आगना विण करणी करें, ते तो दुरगतना आगेवाण।
जिण आग्या सहीत करणी करें, तिण सू पामें पद निरवांण[3]॥

इन दोनो को मिलाने से ऐसा लगता है कि इहलोक-परलोक के अर्थ तप करने से जीव की दुर्गति होती है।

स्वामीजी ने पोषध व्रत के प्रकरण में निम्नलिखित गाथाएँ दी हैं—

भाव थकी राग द्वेष रहीत करे, वले चोखे चित उपीयोग सहीत जी।
जब कर्म रुके छे आवता, वले निरजरा हुवे रुडी रीत जी॥

१—दशवै० ६.४ ७

२—भिक्षु-ग्रन्थरत्नाकर (प्र०ख०) आचार की चौपई ढा० १७ ५४-५५

३—वही जिनाग्या री चौपई ढा० २.२६

इन तथा अन्य स्थलो के ऐसे उद्‌गारो से यह धारणा बनती है कि इहलोक-परलोक के अर्थ तपादि क्रिया करने में धर्म नही है।

श्री जयाचार्य के सम्मुख यह प्रश्न उपस्थित हुआ लगता है। उन्होने इसका स्पष्टीकरण बडे विस्तार से किया है।

श्री जयाचार्य लिखते हैं—"पूजा श्लाघा रे अर्थे तपसादिक करे ते पिण अकाम निर्जरा छै। ए पूजा श्लाघा नी वांछा आज्ञा मांहि नथी तेथी निर्जरा पिण नही हुवे। ते वांछा थी पुन्य पिण नहीं बधे। अने जे तपसा करे भूख तृषा खमै तिण मे जीव री घात नथी ते माटे ए तपस्या आज्ञा मांहि छै। निर्जरा रो अर्थी थको न करै तिण सू अकाम निर्जरा छै। एह थकी पिण पुन्य बंधे छै पिण आज्ञा बारला कार्य थी पुन्य बधै नथी[1]।"

श्री जयाचार्य ने अन्यत्र लिखा है

"कोई कहै दशवैकालक मे कह्यो इहलोक परलोक रा जश कीर्त्त नें अर्थे तप न करणो, एक निर्जरा ने अर्थे तप करणो। सो इहलोक-परलोक जश-कीर्त्त अर्थे तप करे सो तप खोटो, ते तप सू पाप बधे, ते तप आज्ञा बाहिर छै, ते तप सावद्य छै, ते तप सू दुर्गति जाय, इम कहै ते नो उत्तर—

१—ए तप खोटो नही, इहलोक-परलोक नी वछा खोटी छै। वछा आसरे भेलो पाठ कह्यो

२—घणा वर्ष सजम तप पाली नियाणो करे तो वछा खोटी पिण तप सजम पाल्यो ते खोटो नही तिम वर्तमान आगमियां काल रो पिण तप वछा सहित छै ते वछा खोटी पिण तप खोटो नही।

३—सुयगडांग श्रु० १ अ० ८ गाथा २४ "तेसिं पि तवो असुद्धो"—जे साधु अनेरा गृहस्थ ने जणावी तप करे तप करी पूजा श्लाघा वछे ते तप अशुद्ध कह्यो। इहां पिण पूजा-श्लाघा आमरी अशुद्ध वछा छै पिण तप चोखो। छठे गुणठाणे पिण तप करे आचार पाले छै सो तिडे पिण पूजा-श्लाघा री लहर आवा रो ठिकाणो छै तो त्यांरे लेखे ते पिण तप शुद्ध न कहिए। अप्रमादी रे खोटी लहर न आवे तो त्यांरे तप शुद्ध कहिए।

४—भगवती श० २ उ० ५—तुगीया नगरी रा श्रावकां रा अधिकारे सराग सजम १ सराग तप २ बाकी कर्म ३ कर्म पुद्‌गल नो सग ४ या च्यारां स्यू साधु देवलोक जाय

1—भगवती नी जोड़ · खधक अधिकार ८

इम कह्यो तो रागपणो सावज छै अने तप निरवद्य छै सराग स्यू तो पाप बंधे ने तप स्यू कर्म कटे ते निरवद्य छै। इयां सरागपणे में त्याग रो अभिप्राय छै सो तप छै तिम तप चोखो पिण वछा चोखी नही।

५—उववाई में कह्यो चार प्रकारे देवता हुवे ते सराग सजम १ सजमासजम २ वाल तप ३ अकाम निर्जरा ४। इण में सजमासजम ते काई सजम काई असजम, ते असजम तो खोटो ने सजम थी देवता थाये। वाल तप कहिये तप तो चोखो ते तप थी तो देवता हुवे ने वालपणो खोटो। अकाम निर्जरा ते तप चोखो तिण थी देवता हुवे अकाम ते निर्जरा नी वछा नही ते अकाम पणो शुद्ध नही। तिम तिहां पिण तप चोखो ने वछा खोटी छै।

६—उववाई प्रश्न ५ में कह्यो—निर्जरा री वछा रहित तप, कष्ट, भूख, तृषा, सी, तावडो, शीलादिक थी दस सहस्र वर्ष ने आऊपे देवता हुवे ए निर्जरा नी वछा नहीं ते खोटी पिण भूखादिक खमे ते निरवद्य छै तेह थी देवता हुवे छै।

७—प्रश्न ८ में कह्यो जे वाल-विधवा सासरे-पीहर नी लाजे करी निर्जरा री वछा विना शील पाले तो ६४ हजार वर्ष आऊपे देवगति में उपजे। इहां लाजे करी पाल ते ससार नी कीर्त्ति नी अर्थे ठहरी। जे पोतां नो अपजश टालवा रखे अजश हुवे लोकमूडा कहे इसा भाव सू शील पाले तेह ने शोभा नी कीर्त्ति नी वछा छै। तेह ने पिण शील पालवा रो लाभ छै तिण सू शील पाल्यां अवगुण नही।

८—तथा कोई शोभारे निमत्त साधु ने दान देवे, पुत्रादिक ने अर्थे देवे। साधु ज्ञान सू तथा उनमान सू जाणे तो आहार लेवे के नही, तेह ने धर्म नही जाणे तो क्यू लेवे ? तेह पुत्रादि नी वछा नो तो पाप छै, ने साधु ने देवे ते धर्म छै तिण सू साधु वहिरे छै। इमिज शील तप जाणवो।

९—भगवती श० १ उद्देशे २ कह्यो असजती भवि द्रव्य देव उत्कृष्टो नवग्रीवेग में जाय। तिहां टीका मे कह्यो भव्य तथा अभव्य पिण जावे। ते किम जाय ? साधु नो सर्व अखण्ड क्रिया आचार ना पालवा थी। तो जे अभव्य पिण जाये ते किम ? अखण्ड साधु नी क्रिया किण अर्थे पाले ? तेहनो उत्तर—साधु ने चक्रवर्तादिक पूजता देखी ते पूजा श्लाघा ने अर्थे वाह्य क्रिया अखण्ड पाले तेह थी नवग्रीवेग जाय एहवं कह्यं छै। जे अभव्य नवग्रीवेगे जाये ए तो प्रसिद्ध छै। ते तो मोक्ष सरधे नहीं। तेह ने सकाम निर्जरा तो नथी दीसती। ते तो पूजा-प्रशसा रे अर्थे साधु री क्रिया आचार पाले ते भलो छै

तिवारे तेहथी नवग्रीवेग जाय एतो पाधरो न्याय छे। तिम कीर्त ने अर्थे, तिम राज, धन, पुत्रादिक ने अर्थे शील पाले ते पिण जाणवो। पिण सावज करणी सू देवता न थाय।"

मुनि श्री नथमलजी का इस विषयक विवेचन इस प्रकार है :

"स्वामीजी का मुख्य सिद्धान्त था—'अनाज के पीछे तूडी या भूसा सहज होता है, उसके लिए अलग प्रयास जरूरी नही।' आत्मिक अभ्युदय के साथ लौकिक उदय अपने आप फलता है। सयम, व्रत या त्याग सिर्फ आत्म-आनन्द के लिए ही होना चाहिए। लौकिक कामना के लिए चलने वाला व्रत सही फल नही लाता। उससे मोह बढता है।

'पुण्य की—लौकिक-उदय की कामना लिए तपस्या मत करो', यह तेरापथ का ध्रुव-सिद्धान्त है।

धर्म का लक्ष्य भौतिक-प्राप्ति नही, आत्म-विकास है। भौतिक सुख आत्मा का स्वभाव नही है। इसलिए वह न तो धर्म है और न धर्म का साध्य ही। इसलिए उसकी सिद्धि के लिए धर्म करना उद्देश्य के प्रतिकूल हो जाता है।

इच्छा प्रेरित तपस्या नही होनी चाहिए। वह व्यक्ति को सही दिशा मे नही ले जाती। फिर भी कोई व्यक्ति ऐहिक इच्छा से प्रेरित हो तपस्या करता है वह तपस्या बुरी नही है। बुरा है उसका लक्ष्य। लक्ष्य के साहचर्य से तपस्या भी बुरी मानी जाती है। किन्तु दोनो को अलग करे तब यह साफ होगा कि लक्ष्य बुरा है और तपस्या अच्छी।

ऐहिक सुख-सुविधा व कामना के लिए तप तपने वालो को, मिथ्यात्व-दशा मे तप तपने वालो को परलोक का अनाराधक कहा जाता है वह पूर्ण आराधना की दृष्टि से कहा जाता है। वे अशत परलोक के आराधक होते हैं। जैसे उनका ऐहिक लक्ष्य और मिथ्यात्व विराधना की कोटि में जाते हैं वैसे उनकी तपस्या विराधना की कोटि मे नहीं जाती।

ऐहिक लक्ष्य से तपस्या करने की आज्ञा नहीं है इसमें दो बाते हैं—तपस्या का लक्ष्य और तपस्या की करणी। तपस्या करने की सदा आज्ञा है। हिंसारहित या निरवद्य तपस्या कभी आज्ञा बाह्य धर्म नही होता। तपस्या का लक्ष्य जो ऐहिक है उसकी आज्ञा नहीं है—निषेध लक्ष्य का है, तपस्या का नही। तपस्या का लक्ष्य जब ऐहिक होता है तब वह आज्ञा मे नही होता—धर्ममय नहीं होता। किन्तु 'करणी' आज्ञा बाह्य नहीं

होती। इसीलिए आचार्य भिक्षु ने इस कोटि की करणी को जिन-आज्ञा में माना है। यदि यह जिनाज्ञा मे नही होती तो इसे अकाम निर्जरा नहीं कहा जाता।

जो अकाम निर्जरा है वह सावद्य करणी नही है और जो सावद्य करणी नहीं है वह जिन-आज्ञा वाह्य नही है।

इसलिए तत्त्व विवेचन के समय लक्ष्य और करणी को सर्वथा एक समझने की भूल नही करनी चाहिए।

सावद्य ध्येय के पीछे प्रवृत्ति ही सावद्य हो जाती है यह कारण वताया जाये तो फिर यह भी मानना पडेगा कि निरवद्य ध्येय के पीछे प्रवृत्ति निरवद्य हो जाती है।

ऐहिक उद्देश्य से की गई तपस्या को हेतु की दृष्टि से निस्सार माना गया है उनके स्वरूप की दृष्टिसे नही। जहाँ स्वरूप की मीमासा का अवसर आया वहाँ स्वामीजी ने स्पष्ट वताया कि इस कोटि की तपस्या मे थोडी-वहुत भी निर्जरा और पुण्य-वन्ध नहीं होता—ऐसा नही है। जैसा कि उन्होंने लिखा है—'पाछे तो वो करसी सो उणने होय। पिण लाडू खवायां धर्म नहीं कोय' ।'

निष्कर्ष यह निकलता है कि सर्व श्रेष्ठ तपस्या वही है जो आत्म-शुद्धि के लिए की जाती है, जो सकाम निर्जरा है।

उद्देश्य विना सहज भाव से भूख-प्यास आदि सहन करने से होनेवाली तपस्या अकाम निर्जरा है, यह उससे कम आत्म-शोधनकारक है।

वर्णनागनतुआ के मित्र ने वर्ण नागनतुआ का अनुकरण किया (भग० ७-९)। यह अज्ञानपूर्वक तप है। अल्प निर्जरा कारक है।

अन्तिम दोनो प्रकार के तप अकाम निर्जरा होते हुए भी विकृति नही हैं।

१—स्वामीजी के सामने दो प्रश्न थे—पौषध कराने के लिए लड्डू खिलाने वाले को क्या होता है और लड्डू के लिए पौषध करने वाले को क्या होता है। उद्धृत गाथा मे स्वामीजी ने प्रथम प्रश्न का उत्तर दिया है। दूसरे प्रश्न का उत्तर यहाँ नहीं है। दूसरे प्रश्न का उत्तर उन्होंने जो दिया वह इस प्रकार है

लाडुआ साटे पोषा करे, तिण मे जिन भाख्यो नहीं धर्म जी।
ते तो इहलोक रे अरथे करे, तिणरो मूर्ख न जांणे मर्म जी॥

वैसी हालत में "पाछे तो वो करसी सो उणने होय।" इस अश से जो यह निष्कर्ष निकाला गया है कि—"जहाँ स्वरूप की मीमासा का अवसर आया वहाँ स्वामीजी ने स्पष्ट वताता है कि इस कोटि की तपस्या से थोडी-बहुत भी निर्जरा और पुण्य बन्ध नहीं होता, ऐसा नही है"—वह फलित नहीं होता।

पौद्गलिक अभिसिद्धि के लिए जो तपस्या की जाती है वह स्वार्थपूर्ति की भावना होने के कारण शुद्धरूप की अपेक्षा विकृति भी है। इसीलिए ऐहिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए तपस्या नही करनी चाहिए। किन्तु कोई कर ले तो वह तपस्या सावद्य होती है ऐसा नही है।

अभव्य आत्म-कल्याण के लिए करणी नही करता सिर्फ वाह्य—दृष्टि— पूजा—प्रतिष्ठा, पौद्गलिक सुख की दृष्टि से करता है। क्या ऐसी क्रिया निर्जरा नही? अवश्य अकाम निर्जरा है।

निर्जरा के विना क्षयोपशमिक भाव यानि आत्मिक उज्ज्वलता होती नही। अभव्य के भी आत्मिक उज्ज्वलता होती है। दूसरे निर्जरा के विना पुण्य-वन्ध नही होता। पुण्य वन्ध निर्जरा के साथ ही होता है—यह ध्रुव सिद्धान्त है। अभव्य के निर्जरा धर्म और पुण्य वन्ध दोनो होवे हैं। निर्जरा के कारण वह अशरूप मे उज्ज्वल रहता है। पुण्य-वन्ध से सद्गति में जाता है। इहलोक आदि की दृष्टि से की गयी तपस्या लक्ष्य की दृष्टि से अशुद्ध है किन्तु करणी की दृष्टि से अशुद्ध नही है।"

२—निर्जरा, निर्जरा की करनी और उसकी प्रक्रिया (गा० १-४) :

ठाणाङ्ग सूत्र में कहा है—'एगा णिज्जरा' (१ १६)—निर्जरा एक है। दूसरी ओर 'वारसहा निज्जरा सा उ' निर्जरा वारह प्रकार की है, ऐसा माना जाता है। इसका कारण यह है कि जैसे अग्नि एक रूप होने पर भी निमित्त के भेद से काष्ठाग्नि, पाषाणाग्नि—इस प्रकार पृथक्-पृथक् सज्ञा को प्राप्त हो अनेक प्रकार की होती है वैसे ही कर्मपरिशाटन रूप निर्जरा तो वास्तव मे एक ही है पर हेतुओ की अपेक्षा से वारह प्रकार की कही जाती है[1]।

चूकि तप से निकाचित कर्मों की भी निर्जरा होती है अत उपचार से तप को निर्जरा कहते हैं[2]। तप वारह प्रकार के हैं अत कारण में कार्य का उपचार कर निर्जरा भी

१—शान्तसुधारस निर्जरा भावना २-३

काष्ठोपलादिरूपाणा निदानाना विभेदत ।
वह्निर्यथैकरूपोऽपि पृथग्रूपो विवक्ष्यते ॥
निर्जरापि द्वादशधा तपोभेदैस्तथोदिता ।
कर्मनिर्जरणात्मा तु सैकरूपैव वस्तुत ॥

२—नवतत्त्वसाहित्यसग्रह श्रीदेवगुप्तसूरिप्रणीत नवतत्त्वप्रकरण ११ भाष्य ६०

जम्हा निकाइयाणऽवि, कम्माण तवेण होइ निज्जरण।
तम्हा उवयाराओ, तवो इह निज्जरा भणिया ॥

बारह प्रकार की कही गई है। कनकावलि आदि तप के और भी अनेक भेद हैं। उनकी अपेक्षा से निर्जरा के भी अनेक भेद हैं[1]।

श्री अभयदेव लिखते हैं—"अष्टविध कर्मों की अपेक्षा निर्जरा आठ प्रकार की है। द्वादश विध तपों से उत्पन्न होने के कारण निर्जरा बारह प्रकार की है। अकाम, क्षुधा, पिपासा, शीत, आतप, दंश-मशक और मल-सहन, ब्रह्मचर्य-धारण आदि अनेक विध कारण जनित होने से निर्जरा अनेक प्रकार की है[2]।

निर्जरा की परिभाषाएँ चार प्रकार की मिलती हैं :

१—'अणुभूअरसाण कम्मपुग्गलाणं परिसडण निज्जरा। सा दुविहा पण्णत्ता, सकामा अकामा य[3]।' वेदना—फलानुभाव के बाद अनुभूतरस कर्म-पुद्गलों का आत्म प्रदेशों से छूटना निर्जरा है। वह अकाम और सकाम दो प्रकार की है।

इसका मर्म है—कर्मों की वेदना अनुभूति होती है, निर्जरा नहीं होती। निर्जरा अकर्म की होती है। वेदना के बाद कर्म-परमाणुओं का कर्मत्व नष्ट हो जाता है, फिर निर्जरा होती है[4]।

कर्म परमाणुओं का कर्मत्वनष्ट हो जाता है, फिर निर्जरा होती है, यह बात निम्न वार्त्तालाप से स्पष्ट हो जायगी[5] :

"हे भगवन्! जो वेदना है क्या वह निर्जरा है और जो निर्जरा है वह वेदना?"

"हे गौतम! यह अर्थ योग्य नहीं। कारण वेदना कर्म है और निर्जरा नो कर्म।"

१—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह श्री देवगुप्तसूरिप्रणीत नवतत्त्वप्रकरण ११. . .

अणसणभेयाइ तवा, बारसहा तेण निज्जरा होइ।

कणगावलिभेया वा, अहव तवोऽणेगहा भणिओ॥

२—ठाणाङ्ग १ १६ टीका

साचाष्टविधकर्म्मापेक्षयाऽष्टविधाऽपि द्वादशविधतपोजन्यत्वेन द्वादशविधाऽपि अकाम-क्षुत्पिपासाशीतातपदंशमशकमलसहनब्रह्मचर्यधारणाद्यनेकविधकारणजनित

३—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह देवानन्दसूरिकृत सप्ततत्त्व प्रकरण अ० ६

४—ठाणाङ्ग १ १६ टीका .

अनुभूतरसं कर्म प्रदेशेभ्य परिशटतीति वेदनानन्तर कर्मपरिशटनरूपां निर्जरा

५—भगवती ७ ३

"हे भगवन् ! जो वेदा गया क्या वह निर्जरा-प्राप्त है और जो निर्जरा-प्राप्त है वह वेदा गया ?"

"हे गौतम ! यह अर्थ योग्य नही। कारण कर्म वेदा गया होता है और नो-कर्म निर्जरा-प्राप्त।"

"हे भगवन् ! जिसको वेदन करता है क्या जीव उसकी निर्जरा करता है और जिसकी निर्जरा करता है उसका वेदन ?"

"हे गौतम ! यह अर्थ योग्य नही। कारण जीव कर्म को वेदन करता है और नो-कर्म की निर्जरा।"

"हे भगवन् ! जिसका वेदन करेगा क्या उसकी निर्जरा करेगा और जिसकी निर्जरा करेगा उसी का वेदन ?"

"हे गौतम ! यह अर्थ योग्य नही। कारण वह कर्म का वेदन करेगा और नो-कर्म की निर्जरा।"

"हे भगवन् ! जो वेदना का समय है क्या वही निर्जरा का समय है और जो निर्जरा का समय है वही वेदना का ?"

"हे गौतम ! यह अर्थ योग्य नही। कारण जिस समय वेदन करता है उस समय निर्जरा नही करता और जिस समय निर्जरा करता है उस समय वेदन नही करता। अन्य समय वेदन करता है, अन्य समय निर्जरा करता है, वेदन का समय भिन्न है और निर्जरा का समय भिन्न है।"

उक्त प्रथम परिभाषा मे कर्मो का स्वत झडना और तप से झडना दोनो का समावेश होता है।

२—'सा पुण देसेण कम्मखओ[1]'—देशरूप कर्म-क्षय निर्जरा है।

'अनुभूतरसकर्म' अर्थात् 'अकर्म' को उपचार से कर्म मान कर ही यह परिभाषा की गई है अत पहली और इस दूसरी परिभाषा में कोई अन्तर नही।

३—"महा ताप से तालाव का जल शोषण को प्राप्त होता है वैसे ही जिससे पूर्वनिबद्ध कर्म निर्जरा को प्राप्त होते हैं, उसे निर्जरा कहते हैं। वह बारह प्रकार की है[2]।" "ससार के बीजभूतकर्म जिससे जीर्ण हो, उसे निर्जरा कहते हैं[3]।"

१—नवतत्त्वसाहित्यसग्रह देवगुप्तसूरिप्रणीत नवतत्त्वप्रकरण गा० ११ का भाष्य ६५

२—(क) नवतत्त्वसाहित्य सग्रह देवेन्द्रसूरिकृत नवतत्त्वप्रकरण गा० ७६

पुव्वनिबद्ध कम्म, महातवेण सरमि सलिल व।
निज्झिज्झइ जेण जिए, बारसहा निज्जरा सा उ॥

३—वही हेमचन्द्रसूरिकृत सप्ततत्त्वप्रकरण गा० १२७ :

कर्मणा भवहेतूनां, जरणादिह निर्जरा।

यह परिभाषा हेतु-प्रधान है। जिन हेतुओ से निर्जरा होती है उन्हें ही उपचार से कार्य मानकर यह परिभाषा दी गई है। निर्जरा के हेतु बारह प्रकार के तप हैं, उन्हें ही यहाँ निर्जरा कहा है[१]।

४—स्वामीजी के अनुसार देशरूप कर्मों का क्षय कर आत्म का देशरूप उज्ज्वल होना निर्जरा है। इस परिभाषा के अनुसार निर्जरा कार्य है और जिससे निर्जरा होती है, वह निर्जरा की करनी है। निर्जरा एक है और निर्जरा की करनी बारह प्रकार की। कर्मों का देशरूप क्षय कर आत्म-प्रदेशो का देशत निर्मल होना निर्जरा है और बारह प्रकार के तप, जिनसे निर्जरा होती है, निर्जरा की करनी के भेद हैं। स्वामीजी कहते हैं—'निर्जरा' और 'निर्जरा की करनी'—दो भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं—एक नहीं।

निर्जरा पदार्थ के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए स्वामीजी लिखते हैं—

"देशत (अशत) कर्मों को तोडकर जीव का देशत (अशत) उज्ज्वल होना निर्जरा है। इसे समझने के लिए तीन दृष्टान्त हैं—

(१) जिस तरह तालाब के पानी को मोरी आदि द्वारा निकाला जाता है, उसी तरह भले भाव की प्रवृत्ति द्वारा कर्म को दूर करना निर्जरा है।

(२) जिस तरह मकान का कचरा झाड-बुहार कर बाहर निकाला जाता है, उसी तरह भले भाव की प्रवृत्ति द्वारा कर्म को बाहर निकालना निर्जरा है।

(३) जिस तरह नाव का जल उलीच कर बाहर फेंक दिया जाता है, उसी तरह भले भावो की प्रवृत्ति द्वारा कर्मों को बाहर करना निर्जरा है[२]।"

स्वामीजी ने गाथा १-४ में आत्मा को विशुद्ध करने की प्रक्रिया को धोबी के रूपक द्वारा स्पष्ट किया है। धोबी द्वारा वस्त्रो को साफ करने की प्रक्रिया इस प्रकार होती है

(१) धोबी जल मे साबुन डाल कपडो को उसमें तपाता है।

(२) फिर उन्हें पीट कर उनके मैल को दूर करता है।

१—शान्तसुधारस निर्जरा भावना १
यन्निर्जरा द्वादशधा निरुक्ता।
तद् द्वादशानां तपसा विभेदात्॥
हेतुप्रभेदादिह कार्यभेद।
स्वातन्त्र्यतस्त्वेकविधैव सा स्यात्॥

—तेराद्वार : दृष्टान्तद्वार

(३) फिर उन्हें साफ जल मे खँगाल कर स्वच्छ करता है।

ऐसा करने के बाद वस्त्रो से मैल दूर हो जाता है।

स्वामीजी धोबी की तुलना को दो तरह से घटाते हैं। तप साबुन के समान है और आत्मा वस्त्र के समान। ज्ञान जल है और ध्यान स्वच्छ जल। तपरूपी साबुन लगाकर आत्मा को तपाने से, ज्ञानरूपी जल मे छांटने से और फिर ध्यानरूपी जल में धोने-खँगालने मे आत्मारूपी वस्त्र से लगा हुआ कर्मरूपी मैल दूर होता है और आत्मा स्वच्छ रूप मे प्रकट होती है।

यदि ज्ञान को साबुन माना जाय तो तप निर्मल नीर का स्थान ग्रहण करेगा। अन्तरात्मा धोबी के समान होगी और आत्मा के निजगुण वस्त्र के समान होगे। स्वामीजी कहते हैं—"जीव ज्ञानरूपी शुद्ध साबुन और तपरूपी निर्मल नीर से अपने आत्मारूपी वस्त्र को धोकर स्वच्छ करे।"

३—निर्जरा की एकांत शुद्ध करनी (गा० ५-६) :

प्रथम टिप्पणी मे यह बताया गया था कि निर्जरा चार प्रकार से होती है। उनमे से तीन प्रकार ऐसे हैं जिनमे कर्म-क्षय की भावना नही होती। जिन्हें जीव आत्मा की विशुद्धि के लक्ष्य से नही अपनाता। चौथा उपाय जीव कर्म-क्षय के लक्ष्य से अपनाता है।

यहाँ स्वामीजी कहते हैं कि निर्जरा की एकान्त शुद्ध करनी वही है जिसका एकमात्र लक्ष्य कर्म-क्षय है। जिस करनी का लक्ष्य कर्म-क्षय के अतिरिक्त अन्य कुछ नही होता, वही करनी जीव के प्रदेशो से कर्म-मैल को दूर कर आत्मा को अनन्य रूप से स्वच्छ करती है। जिस तप के साथ ऐहिक कामना—कर्म-क्षय के सिवाय अन्य आकांक्षा या भावना जुड़ी रहती है अथवा जो उद्देश्य रहित होता है उस तप से अल्प मात्रा में कर्म-क्षय होने पर भी—अकाम निर्जरा होने पर भी आत्म-शुद्धि की प्रक्रिया में उसका स्थान नही होता। आत्म-विशुद्धि की प्रक्रिया इच्छाकृत निष्काम तपस्या ही है। वह ऐहिक-लक्ष्य के साथ नही चलती। उसका लक्ष्य एकान्त आत्म-कल्याण ही होता है। जो तप एकान्ततः कर्म-क्षय के लिए किया जाता है वही तप विशुद्ध होता है और उससे कर्मों का क्षय भी चरम कोटि का होता है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—इन चार को मोक्षमार्ग कहा गया है। यहाँ सम्यक् तप का ग्रहण है। सम्यक् तप वही है जिसका लक्ष्य सम्पूर्णतः आत्म-विशुद्धि हो।

मोक्ष-मार्ग मे कर्म-क्षय की ऐसी ही करनी स्वीकृत और उपादेय है। उस के बारह भेद हैं।

४—अनशन (गा० ७-६) :

स्वामीजी ने अनशन दो प्रकार का बताया है। इसका आधार निम्नलिखित आगम गाथा है

इत्तरिय मरणकाला य अणसणा दुविहा भवे ।
इत्तरिय सावकखा निरवकंखा उ विइज्जिया[1] ॥

इसका भावार्थ है—अनशन दो प्रकार का होता है—एक इत्वरिक—अल्पकालिक और दूसरा यावत्कथिक—यावज्जीविक । इत्वरिक तप अवकांक्षा सहित होता है और यावत्कथिक अवकांक्षा रहित ।

इत्वरिक अनशन, सावधिक होने से उसमे अमुक अवधि के बाद भोजन-ग्रहण की भावना होती है इससे उसे सावकाक्ष—आकांक्षा सहित कहा है। यावत्कथिक अनशन मृत्यु पर्यन्त का—मरणकाल पर्यन्त का होने से उसमे आहार-ग्रहण की आकांक्षा को अवकाश नही होता अत उसे निरवकाक्ष—आकांक्षा रहित कहा है।

दोनो प्रकार के अनशनों का नीचे विस्तार से विवेचन किया जाता है।

१—इत्वरिक अनशन :

औपपातिक सूत्र मे इत्वरिक तप को अनेक प्रकार का बताते हुए उसके चौदह भेदो का उल्लेख किया गया है यथा—(१) चतुर्थभक्त—उपवास, (२) षष्ठभक्त—दो दिन का उपवास, (३) अष्टमभक्त—तीन दिन का उपवास, (४) दशम भक्त—चार दिन का उपवास, (५) द्वादशभक्त—पांच दिन का उपवास, (६) चतुर्दशभक्त—छह दिन का उपवास, (७) षोडशभक्त—सात दिन का उपवास, (८) अर्धमासिकभक्त—पन्द्रह दिन का उपवास, (९) मासिकभक्त—एक मास का उपवास, (१०) द्वैमासिकभक्त—दो मास का उपवास, (११) त्रैमासिकभक्त—तीन मास का उपवास, (१२) चतुर्मासिक भक्त—चार मास का उपवास, (१३) पचमासिकभक्त—पांच मास का उपवास और (१४) षट्मासिकभक्त—छह महीने का उपवास।

जैन परम्परा के अनुसार उपवास मे चार वेला का आहार छूटता है—उपवास के दिन की सुबह-शाम दो वेला का तथा पहले दिन की एक और पारणा के दिन की एक वेला का आहार। इसी कारण उपवास को चतुर्थ भक्त कहा है। बेले में—बेले के दो दिनों की चार वेला और बेले के आरम्भ के पहले दिन की एक वेला और पारणा के दिन

१—उत्त० ३० ९

की एक वेला—इस तरह छह वेला के भोजन का वर्जन होता है अत उसे षष्ठभक्त कहा है। आगे भी इसी तरह समझना चाहिए। ऐसा लगता है कि जैन परम्परा के अनुसार उपवास २४ घंटे से अधिक का होना चाहिए। उपवास के पहले दिन सूर्यास्त होने के पहले-पहले वह आरम्भ होना चाहिए। उपवास के दूसरे दिन सूर्योदय के पूर्व उपवास का पारणा नही होना चाहिए[1]।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि इत्वरिक तप जघन्य से एक दिन का और उत्कृष्ट से षट् मास तक का होता है। टीका भी इसका समर्थन करती है—'इत्वरं चतुर्थादि षण्मासान्तमिदं तीर्थमाश्रित्येति'[2]।

कही-कही 'नवकारसहित' को भी इत्वरिक तप कहा है पर उपवास से कम इत्वरिक तप नही होना चाहिए।

उत्तराध्ययन मे यह तप छह प्रकार का बताया गया है—(१) श्रेणितप (२) प्रतरतप (३) घनतप, (४) वर्गतप, (५) वर्गवर्गतप और (६) प्रकीर्णतप[3]। सक्षेप मे इनका स्वरूप इस प्रकार है

(१) श्रेणितप—ऊपर मे इत्वरिक तप के जो उपवास से षट्मासिक तप तक के भेद बताये गये हैं, उन्हे क्रमश निरन्तर एक के बाद एक करने को श्रेणितप कहते हैं, यथा—उपवास के पारणा के दूसरे दिन वेला करना दो पद का श्रेणितप है। उपवास कर, वेला कर, तेला कर, चोला करना—चार पदो का श्रेणितप है। इस तरह एक उपवास से क्रमश षट्-मासिक तप की अनेक श्रेणियां हो सकती हैं। पंक्ति उपलक्षित तप को श्रेणितप कहते हैं[4]।

१—ठाणाङ्ग ३ ३ १८२ की टीका
एक पूर्वदिने द्वे उपवासदिने चतुर्थं पारणकदिने भक्तं—भोजन परिहरति यत्र तपसि तत् चतुर्थभक्तम्

२—ठाणाङ्ग ५ ३ ५१२ की टीका

३—उत्त० ३०.१०-११
जो सो इत्तरियतवो सो समासेण छव्विहो ।
सेढितवो पयरतवो घणो य तह होइ वग्गो य ॥
तत्तो य वग्गवग्गो पचमो छट्ठओ पइण्णतवो ।
मणइच्छियचित्तत्थो नायव्वो होइ इत्तरिओ ॥

४—उत्त० ३० १० की नेमिचन्द्रीय टीका
पङ्क्तिस्तदुपलक्षित तप श्रेणितप

(२) प्रतरतप—एक श्रेणितप को जितने क्रम-प्रकारो से किया जा सकता है उन सब क्रम-प्रकारो को मिलाने से 'प्रतरतप' होता है। उदाहरण स्वरूप उपवास, वेला, तेला और चौला—इन चार पदो की श्रेणि ले। इसके निम्नलिखित चार क्रम-प्रकार बनते हैं :

क्रम प्रकार	१	२	३	४
१	उपवास	वेला	तेला	चौला
२	वेला	तेला	चौला	उपवास
३	तेला	चौला	उपवास	वेला
४	चौला	उपवास	वेला	तेला

यह प्रतरतप है। इसमें कुल पदो की सख्या १६ है। इस तरह यह तप श्रेणि को श्रेणिपदो से गुणा करने से बनता है (श्रेणिरेव श्रेण्या गुणिता प्रतर तप उच्यते—श्री नेमिचन्द्राचार्य)

(३) घनतप—जितने पदो की श्रेणि है प्रतर को उतने पदो से गुणा करने से घनता बनता है (पदचतुष्टयात्मिकया श्रेण्या गुणितो घनो भवति—श्री नेमिचन्द्राचार्य)। यहाँ चार पदो की श्रेणि है। अत उपर्युक्त प्रतर तप को चार से गुणा करने से अर्थात् उसे चार बार करने से घनतप होता है। घनतप के ६४ पद बनते हैं।

(४) वर्गतप—घन को घन से गुणा करने पर वर्गतप बनता है (घन एव घनेन गुणितो वर्गो भवति—श्री नेमिचन्द्राचार्य) अर्थात् घनतप को ६४ बार करने से वर्गता बनता है। इसके ६४×६४=४०९६ पद बनते हैं।

(५) वर्गवर्गतप—वर्ग को वर्ग से गुणा करने पर वर्गवर्गतप बनता है (वर्ग एव यदा वर्गेण गुण्यते तदा वर्गवर्गो भवति—वही) अर्थात् वर्गतप को ४०९६ बार करने से वर्गवर्गतप बनता है। इसके ४०९६×४०९६=१६७७७२१६ पद बनते हैं।

(६) प्रकीर्णतप—यह तप श्रेणि आदि निश्चित पदो की रचना बिना ही अपनी शक्ति अनुसार किया जाता है (श्रेण्यादिनियत रचनाविरहित स्वशक्त्यपेक्षा—वही)। यह अनेक प्रकार का है।

उत्तराध्ययन (३० ११) मे इत्वरिक तप के विषय मे कहा है—'मणइच्छियचित्तत्थो नायव्वो होइ इत्तरिओ' इसका अर्थ श्री नेमिचन्द्राचार्य कृत उत्तराध्ययन की टीका के अनुसार इस प्रकार होता है :

"मनस ईप्सित—इष्ट , चित्र—अनेक प्रकार , अर्थ—स्वर्गापवर्गादि तेजोलेश्यादिर्वा यस्मात् तद् मनईप्सितचित्रार्थं ज्ञातव्यं भवति इत्वरक तप ।"

दसवैकालिक में इहलोक और परलोक के लिए तप करना वर्जित है। वैसी हालत में इत्वरिक तप स्वर्ग तेजोलेश्यादि मनोवाञ्छित अर्थ के लिए किया जा सकता है या किया जाता है[1]—ऐसा अर्थ सूत्र की गाथा का है या नही, यह जानना आवश्यक है।

आचार्य श्री आत्मारामजी ने इसका अर्थ भिन्न किया है—"मनोवांछित स्वर्गापवर्ग फलो को देनेवाला यह इत्वरिक तप सावधिक तप है" (उत्तराध्ययन अनुवाद भाग ३ पृ० ११३७)। श्री नन्तलालजी ने भी अपने अनुवाद मे प्राय ऐसा ही अर्थ किया है (देखिए पृ०२७८)। यह अर्थ भी ठीक है या नही, देखना रह जाता है।

इस पद का शब्दार्थ है—"मनइच्छित विचित्र अर्थवाला इत्वरिक तप जानने योग्य है"। इसका भावार्थ है—इत्वरिक तप करने वाले की इच्छानुसार विचित्र होता है—वह एक दिन से लगाकर छह मास तक का हो सकता है। वह इच्छा अनुसार भिन्न-भिन्न रूप से किया जा सकता है। करनेवाला चाहे तो उसे श्रेणितप के रूप मे कर सकता है या अन्य किसी रूप मे। विचित्र अर्थवाला—इसका तात्पर्य यहाँ यह नही है कि वह स्वर्ग-अपवर्ग आदि भिन्न-भिन्न फल—हेतुओ के लिए किया जा सकता है। यहाँ 'अर्थ' का पर्याय शब्द फल—हेतु नही लगता। इसमे सन्देह नही कि तप स्वग-अपवर्ग आदि भिन्न-भिन फलो को दे सकता है पर 'अर्थ' शब्द का व्यवहार यहाँ फल के रूप में हुआ नही लगता। इस तप के औपपातिक और उत्तराध्ययन में जो अनेक प्रकार बताये गए हैं और जो ऊपर वर्णित हैं, वे इत्वरिकतप की विचित्रता के प्रचुर प्रमाण हैं। इत्वरिकतप करनेवाले की इच्छा या सामर्थ्य के अनुसार भिन्न-भिन्न अर्थ—प्रकार—अभिव्यजना—प्रतिपत्ति—रचना—रूप को लेकर हो सकता है। इसी बात को ध्यान मे रखकर हमने इस पद का अर्थ किया है—मनइच्छित—मन अनुसार, विचित्र—नाना प्रकार के, अर्थ—रूप भेद वाला इत्वरिक तप है।

२—यावत्कथिक अनशन

यावत्कथिक—मारणान्तिक अनशन दो प्रकार का कहा गया है —(१) सविचार और (२) अविचार[2]। यह भेद काय-चेष्टा के आश्रय से है।

१—डॉ० याकोबी आदि ने ऐसा ही अर्थ किया है। (देखिए सी बी ई वो० ४० पृ० १७५)

२—उत्त० ३० १२ :

जा सा अणसणा मरणे दुविहा सा वियाहिया।
सवियारमवियारा कायचिट्ठं पई भवे॥

जिसमें उद्वर्तनादि आवश्यक शारीरिक क्रियाओं का विचार हो—उनके लिए अवकाश हो—वे की जा सकती हो, उसे सविचार मारणांतिक अनशन कहते हैं। जिसमें किसी भी प्रकार की शारीरिक क्रियाओं का विचार न हो—उनके लिए अवकाश न हो—वे न की जा सकती हो, वह अविचार मारणांतिक अनशन कहलाता है।

औपपातिक में यावत्कथिक—मारणांतिक अनशन दो प्रकार का कहा गया है—(१) पादोपगमन और (२) भक्तप्रत्याख्यान। समवायाङ्ग सम० १७ में इस अनशन के तीन भेद बताये हैं—(१) पादोपगमन, (२) इंगिनी और (३) भक्तप्रत्याख्यान। इन तीनों भेदों के लक्षण इस प्रकार हैं :

(१) पादोपगमन

चारों प्रकार के आहार का जीवनपर्यन्त के लिए त्याग कर किसी खास संस्थान में स्थित हो यावज्जीवन पतित-पादप की तरह निश्चल रहकर जो किया जाय, उसे पादोपगमन अनशन कहते हैं। पादप सम-विषम जैसी भी भूमि पर जिस रूप में गिर पडता है वहाँ उसी रूप में निष्कंप पडा रहता है। गिरे हुए पादप की उपमा से शरीर की सारी क्रियाओं को छोड एक स्थान पर किसी खास मुद्रा में स्थित हो निश्चल रह जो अनशन किया जाय, वह पादोपगमन है। कहा है

समविसमम्मि य पडिओ, अच्छइ सो पायवो व्व निक्कंपो।
चलण परप्पओगा, नवर दुमस्सेव तस्स भवे[1] ॥

(२) इंगिनीमरण :

इंगित देश में स्वयं चार प्रकार के आहार का त्याग करे और उद्वर्तन मर्दन वगैरह खुद करे पर दूसरों से न करावे, वह इंगिनीमरण कहलाता है। इस मरण में चार प्रकार के आहार का त्याग कर इंगित—नियत देश के अन्दर रहना पडता है और चेष्टाएँ भी इसी नियत देश-क्षेत्र में ही की जा सकती हैं। इसके लक्षण को बतलानेवाली निम्न गाथा स्मरण रखने जैसी है

इंगियदेसम्मि सयं चउव्विहाहारचायनिप्फन्नं।
उव्वत्तणाइजुत्तं नऽण्णेण उ इंगिणीमरणं[2] ॥

इसे इंगितमरण भी कहा जाता है।

१—उत्त० ३०. १३ की टीका में उद्धृत
२—ठाणाङ्ग २. ४. १०२ की टीका में उद्धृत

(३) भक्तप्रत्याख्यान :

भक्तप्रत्याख्यान या भक्तपरिज्ञा अनशन तीन अथवा चार प्रकार के आहार-त्याग से निष्पन्न होता है। यह नियम से सप्रतिकर्म—जिस प्रकार समाधि हो शरीर की वैसी ही प्रतिक्रिया से युक्त कहा गया है। भक्तप्रत्याख्यान अनशन करनेवाला स्वय उद्वर्त्तन-परिवर्तन करता है और समर्थ न होने पर समाधि के लिए थोडा अप्रतिबद्धरूप से दूसरे मे भीकराता है। इसके लक्षण बतलानेवाली निम्नलिखित गाथाएँ स्मरण रखने योग्य हैं[१]

भत्तपरिन्नाणसण तिचउव्विहाहारचायणिप्फन्न ।
सप्पडिकम्म नियमा जहासमाही विणिद्दिट्ठं ॥
उव्वत्तइ परियत्तइ, सयमन्नेणावि कारए किंचि ।
जत्थ समत्थो नवर, समाहिजणय अपडिबद्धो ॥

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि पादोपगमन और इगिनी मे चार प्रकार के आहार का त्याग होता है और भक्तप्रत्याख्यान मे तीन प्रकार के आहार का भी त्याग हो सकता है। पादोपगमन सर्व चेष्टाओ से रहित होता है। इगिनीमरण मे दूसरे का सहारा लिए विना नियत चेष्टाएँ की जा सकती हैं और भक्तप्रत्याख्यान में दूसरे के सहारे से भी चेष्टाएँ की जा सकती हैं। दूसरे शब्दो मे पादोपगमन अविचार अनशन है और इगिनी मरण तथा भक्तप्रत्याख्यान सविचार अनशन है। पादोपगमन में जो स्थान ग्रहण किया हो उससे लेशमात्र भी इधर-उधर नहीं हुआ जा सकता अर्थात् पतित-पादप की तरह उसी स्थान पर विना हिले-डुले रहना पडता है। इगिनी मे नियत स्थान मे हलचल की जा सकती है। भक्तप्रत्याख्यान मे क्षेत्र की नियति नही होती अत लम्बा विहार आदि किया जा सकता है।

व्याघात और निर्व्याघात भेद

पादोपगमन अनशन और भक्तप्रत्याख्यान दोनो दो-दो प्रकार के कहे गये हैं—(१) व्याघात और (२) निर्व्याघात।

सिंह, दावानल आदि उपसर्गों से अभिभूत होने पर हठात् जो अनशन किया जाता है, वह व्याघात और विना ऐसी परिस्थितियो के यथाकाल किया जाय, वह निर्व्याघात अनशन है।

१—(क) ठाणाङ्ग २ ४ १०२ की टीका में उद्धृत

(ख) उत्त० ३०.१२ की टीका में उद्धृत

साधारण नियम ऐसा है कि मारणांतिक अनशन संलेपनापूर्वक किया जाना चाहिए—अर्थात् शरीर और कषायों को यथाविधि तप से संलेपना करने—उन्हें क्षीण करते हुए बाद में यथासमय यावज्जीवन आहार का त्याग करना चाहिए अन्यथा आर्तध्यान की संभावना रहती है। पर कभी-कभी ऐसी परिस्थितियाँ बन जाती हैं कि संलेपना का अवसर ही नहीं रहता। सिंह, दावानल, भूकम्प आदि ऐसी परिस्थितियाँ उपस्थित हो जाती हैं कि तुरन्त ही समाधिमरण करने की आवश्यकता हो जाती है। ऐसे समय में जब अचानक काल समीप दिखाई देने लगता है उस समय जो मारणांतिक अनशन किया जाता है, वह व्याघात कहलाता है[1]। सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ—तीनों जाननेवाला मुमुक्षु परिकर्म—संलेपनात्मक तप कर यथासमय जो मारणांतिक अनशन करता है, वह निर्व्याघात कहा गया है[2]।

अनशन के व्याघात और निर्व्याघात भेदों को सपरिकर्म और अपरिकर्म शब्दों के द्वारा भी व्यक्त किया गया है। यथा—

अहवा सपरिकम्मा अपरिकम्मा य आहिया।
नीहारिमनिहारी आहारच्छेओ दोसु वि[3] ॥

सपरिकर्म का अर्थ है जो संलेपनापूर्वक किया जाय (संलेपना सा यत्राऽस्ति तत् सपरिकर्म)। अपरिकर्म का अर्थ है जो संलेपना बिना किया जाय (तद्विपरीत तु अपरिकर्म)। इस तरह स्पष्ट है कि व्याघात-निर्व्याघात और अपरिकर्म-सपरिकर्म शब्द पर्याय-वाची हैं।

निर्व्याघात पादोपगमन अनशन की विधि को बतलानेवाली १६ गाथाएँ ठाणाङ्ग (२ ४ १०२) की टीका में उद्धृत मिलती हैं।

निर्हारिम और अनिर्हारिम भेद

पादोपगमन और भक्त प्रत्याख्यान अनशन अन्य तरह से भी दो-दो प्रकार के होते हैं (१) निर्हारिम और (२) अनिर्हारिम[4]।

१—उत्त० ३० १२ की श्री नेमिचन्द्राचार्य कृत टीका
व्याघाते संलेखनामविधायैव क्रियते भक्तप्रत्याख्यानादि
२—वही अव्याघाते त्वयमप्येत्सूत्रार्थोभयनिष्ठितो निष्पादितशिष्य संलेखनापूर्वकमेव क्रियते।
३—उत्त० ३० १३
४—(क) भगवती २५ ७
(ख) ठाणाङ्ग २ ४ १०२

निर्हारिम और अनिर्हारिम शब्दो की व्याख्याएँ निम्न रूप मे मिलती हैं -

(क) जो वसति या उपाश्रय के एक भाग मे किया जाता है जिससे कि कलेवर को उस आश्रय से निकालना पडता है, वह निर्हारिम अनशन है। जो गिरिकदरादि मे किया जाता है, वह अनिर्हारिम अनशन कहलाता है (भगवती २५ ७, ठाणाङ्ग २ ४ १०२ टीका)।

(ख) जो गिरिकन्दरादि मे किया जाता है जिससे ग्रामादि के वाहर गमन करना होता है, वह निर्हारि और उससे विपरीत जो व्रजिकादि मे किया जाता है और जिसमें शव उठाया जाय ऐसी अपेक्षा है, वह अनिर्हारी कहा जाता है[1]।

(ग) जो ग्रामादि के वाहर गिरिकदरादि मे किया जाता है, वह निर्हारिम। जा शव उठाया जाय इस कामना से व्रजिकादि मे किया जाता है और जिमका अन्त वही होता है, वह अनिर्हारी कहलाता है—

वहिया गामाईणं, गिरिकदरमाइ नीहारिं।
वइयाइसु ज अतो, उट्ठेउमणाण ठाइ अणिहारिं[2] ॥

इन व्याख्याओ मे निर्हारिम-अनिर्हारिम शब्दो के अर्थ के विपय मे मतभेद स्पष्ट है। यह देखकर एक आचार्य कहते हैं—'परमार्थं तु वहुश्रुता विदन्ति।'

सारांश यह है कि मारणांतिक अनशन दो तरह का होता है एक जो ग्रामादि स्थानो मे किया जाता है और दूसरा जो एकांत पर्वतादि स्थानो पर किया जाता है।

पादोपगमन अनशन नियम से अप्रतिकर्म होता है और भक्तप्रत्याख्यान अनशन नियम से सप्रतिकर्म[3]।

सपरिकर्म और अपरिकर्म शब्दो का अर्थ सलेपनापूर्वक और विना सलेपना—ऐसा ऊपर वताया जा चुका है। इनका दूसरा अर्थ भी है। सपरिकर्म—स्थाननिपदनादि-रूपपरिकर्मयुक्तम्, अपरिकर्म—तद्विपरीतम्[4]।

१—उत्त० ३० १३ की नेमिचन्द्राचार्य कृत टीका
निर्हरण निर्हार –गिरिकन्दरादिगमनेन ग्रामादेर्वहिर्गमन तद्विद्यते यत्र तन्निर्हारि, तदन्यदनिर्हारि यदुत्थातुकामे व्रजिकादौ विधीयते

२—उत्त० ३० १३ की नेमिचन्द्राचार्य कृत टीका में उद्धृत

३—मूल शब्द 'सप्पडिकम्म' 'अप्पडिकम्मे' हैं। उत्तराध्ययन (३० १३) मे मूल शब्द 'सपरिकम्मा'—सपरिकर्म, 'अपरिकम्मा'—अपरिकर्म हैं।
अप्रतिकर्म—शरीर-प्रतिक्रिया—सेवा का वर्जन जिस में हो।
सप्रतिकर्म—शरीर प्रतिक्रिया—सेवा का वर्जन जिसमें न हो।

४—उत्त० ३० १३ की ही नेमिचन्द्राचार्य कृत टीका

२—ऊनोदरिका (गा० १०-११) :

दूसरे बाह्य तप के 'ऊणोयरिया'—ऊनोदरिका[1], 'ओमोरियाओ'—अवमोदरिका[2] और 'ओमोयरण', 'ओमाण'—अवमौदर्य[3]—ये तीन नाम मिलते हैं।

'ऊण' और 'ओम' दोनों का अर्थ है—कम। उत्तराध्ययन में इसी अर्थ में इनका प्रयोग मिलता है[4]। 'उयर'—उदर का अर्थ है पेट। प्रमाणोपेत मात्रा से आहार की मात्रा कम रखना—पेट को न्यून, हल्का रखना ऊणोदरिका अथवा अवमोदरिका तप कहलाता है। उपलक्षण से सब बातों की—आहार, उपधि, भाव—क्रोधादि की न्यूनता के अर्थ मे इसका प्रयोग हुआ है। इसी कारण आगम मे इसके तीन भेद मिलते हैं—१-उपकरण अवमोदरिका, २-भक्तपान अवमोदरिका और ३-भाव अवमोदरिका[5]। इस तप के विषय मे आगमों में निम्न प्रश्नोत्तर मिलता है[6]

"अवमोदरिका तप कितने प्रकार का है?" "वह दो प्रकार का है—द्रव्य अवमोदरिका और भाव अवमोदरिका।" "द्रव्य अवमोदरिका कितने प्रकार का है?" "वह दो प्रकार का है—उपकरण अवमोदरिका और भक्तपान अवमोदरिका।"

१—(क) उत्त० ३०.८
(ख) समवायाङ्ग सम० ६
(ग) भगवती २५ ७

२—(क) औपपातिक सम० ३०
(ख) ठाणाङ्ग ३ ३ १८२
(ग) भगवती २५ ७

३—(क) उत्त० ३० १४,२३
(ख) तत्त्वा० ९ १९

४—उत्त० ३० १५,२०,२१,२४

५—ठाणाङ्ग ३ ३ १८२
तिविधा ओमोयरिया प० त० उवगरणोमोयरिया भत्तपाणोमोदरिता भावोमोदरिता

६—(क) औपपातिक सम० ३०
से किं त ओमोयरियाओ ? दुविहा पण्णत्ता। त जहा—दव्वोमोदरिया य भावोमोदरिया य। से किं त दव्वोमोदरिया ? दुविहा पण्णत्ता। त जहा—उवगरणदव्वोमोदरिया य भत्तपाणदव्वोमोदरिया य।
(ख) भगवती २५ ७

इस वार्त्तालाप से भी तीन ही भेद फलित होते हैं। नीचे तीनों प्रकार के अवमोदरिका तपों का स्वरूप संक्षेप में दिया जा रहा है

१—उपकरण अवमोदरिका

यह तीन प्रकार का होता है[1]

(क) एक वस्त्र से अधिक का उपयोग न करना।

(ख) एक पात्र से अधिक का उपयोग न करना।

(ग) चियत्तोपकरणस्वदनता। संयमीसम्मत उपकरण का धारण करना अथवा मलीन वस्त्र, उपकरण—उपधि आदि में भी अप्रीतिभाव न करना।

साधु आगमविहित वस्त्र-पात्र रख सकता है। विध्यानुसार रखे हुए वस्त्र-पात्रों से साधु असंयमी नहीं होता। अधिक रखनेवाला अथवा यतनापूर्वक व्यवहार नहीं करनेवाला साधु असंयमी होता है—

> ज वट्टइ उवगारे, उवकरण त सि होइ उवगरण।
> अइरेग अहिगरण, अजओ अजयं परिहरतो[2]॥

साधारणत साधु के लिए अधिक वस्त्रादि का अग्रहण ही अवमोदरिका तप है। जो साधु विहित वस्त्र-पात्र-उपधि को भी न्यून करता है, वह अवमोदरिका तप करता है।

मलीन वस्त्र-पात्रों में अप्रीतिभाव का होना उपकरण मूर्च्छा है। इस मूर्च्छा को घटाना-मिटाना उपकरण अवमोदरिका है।

२—भक्तपान अवमोदरिका

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और पर्याय की अपेक्षा से यह तप पांच प्रकार का बताया गया है[3]।

१—(क) ठाणाङ्ग ३ ३ १८२

उवगरणोमोदरिता तिविहा पं० त०—एगे वत्थे एगे पाते चियत्तोवहिसातिज्जणता

(ख) औपपातिक सम० ३०

(ग) भगवती २५ ७

२—ठाणाङ्ग ३ ३ १८२ की टीका में उद्धृत

३—उत्त० ३० १४

ओमोयरण पचहा समासेण वियाहिय।
दव्वओ खेत्तकालेण भावेण पज्जवेहि य॥

(क) जिसका जितना आहार है उसमे से जघन्य से एक कवल भी न्यून करना द्रव्य से भक्तपान अवमोदरिका तप है[1]। आगम में कहा है[2]

कुकडी के अण्डे जितने बतीस कवल का आहार करना प्रमाण प्राप्त आहार कहलाता है। इससे एक भी कवल अल्प आहार करनेवाला श्रमणनिर्ग्रन्थ प्रकामरसभोजी नहीं होता।

कुकडी के अण्डे जितने इकतीस कवल से अधिक आहार न करना किंचित् भक्तपान अवमोदरिका है।

कुकडी के अण्डे जितने चौबीस कवल से अधिक आहार न करना एकभाग-प्राप्त भक्तपान अवमोदरिका है।

कुकडी के अण्डे जितने सोलह कवल से अधिक आहार न करना दोभाग-प्राप्त अवमोदरिका है।

कुकडी के अण्डे जितने बारह कवल से अधिक आहार न करना अपार्धा भक्तपान अवमोदरिका है।

कुकडी के अण्डे जितने आठ कवल से अधिक आहार न करना अल्पाहार है[3]।

१—उत्त० ३० १५

जो जस्स उ आहारो तत्तो ओम तु जो करे।
जहन्नेणेगसित्थाई एव दव्वेण ऊ भवे॥

२—(क) औपपातिक सम० ३०

(ख) भगवती २५ ७

(ग) ठाणाङ्ग० ३ ३ १८२ की टीका मे उद्धृत

बत्तीस किर कवला आहारो कुच्छिपूरओ भणिओ।
पुरिसस्स महिलियाए अट्ठावीस भवे कवला॥
कवलाण य परिमाण कुक्कुटिअडगपमाणमेत्त तु।
जो वा अविगिअवयणो वयणमि छुहेज्ज वीसत्थो॥
अप्पाहार १ अवड्ढा २ दुभाग ३ पत्ता ४ तहेव किंचूणा।
अट्ठ १ दुवालस २ सोलस ३ चउवीस ४ तहेक्कतीसा य ५॥

३—यहाँ दिया हुआ अनुवाद औपपातिक सूत्र के क्रम से ठीक उल्टा है। मूल "कुकड़ी के अण्डे जितने आठ कवल से अधिक आहार न करना अल्पाहार है"—से शुरू होता है और 'प्रकामरसभोजी नहीं कहलाता" में शेष होता है। समझने की सुगमता की दृष्टि से क्रम उल्टा रखा गया है।

(ख) ग्राम आदि नाना प्रकार के क्षेत्र भिक्षा के लिए हैं। इनमे इस प्रकार अमुक क्षेत्रादि में ही भिक्षा करना मुझे कल्पता है—साधु का ऐसा या अन्य नियम करना क्षेत्र से भक्तपान अवमोदरिका है[1]।

'इस प्रकार' शब्द विधि के द्योतक हैं। (१) पेटा (२) अर्द्धपेटा, (३) गोमूत्रिका, (४) पतगवीथिका, (५) शबूकावर्त्त और (६) आयतगत्वाप्रत्यागता—ये भिक्षाटन के प्रकार हैं[2]। इनकी संक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार है

(१) पेटा एक घर से भिक्षा शुरू कर दूसरे ऐसे घरो से भिक्षा करना कि स्पर्शित घरो का एक चौकोर पेटी का आकार बन जाय, वह पेटाविधि कहलाती है।

(२) अर्द्धपेटा एक घर से भिक्षा शुरू कर दूसरे ऐसे घरो से भिक्षा करना कि स्पर्शित घरो का एक अर्द्ध पेटा का आकार बन जाय, वह अर्द्धपेटा विधि कहलाती है।

(३) गोमूत्रिका गोमूत्रिका की तरह भिक्षाटन करना गोमूत्रिका विधि कहलाती है। एक पंक्ति के एक घर में जाकर सामने की पंक्ति के घर में जाना, फिर पहली पंक्ति के घर मे जाना गोमूत्रिका विधि कहलाती है।

(४) पतगवीथिका पतग के उडने की तरह अनियत क्रम से भिक्षा करना अर्थात् एक घर मे भिक्षा ले फिर कई घर छोडकर फिर किसी घर मे भिक्षा लेना पतगवीथिका विधि कहलाती है।

(५) शबूकावर्त्त जिस भिक्षाटन में शख के आवृत्त की तरह पर्यटन हो, उसे शबूकावर्त्त विधि कहते हैं।

(६) आयतगत्वाप्रत्यागता एक पंक्ति के घरो मे भिक्षा लेते हुए आगे क्षेत्र पर्यन्त

१—उत्त० ३० १६-१८

गामे नगरे तह रायहाणिनिगमे य आगरे पल्ली।
खेडे कव्वडदोणमुहपट्टणमडम्बसबाहे ॥
आसमपए विहारे सन्निवेसे समायघोसे य।
थलिसेणाखन्धारे सत्थे सवट्टकोट्टे य ॥
वाडेसु व रच्छासु व घरेसु वा एवमित्तिय खेत्त।
कप्पइ उ एवमाई एव खेत्तेण ऊ भवे॥

२—वही ३० १६

पेटा य अद्धपेडा गोमुत्तिपयगवीहिया चेव।
सम्बुक्कावट्टायययगन्तुपच्चागया छट्टा ॥

चला जाना और फिर लौटते हुए दूसरी पक्ति के घरो से भिक्षा लेना आयतगत्वा-प्रत्यागता अथवा गत्वाप्रत्यागता विधि कहलाती है।

(ग) दिवस की चारो पौरुषियो में जितना काल रखा हो उस नियत काल में साधु का भिक्षाटन करना काल अवमौदर्य है। अथवा तीसरी पौरुषी कुछ कम हो जाने पर या चौथाई भाग कम हो जाने—बीत जाने पर आहार की गवेषणा करना काल से भक्तपान अवमोदरिका है[1]।

आगम में तीसरी पौरुषी मे भिक्षा करने का विधान है। तीसरी पौरुषी के भी दो दो घडी प्रमाण चार भाग होते हैं। इन चार भागो में से किसी अमुक भाग में ही भिक्षा के लिए जाने का अभिग्रह काल की अपेक्षा से अवमोदरिका है क्योंकि इसमें भिक्षा के विहित काल को भी न्यून—कम कर दिया जाता है।

(घ) स्त्री अथवा पुरुष, अलकृत अथवा अनलकृत, अमुक वयस्क अथवा अमुक प्रकार के वस्त्र को धारण करनेवाला, अन्य किसी विशेषता—हर्ष आदि को प्राप्त अथवा विशेष वर्णवाला—इन भावो से सयुक्त कोई देगा तो ग्रहण करूँगा—साधु का इस प्रकार अभिग्रह पूर्वक भिक्षाटन करना भाव से भक्तपान अवमौदर्य है[2]।

(ङ) द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के विषय में जो भाव कथन किये गये हैं उन सब भावो—पर्यायो से साधु का भक्तपान अवमोदरिका करना पर्याय अवमौदर्य कहलाता है। ऐसा भिक्षु पर्यवचरक कहलाता है[3]।

१—उत्त० ३० २०-२१

दिवसस्स पोरुसीण चउण्ह पि उ जत्तिओ भवे कालो।
एव चरमाणो खलु कालोमाण मुणेयव्व॥
अहवा तइयाए पोरिसीए ऊणाइ घासमेसन्तो।
चउभागूणाए वा एव कालेण ऊ भवे॥

२—उत्त० ३० २२-२३

इत्थी वा पुरिसो वा अलकिओ वा नलकिओ वा वि।
अन्नयरवयत्थो वा अन्नयरेण व वत्थेण॥
अन्नेण विसेसेण वण्णेण भावमणुमुयन्ते उ।
एव चरमाणो खलु भावोमाण मुणेयव्व॥

३—वही ३० २४

दव्वे खेत्ते काले भावम्मि य आहिया उ जे भावा।
एएहि ओमचरओ पज्जवचरओ भवे भिक्खू॥

३—भाव अवमोदरिया

यह तप अनेक प्रकार का कहा गया है, यथा—(क) अल्पक्रोध—क्रोध को कम करना, (ख) अल्पमान—मान को कम करना, (ग) अल्प माया—माया को अल्प करना, (घ) अल्पलोभ—लोभ को कम करना (ङ) अल्पशब्द—बोलने को घटाना और (च) अल्पझझा—झझा को कम करना। (छ) अल्प तू-तू—तू-तू , मैं-मैं को कम करना[1]।

वाचक उमास्वाति ने अवमौदर्य के स्वरूप को बतलाते हुए लिखा है—"'अवम' शब्द ऊन—न्यून का पर्याय वाचक है। इसका अर्थ कम या खाली होता है। कम पेट—खाली पेट रहना अवमौदर्य है। उत्कृष्ट और जघन्य को छोड़कर मध्यम कवल की अपेक्षा से यह तप तीन प्रकार का होता है—अल्पाहार अवमौदर्य, उपधि अवमौदर्य और प्रमाणप्राप्त से किंचित् ऊन अवमौदर्य। कवल का प्रमाण बत्तीस कवल से पहले का ग्रहण करना चाहिए[2]।'

वाचक उमास्वाति के अनुसार साधु को ज्यादा-से ज्यादा बत्तीस कवल आहार लेना चाहिए। एक ग्रास और बत्तीस ग्रास को छोड़कर मध्य के दो से लेकर इकतीस ग्रास तक का आहार लेना अवमौदर्य तप है। दो, चार, छह आदि अल्प ग्रास लेने को अल्पाहार अवमौदर्य, आधे के करीब—पन्द्रह-सोलह ग्रास लेने को उपधि अवमौदर्य और इकतीस ग्रास के आहार तक को प्रमाणप्राप्त से किंचित् ऊन अवमौदर्य कहते हैं।

उमास्वाति ने एक ग्रास ग्रहण को अवमौदर्य क्यों नहीं माना—यह समझ में नहीं आता। पूर्ण आहार न करना जब अवमौदर्य है तब उसे भी ग्रहण करना चाहिए था। श्री अकलङ्कदेव ने उसे ग्रहण किया है—"आश्रितभवो य ओदन तस्य चतुर्भागे- नार्द्धग्रासेन वा अवममून उदरमस्यासाववमोदर', अवमोदरस्य भाव कर्म वा अवमो- दर्यम्[3]।

१—(क) औपपातिक सम० ३०

से किं त भावोमोयरिया ? २ अणेगविहा पण्णत्ता। त जहा—अप्पकोहे अप्पमाणे अप्पमाए अप्पलोहे अप्पसद्दे अप्पझझे

(ख) भगवती २५ ७

भावोमोयरिया अणेगविहा प० तं—अप्पकोहे जाव—अप्पलोभे, अप्पसद्दे, अप्पझझे अप्पतुमतुमे। सेत्त भावोमोयरिया

२—तत्त्वा० ६ १६ भाष्य २

३—तत्त्वा० ६ १६ राजवार्तिक ३

आ० पूज्यपाद ने सयम की जागृति, दोषो के प्रशम तथा सन्तोष और स्वाध्याय की सुखपूर्वक सिद्धि के लिए इसे आवश्यक बताया है[1]।

६—भिक्षाचर्या तप (गा०१७) :

उत्तराध्ययन, औपपातिक, भगवती और ठाणाङ्ग में इस तप का यही नाम मिलता है।

इस तप के वृत्तिसक्षेप[2] और वृत्तिपरिसख्यान[3], नाम भी प्राप्त हैं।

प्रश्न हो सकता है कि अनशन—आहार-त्याग को तप कहा है तब भिक्षाचर्या—भिक्षाटन को तप कैसे कहा ? इसका कारण यह है कि अनशन कि तरह भिक्षाटन में भी कष्ट होने से साधु को निर्जरा होती है। अत वह भी तप है। अथवा विशिष्ट और विचित्र प्रकार के अभिग्रह से सयुक्त होने से वह साधु के लिए वृत्तिसक्षेप रूप है और इस तरह वह तप है[4]। आ० पूज्यपाद ने इसका लक्षण इस प्रकार बताया है—"मुनेरेकागारादिविषय सङ्कल्प चिन्तावरोधो वृत्तिपरिसख्यानम्।" इसका फल आशा-निवृत्ति है।

अभिग्रह के उपरांत भिक्षा न करने से स्वामीजी ने इसका लक्षण भिक्षा त्याग किया है। उन्होने भिक्षाचर्या को अनेक प्रकार का कहा है। आगम मे निम्न भेदो का उल्लेख मिलता है[5]

१—तत्त्वा० ९-१९ सर्वार्थसिद्धि

सयमप्रजागरदोषप्रशमसन्तोषस्वाध्यायादिसुखसिद्ध्यर्थमवमौदर्यम्।

२—समवायाङ्ग सम० ६

३—(क) तत्त्वा० १९ १९

(ख) दशवैकालिक निर्युक्ति गा० ४७

४—ठाणाङ्ग ५ ३ ५११ टीका

भिक्षाचर्या सव तपो निर्जराङ्गत्वादनशनवद् अथवा सामान्योपादानेऽपि विशिष्टा विचित्राभिग्रहयुक्तत्वेन वृत्तिसंक्षेपरूपा सा ग्राह्या।

५—औपपातिक सम० ३०

दव्वाभिग्गहचरए खेत्ताभिग्गहचरए कालाभिग्गहचरए भावाभिग्गहचरए उक्खित्तचरए णिक्खित्तचरए उक्खित्तणिक्खित्तचरए णिक्खित्तउक्खित्तचरए वट्टिज्जमाणचरए साहरिज्जमाणचरए उवणीयचरए अवणीयचरए उवणीयअवणीयचरए अवणीयउवणीयचरए संसट्ठचरए असंसट्ठचरए तज्जायसंसट्ठचरए अण्णायचरए मोणचरए दिट्ठलाभिए अदिट्ठलाभिए पुट्ठलाभिए अपुट्ठलाभिए भिक्खालाभिए अभिक्खालाभिए अण्णागिलाए ओवणिहिए परिमियपिंडवाइए सुद्धेसणिए संखादत्तिए।

(१) द्रव्याभिग्रह चर्या द्रव्य सम्बन्धी अभिग्रह कर भिक्षाटन करना। उदाहरणार्थ भाले के अग्र भाग पर स्थित द्रव्य विशेष को लूगा—इत्यादि प्रतिज्ञा द्रव्याभिग्रह है।

(२) क्षेत्राभिग्रह चर्या क्षेत्र सम्बन्धी अभिग्रह कर भिक्षाटन करना। उदाहरणार्थ देहली के दोनो ओर पैर रखकर बैठा हुआ कोई दे तो लूगा—इत्यादि प्रतिज्ञा क्षेत्राभिग्रह है।

(३) कालाभिग्रह चर्या काल विषयक अभिग्रह कर भिक्षाटन करना। उदाहरणार्थ सब भिक्षाचर गोचरी कर चुके होंगे उस समय भिक्षाटन करूँगा—ऐसी प्रतिज्ञा कालाभिग्रह है।

(४) भावाभिग्रह चर्या . भाव विषयक अभिग्रह कर भिक्षाटन करना। उदाहरणार्थ हँसता, रोता या गाता हुआ पुरुष देगा तो लूगा आदि प्रतिज्ञा भावाभिग्रह है।

(५) उक्षिप्त चर्या गृहस्थ द्वारा स्वप्रयोजन के लिए पाक-भाजन से निकाला हुआ द्रव्य ग्रहण करने का अभिग्रह कर भिक्षाटन करना।

(६) निक्षिप्त चर्या पाक-भाजन से निकाली हुई वस्तु को ग्रहण करने का अभिग्रह कर भिक्षाटन करना।

(७) उक्षिप्तनिक्षिप्त चर्या उक्षित एव निक्षिप्त दोनो को ग्रहण करने का अभिग्रह कर भिक्षाटन करना अथवा पाक-भाजन से निकाल कर उसी मे या अन्यत्र रखी हुई वस्तु ग्रहण करने का अभिग्रह कर भिक्षाटन करना।

(८) निक्षिप्तउक्षिप्त चर्या निक्षित और उक्षिप्त दोनो को ग्रहण करने का अभिग्रह कर भिक्षाटन करना अथवा पाक-भाजन में रखी हुई वस्तु भोजन-पात्र में निकाली हुई हो उसे ग्रहण करने का अभिग्रह कर भिक्षाटन करना।

(९) परिवेष्यमाण चर्या परोसे जाते हुए मे से लेने का अभिग्रह कर भिक्षाटन करना।

(१०) सहियमाण चर्या फैलाई हुई वस्तु बटोर कर पुन भाजन में रखी जा रही हो उसे ग्रहण करने का अभिग्रह कर भिक्षाटन करना।

(११) उपनीत चर्या किसी द्वारा समीप लाई हुई वस्तु को ग्रहण करने का अभिग्रह कर भिक्षाटन करना।

(१२) अपनीत चर्या . देय द्रव्य मे से प्रसारित—अन्यत्र स्थापित वस्तु को ग्रहण करने का अभिग्रह कर भिक्षाटन करना।

(१३) उपनीतापनीत चर्या उपनीत-अपनीत दोनो को ग्रहण करने का अभिग्रह कर भिक्षाटन करना। अथवा दाता द्वारा जिसका गुण कहा गया हो वह उपनीत, जिसका गुण नही कहा गया हो वह अपनीत। एक अपेक्षा से जिसका गुण कहा हो और दूसरी अपेक्षा मे दोष—उस वस्तु को ग्रहण करने का अभिग्रह कर भिक्षाटन करना। उदाहरण स्वरूप—यह जल शीतल है पर क्षारयुक्त है—दाता द्वारा इस तरह प्रशमित वस्तु को ग्रहण करना

(१४) अपनीतोपनीत चर्या जिस वस्तु में एक अपेक्षा से दोष और एक अपेक्षा से गुण बताया गया हो उसे ग्रहण करने का अभिग्रह कर भिक्षाटन करना। उदाहरण स्वरूप—यह जल क्षारयुक्त है पर शीतल है—दाता द्वारा इस तरह अप्रशमित-प्रशमित वस्तु को ग्रहण करना।

(१५) संसृष्ट चर्या · भरे हुए हाथ या पात्रादि से देने पर लेने का नियम कर भिक्षाटन करना।

(१६) असंसृष्ट चर्या बिना भरे हुए हाथ या पात्रादि मे देने पर लेने का नियम कर भिक्षाटन करना।

(१७) तज्जातसंसृष्ट चर्या जो देय वस्तु है उसी से संसृष्ट हाथ या पात्रादि से देने पर लेने का नियम कर भिक्षाटन करना।

(१८) अज्ञात चर्या स्वजाति या सम्बन्ध आदि को जताये बिना भिक्षाटन करना।

(१९) मौन चर्या . मौन रह कर भिक्षाटन करना।

(२०) दृष्टलाभ चर्या : दृष्ट आहार आदि की प्राप्ति के लिए भिक्षाटन करना अथवा पूर्व देखे हुए दाता से भिक्षा ग्रहण करना।

(२१) अदृष्टलाभ चर्या अदृष्ट आहार आदि की प्राप्ति के लिए भिक्षाटन करना अथवा पहले न देखे हुए से भिक्षा ग्रहण करना।

(२२) पृष्टलाभ चर्या साधु! आप को क्या दें?—ऐसा प्रश्न कर कोई वस्तु दी जाए तो उसे लेना।

(२३) अपृष्टलाभ चर्या बिना कुछ पूछे कोई वस्तु दी जाए उसे लेना।

(२४) भिक्षालाभ चर्या · तुच्छ या अज्ञात वस्तु को ग्रहण करना।

(२५) अभिक्षालाभ चर्या तुच्छ या अज्ञात वस्तु न लेने का अभिग्रह करना।

(२६) अन्नग्लायकचरकत्व चर्या अन्न बिना विषादप्राप्त साधु के लिए भिक्षाटन करना। इस के दो नाम और मिलते हैं—अन्नग्लानकचरकत्व तथा अन्यग्लायकचरकत्व। अन्यग्लायकचरकत्व का अर्थ है—अन्य वेदनादि वाले साधु के लिए भिक्षाटन करना। यहाँ 'अन्नवेल' पाठान्तर मिलता है, जिसका अर्थ है—भोजन की वेला के समय भिक्षाटन करना।

(२७) औपनिहित चर्या जो वस्तु किसी तरह समीप मे प्राप्त हो उसके लिए भिक्षाटन करना। इसका अपर नाम 'औपनिधिकत्व चर्या' भी है, जिसका अर्थ होता है—जो वस्तु किसी प्रकार से समीप लाई गई हो उसके लिए भिक्षाटन करना।

(२८) परिमितपिण्डपात चर्या द्रव्यादि की सख्या से परिमित पिण्डपात के लिए भिक्षाटन करना।

(२९) शुद्धैषणा चर्या सात या वैसी ही अन्य एषणाओ द्वारा शकितादि दोषो का वर्जन करते हुए भिक्षाटन करना।

एषणाएँ सात हैं—ससृष्ट, असमसृष्ट, उद्धृता, अल्पलेपा, उद्गृहीता, प्रगृहीता और उज्भितधर्मा[1]।

ससृष्ट हाथ या पात्र से देने पर लेना 'ससृष्टा', असंसृष्ट हाथ या पात्र से देने पर लेना 'असंसृष्टा', रांधने के बर्तन से निकाला हुवा लेना 'उद्धृता', अल्प लेपवाली वस्तु या लेपरहित वस्तु ले लेना 'अल्पलेपा', परोसने के लिए लाई जाती हुई वस्तु में से लेना 'उद्गृहीता', परोसने के लिए हाथ में ग्रहण की गई या परोसते समय भोजन करनेवाले ने अपने हाथ मे ले ली हो, उसमें से लेना—'प्रगृहीता' और जो परित्यक्त वस्तु हो—ऐसी वस्तु जो दूसरा न लेता हो, उसको लेना, 'उज्झितधर्मा' एषणा कहलाती है।

(३०) सख्यादत्ति चर्या इतनी दत्ति को ग्रहण करूँगा इस प्रकार का अभिग्रह कर भिक्षाटन करना। धार टूट बिना एक बार मे जितना गिरे उसे एक दत्ति कहते हैं। यदि वस्तु प्रवाही न हो तो एक बार मे जितना दिया जाय वह एक दत्ति कहलाती है[2]।

औपपातिक (सम० ३०) और भगवती (२५ ७) में भिक्षाचर्या के उपर्युक्त तीस भेद हैं, पर यह भेद-सख्या अन्तिम नही लगती। ठाणाङ्ग (५ १ ३९६) मे दो भेद और मिलते हैं :

१—उत्त० ३० २५ की टीका में उद्धृत

संसट्ठमससट्ठा उद्धड तह अप्पलेवडा चेव।
उग्गहिया पग्गहिया उज्झियधम्मा य सत्तमिया॥

२—ठाणाङ्ग ५ १ ३९६ की टीका में उद्धृत

दत्ती उ जत्तिए वारे खिवई होति तत्तिया।
अवोच्छिन्नणिवायाओ दत्ती होइ दवेतरा॥

(३१) पुरिमाकर्ध चर्या पूर्वाह्न में भिक्षाटन करने का अभिग्रह।

(३२) भिन्नपिण्डपात चर्या टुकडे किए हुए पिण्ड को ग्रहण करने का अभिग्रह।

उत्तराध्ययन मे कहा है "आठ प्रकार के गोचाराग्र, आठ प्रकार की एषणा तथा अन्य जो अभिग्रह हैं उन्हे भिक्षाचर्या कहते हैं[1] ।"

गाय की तरह भिक्षाटन करना—जिस तरह गाय छोटे-बडे सब घास को चरती हुई आगे बढती है, उसी तरह धनी-गरीब सब घरो मे समान भाव से भिक्षाटन करना—गोचरी कहलाती है।

अग्र अर्थात् प्रधान—आठ प्रकार की प्रधान गोचरी का उल्लेख इस प्रकार मिलता है—(१) पेटा, (२) अर्द्धपेटा, (३) गोमूत्रिका, (४) पतगवीथिका, (५) आभ्यन्तर शम्बूकावर्त्त, (६) वहिर्शम्बूकावर्त्त, (७) आयतगतु और (८) प्रत्यागत। कहीं-कही अतिम दो को एक मान कर ८वें स्थान मे ऋजुगति का उल्लेख मिलता है। प्राय गोचराग्रो का अर्थ पहले दिया जा चुका है।

शम्बूकावर्त्त के लक्षण का वर्णन पहले किया जा चुका है। शख के नाभिक्षेत्र मे आरभ हो आवृत्त बाहर आता है, उसी प्रकार भीतर के घरो मे गोचरी करते हुए बाहर बस्ति मे आना आभ्यन्तर शम्बूकावर्त्त गोचरी है। शख मे बाहर से भीतर की ओर आवृत्त जाता है, उस प्रकार बाहर वस्ति मे भिक्षाटन करते हुए आभ्यन्तर बस्ति मे प्रवेश करना वहिर्शम्बूकावर्त्त गोचरी कहलाती है। इन शब्दो के अर्थ में सम्प्रदाय भेद रहा है, यह निम्न उद्धरणो हरणो से प्रकट होगा

"यस्यां क्षेत्रबहिर्भागात् शखवृत्त्तगत्याऽटन् क्षेत्रमध्यभागमायाति साऽभ्यन्तरसबुका, यस्यां तु मध्यभागाद् वहिर्याति सा वहि सम्बुक्केति" (ठाणाङ्ग ५ ३ ५१४ की टीका)

"तत्थ अब्भितरसंबुकाए सखनाभिखेत्तोवमाए आगिईए अतो आढवइ बाहिरओ सन्नियट्टइ, इयरीए विवज्जओ।" (उत्त० ३० १९ की टीका)

"अब्भितरसंबुका मज्झाभमिरो वहि विणिस्सरइ। तव्विवरीया भण्णइ बहि संबुका य भिक्ख त्ति।"

सात प्रकार की एषणाओं का वर्णन पहले किया जा चुका है। (देखिए पृ० ६४३)

१—उत्त० ३० २५ :

अट्ठविहगोयरग्गं तु तहा सत्तेव एसणा।

अभिग्गहा य जे अन्ने भिक्खायरियमाहिया॥

अभिग्रह—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से चार प्रकार का कहा गया है। उनके लक्षण पहले दिये जा चुके हैं। (देखिए पृ० ६४०-१)

७—रसपरित्याग (गा० १३) :

रसो के परिवर्जन को रस-परित्याग व्रत कहते हैं[1]। यह अनेक प्रकार का कहा गया है। औपपातिक सूत्र मे इसके नौ भेद मिलते हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) निर्विकृति (२) प्रणीतरसपरित्याग, (३) आचाम्ल, (४) अवश्रावणगतसिक्थभोजन, (५) अरसाहार, (६) विरसाहार, (७) अन्त आहार, (८) प्रान्त्य आहार और (९) लूक्षाहार[2]।

संक्षेप मे इनका विवरण इस प्रकार है

(१) निर्विकृति विकृतियाँ नौ हैं[3]—दूध[4], दही, नवनीत, घी[5], तेल[6], गुड[7], मधु[8], मद्य[9]

१—उत्त० ३०.२६
खीरदहिसप्पिमाई पणीय पाणभोयण।
परिवज्जण रसाण तु भणिय रसविवज्जण॥

२—औपपातिक सम० ३०
से किं त रसपरिच्चाए ? २ अणेगविहे पण्णत्ते। त जहा—१ निव्वीइए २ पणीयरस-परिच्चाए ३ आयविलिए ४ आयामसित्थभोई ५ अरसाहारे ६ विरसाहारे ७ अताहारे ८ पताहारे ९ लूहाहारे।

३—ठाणाङ्ग ९.३.६७४
णव विगतीतो प० त० खीर दधि णवणीत सप्पि तेल गुलो महु मज्ज मस

४—वृद्धगाथा के अनुसार गाय, भैंस, ऊटनी, बकरी और भेड़ का दूध।

५—वृद्धगाथा में कहा गया है कि ऊँटनी के दूध का दही आदि नही होता अत गाय, भैंस, बकरी और भेड के भेद से दही, नवनीत और घी चार-चार प्रकार के होते हैं।

६—वृद्धगाथा के अनुसार तिल, अलसी, कुसुभ और सरसव का तेल। अन्य महुआ आदि के तेल विकृति मे नही आते।

७—वृद्धगाथा के अनुसार गुड दो प्रकार का होता है—द्रवगुड (नरम गुड) और पिंडगुड (कठोर गुड)।

८—वृद्धगाथा के अनुसार मधु तीन प्रकार का होता है (१) माक्षिक—मक्खी सम्बन्धी, (२) कौंतिक—छोटी मक्खी सम्बन्धी और (३) भ्रमरज—भ्रमर सम्बन्धी।

९—वृद्धगाथा के अनुसार मद्य दो तरह का होता है—(१) काष्ठनिष्पन्न—ताड़ी आदि और (२) पिष्टनिष्पन्न—चावल आदि के पिष्ट से बना।

और मांस[1]। इनका परिवर्जन निर्विकृति तप है।

जो शरीर और मन को प्राय विकार करनेवाली हो, उन्हें विकृति कहा है (विकृतय शरीरमनसो प्रायो विकार हेतुत्वात)। मधु, मांस, मद्य और नवनीत—इन चार को महाविकृयाँ कहा जाता है (ठाणाङ्ग ४ १ २७४)। इसका कारण यह है कि महा रस के फलस्वरूप ये महा विकार तथा महा जीवोपघात की हेतु हैं।

ठाणाङ्ग में उल्लिखित नौ विकृतियों के उपरांत औप० टीका द्वारा उद्धृत वृद्धगाथा मे 'ओगाहिमग'—अवगाहिम—घृत या तेल में तली वस्तु को भी विकृति कहा है। गाथा इस प्रकार है—

> खीरदहि णवणीय, घय तहा तेल्लमेव गुडमज्ज।
> महु मंस चेव तहा, ओगाहिमग च दसमी उ[2] ॥

(२) प्रणीतरस-परित्याग—प्रणीत[3]—घी आदि से अत्यन्त स्निग्ध—रसयुक्त पय और भोजन का विवर्जन।

(३) आचाम्ल—कुल्माप, ओदन आदि और जल का आहार।

१—वृद्धगाथा के अनुसार जलचर, थलचर और खेचर जीवों की अपेक्षा से मांस तीन प्रकार का होता है। अथवा मांस, वसा—चरबी और शोणित के भेद से तीन प्रकार का होता है।

२—वहां यह स्पष्ट कर दिया गया है कि प्रथम तीन पावों में तली वस्तु ही विकृति है। घी या तेल-भरी कड़ाही मे जब प्रथम बार पुरियाँ डाली जाती हैं तो उसे प्रथम पावा कहा जाता है। चौथे पावे मे तली पुरियाँ विकृति मे नहीं आती यथा—

> आइल्ल तिन्नी चल चल, ओगाहिमग च विगईओ।
> सेसा न होंति विगई अ, जोगवाहीण ते उ कप्पती ॥

इसी प्रकार स्पष्ट किया गया है कि तवे पर घी आदि डालकर पहली बार जो चीज पूरी जाती है, वह विकृति है। पर उसी तवे के उसी घी मे जो दूसरी-तीसरी बार मे पूरी जाती है, वह वस्तु विकृति नहीं है। उसे लेपकृत कहा जाता है—

> एक्केण चेव तवओ, पुरिज्जइ पूयएण जो ताओ।
> बिईओऽवि स पुण कप्पइ निव्विगईअ लेवडो नवरं ॥

३—(क) अतिस्नेहवान्—समवायाङ्ग सम० २५ टीका
(ख) गलद्घृतदुग्धादि बिन्दु —औपपातिक सम० ३० टीका
(ग) अति बृंहक—उत्तराध्ययन ३० २६ टीका

(४) अवश्रावणगत सिक्थभोजन—पकाये पदार्थों से दूर किये गये जल में आये सिक्थो का भोजन।

(५) अरसाहार—हिंगादि व्यजनो से असस्कृत आहार का सेवन।

(६) विरसाहार—विगतरस—पुराने धान्य ओदनादि आहार का सेवन।

(७) अन्त आहार[1]—घरवालो के भोजनोपरान्त अवशेष रहे आहार का सेवन।

(८) प्रान्त्य आहार[2]—घरवालो के खा चुकने के बाद बचे-खुचे अत्यन्त अवशेष आहार का सेवन।

(९) लूक्षाहार[3]—रूखे आहार का सेवन।

वाचक उमास्वाति ने रस-परित्याग तप की परिभाषा देते हुए कहा है—"मद्य, मांस, मधु और नवनीत आदि जो-जो रसविकृतियाँ हैं, उनका प्रत्याख्यान तथा विरस—रूक्ष आदि का अभिग्रह रसपरित्याग तप है[4]।"

आचार्य पूज्यपाद कहते हैं—"घृतादि वृष्य—गरिष्ठ रसो का परित्याग करना रस-परित्याग तप है[5]।"

कही-कही षट्रस के त्याग को ही रस-परित्याग तप कहा है[6]। षट्-रस का अर्थ दो प्रकार से किया जाता है। कही घृत, दूध, दही, शक्कर, तेल, और नमक को षट्-रस कहा है और कही मधुर, अम्ल, कटु, कषाय, लवण और तिक्त इन छह स्वादो को।

१—(क) अन्तंभवम् अन्त्य जघन्यधान्य वल्लादि (औपपातिक सम० ३० टीका)
(ख) अन्तं भवम् आन्त—भुक्तावशेष वल्लादि (ठाणाङ्ग ५ १ ३९६ टीका)

२—(क) प्रकर्षेण अन्त्य वल्लादि एव भुक्तावशेष पर्युषित वा (औप० सम० ३० टीका)
(ख) प्रकृष्ट अन्त प्रान्त—तदेव पर्युषितं (ठाणाङ्ग ५ १ ३९६ टीका)

३—कहीं-कहीं तुच्छाहार मिलता है। तुच्छ—अल्प सारवाला

४—तत्त्वा० ९ १९ भाष्य ४
रसपरित्यागोऽनेकविध । तद्यथा—मासमधुनवनीतादीनां मद्यरसविकृतीनांप्रत्याख्यान विरसरूक्षाद्यभिग्रहश्च

५—तत्त्वा० ९ १९ सर्वार्थसिद्धि
घृतादिवृष्यरसपरित्यागश्चतुर्थंतप

६—नवतत्त्वस्तवन (श्री विवेकविजय विरचित) ८
षट् रसनों करे त्याग, ए चोथो रूडो सोभागी ॥

यहाँ यह ध्यान में रखने की बात है कि भिक्षा का भोजन, असंस्कृत पदार्थों का भोजन, विगतरस पदार्थों का भोजन आदि आदि तप नहीं पर भिक्षा से भिन्न भोजन का त्याग, संस्कृत पदार्थों का त्याग आदि तप है। यही बात आचाम्ल तप के विषय में समझनी चाहिए। उडद आदि का खाना आचाम्ल तप नहीं, इनके सिवा अन्य पदार्थों का न खाना तप है।

इन्द्रियों के दर्प-निग्रह, निद्रा-विजय और सुखपूर्वक स्वाध्याय की सिद्धि के लिए यह तप अत्यन्त सहायक है[1]।

अनशन आदि प्रथम चार तपों में परस्पर इस प्रकार अन्तर है—अनशन में आहार मात्र की निवृत्ति होती है, अवमौदर्य में एक दो आदि कवल का परित्याग कर आहार मात्रा घटायी जाती है, वृत्तिपरिसंख्यान में क्षेत्रादि की अपेक्षा कायचेष्टा आदि का नियमन किया जाता है। रस-परित्याग में रसों का ही परित्याग किया जाता है[2]।

८—कायक्लेश तप (गा० १४) :

उत्तराध्ययन (३० २७) में इस तप की परिभाषा इस प्रकार मिलती है "वीरासनादि उग्र कायस्थिति के भेदों को यथारूप से धारण करना कायक्लेश तप है।' पाठ इस प्रकार है

> ठाणा वीरासणाईया जीवस्स उ सुहावहा।
> उग्गा जहा धरिज्जन्ति कायकिलेस तमाहियं ॥

स्वामीजी की परिभाषा इसी आगम गाथा पर आधारित है।

कायक्लेश तप अनेक प्रकार का कहा गया है[3]। ठाणाङ्ग में एक स्थान पर इसो

१—तत्त्वा ९ १९ सर्वार्थसिद्धि

इन्द्रियदर्पनिग्रहनिद्राविजयस्वाध्यायसुखसिद्ध्याद्यर्थो

२—तत्त्वा ९ १९ राजवार्तिक

भिक्षाचरणे प्रवर्तमान साधु एतावत्क्षेत्रविषया कायचेष्टा कुर्वीत कल्पनिया शक्तीति विषयगणनार्थं वृत्तिपरिसंख्यान क्रियेत, अनशनमभ्यवहर्तव्यनिवृत्ति, एवम् अवमोदर्यरसपरित्यागौ अभ्यवहर्तव्यैकदेशनिवृत्तिपराविति महान् भेद ।

३—(क) औपपातिक सम० ३०

(ख) भगवती २५ ७

से किंत कायकिलेसे ? कायकिलेसे अणेगविहे प०

सात भेद बतलाये गये हैं[1]। अन्य स्थल पर दो पंचकस्थानकों में दस नाम मिलते हैं[2]। औपपातिक में इसके बारह भेद बतलाये गये हैं। इससे स्पष्ट है कि कायक्लेश तप के भेदों की कोई निश्चित संख्या निर्धारित नहीं की जा सकती। वह अनेक प्रकार का है।

औपपातिक में वर्णित इस तप के बारह भेदों के नाम इस प्रकार हैं १—स्थानायतिक, २—उत्कटुकासनिक, ३—प्रतिमास्थायी, ४—वीरासनिक, ५—नैषधिक, ६—दंडायतिक, ७—लगंडशायी, ८—आतापक, ९—अप्रावृतक, १०—अकण्डूयक, ११—अनिष्ठिवक और १२—सर्वगात्रप्रतिकर्मविभूषाविप्रमुक्त[3]।

इन भेदों की व्याख्या क्रमश इस प्रकार है

१—स्थानायतिक कायोत्सर्ग में स्थित होना। इस काय-क्लेश तप के 'स्थानस्थितिक' 'स्थानातिग', 'स्थानातिय' आदि नामों का भी उल्लेख पाया जाता है[4]।

२—उत्कटुकासनिक उत्कटुक आसन में स्थित होना। जिसमें केवल पैर जमीन को स्पर्श करें, पुत जमीन से ऊपर रहे, इस तरह बैठने को 'उत्कटुक आसन' कहते हैं।

३—प्रतिमास्थायी : प्रतिमाओं में स्थित होना। एक रात्रिक आदि कायोत्सर्ग विशेष में स्थित होना प्रतिमा है।

४—वीरासनिक वीरासन में स्थित होना। जमीन पर पैर रखकर सिंहासन पर

१—ठाणाङ्ग ७ ३ ५५४

सत्तविधे कायकिलेसे पण्णत्ते, तं०—ठाणातिते उक्कुडुयासणिते पडिमठाती वीरासणिते णेसज्जिते दंडातिते लगंडसाती।

२—ठाणाङ्ग ५ १ ३९६

पंच ठाणाइं० भवति, तं०—ठाणातिते उक्कडुआसणिए पडिमट्ठाती वीरासणिए णेसज्जिए, पंच ठाणाइं० भवति, तं०—दंडायतिते लगंडसाती आतावते अवाउडते अकंडूयते।

३—औपपातिक सम० ३०

से किं त कायकिलेसे? २ अणेगविहे पण्णत्ते। त जहा—१ ठाणट्ठिइए [ठाणाइए] २ उक्कुडुयासणिए ३ पडिमट्ठाई ४ वीरासणिए ५ नेसज्जिए [दंडायतिए लउडसाई] ६ आयावए ७ अवाउडए ८ अकंडुयए ९ अणिट्ठुहए [धुयकेसमसुलोमे] १० सव्वगायपरिकम्मविभूसविप्पमुक्के, से तं कायकिलेसे।

४—(क) ठाणाङ्ग सू० ५ १ ३९६ और ७.३ ५५४ की टीका

(ख) औपपातिक सम० ३० की टीका

बैठे हुए पुरुष के नीचे से सिंहासन निकाल लेने पर जो आसन बनता है, उसे वीरासन कहते हैं।

५—नैषधिक निषद्या आसन में स्थित होना। बैठने के प्रकार विशेषों को निषद्या कहते हैं। निषद्या पांच प्रकार की कही गई है

(१) आसन पर केवल पैर हों और पुत लगा हुआ न हो—इस प्रकार पैरों के बल पर बैठने के आसन को उत्कटुक कहते हैं। इस आसन से बैठना—उत्कटुक निषद्या कहलाता है।

(२) गाय दुहते समय जो आसन बनता है, उसे गोदोहिका आसन कहते हैं। उसमें बैठना गोदोहिका निषद्या कहा जाता है। दूसरी परिभाषा के अनुसार गाय की तरह बैठने रूप आसन गो निषद्या कहलाता है।

(३) जमीन को पैर और पुत दोनो स्पर्श करें, ऐसे आसन को समपादपुत आसन कहते हैं। उसमे बैठना समपादपुत निषद्या कहलाता है।

(४) पद्मासन को—पलथी मार कर बैठने को पर्यंक-आसन कहते हैं। इस आसन में बैठना पर्यंक निषद्या है।

(५) जंघा पर एक पैर चढ़ाकर बैठना 'अर्द्धपर्यंक-आसन' कहलाता है। इस आसन मे बैठना अर्द्ध-पर्यंक निषद्या है।

६—दण्डायतिक दण्ड की तरह आयाम—देह प्रसारित कर—पैर लम्बे कर बैठना।

७—लगण्डशायी[1] : टेढ़े-बांके लकड़े की तरह भूमि के पीठ नहीं लगाकर सोना।

८—आतापक . सर्दी-गर्मी—शीत-आतप आदि सहनरूप आतापना तप। बृहत्कल्प मे आतापना तप के बारे मे निम्न वर्णन मिलता है ·

(१) आतापना तप के तीन भेद हैं—उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य। सोते हुए की उत्कृष्ट, बैठे हुए की मध्यम और खड़े हुए की जघन्य आतापना है—

आयावणा य तिविहा उक्कोसा मज्झिमा जहन्ना य।

उक्कोसा उ निवन्ना निसन्न मज्झा ठिय जहन्ना॥

१—वीरासनिक, दण्डायतिक और लगण्डशायी के बृहत्कल्प में निम्न लक्षण दिए हैं—

वीरासण तु सीहासणेव्व जहमुक्कजाणुगणिविट्ठो।

दंडे लगंडउवमा आयय कुज्जे य दोण्हं पि॥

(२) सोते हुए की उत्कृष्ट आतापना तीन प्रकार की है—(क) नीचे मुखकर सोना—उत्कृष्ट-उत्कृष्ट, (ख) पार्श्व—बाजू केवल सोना—उत्कृष्ट-मध्यम और (ग) उत्तान-चित होकर सोना उत्कृष्ट जघन्य—

तिविहा होइ निवन्ना ओमंथियपास तइय उत्ताण ।

(३) मध्यम आतापना के तीन भेद हैं—(क) गोदोहिका रूप मध्यम-उत्कृष्ट, (ख) उत्कुटिका रूप मध्यम-मध्यम और (ग) पर्यंक रूप मध्यम-जघन्य—

गोदुहउक्कुडुयलिय कमेस तिविहाय मज्झिमा होई ।

(४) जघन्य आतापना के तीन भेद हैं—(क) हस्तिशौंडिका[1] रूप जघन्य-उत्कृष्ट, (ख) एक पैर अद्धर और एक पैर जमीन पर रखकर खडे रहना जघन्य-मध्यम और (ग) दोनो पैर जमीन पर खडे रह आतापना लेना जघन्य-जघन्य आतापना है—

तइया उ हत्थिसोंडग पावस भत्ताइया चेव ।

९—अप्रावृतक अनाच्छादित देह—नग्न रहना ।

१०—अकण्डूय खाज न करना ।

११—अनिष्ठिवक थूक न निगलना ।

१२—सर्वगात्रप्रतिकर्मविभूषाविप्रमुक्त शरीर के किसी भी अङ्ग का प्रतिकर्म—शुश्रूषा और विभूषा नही करना ।

६—प्रतिसंलीनता तप (गा० १५-२८) :

छठा तप प्रतिसलीनता तप है। यह चार प्रकार का कहा गया है १–इन्द्रिय प्रतिसलीनता, २–कषाय सलीनता, ३–योग प्रतिसलीनता और ४–विविक्तशयनासन-सेवनता[2] ।

उत्तराध्ययन (३० ८) में छह बाह्य तपो के नाम बताते समय छठा बाह्य तप 'सलीयणा'—'सलीनता' बतलाया गया है। यही नाम समवायाङ्ग (सम० ६) में मिलता है। छठे बाह्य तप का लक्षण बताते समय उत्तराध्ययन (३० २८) में 'विवित्तसयणासण'—'विविक्तशयनासनता' शब्द का प्रयोग किया है। टीकाकार स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं "अनेन च विविक्तचर्या नाम सलीनतोक्ता। शेष सलीनतोपलक्षणमेषा यतश्चचतुर्विधा

१—घुटन पर बैठकर एक पैर को उठाना हस्तिशौंडिका आसन है।

२—उत्त० ३० २८ की टीका मे उद्धृत

इंदियकसायजोगे, पडुच्च सलीणया मुणेयव्वा ।
तह जा विवित्तचरिया, पन्नत्ता वीयरागेहिं ॥

इयमुक्ता ।" यहाँ आचार्य नेमिचन्द्र ने स्पष्ट कर दिया है कि चार संलीनताओं में केवल एक का ही यहाँ उल्लेख है अतः वह छठे तप का नाम नहीं उसके एक भेदमात्र का संलीनता तप के उपलक्षण रूप से उल्लेख है। औपपातिक और भगवती से भी स्पष्ट है कि 'विविक्तशयनासन' प्रतिसंलीनता तप का एक भेदमात्र है। तत्त्वार्थसूत्र (९.१९) में बाह्य तपों का नाम बताते हुए भी इसका नाम 'विविक्तशय्यासन' कहा है और उसका स्थान पांचवां—कायक्लेश के पहले रखा है।

प्रति अर्थात् विरुद्ध में, संलीनता अर्थात् सम्यक् प्रकार से लीन होना। क्रोधादि विकारों के विरुद्ध में—उनके निरोध में सम्यक् प्रकार से लीन—उद्यत होना—'प्रतिसंलीनता तप' है।

उपर्युक्त चार प्रकार के तपों का स्पष्टीकरण नीचे दिया जाता है

१—इन्द्रियप्रतिसंलीनता तप पांच प्रकार का कहा गया है

(१) श्रोत्रेन्द्रिय की विषय-प्रवृत्ति का निरोध अथवा प्राप्त हुए श्रोत्रेन्द्रिय के विषयों या अर्थों में राग-द्वेष का निग्रह।

(२) चक्षुरिन्द्रिय की विषय-प्रवृत्ति का निरोध अथवा प्राप्त हुए चक्षुरिन्द्रिय के विषयों या अर्थों में राग-द्वेष का निग्रह।

(३) घ्राणेन्द्रिय की विषय-प्रवृत्ति का निरोध अथवा प्राप्त हुए घ्राणेन्द्रिय के विषयों या अर्थों में राग-द्वेष का निग्रह।

(४) रसनेन्द्रिय की विषय-प्रवृत्ति का निरोध अथवा प्राप्त हुए रसनेन्द्रिय के विषयों या अर्थों में राग-द्वेष का निग्रह।

(५) स्पर्शनेन्द्रिय की विषय-प्रवृत्ति का निरोध अथवा प्राप्त हुए स्पर्शनेन्द्रिय के विषयों या अर्थों में राग-द्वेष का निग्रह।

२—कषायप्रतिसंलीनता तप चार प्रकार का कहा गया है[१]

(१) क्रोध के उदय का निरोध—क्रोध को उदय न होने देना अथवा उदयप्राप्त—उत्पन्न हुए क्रोध को विफल करना।

१—ठाणाङ्ग ४.२.२७८ की टीका में उद्धृत

उदयस्सेव निरोहो उदयप्पत्ताण वाऽफलीकरणं।
जं एत्थ कसायाणं कसायसंलीणया एसा ॥

(२) मान के उदय का निरोध—मान को उदय न होने देना अथवा उदयप्राप्त—उत्पन्न हुए मान को विफल करना ।

(३) माया के उदय का निरोध—माया को उदय न होने देना अथवा उदयप्राप्त—उत्पन्न माया को विफल करना ।

(४) लोभ के उदय का निरोध—लोभ को उदय न होने देना अथवा उदयप्राप्त—उत्पन्न लोभ को विफल करना ।

३—योगप्रतिसलीनता तप तीन प्रकार का कहा गया है[1] :

(१) अकुशल मन का निरोध, कुशल मन की उदीरणा—प्रवृत्ति और मन को एकाग्रभाव करना[2]—यह मनयोग प्रतिसलीनता है ।

(२) अकुशल वचन का निरोध, कुशल मन की उदीरणा—प्रवृत्ति और वचन को एकाग्रभाव करना[3]—यह वचनयोग प्रतिसलीनता है ।

(३) हाथ-पैरों को सुसमाहित कर कुम्भ की तरह गुप्तेन्द्रिय और सर्व अंगों को प्रतिसलीन कर स्थिर रहना—यह काययोग प्रतिसंलीनता है[4] ।

१—योगसलीनता के विषय में ठाणाङ्ग ४.२.२७८ की टीका में उद्धृत निम्न गाथा मिलती है :

अपसत्थाण निरोहो जोगाणमुदीरणं च कुसलाणं ।
कज्जमि य विही गमणं जोगे सलीणया भणिया ॥

२—मूल—'मणस्स वा एगत्तीभावकरणं' (भगवती २५.७)। इस तीसरे भेद का औपपातिक में उल्लेख नहीं है ।

३—मूल—'वइए वा' एगत्तीभावकरणं' (भगवती २५.७)। इस तीसरे भेद का औपपातिक में उल्लेख नहीं है ।

४—औपपातिक (सम०३०) का मूल पाठ इस प्रकार है
"जण्णं सुसमाहियपाणिपाए कुम्मो इव गुत्तिदिए सव्वगायपडिसलीणे चिट्ठइ, से तं कायजोगपडिसलीणया"।

भगवती सूत्र में (२५.७) काययोगप्रतिसलीनता की परिभाषा इस प्रकार है—"जन्नं सुसमाहियपसंतसाहरियपाणिपाए कुम्मो इव गुत्तिदिए अल्लीणे पल्लीणे चिट्ठति, सेत्तं कायपडिसलीणया ।"

अर्थ इस प्रकार है—सुसमाहित प्रशांत हो हाथ-पैरों को सकोच कुंभ की तरह गुप्तेन्द्रिय और आलीन-प्रलीन स्थिर रहना काययोग प्रतिसलीनता है ।

८—विविक्तशयनासनसेवनता आराम, उद्यान, देवकुल, सभा, पो, प्रणीतगृह, प्रणीतशाला, स्त्री-पशु नपुंसक के संसर्ग से रहित वस्ती में प्रासुक एषणीय पीठ, फलक, शय्या और संस्तारक को प्राप्त कर रहना विविक्तशयनासनसेवनता तप है।

उत्तराध्ययन मे कहा है

"एकांत मे जहाँ स्त्रियो आदि का अतिपात न होता हो वहां तथा स्त्री-पशु से विवर्जित—रहित शयन, आसन का सेवन विविक्तशयनासनसेवनता कहलाता है[1]।"

१०—बाह्य और आभ्यन्तर तप (गा० २१) :

ऊपर मे जिन छह तपो का वर्णन आया है, स्वामीजी ने उन्हें बाह्य तप कहा है। आगे जिन छह तपो का वर्णन करने जा रहे हैं उन्हें स्वामीजी ने आभ्यन्तर तप कहा है।

उत्तराध्ययन में कहा है—"तप दो प्रकार का होता है। एक बाह्य और दूसरा आभ्यन्तर। बाह्य तप छह प्रकार का है वैसे ही आभ्यन्तर तप भी छह प्रकार का है। अनशन, अवमोदरिका, भिक्षाचर्या, रसत्याग, कायक्लेश और प्रतिसंलीनता—ये छह बाह्य तप हैं। प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग—ये छह आभ्यन्तर तप हैं[2]।"

स्वामीजी का विवेचन इसी क्रम से चल रहा है।

बाह्य तप और आभ्यन्तर तप की अनेक परिभाषाएँ मिलती हैं

(१) जो तप मुख्य रूप से बाह्य शरीर का शोषण करते हुए कर्मक्षय करता है, वह बाह्य तप कहलाता है और जो मुख्य रूप से अन्तरवृत्तियो को परिशुद्ध करता हुआ

१—उत्त० ३० २८

एगंतमणावाए इत्थीपसुविवज्जिए ।
सयणासणसेवणया विवित्तसयणासण ॥

२—वही ३० ७-८, ३०

सो तवो दुविहो वुत्तो बाहिरब्भन्तरो तहा ।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो एवमब्भन्तरो तवो ॥
अणसणमूणोयरिया भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ ।
कायकिलेसो संलीणया य बज्झो तवो होइ ॥
पायच्छित्तं विणओ वेयावच्चं तहेव सज्झाओ ।
झाणं च विउस्सग्गो एसो अब्भिन्तरो तवो ॥

कर्मक्षयका हेतु होता है, वह आभ्यन्तर तप कहलाता है[1]।

(२) प्राय बाह्य शरीर को तपानेवाला होने से जो लौकिक दृष्टि में भी तप रूप मे माना जाय वह बाह्य तप और जो मुख्यत आन्तर शरीर को तपानेवाला होने से दूसरों की दृष्टि में शीघ्र तप रूप प्रतिभाषित न हो, जिसे केवल सम्यक् दृष्टि ही तप रूप माने वह आभ्यन्तर तप है[2]।

(३) लोकप्रतीत्य होने से कुतीर्थिक भी जिसका अपने अभिप्राय के अनुसार आसेवन करते हैं, वह बाह्य तप है और उससे भिन्न आभ्यन्तर तप है[3]।

(४) जो बाह्य-द्रव्य के आलम्बन से होता है और दूसरो के देखने में आता है, उसे बाह्य तप कहते हैं तथा जो मन का नियमन करनेवाला होता है, वह आभ्यन्तर तप है[4]।

(५) अनशन आदि बाह्य तप निम्न कारणो से बाह्य कहलाते हैं

(क) इनमे बाह्य-द्रव्य की अपेक्षा रहती है, इससे इन्हें बाह्य सज्ञा प्राप्त है। ये अशनादि द्रव्यो की अपेक्षा से किए जाते हैं।

(ख) ये तप दूसरो के द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञेय होते हैं अत बाह्य हैं।

१—समवायाङ्ग सम० ६ की अभयदेव सूरिकृत टीका

बाह्यतप बाह्यशरीरस्य परिशोषणेन कर्मक्षपणहेतुत्वादिति, आभ्यन्तर—चित्तनिरोध-प्राधान्येन कर्मक्षपणहेतुत्वादिति।

२—औपपातिक सूत्र ३० की अभयदेव सूरिकृत टीका

अब्भितरए—अभ्यन्तरम्—आन्तरस्यैव शरीरस्य तापनात्सम्यग्दृष्टिभिरेव तपस्तया प्रतीयमानत्वाच्च, 'बाहीरए' त्ति बाह्यस्यैव शरीरस्य तापनान्मिथ्यादृष्टि-भिरपि तपस्तया प्रतीयमानत्वाच्चेति।

३—उत्त० ३० ७ की श्री नेमिचन्द्राचार्य कृत टीका

लोकप्रतीतत्वात् कुतीर्थिकैश्च स्वाभिप्रायेणाऽऽसेव्यमानत्वाद् बाह्य तदितरच्चाऽ-भ्यन्तरमुक्तम्।

४—तत्त्वा० ९ १९-२० सर्वार्थसिद्धि·

बाह्यद्रव्यापेक्षत्वात्परप्रत्यक्षत्वाच्च बाह्यत्वम्। कथमस्याभ्यन्तरत्वम्? मनोनियम-नार्थत्वात्।

(ग) अनशन आदि तप अन्यतीर्थी और गृहस्थो द्वारा भी किए जाते हैं अत ये बाह्य हैं[1]।

प्रायश्चितादि आभ्यन्तर तप निम्न कारणो से आभ्यन्तर कहलाते हैं

(१) ये अन्य तीर्थियो से अनभ्यस्त और अप्राप्तपार होते हैं अत आभ्यन्तर हैं।

(२) ये अन्त करण के व्यापार मे होते हैं अत आभ्यन्तर हैं।

(३) इन्हें बाह्य द्रव्यो की अपेक्षा नही होती अत ये आभ्यन्तर हैं[2]।

निश्चय से बाह्य और आभ्यन्तर तप दोनो अन्तरङ्ग हैं क्योकि जब दोनो ही वैराग्य वृत्ति और कर्मों को क्षय करने की दृष्टि से किये जाते हैं तभी शुद्ध होते हैं।

११—प्रायश्चित (गा० २२)

जिससे पाप का छेद हो अथवा जो प्राय: चित्त की विशोधि करता हो, उसे प्रायश्चित कहते हैं। कहा है

> पाप छिनति यस्मात् प्रायश्चितमिति भण्यते तस्मात्।
> प्रायेण वापि चित्त विशोधयति तेन प्रायश्चितम्[3] ॥

दोप-शुद्धि के लिए योग्य प्रायश्चित ग्रहण कर उसे सम्यक् रूप से वहन करना प्रायश्चित तप कहलाता है।

> आलोयणारिहाईय पायच्छित्त तु दसविह।
> जं भिक्खू वहइ सम्म पायच्छित्त तमाहिय[4]।

प्रायश्चित तप दस प्रकार का कहा गया है—(१) आलोचनार्ह, (२) प्रतिक्रमणार्ह, (३) तदुभयार्ह, (४) विवेकार्ह, (५) व्युत्सर्गार्ह, (६) तपार्ह, (७) छेदार्ह, (८) मूलार्ह,

---

१—तत्त्वा० ९ १९ राजवार्तिक
  बाह्यद्रव्यापेक्षत्वाद् बाह्यत्वम्। १७।
  परप्रत्यक्षत्वात्। १८।
  तीर्थ्यगृहस्थकार्यत्वाच्च। १९। अनशनादि हि तीर्थ्यैर्गृहस्थैश्च क्रियते ततोऽप्यस्य बाह्यत्वम्।

२—वही ९ २० राजवार्तिक
  अन्यतीर्थ्यानभ्यस्तत्वादुत्तरत्वम्। १।
  अन्त करणव्यापारात्। २।
  बाह्यद्रव्यानपेक्षत्वाच्च। ३।

३—दशवैकालिक सूत्र १ १ की हारिभद्रीय टीका में उद्धृत

४—उत्त० ३० ३१

(९) अनवस्थाप्यार्ह और (१०) पारांचिकार्ह[1]। प्रत्येक की व्याख्या नीचे दी जाती है

(१) आलोचनार्ह आलोचना[2] करने से जिस दोष की शुद्धि होती हो, वह आलोचनार्ह दोष[3] कहलाता है। ऐसे दोष की आलोचना करना आलोचनार्ह प्रायश्चित कहलाता है[4]।

(२) प्रतिक्रमणार्ह : प्रतिक्रमण[5] से जिस दोष की शुद्धि होती हो[6] उसके लिए प्रतिक्रमण करना प्रतिक्रमणार्ह प्रायश्चित है।

(३) तदुभयार्ह आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों से जिस दोष की शुद्धि होती हो[7] उसकी आलोचना और प्रतिक्रमण करना तदुभयार्ह प्रायश्चित कहलाता है।

(४) विवेकार्ह : किसी वस्तु के विवेक—त्याग—परिष्ठापन से दोष की शुद्धि हो तो उसका विवेक—त्याग करना—उसे परठना विवेकार्ह प्रायश्चित कहलाता है।

१—(क) औपपातिक सम० ३०

(ख) आलोयणपडिक्कमणे मीसविवेगे तहा विउस्सग्गे।
तवछेअमूलअणवट्टया य पारंचिए चेव॥
(दश० १ १ की हारिभद्रीय टीका में उद्धृत)

२—अपने दोष को गुरु के सम्मुख प्रकाशित करना—गुरु से कहना आलोचना कहलाती है।

३—भिक्षाचर्या आदि में कोई अतिचार हो जाता है, वह आलोचनार्ह दोष है। कहा है—भिक्षाचर्या आदि में कोई दोष न होने पर भी आलोचना न करने पर अविनय होता है। दोष हो जाने पर तो आलोचना आवश्यक है ही।

४—ठाणाङ्ग १० १ ७३३ की टीका :
आलोचना गुरुनिवेदन तयैव यत् शुद्धयति अतिचारजात तत्तदर्हत्वादालोचनार्हं तत्त शुद्धयर्थं यत्प्रायश्चित्त तदपि आलोचनार्हं तत् च आलोचना एव इत्येव सर्वत्र

५—मिथ्यादुष्कृत ग्रहण को प्रतिक्रमण कहते हैं। 'मेरा दुष्कृत मिथ्या हो'—ऐसी भावना प्रतिक्रमण कहलाती है।

६—समिति या गुप्ति की कमी से जो दोष हो जाता है, वह प्रतिक्रमणार्ह दोष कहलाता है।

७—मन से राग-द्वेष का होना तदुभयार्ह दोष है। उपयोगयुक्त साधु द्वारा एकेन्द्रियादि जीवों को सघट्ट से जो परिताप आदि हो जाता है, वह तदुभयार्ह दोष कहलाता है

(५) व्युत्सर्गार्ह व्युत्सर्ग—कायोत्सर्ग—कायचेष्टा के निरोध करने से जिस दोष की शुद्धि हो[1] उसके लिए वैसा करना व्युत्सर्गार्ह प्रायश्चित कहलाता है।

(६) तपार्ह : तप करने से जिस दोष की शुद्धि हो उसके लिए तप करना तपार्ह प्रायश्चित कहलाता है।

(७) छेदार्ह चारित्र पर्याय के छेद से जिस दोष की शुद्धि होती हो, उसके लिए चारित्र पर्याय का छेद करना छेदार्ह प्रायश्चित कहलाता है।

(८) मूलार्ह : जिस दोष की शुद्धि सर्व व्रतपर्याय का छेद कर पुनः मूल—महाव्रतों के आरोपन से होती हो उसके लिए वैसा करना मूलार्ह प्रायश्चित कहलाता है।

(९) अनवस्थाप्यार्ह जिस दोष[2] की शुद्धि अनावस्था में—अमुक विशिष्ट तप न करने तक महाव्रत और वेष में न रहने से होती हो उसके लिए वैसा करना अनवस्थाप्यार्ह प्रायश्चित कहलाता है।

(१०) पारांचितकार्ह जिस महादोष[3] की शुद्धि पारांचितक—वेश और क्षेत्र त्याग कर महातप करने से होती हो उसके लिए वैसा करना पारांचितकार्ह प्रायश्चित कहलाता है।[4]

१—उदाहरणस्वरूप नाव से नदी पार करने पर यह प्रायश्चित किया जाता है।

२—सार्धर्मिक की चोरी करना, परधर्मी की चोरी करना, किसी को हाथ से मारना—ऐसे दोष हैं।

३—दुष्ट, प्रमत्त और अन्योन्य मैथुनसेवी ऐसे दोष के भागी होते हैं।

४—छेदार्ह, मूलार्ह, अनवस्थाप्यार्ह और पारांचितकार्ह प्रायश्चितों में परस्पर निम्नलिखित भेद है

१२—विनय (गा० २३-२७) :

विनय तप सात प्रकार का कहा है : १-ज्ञान विनय, २-दर्शन विनय, ३-चारित्र विनय, ४-मन विनय, ५-वचन विनय, ६-काय विनय और ७-लोकोपचार विनय[1]। इनमें प्रत्येक का स्वरूप संक्षेप में नीचे दिया जाता है

१—ज्ञान विनय पाँच प्रकार का कहा है—(१) आभिनिबोधिक ज्ञानविनय, (२) श्रुतज्ञान विनय, (३) अवधिज्ञान विनय, (४) मन पर्यवज्ञान विनय और (५) केवलज्ञान विनय[2]।

२—दर्शन विनय[3] दो प्रकार का कहा गया है : (१) शुश्रूषाविनय और (२) अनाशातना विनय।

(१) शुश्रूषा विनय अनेक प्रकार का कहा गया है[4] अभ्युत्थान—आसन से खड़ा

१—(क) औपपातिक सम० ३०

(ख) भगवती २५ ७

(ग) णाणे दंसणचरणे मणवइकाओवयारिओ विणओ ।
णाणे पंचपगारो मइणाणाईण सद्दहण ॥
भत्ती तह बहुमाणो तद्दिट्ठत्थाण सम्मभावणया ।
विहिगहणब्भासोवि अ एसो विणओ जिणाभिहिओ ॥
(दश० ९ १ की हारिभद्रीय टीका में उद्धृत)

ज्ञान के प्रति श्रद्धा, भक्ति, बहुमान, दृष्टार्थों की सम्यग्भावनता—विचारना, तथा विधिपूर्वक ज्ञान-ग्रहण और उसके अभ्यास को ज्ञान विनय कहते हैं। ज्ञानी साधु के प्रति विनय को भी ज्ञान विनय कहते हैं।

२—पादटिप्पणी १ (ग)

३—सम्यक्त्व का विनय। दर्शन से दर्शनी अभिन्न होने से गुणाधिक सकल चारित्री में श्रद्धा करना—उसकी सेवा और अनाशातना को दर्शन विनय कहते हैं।

४—मिलावें उत्तराध्ययन ३० ३२ की निम्नलिखित गाथा :

अब्भुट्ठाणं अंजलिकरणं तहेवासणदायणं
गुरुभत्तिभावसुस्सूसा विणओ एस वियाहिओ ॥

तथा निम्नलिखित गाथाएँ

सुस्सूसणा अणासायणा य विणओ अ दंसणे दुविहो ।
दंसणगुणाहिएसु कज्जइ सुस्सूसणाविणओ ॥
सक्कारब्भुट्ठाणे सम्माणासण अभिग्गहो तह य ।
आसणअणप्पयाणं किइकम्मं अंजलिगहो अ ॥
एंतस्सणुगच्छणया ठिअस्स तह पज्जुवासणा भणिया ।
गच्छंताणुव्वयणं एसो सुस्सूसणाविणओ ॥
(दसवेकालिक ९ १ की हारिभद्रीय टीका में उद्धृत)

होना, (२) आसनाभिग्रह—जहाँ-जहाँ बैठने की इच्छा करे वहाँ-वहाँ आसन ले जाना[1], (३) आसनप्रदान—आसन देना[2], (४) सत्कार-स्तवन वन्दनादि करना, (५) सम्मान करना, (६) कृतिकर्म—वंदना करना, (७) अञ्जलिकरणग्रह—दोनों हाथ जोड़ना, (८) अनुगच्छना—सम्मुख जाना, (९) पर्युपासना—बैठे हुए की सेवा करना और (१०) प्रतिससाधनता—जाने पर पीछे जाना।

अनाशातना विनय[3] ४५ प्रकार का कहा है[4] (१) अरिहंतों की अनाशातना, (२) अरिहन्त प्ररूपित धर्म की अनाशातना, (३) आचार्यों की अनाशातना, (४) उपाध्यायों की अनाशातना, (५) स्थविरों[5] की अनाशातना, (६) कुल[6] की अनाशातना, (७) गण[7] की अनाशातना, (८) संघ[8] की अनाशातना, (९) क्रियावादियों[9] की अनाशातना, (१०) संभोगी (एक समाचारी वालों) की अनाशातना, (११) आभिनिबोधिक

१—यह अर्थ अभयदेव (औपपातिक टीका) के अनुसार है। ठाणाङ्ग टीका में उन्होंने इसका अर्थ भिन्न ही किया है—"आसनाभिग्रह पुनस्तिष्ठ आदरेण आसनानयनपूर्वकमुपविशतात्रेति भण"—इसका अर्थ है—बैठने के बाद आदरपूर्वक आसन लाकर 'यहाँ बैठें' इस प्रकार निमंत्रित करना।

२—ठाणाङ्ग टीका में उद्धृत गाथा में 'आसणअनुप्रदान' नाम मिलता है—जिसका अर्थ अभयदेव ने किया है—आसनस्य स्थानात्स्थानान्तरसञ्चारणं। यही अर्थ उन्होंने औपपातिक की टीका में 'आसनाभिग्रह' का किया है।

३—शुश्रूषा विनय और अनाशातना विनय में अन्तर यह है कि शुश्रूषा विनय उचित क्रिया-करण रूप है और अनाशातना विनय अनुचित क्रिया-निवृत्ति रूप।

४—मिलाव—

> तित्थगर धम्म आयरिअ वायगे थेर कुलगणे संघे।
> संभोइय किरियाए मइणाणाईण य तहेव ॥
> कायव्वा पुण भत्ती बहुमाणो तह य वण्णवाओ अ।
> अरिहंतमाइयाण केवलणाणावसाणाण ॥
>
> (दश० ९ १ की हारिभद्रीय टीका में उद्धृत)

ज्ञान की अनाशातना, (१२) श्रुतज्ञान की अनाशातना, (१३) अवधिज्ञान की अनाशातना, (१४) मन पर्यवज्ञान की अनाशातना, (१५) केवलज्ञान की अनाशातना, (१६-३०) अरिहन्त यावत् केवलज्ञान—इन पन्द्रह की भक्ति और बहुमान, (३१-४५) अरिहंत यावत् केवलज्ञान—इन पन्द्रह का गुणवर्णन कर कीर्ति फैलाना।

३—चारित्र विनय[1] पांच प्रकार का कहा है (१) सामायिक चारित्र विनय, (२) छेदोपस्थापनीय चारित्र विनय, (३) परिहारविशुद्धि चारित्र विनय, (४) सूक्ष्म-सम्पराय चारित्र विनय और (५) यथाख्यातचारित्र विनय।

४—मन-विनय[2] दो प्रकार का कहा है (१) अप्रशस्त मनविनय और (२) प्रशस्त मनविनय।

(१) अप्रशस्त मन विनय बारह प्रकार का कहा है (१) सावद्य—मन का हिंसा आदि पापों में प्रवृत्त होना (२) सक्रिय—मन का कायिक आदि क्रियाओं से युक्त होना (३) कर्कश—मन का कर्कशभावोपेत होना (४) कटुक—मन का अनिष्ट होना (५) निष्ठुर—मन का निष्ठुर—मार्दव रहित होना (६) कठोर—मन का कठोर—स्नेहरहित होना (७) आश्रवकर—मन का अशुभ कर्मों का उपार्जन करनेवाला होना (८) छेदनकारी—मन का छेदनकारी होना (९) भेदनकारी —मन का भेदनकारी होना (१०) परितापकारी—मन का परितापकारी होना (११) उपद्रवकारी—मन का मारणान्तिक वेदना करनेवाला होना और (१२) भूतोपघातिक—मन का भूतोपघातिक होना। इस प्रकार अप्रशस्त मन का प्रवर्तन नहीं करना चाहिए।

(२) प्रशस्त मन विनय बारह प्रकार[3] का कहा है (१) असावद्य—मनकी पाप

१—चारित्र में श्रद्धा तथा काय से चारित्र का संस्पर्श तथा भव्य सत्त्वों को उसकी प्ररूपणा करना चारित्र विनय कहलाता है। कहा है :

सामाइयाइचरणस्स सद्दहाणं तहेव काएणं।
संफासणं परूवणमह पुरओ भव्वसत्ताणं॥
(दश० ९.१ की हारिभद्रीय टीका में उद्धृत)

२—मन को असावद्य, अपापक आदि रखना मन विनय तप है।

३—औपपातिक में अप्रशस्त मन के १२ भेद बताये हैं और उनसे विपरीत प्रशस्त मन के भेद जान लेने को कहा है।

भगवती (२५.७) में प्रशस्त मन के सात ही भेद बताये गए हैं जो इस प्रकार हैं —(१) अपापक (२) असावद्य (३) अक्रियक (४) निरुपक्लेशक (५) अनाश्रवकर (६) अक्षयिकर (७) अभूताभिशङ्कन। अप्रशस्त मन के सात भेद ठीक इनसे विपरीत बताये हैं यथा पापक, सावद्य इत्यादि।

ठाणाङ्ग (७.३.५८४) में प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों मन-विनय के सात-सात भेद उल्लिखित हैं जो भगवती के वर्णन से मिलते हैं।

व्यापार में अप्रवृत्ति (२) अक्रिय—मन का कायिकादि क्रिया रहित होना (३) अकर्कश—मन का कर्कश भावरहित होना (४) अकटुक—मन का इष्ट होना (५) अनिष्ठुर—मन का मार्दवभावयुक्त होना (६) अकठोर—मन का कठोरता रहित होना (७) अनाश्रवकर—मन का अशुभ कर्मों को उपार्जन करनेवाला न होना (८) अछेदनकारी—मन की वृत्ति का छेदनकारी न होना (९) अभेदकारी—मन की वृत्ति का अभेदनकारी होना (१०) अपरितापकारी—मन से दूसरो को परिताप पहुँचानेवाला न होना (११) अनुपद्रवकारी—मन से उपद्रव करनेवाला न होना और (१२) अभूतोपघातिक—मन से प्राणियों की घात करनेवाला न होना।

५—वचन विनय[1] दो प्रकार का कहा है—(१) अप्रशस्त वचन विनय और (२) प्रशस्त वचन विनय। अप्रशस्त वचन विनय और प्रशस्त वचन विनय का वर्णन क्रमश अप्रशस्त मन विनय और प्रशस्त मन विनय की तरह ही करना चाहिए[2]।

६—काय विनय[3] दो प्रकार का कहा है (१) प्रशस्तकाय विनय (२) अप्रशस्त काय विनय।

(१) अप्रशस्त काय विनय सात प्रकार का कहा गया है (१) अनायुक्त गमन—विना उपयोग (सावधानी) जाना (२) अनायुक्त स्थिति—विना उपयोग ठहरना (३) अनायुक्त निषदन—विना उपयोग बैठना (४) अनायुक्त शयन—विना उपयोग सोना (५) अनायुक्त उल्लंघन—विना सावधानी कर्दम आदि के ऊपर से निकलना

१—वचन को असावद्य आदि रखना—वचन-विनय तप है

२—औपपातिक में १२-१२ भेदों का वर्णन है जब कि भगवती (२५ ७) और ठाणाङ्ग (७ ३ ५८५) में ७-७ भेदों का ही वर्णन है।

३—गमनादि क्रियाएँ करते समय काय (शरीर) को सावधान रखना—काय विनय तप है। मन, वचन और काय विनय की परिभाषा निम्न गाथा म मिलती है

मणवइकाइयविणओ आयरियाईण सव्वकालंपि।
अकुसलमणोनिरोहो कुसलाण उदीरण तहय॥

(दश० १.१ की हारिभद्रीय टीका में उद्धृत)

(६) अनायुक्त प्रलघन और (७) अनायुक्त सर्वेन्द्रियकाययोगयोजनता[1]—सर्व इन्द्रियों की बिना उपयोग योगप्रवृत्ति ।

(२) प्रशस्त काय विनय सात प्रकार का कहा गया है (१) आयुक्त गमन—उपयोगपूर्वक गमन (२) आयुक्त स्थिति—उपयोगपूर्वक ठहरना (३) आयुक्त निषदन—उपयोगपूर्वक बैठना (४) आयुक्त शयन—उपयोगपूर्वक लेटना (५) आयुक्त उल्लघन—उपयोगपूर्वक ऊपर से निकलना (६) आयुक्त प्रलघन—उपयोगपूर्वक बार-बार उल्लघन (७) आयुक्त सर्वेन्द्रियकाययोगयोजनता—सर्व इन्द्रिय की उपयोगपूर्वक योगप्रवृत्ति ।

७—लोकोपचार विनय[2] के सात प्रकार[3] हैं (१) अभ्यासवृत्तिता—आचार्यादि के समीप में रहना (२) पराभिप्रायानुवर्तन—उनके अभिप्राय का अनुसरण (३) कायहेतु[4] काय के लिए हेतु प्रदान—उदाहरणस्वरूप ज्ञानादि के लिए आहार देना (४) कृतप्रतिकृतिता[5]—प्रसन्न आचार्य अधिक ज्ञान देंगे, ऐसी बदले की भावना (५) आर्तगवेषणता—आर्त—रोगी आदि साधु की सारसभाल (६) देशकालज्ञता—अवसरोचित कार्य सम्पादन

१—ठाणाङ्ग (७ ३ ५८५) में इसका नाम सर्वेन्द्रिययोगयोजनता मिलता है ।

२—लोकव्यवहारानुकूल वर्तन ।

३—लोकोपचार विनय को 'उपचार' विनय भी कहा गया है । उसके प्रकारों का वर्णन निम्न गाथा में मिलता है :

> अब्भासऽच्छणछंदाणुवत्तणं कयपडिकिई तहय ।
> कारियणिमित्तकरण दुक्खत्तगवेसणा तहय ॥
> तह देसकालजाणण सव्वत्थेसु तहयणुमई भणिया ।
> उवयारिओ उ विणओ एसो भणिओ समासेणं ॥
>
> (दशवैकालिक १ १ की हारिभद्रीय टीका में उद्धृत)

४—टिप्पणी न० ३ में उद्धृत गाथा में 'कार्यहेतु के स्थान में 'कारियनिमित्तकरण' भेद बतलाया है । इसका अर्थ किया है—सम्यगर्थपदम् अध्यापित अस्माक विनयेन विशेषेण वर्त्तितव्य—हरिभद्र ।

५—इसका अर्थ हरिभद्र ने (दश० १.१ की टीका में) इस प्रकार किया है प्रसन्ना आचार्या सूत्रमर्थं तदुभय वा दास्यन्ति न नाम निर्जरेति आहारादिना यतितव्य

और (७) सर्वार्थ में[1] अप्रतिलोमता—आराध्ययोग सर्व प्रयोजनों में अनुकूलता। यह विनय तप है[2]।

१३—वैयावृत्य (गा० ३८) :

आचार्यादि की यथाशक्ति सेवा करना वैयावृत्य तप[3] कहा गया है। वह दस प्रकार का है[4]

(१) आचार्य का वैयावृत्य।

(२) उपाध्याय का वैयावृत्य।

१—'सर्वार्थ' का अर्थ मालवणियाजी ने स्थानांग समवायांग (पृ० १४६) में सार्थेन कर—'सेवार्थ' किया है जो अशुद्ध मालूम देता है।

२—विनय तप के फल के विषय में (दश० ९.१ की हारिभद्रीय टीका में) निम्नलिखित गाथाएँ मिलती हैं

विनयफलं शुश्रूषा गुरुशुश्रूषाफलं श्रुतज्ञानम्।
ज्ञानस्य फलं विरतिर्विरतिफलं चाश्रवनिरोधः ॥
संवरफलं तपोबलमथ तपसो निर्जरा फलं दृष्टम्।
तस्मात्क्रियानिवृत्तिः क्रियानिवृत्तेरयोगित्वम् ॥
योगनिरोधाद्भवसन्ततिक्षयः सन्ततिक्षयान्मोक्षः।
तस्मात्कल्याणानां सर्वेषां भाजनं विनयः ॥

३—वैयावृत्य शब्द की व्याख्या निम्न प्रकार है

(क) आहार आदि के द्वारा उपष्टम्भ—सेवा—करना वैयावृत्य है। व्यावृत्तभाव तथा धर्मसाधन के निमित्त अन्नादि का आचार्यादि को विधि से देना वैयावृत्य कहलाता है :

वेयावच्चं वावडभावो तह धम्मसाहणनिमित्तं।
अन्नाइयाण विहिणा संपायणमेस भावत्थो ॥

(उत्त० ३० ३३ की नेमिचन्द्राचार्य टीका में उद्धृत)

(ख) व्यापृतस्य शुभव्यापारवतो भावः कर्म वा वैयावृत्त्यम्—शुभ व्यापारवान् का भाव अथवा कर्म वैयावृत्य कहलाता है।

(ठाणाङ्ग ५ १.३९६ की टीका)

(ग) व्यावृत्तस्य भावः कर्म वा वैयावृत्त्यं भक्तादिभिरुपष्टम्भः—[illegible] रहने का भाव अथवा कर्म—भोजन आदि के द्वारा उपष्टम्भ—मदद।

(ठाणाङ्ग ३ ३ १८८ की टीका)

४—उत्त० ३० ३३ :

आयरियमाइयम्मि वेयावच्चम्मि दसविहे।
आसेवणं जहाथामं वेयावच्चं तमाहियं ॥

(३) शैक्ष[1] का वैयावृत्त्य ।

(४) ग्लान[2] का वैयावृत्त्य ।

(५) तपस्वी साधु का वैयावृत्त्य ।

(६) स्थविर[3] का वैयावृत्त्य ।

(७) सार्धमिक[4] का वैयावृत्त्य ।

(८) कुल[5] का वैयावृत्त्य ।

(९) गण[6] का वैयावृत्त्य ।

(१०) संघ[7] का वैयावृत्त्य[8] ।

ठाणाङ्ग में कहा है—आचार्यादि की अग्लान मन से—अखिन्न भाव से वैयावृत्त्य करनेवाला श्रमण निर्ग्रंथ महा निर्जरा और महा पर्यवसान का करनेवाला होता है[9] ।

१—नव प्रव्रजित साधु

२—रोगी साधु

३—वृद्ध साधु

४—साधु-साध्वी

५—कुल=साधुओं का गच्छ—समुदाय

६—गण=कुल समुदाय

७—संघ=गण समुदाय

८—वैयावृत्त्य के ये दस भेद सेवा-पात्र की अपेक्षा से किये गये हैं । यहाँ जो क्रम बताया गया है वह औपपातिक सूत्र के अनुसार है । भगवती सूत्र (२५ ७) तथा ठाणाङ्ग (५ १ ३९६-९७) में क्रम इससे भिन्न है , यथा—१-(१), २-(२), ३-(३), ४-(५), ५-(४), ६-(६), ७-(८), ८-(९), ९-(१०), १०-(७) ।

एक और भी क्रम मिलता है जो निम्न गाथा में परिलक्षित है

आयरिय उवज्झाए थेर तवस्सी गिलाण सेहाण ।

साहम्मिय कुल गण संघसगय तमिह कायव्व ॥

(उत्त० ३० ३३ की नेमिचन्द्रीय टीका में उद्धृत)

९—ठाणाङ्ग ५ १ ३९६-३९७

१४—स्वाध्याय तप (गा० ३६) :

स्वाध्याय[1] पाँच प्रकार का कहा गया है (१) वाचना[2] (२) प्रच्छना

१—उत्तम मर्यादापूर्वक अध्ययन—श्रुत के विशेष अनुस्मरण को स्वाध्याय कहते हैं। नन्दि आदि सूत्र विषयक वाचना को स्वाध्याय कहते हैं।

ठाणाङ्ग के अनुसार चार महा प्रतिपदा—आषाढ़ की पूर्णिमा के बाद की प्रतिपदा—इन्द्रमहप्रतिपदा, कार्तिक की प्रतिपदा और चैत्र प्रतिपदा—में स्वाध्याय करना नहीं कल्पता (४ २ २८५)।

इसी तरह ठाणाङ्ग में पहली सन्ध्या, पश्चिमा सन्ध्या, मध्याह्न और अर्द्धरात्रि में स्वाध्याय करना अकल्पनीय बताया गया है तथा पूर्वाह्न, अपराह्न, प्रदोष और प्रत्युष में स्वाध्याय करना कल्पनीय बताया है। पहली सन्ध्या—सूर्योदय के पहले पश्चिमा सन्ध्या—सूर्यास्त के समय, पूर्वाह्न—दिन का प्रथम प्रहर और अपराह्न—दिन का द्वितीय प्रहर। प्रदोष—रात्रि का प्रथम प्रहर और प्रत्युष—रात्रि का अन्तिम प्रहर (४ २ २८५)।

अकाल में स्वाध्याय करना असमाधि के बीस स्थानों में एक स्थान कहा गया है (समवायाङ्ग सम २०)।

अकाल स्वाध्याय के दोष इस प्रकार बताये गये हैं

> सुयणाणमि अभत्ती लोगविरुद्ध पमत्तछलणा य।
> विज्जासाहणवेगुन्नधम्मया एव मा कुणसु ॥

२—वाचना, प्रच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा शब्दों का अर्थ क्रमशः इस प्रकार है—अध्ययन, पूछना, आवृत्ति, सूत्र और अर्थ का बार बार चिन्तन तथा व्याख्यान।

(३) परिवर्तना (४) अनुप्रेक्षा और (५) धर्मकथा[1]।

स्वाध्याय के भेदों का फल वर्णन इस प्रकार मिलता है

(१) वाचना से जीव निर्जरा करता है। श्रुत के अनुवर्तन से वह अनाशातना में वर्तता है। इससे तीर्थ—धर्म का अवलम्बन करता है। जिससे कर्मों की महा निर्जरा और महा पर्यवसानवाला होता है।

(२) प्रतिपृच्छा से जीव, सूत्र और अर्थ दोनों की, विशुद्धि करता है तथा कांक्षा-मोहनीय कर्म को व्युच्छिन्न करता है।

(३) परिवर्तना से जीव व्यंजनों को प्राप्त करता है तथा व्यंजन-लब्धि को उत्पादित करता है।

(४) अनुप्रेक्षा से जीव आयु छोड़ सात कर्म प्रकृतियों को, जो गाढ़े बंधन से बंधी हुई होती हैं, शिथिल बंधन से बंधी करता है, दीर्घकाल स्थितिवाली से ह्रस्वकाल स्थितिवाली करता है। बहुप्रदेशवाली को अल्प प्रदेशवाली करता है। आयुष्य कर्म को वह कदाचित् बांधता है, कदाचित् नहीं बांधता तथा असातवेदनीय को बार-बार नहीं बांधता तथा अनादि, अनन्त, दीर्घ चारगति रूप संसार-कान्तार को शीघ्र ही व्यतिक्रम कर जाता है।

(५) धर्मकथा से निर्जरा करता है। धर्मकथा से प्रवचन की प्रभावना करता है और इससे जीव भविष्यकाल में केवल शुभ कर्मों का ही बंध करता है[2]।

स्वाध्याय से जीव ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय करता है[3]। कहा है

> धम्ममसंखेज्जभव खवेइ अणुसमयेन उवउत्तो।
> अन्नयरम्मि वि जोए सज्झायम्मि य विसेसेण[4] ॥

१—उत्तराध्ययन (३० ३४) में इनकी संग्राहक गाथा इस प्रकार है

> वायणा पुच्छणा चेव तहेण परियट्टणा।
> अणुप्पेहा धम्मकहा सज्झाओ पचहा भवे ॥

२—उत्त० २९ १९-२३

३—उत्त० २९ १८

४—उत्त० २९ १८ की नेमिचन्द्रीय टीका में उद्धृत

१५—ध्यान तप (गा० ४०) :

ध्यान[1] तप चार प्रकार का कहा गया है (१) आर्त ध्यान (२) रौद्र ध्यान (३) धर्म ध्यान और (४) शुक्ल ध्यान।

१—आर्त ध्यान[2] चार प्रकार का होता है (१) अमनोज्ञ-सम्प्रयोग से सम्प्रयुक्त होने पर उसके विप्रयोग की स्मृति से समन्वागत होना[3] (२) मनोज्ञ सम्प्रयोग से सम्प्रयुक्त होने पर उसके अविप्रयोग की स्मृति से समन्वागत होना[4] (३) आतंक-सम्प्रयोग से सम्प्रयुक्त होने पर उसके विप्रयोग की स्मृति से समन्वागत होना (४) भोग में प्रीतिकारक कामभोगों के सम्प्रयोग से सम्प्रयुक्त होने पर उनके अविप्रयोग की स्मृति से समन्वागत होना।

आर्त ध्यान के चार लक्षण कहे गये हैं (१) क्रन्दन, (२) मानसिक शोचना (३) तेपनता—अश्रु बहाना और (४) विलपनता[5]—बार बार क्लेशयुक्त बात कहना।

२—रौद्र ध्यान[6] चार प्रकार का कहा गया है (१) हिंसानुबंधी[7] (२) मृषानुबंधी

१—स्थिर अध्यवसान को ध्यान कहते हैं। चित्त चल है, उसका किसी एक वस्तु में स्थिर हो जाना ध्यान है (जं थिरमज्झवसाणं तं झाणं जं चलं तयं चित्तं)। एकाग्र चिन्तानिरोध ध्यान है (ठाणाङ्ग ४.३.५११ की टीका)।

२—भोग-उपभोगों में मोहवश अति इच्छा—अभिलाषा का होना आर्त ध्यान है।

३—इसका अर्थ है अरुचिकर संयोग से संयुक्त होने पर उसका वियोग हो जाय इस कामना से निरन्तर ग्रस्त रहना।

४—इसका अर्थ है रुचिकर संयोग से संयुक्त होने पर उसका वियोग न हो जाय, इस कामना से निरन्तर ग्रस्त रहना।

५—भगवती सूत्र (२५.७) में 'विलवणया'—विलपनता (ओव० सम० [illegible]) [illegible] में 'परिदेवणया'—परिदेवना शब्द है। इसका अर्थ है बार-बार करुणा उत्पन्न करनेवाली भाषा का बोलना। ठाणाङ्ग (४.१.२४७) में भी परिदेवणया ही मिलता है।

६—आत्मा का हिंसा आदि रौद्र—भयानक भावों में परिणत होना रौद्र ध्यान है। हिंसा, छेदन-भेदन, मारण आदि क्रूर भावों में रत होना है, उसे रौद्र ध्यान कहा जाता है।

७—प्राणियों को मारने-पीटने, काटने-बांधने की भावना करना, [illegible] रौद्र ध्यान कहते हैं।

८—झूठ बोलने की भावना करते रहना मृषानुबंधी रौद्र ध्यान है।

(३) स्तेयानुबंधी[1] और (४) संरक्षणानुबंधी[2]।

रौद्र ध्यान के चार लक्षण कहे गये हैं (१) आसन्न दोष[3] (२) बहुल दोष[4] (३) अज्ञान दोष[5] और (४) आमरणान्त दोष[6]।

३—धर्म ध्यान[7] चार प्रकार का कहा गया है (१) आज्ञाविचय[8] (२) अपाय विचय[9] (३) विपाक विचय[10] और (४) संस्थान विचय[11]।

धर्म ध्यान के चार लक्षण कहे गये हैं (१) आज्ञारुचि[12] (२) निसर्ग रुचि[13] (३) उपदेश रुचि[14] और (४) सूत्र रुचि[15]।

धर्म ध्यान के चार अवलंबन कहे गये हैं—(१) वाचना (२) प्रतिपृच्छा

१—परधन अपहरण की भावना करते रहना स्तेयानुबंधी रौद्र ध्यान है।

२—धन आदि वस्तुओं के संरक्षण के लिए क्रूर भावों को पोषित करते रहना संरक्षणानुबंधी रौद्र ध्यान है।

३—हिंसा आदि पापों से बचने की चेष्टा का न होना।

४—हिंसा आदि पापों में रात-दिन प्रवृत्ति करते रहना।

५—हिंसा आदि पापों को धर्म मानते रहना।

६—मरने तक पाप का पश्चाताप न होना।

७—सर्वभूतों के प्रति दया की भावना, पाँचों इन्द्रियों के विषयों से व्युपरम उपशान्त भाव, बन्ध और मोक्ष, गमन और आगमन के हेतुओं पर विचार, पंच महाव्रतादि ग्रहण की भावना—ये सब धर्म ध्यान हैं।

८—प्रवचन की पर्यालोचना—जिन-आज्ञा के गुणों का चिंतन।

९—रागद्वेषादि जन्य दोषों की पर्यालोचना।

१०—कर्मफल का चिन्तन।

११—जीव, लोक आदि के संस्थान का विचार।

१२—जिन-आज्ञा—जिन-प्रवचन में रुचि का होना।

१३—स्वाभाविक तत्त्वरुचि।

१४—साधु-सन्तों के उपदेश में रुचि। औपपातिक (सम० ३०) में मूल शब्द 'उवएसरुई' है। इसके स्थान में भगवती (२५. ७) में 'ओगाढरुई'—अवगाढ़ रुचि है और ठाणाङ्ग (४.१.२४७) में 'ओगाढरुई' है। इस शब्द का अर्थ है आगम में विस्तृत अवगाहन की रुचि।

१५—आगमों में रुचि का होना।

(३) परिवर्तना और (४) धर्मकथा[1]।

धर्म ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ कही गई हैं (१) अनित्य अनुप्रेक्षा[2] (२) अशरण अनुप्रेक्षा[3] (३) एकत्व अनुप्रेक्षा[4] और (४) संसार अनुप्रेक्षा[5]।

४—शुक्ल ध्यान[6] चार प्रकार का कहा गया है (१) पृथक्त्ववितर्क सविचारी[7]। (२) एकत्ववितर्क अविचारी[8] (३) सूक्ष्मक्रिया अनिवृत्ति[9] और (४) समुच्छिन्नक्रिया अप्रतिपाती[10]।

शुक्ल ध्यान के चार लक्षण[11] कहे गये हैं (१) विवेक[12] (२) व्युत्सर्ग[13] (३) अव्यथा[14] और (४) असमोह[15]।

१—ठाणाङ्ग सूत्र में 'धर्मकथा' के स्थान पर 'अणुप्पेहा' (अनुप्रेक्षा) शब्द है। इसका अर्थ है गहरा चिन्तन।

२—संपति आदि सर्व वस्तुएँ अनित्य हैं—ऐसी भावना या चिन्तन।

३—दुःख से मुक्त करने के लिए धर्म के सिवा कोई शरण नहीं—ऐसी भावना।

४—मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं इत्यादि चिन्तन।

५—संसार जरा-मरणादि स्वरूपवाला है आदि चिन्तन।

६—जिसकी इन्द्रियाँ विषयों से सर्वथा पराङ्मुख होती हैं, सकल्प-विकल्प का विकार जिसे नहीं सताता, जिसके तीनों योग वश में हो चुके हों और जो सम्पूर्ण रूप से अन्तरात्मा होता है उसका सर्वोत्तम स्वच्छ ध्यान शुक्ल ध्यान कहलाता है।

७—एक द्रव्य के आश्रित नाना पर्यायों का श्रुत (शास्त्र) के अवलम्बन से भिन्न-भिन्न विचार करना।

८—उत्पाद आदि पर्यायों में किसी एक पर्याय को अभेदरूप से लेकर श्रुत के आलंबन से अर्थ और शब्द के विचार से रहित चिन्तन।

९—उस वक्त का ध्यान जब मन-वचन-योग रोका जा चुका हो, पर काययोग—उच्छ्वास आदि सूक्ष्म क्रियाओं से निवृत्ति न हो पाई हो। यह चौदहवें गुणस्थान में योग निरोध करते समय केवली के होता है।

१०—जिस समय समस्त क्रियाओं का उच्छेद हो जाता है उस समय का अनुपरति स्वभाववाला ध्यान।

११—भगवती सूत्र (२५.७) में इन्हें शुक्ल ध्यान का आलम्बन कहा गया है।

१२—शरीर से आत्मा की भिन्नता का विवेक।

१३—निःसङ्गता—देह और उपधि का निसकोच त्याग।

१४—व्यथा या भय का अभाव।

१५—विषयों में मूढ़ता—संमोहन का अभाव।

शुक्ल ध्यान के चार अवलम्बन कहे गये हैं (१) क्षान्ति[1] (२) मुक्ति[2] (३) आर्जव[3] और (४) मार्दव[4]।

शुक्ल ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ कही गई हैं (१) अपायानुप्रेक्षा[5] (२) अशुभानुप्रेक्षा[6] (३) अनन्तवृत्तितानुप्रेक्षा[7] और (४) विपरिणामानुप्रेक्षा[8]।

आर्त और रौद्र ध्यान को छोड़ कर सुसमाहित भाव से धर्म और शुक्ल ध्यान के ध्याने को बुद्धों ने ध्यान तप कहा है[9]।

१६—व्युत्सर्ग तप (गा० ४१-४५)

व्युत्सर्ग[10] तप दो प्रकार का कहा गया है १-द्रव्य व्युत्सर्ग[11] और (२) भाव व्युत्सर्ग[12]।

१—द्रव्य व्युत्सर्ग तप चार प्रकार का कहा है (१) शरीर व्युत्सर्ग[13] (२) गण-

---

१—क्षमा

२—निर्लोभता

३—ऋजुता—सरलता

४—मृदुता—निरभिमानता

५—हिंसा आदि आस्रव जन्य अनर्थों का चिन्तन।

६—यह संसार अशुभ है—ऐसा चिन्तन।

७—अनन्तवृत्तिता—संसार की जन्म-मरण की अनन्तता का चिन्तन।

८—वस्तुओं में प्रति समय परिणाम—अवस्थान्तर होता है, उसका चिन्तन।

९—उत्त० ३० ३५

अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता झाएज्जा सुसमाहिए।
धम्मसुक्काइं झाणाइं झाणं तं तु बुहावए॥

१०—व्युत्सर्ग अर्थात् त्याग।

११—शारीरिक हलन-चलनादि क्रियाओं के त्याग, साधु-समुदाय के सहवास, वस्त्र, पात्रादि उपधि तथा आहार के त्याग को द्रव्य व्युत्सर्ग तप कहते हैं।

१२—क्रोधादि भाव तथा संसार और कर्म-उत्पत्ति के हेतुओं का त्याग—भाव व्युत्सर्ग-तप कहलाता है।

१३—शरीर व्युत्सर्ग तप की परिभाषा निम्न प्रकार मिलती है (उत्त० ३० ३६)

सयणासणठाणे वा, जे उ भिक्खू न वावरे।
कायस्स विउस्सग्गो, छट्ठो सो परिकित्तिओ॥

—शयन, आसन और स्थान में जो भिक्षु चलनात्मक क्रिया नहीं करता—शरीर को हिलाता-डुलाता नहीं, उसके काय-व्युत्सर्ग नामक छठा आभ्यन्तर तप कहा गया है।

व्युत्सर्ग[1] (३) उपधि-व्युत्सर्ग[2] और (४) आहार-व्युत्सर्ग[3]।

२—भाव व्युत्सर्ग तप तीन प्रकार का कहा है—(क) कषाय-व्युत्सर्ग[4] (ख) संसार-व्युत्सर्ग और (ग) कर्म-व्युत्सर्ग।

(क) कषाय-व्युत्सर्ग तप[5] चार प्रकार का कहा है (१) क्रोधकषाय-व्युत्सर्ग, (२) मानकषाय-व्युत्सर्ग (३) मायाकषाय-व्युत्सर्ग और (४) लोभकषाय-व्युत्सर्ग।

(ख) संसार-व्युत्सर्ग तप[6] चार प्रकार का कहा है - (१) नैरयिकसंसार-व्युत्सर्ग (२) तिर्यक्‌संसार[7]-व्युत्सर्ग (३) मनुष्यसंसार-व्युत्सर्ग और (४) देवसंसार-व्युत्सर्ग।

(ग) कर्म व्युत्सर्ग तप[8] आठ प्रकार का कहा है (१) ज्ञानावरणीयकर्म-व्युत्सर्ग (२) दर्शनावरणीयकर्म-व्युत्सर्ग (३) वेदनीयकर्म-व्युत्सर्ग (४) मोहनीयकर्म व्युत्सर्ग (५) आयुष्यकर्म व्युत्सर्ग (६) नामकर्म-व्युत्सर्ग (७) गोत्रकर्म-व्युत्सर्ग और (८) अन्तरायकर्म-व्युत्सर्ग।

१—तपस्या या उत्कृष्ट साधना के लिये साधु-समुदाय का त्याग कर एकाकी रहना—गण-व्युत्सर्ग तप कहलाता है।

२—वस्त्र, पात्र आदि उपधि का त्याग—उपधि-व्युत्सर्ग तप कहलाता है।

३—भक्त पान आदि का त्याग—आहार-व्युत्सर्ग कहलाता है।

४—अनुच्छेद १, २ और ३ के विषय को संग्रह करनेवाली निम्नलिखित गाथाएँ मिलती हैं

> दव्वे भावे अ तहा दुहा, विसग्गो चउव्विहो दव्वे।
> गणदेहोवहिभत्ते, भावे कोहादिचाओ त्ति॥
> काले गणदेहाण, अतिरित्तासुद्धभत्तपाणाण।
> कोहाइयाण सयय, कायव्वो होई चाओ त्ति॥

(दश० १ १ की हारिभद्रीय टीका में उद्धृत)

५—क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चार कषाय हैं। इनमें से प्रत्येक का त्याग कषाय-व्युत्सर्ग तप कहलाता है।

६—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव—ये चार गतियाँ हैं। इन गतियों में जीव के भ्रमण को संसार कहते हैं। उन भावों—कृत्यों का त्याग जिनसे जीव का नरकादि गतियों में भ्रमण होता है—संसार-व्युत्सर्ग तप कहलाता है।

७—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति—इन एकेन्द्रिय से लेकर पशु, पक्षी आदि तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय तक के जीवों की गति।

८—जिनसे जीव संसार में बंधा हुआ है और भव-भ्रमण करता है, उन्हें कर्म कहते हैं। ये ज्ञानावरणीय भेद से आठ प्रकार के हैं। उन भावों—कार्यों का त्याग जो इन आठ प्रकार के कर्मों की उत्पत्ति के हेतु हों—कर्म व्युत्सर्ग तप कहलाता है।

१७— तप, सवर, निर्जरा (गा० ४६-५२) :

इन गाथाओ में स्वामीजी ने निम्न तथ्यो पर प्रकाश डाला है

१—आत्म-शुद्धि के लिए इच्छापूर्वक की हुई तपस्या किस प्रकार कर्म-क्षय करती है (गा० ४६)।

२—आत्म-शुद्धि के लिए इच्छापूर्वक तप किसके हो सकता है (गा० ४७-५१)।

३—सवर और निर्जरा का सम्बन्ध (गा० ४७-५१)।

४—तपस्या की महिमा (५०-५२)।

नीचे इन पर क्रमश प्रकाश डाला जा रहा है

१—आत्म-शुद्धि के लिए इच्छापूर्वक की हुई तपस्या किस प्रकार कर्म-क्षय करती है

स्वामीजी ने सकाम तप की कार्य-प्रणाली को चुम्बक रूप मे इस प्रकार बताया है "ते करम उदीर उदे आंण खेरे"—वह कर्मों को उदीर्ण कर, उदय में ला उन्हें बिखेर देता है। इस विषय का सामान्य स्पष्टीकरण पहले आ चुका है।[1] जिस तरह समय पाकर फल अपने आप पक जाते हैं उसी तरह नाना गति और जीव-जातियो में भ्रमण करते हुए प्राणी के शुभाशुभ कर्म क्रम से परिपाक-काल को प्राप्त हो अनुभवोदयावलि मे प्रविष्ट हो फल देकर अपने आप झड जाते हैं। यह विपाकजा निर्जरा है। सकाम तप इस स्वाभाविक क्रम से कार्य नही करता। वह अपने सामर्थ्य से जिन कर्मो का उदय-काल नही आया होता है, उन्हे भी बलात् उदयावलि मे लाकर झाड देता है। जिस तरह आम और पनस को औपक्रमिक क्रिया अकाल मे ही पका डालती है उसी तरह सकाम तप उदयावलि के बाहर स्थित कर्मो को खीचकर उदयावलि मे ले आता है। इस तरह उन कर्मो का वेदन हो उनकी निर्जरा होती है। सकाम तप अविपाकजा निर्जरा का हेतु होता है[2]।

१—देखिए पृ० ६१० (ऊ)

२—तत्त्वा० ८ २३ सर्वार्थसिद्धि :

तत्र चतुर्गतावनेकजातिविशेषावघूर्णिते ससारमहार्णवे चिर परिभ्रमत शुभाशुभस्य कर्मण क्रमेण परिपाककालप्राप्तस्यानुभवोदयावलिस्रोतोऽनुप्रविष्टस्यारब्धफलस्य या निवृत्ति सा विपाकजा निर्जरा। यत्कर्माप्राप्तविपाककालमौपक्रमिकक्रियाविशेषसामर्थ्यादनुदीर्णं बलादुदीर्योदयावलिं प्रवेश्य वेद्यते आम्रपनसादिपाकवत् सा अविपाकजा निर्जरा।

कर्म-प्रायोग्य पुद्गल आत्मा की सत्-असत् प्रवृत्ति द्वारा गृहीत होकर कर्म बनते हैं। कर्म की पहली अवस्था बंध है और अन्तिम अवस्था है वेदना। कर्म के विसम्बन्ध की अवस्था निर्जरा है। कर्म-फल का अनुभव वेदना है। वेदना के बाद भुक्तरस कर्म-पुद्गल आत्मा से दूर हो जाते हैं। यह निर्जरा है। बन्ध और वेदना या निर्जरा के बीच कर्म सत्तारूप में अवस्थित रहता है, किसी प्रकार का फल नहीं देता। अबाधा काल—पकने का काल पूरा नहीं होता, तब तक कर्म फल देने योग्य नहीं बनता। अबाधा काल पूर्ण होने के पश्चात् फल देने योग्य निषेक बनते हैं, और फिर विपाकप्राप्त कर्म वेदना—फलानुभव के बाद झड जाते हैं।

बन्धे हुए कर्म-पुद्गल विपाकप्राप्त हो फल देने में समर्थ हो जाते हैं, तब उनके निषेक प्रकट होने लगते हैं—यह उदय है।

अबाधा काल में कर्म का अवस्थान मात्र होता है, पर कर्म का कर्तृत्व प्रकट नहीं होता। उस समय कोरा अवस्थान होता है, अनुभव नहीं। अनुभव अबाधा काल पूरा होने के बाद होता है।

काल मर्यादा पूर्ण होने पर कर्म का वेदन या भोग प्रारम्भ होता है। यह प्राप्त-काल उदय है। ऐसे स्वाभाविक प्राप्त-काल उदय के अतिरिक्त दूसरे प्रकार का उदय अर्थात् अप्राप्त-काल उदय भी सम्भव है।

भगवान महावीर ने गौतम से कहा था—"अनुदीर्ण, किन्तु उदीरणा-भव्य कर्म-पुद्गलो की उदीरणा सम्भव है[1]।"

कर्म के काल-प्राप्त (स्वाभाविक) उदय मे नये पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं होती। बन्ध-स्थिति पूरी होती है, कर्म-पुद्गल अपने आप उदय मे आ जाते हैं। उदीरणा द्वारा कर्मों को स्थिति-क्षय के पहले उदय मे लाया जाता है। यह पुरुषार्थ-साध्य है।

एक बार गौतम ने पूछा—"भगवन्! अनुदीर्ण, उदीरणा-भव्य (कर्म-पुद्गलों) की जो उदीरणा होती है, वह उत्थान, कर्म, बल, वीर्य पुरुषकार और पराक्रम के द्वारा होती? अथवा अनुत्थान, अकर्म, अबल, अवीर्य, अपुरुषकार और अपराक्रम के द्वारा?"

भगवान ने उत्तर दिया—"गौतम! जीव उत्थान आदि के द्वारा अनुदीर्ण, उदीरणा

१—भगवती १ ३

गोयमा! नो उदिण्णं उदीरेइ, नो अणुदिण्णं उदीरेइ, अणुदिण्णं उदीरणाभविअं कम्मं उदीरेइ, णो उदयाणंतरपच्छाकडं कम्मं उदीरेइ।

भव्य (कर्म-पुद्गलों) की उदीरणा करता है, किन्तु अनुत्थान आदि के द्वारा उदीरणा नही करता[1] ।"

उदीरक पुरुषार्थ के दो रूप हैं। कर्म की उदीरणा करण के द्वारा होती है। करण का अर्थ है—योग। योग तीन प्रकार के हैं—(१) काय व्यापार, (२) वचन व्यापार और (३) मन व्यापार। उत्थान आदि इन्ही के प्रकार हैं। योग शुभ और अशुभ दोनो प्रकार का होता है। शुभ योग तपस्या है, सत्प्रवृत्ति है। वह उदीरणा का हेतु है। उदीरणा द्वारा लम्बे समय के बाद तीव्र भाव से उदय मे आने वाले कर्म तत्काल और मन्द भाव से उदय मे आ जाते हैं। इससे आत्मा शीघ्र उज्ज्वल बन जाती है।

क्रोध, मान, माया और लोभ की प्रवृत्ति अशुभ योग है। उससे भी उदीरणा होती है, पर आत्म-शुद्धि नही होती, पाप कर्मो का बन्ध होता है[2] ।

उदीरणा उदयावलिका के बहिर्भूत कर्म पुद्गलो की ही होती है। उदयावलिका मे प्रविष्ट कर्म पुद्गलो की उदीरणा नही होती। उदीरणा अनुदीर्ण कर्मो की ही होती है। अनुदित कर्मों की उदीरणा तप के द्वारा सम्भव है।

यहाँ प्रश्न उठता है क्या उदीरणा सभी कर्मों की सम्भव है ? कर्म दो प्रकार के होते हैं—एक निकाचित और दूसरे दलिक। निकाचित उन कर्मों को कहते हैं जिनका विपाक अन्यथा नही हो सकता। दलिक उन कर्मो को कहते हैं जिनका विपाक अन्यथा भी हो सकता है। इसी आधार पर कर्म के अन्य दो भेद मिलते हैं—(१) सोपक्रम और (२) निरुपक्रम। जो कर्म उपचार-साध्य होता है वह सोपक्रम है। जिसका कोई प्रतीकार नही होता, जिसका उदय अन्यथा नही हो सकता वह निरुपक्रम है।

ऊपर मे एक जगह ऐसा वर्णन आया है कि तप निकाचित कर्मों का भी क्षय करता है। यह एक मत है। दूसरा मत यह है कि निकाचित कर्मों की अपेक्षा जीव परवश है।

१—वही

गोयमा ! तं उट्ठाणेण वि, कम्मेण वि, बलेण वि, वीरिएण वि, पुरिसक्कारपरक्कमेण वि अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेइ, णो तं अणुट्ठाणेणं, अकम्मेणं, अबलेणं, अवीरिएणं, अपुरिसक्कारपरक्कमेणं अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेइ ।

२—देखिए पृ० ६१३

निकाचित कर्मोदय की अपेक्षा जीव कर्म के अधीन ही होता है। दलिक की अपेक्षा दोनो बातें हैं। जहाँ जीव उन्हें अन्यथा करने के लिए कोई प्रयत्न नही करता वहाँ वह उस कर्म के अधीन होता है और जहाँ जीव तप की सहायता से सत्प्रयत्नशील होता है वहाँ वह कर्म उसके अधीन होता है। उदय काल से पूर्व कर्मों को उदय में ला तोड डालना, उनकी स्थिति और रस को मन्द कर देना—यह सब इसी स्थिति मे हो सकता है। यही उदीरणा है[1]।

२—आत्म-शुद्धि के लिए इच्छापूर्वक तप किसके हो सकता है?

उमास्वाति लिखते हैं—"सवृततपउपधानात्तु निर्जरा[2]"—सवरयुक्त जीव का तप उपधान निर्जरा है। उन्होने तत्त्वार्थसूत्र मे कहा है—"सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तानुवन्धिवियोजक, दर्शनमोहक्षपक, मोहोपशमक, उपशांतमोह, मोहक्षपक, क्षीणमोह और जिन—इनके क्रमश असख्यातगुणी असख्यातगुणी निर्जरा हुआ करती है[3]।"

साधु रत्नसूरि लिखते हैं—"सकाम निर्जरा साधु के होती है। वह बारह प्रकार के तप से होनेवाली कर्मक्षयरूप निर्जरा है[4]।"

स्वामी कार्तिकेय लिखते हैं "निदानरहित, अहकार-शून्य ज्ञानी के बारह प्रकार के तप से तथा वैराग्य भावना से निर्जरा होती है[5]।"

१—जैन धर्म और दर्शन पृ० २९२-९३, २०४-२०७, २१०-११

२—नवतत्त्वसाहित्यसग्रह उमास्वातीय नवतत्त्वप्रकरण गा० ३३

३—तत्त्वा० ९ ४७

४—नवतत्त्वसाहित्यसग्रह वृत्यादिसमेत नवतत्त्वप्रकरण गा० १६। ४१ की साधु रत्नसूरिकृत अवचूर्णि

तत्र सकामा साधूना। तत्र सकामा द्वादश प्रकारतपोविहित कर्मक्षयरूपा

५—द्वादशानुप्रेक्षा निर्जरा अनुप्रेक्षा गा० १०२

वारसविहेण तवसा, णियाणरहियस्स णिज्जरा होदि।

वेरग्गभावणादो णिरहकारस्स णाणिस्स॥

उपर्युक्त अवतरणो से स्पष्ट है कि सकाम तप का पात्र कौन है, इस सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न मत हैं। कई विद्वानो ने साधु को ही इसका पात्र माना है और कइयो ने श्रावक और सम्यक्‌दृष्टि को भी। पर मिथ्यात्वी का उल्लेख किसी ने भी नही किया। इससे सामान्य मत यह लगता है कि सकाम तप मिथ्यादृष्टि के नही होता।

स्वामीजी ने साधु, श्रावक और सम्यक्‌दृष्टि की तरह मिथ्यात्वी के भी सकाम तप माना है, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। वे लिखते हैं :

> निरवद करणी करे समदिष्टी, तेहीज करणी करे मिथ्याती तांम।
> यां दोयां रा फल आछा लागे, ते सूतर मे जोवो ठांम ठांम[1] ॥
>
> पेंहलें गुणठांणे करणी करें, तिणरे हुवें छे निरजरा धर्म।
> जो घणो घणो निरवद प्राकम करे, तो घणा घणा कटे छे कर्म[2]।

उपर्युक्त उद्‌गारो मे स्पष्ट है कि स्वामीजी ने मिथ्यात्वी के लिए भी निरवद्य करनी का फल वैसा ही अच्छा बतलाया है जैसा कि सम्यक्त्वी को होता है। मिथ्यात्वी गुण-स्थान मे स्थित व्यक्ति के भी निरवद्य करनी से निर्जरा धर्म होता है। उसका निरवद्य पराक्रम जैसे-जैसे बढता है वैसे-वैसे उसे अधिक निर्जरा होती है। मिथ्यात्वी के भी शुभ योग होता है—"मिथ्याती रे पिण सुभ जोग जाण हो।" वह भी निरवद्य करनी से कर्मों को चकचूर करता है—"ते पिण कर्म करें चकचूर रे।"

आगम मे शीलसम्पन्न, पर श्रुत और सम्यक्त्व रहित को भी मोक्ष-मार्ग का देश आराधक कहा है। स्वामीजी कहते हैं—मिथ्यात्वी को देश आराधक कैसे कहा ? उसके जरा भी विरति नही फिर भी उसे देश आराधक कहने का क्या कारण है ? मिथ्यात्वी भी यदि शीलसम्पन्न होता है तो उसके निर्जरा धर्म होता है इसी अपेक्षा से उसे देश आराधक कहा है

> सीले आचार करें सहीत छे रे, पिण सूतर ने समकत तिणरें नांहि रे।
> तिणनें आराधक कह्यो देस थी रे, विचार कर जोवो हीया मांहि रे ॥

१—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (ख० १) मिथ्याती री करणी री चोपई ढा० १ गा० ३६

२—वही ढा० २ दो० ३

देस थकी तो आराधक कह्यो रे, पेंहलें गुणठांणे ते किण न्याय रे।
विरत नही छें तिणरे सर्वथा रे, निरजरा लेखें कह्यो जिणराय रे[1] ॥

भगवती मे असोच्चा केवली का उल्लेख है। वह धर्म सुने विना निरवद्य करनी करते-करते केवली बन जाता है। यदि उसके मिथ्यात्व दशा मे निर्जरा नहीं होती तो वह केवली कैसे बनता? स्वामीजी लिखते हैं

असोचा केवली हूआ इण रीत सू रे, मिथ्याती थकां तिण करणी कीध रे।
कर्म पतला पड्या मिथ्याती थकां रे, तिण सू अनुक्रमें सिवपुर लीध रे॥
जो मिथ्यात्वी थको तपसा करतो नही रे, मिथ्याती थको नही लेतो आताप रे,
क्रोधादिक नही पाडतो पातला रे, तो किण विध कटता इणरा पाप रे॥
जो लेस्या परिणांम भला हुता नही रे, तो किण विध पामत विभग अनांण रे।
इत्यादिक कीयां सू हुवो समकती रे, अनुक्रमें पोहतो छे निरवांण रे॥
पेंहले गुणठांणे मिथ्याती थकां रे, निरवद करणी कीधी छें ताम रे।
तिण करणी थी नीव लागी छें मुगत री रे, ते करणी चोखी ने सुध परिणाम रे[2] ॥

मिथ्यात्वी भी वैरागी हो सकता है। उसकी निरवद्य करनी वैराग्य भावनाओ से उत्पन्न हो सकती है। स्वामीजी लिखते हैं

"मिथ्यात्वी वैराग्यपूर्वक शील का पालन कर सकता है, वैराग्यपूर्वक तपस्या कर सकता है, वैराग्यपूर्वक वनस्पति का त्याग कर सकता है—इस तरह वह वैराग्यपूर्वक अनेक निरवद्य कार्य कर सकता है।"

शील पालें मिथ्याती वेंराग सू रे, तपसा करे वेराग सू ताय रे।
हरियादिक त्यागें वेराग सू रे लाल, तिणरें कहे दुरगत रो उपाय रे॥
इत्यादिक निरवद करणी करे रे, वेंराग मन मांहे आंण रे।
तिणरी करणी दुरगत रो कारण कहे रे लाल, ते जिण मारग रा अजांण रे[3] ॥

मिथ्यात्वी के जैसे वैराग्य सभव है, वैसे ही उसके लेश्या और परिणाम भी प्रशस्त हो सकते हैं अत सकाम निर्जरा भी सभव है।

१—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (ख० १) मिथ्याती री करणी री चौपई ढा० २ गा० २४ २५
२—वही ढा० २ गा० ४७-५०
३—वही ढा० ३ गा० २६ ३०

तामली तापस की तपस्या का वर्णन करते हुऐ स्वामीजीने लिखा है

> तामलीतापस तप कीधो घणो रे, साठ सहस वरसां लग जांण रे।
> बेले बेले निरतर पारणो रे, वैराग भावे सुमता आंण रे ॥
> आहार बेहरी ने ल्यायो तेहनें रे, पांणी सूं धोयो इकवीस वार रे।
> नार काढेनें कूकस राखीयो रे, ऐहवो पारणे कीयो आहार रे ॥
> तिप नयारो कीयो भला परिणांम सूं रे, जब देवदेवी आया तिण पास रे।
> त्यां नाटक पोड विवध परकारना रे, पछे हाथ जोडी करे अरदास रे ॥
> म्हे चमरचचा राजध्यांनी तणा रे, देवदेवी हूआ म्हे सर्व अनाथ रे।
> इन्द्र हूतो ते म्हारो चव गयो रे, थे नीहाणो कर हुवो म्हांरा नाथ रे ॥
> इम कहे ने देवदेवी चलता रह्या रे, पिण तामली न कीयो नीहाणो ताय रे।
> तिण करम निरजरिया मिथ्याती थकां रे, ते ईसांण इन्द्र हुवो छे जाय रे ॥
> ते देव चवी नें होसी मांनवी रे, महाविदेह खेतर मझार रे।
> ते साध थइ नें सिवपुर जावसी रे, ससार नी आवागमण निवार रे ॥
> इण करणी कीधी छें मिथ्याती थके रे, तिण करणी सूं घटीयो छे ससार रे।
> इन्द्र हुवो छें तिण करणी थकी रे, इण करणी सूं हुवो एका अवतार रे[1]।

मिथ्यात्वी के सकाम निर्जरा होती है या नही, इस विषय की चर्चा 'सेन प्रश्नोत्तर' मे भी है। सार इस प्रकार है—"चरक, परिव्राजक, तामल्य आदि मिथ्यात्वी तपश्चर्यादि अज्ञान कष्ट करते हैं उनके सकाम निर्जरा होती है अथवा अकाम ? कुछ लोगो का मत है कि उनके अकाम निर्जरा ही होती है। इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है। मिथ्यादृष्टि चरक, परिव्राजक आदि हमारा कर्मक्षय हो—ऐसी बुद्धि से तपश्चरणादि अज्ञान कष्ट करते है उनके सकाम निर्जरा सम्भव है। सकाम निर्जरा का हेतु द्विविध तप है। बाह्य तप को, बाह्य द्रव्य की अपेक्षा होने से, पर-प्रत्यक्षत्व होने से तथा कुतीर्थिकों द्वारा स्वाभिप्राय से आसेव्यत्व प्राप्त होने से, बाह्यत्व माना गया है। इसके अनुसार षट्विध बाह्य तप कुतीर्थिकों द्वारा भी आसेव्य होता है और उनके भी सकाम निर्जरा होती है भले ही वह सम्यग्दृष्टि की सकाम निर्जरा की अपेक्षा थोडी हो। भगवती (८ १०) मे कहा है—बालतपस्वी—'देसाराहए'—देशाराधक होता है। सम्यक्बोध के न

---

[1]—भिक्षु ग्रन्थ रत्नाकर (ख० १) मिथ्याती री करणी री चौपई ढा० २ गा० २८-३१

होने से भले ही उसे मोक्ष-प्राप्ति न होती हो पर क्रियापरक होने मे स्वल्प कर्मांश की निर्जरा उसके भी होती है।"

३—सवर और निर्जरा का सम्बन्ध

वाचक उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र (९ २) में गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र से सवर की सिद्धि बतलाई है—"स गुप्तिसमितिधर्मानुपेक्षापरीषहजय चारित्रै।" इसके बाद अन्य सूत्र दिया है—"तपसा निर्जरा च (९ ३)" इसका अर्थ उन्होने स्वय इस प्रकार किया है—"तप बारह प्रकार का है। उससे सवर होता है और निर्जरा भी[1]।"

सवर के उपर्युक्त हेतुओ मे उल्लिखित 'धर्म' के भेदो का वर्णन करते हुए तप को भी उसका एक भेद माना है[2]। प्रश्न होता है कि धर्म में तप समाविष्ट है तब सूत्रकार ने "तपसा निर्जरा च" यह सूत्र अलग रूप से क्यो दिया? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं—"तप सवर और निर्जरा दोनो का कारण है और सवर का प्रमुख कारण है, यह बतलाने के लिये अलग कथन किया है[3]।"

श्री अकलङ्कदेव कहते हैं—"तप का अलग कथन अनर्थक नही क्योकि वह निर्जरा का कारण भी है[4]। तथा सब सवर-हेतुओ में तप प्रधान है। यह दिखाने के लिये भी तप का अलग उल्लेख किया गया है[5]।

१—तत्त्वा० ९ ३ भाष्य

तपो द्वादशविध वक्ष्यते। तेन सवरो भवति निर्जरा च।

२—तत्त्वा० ९ ६

३—तत्त्वा० ९ ३ सर्वार्थसिद्धि

तपो धर्मेऽन्तर्भूतमपि पृथगुच्यते उभयसाधनत्वख्यापनार्थं संवर प्रति प्राधान्य प्रतिपादनार्थं च।

४—तत्त्वा० ९ ३ राजवार्तिक १

धर्मे अन्तर्भावात् पृथग्ग्रहणमनर्थकमिति चेत्, न, निर्जराकारणत्वख्यापनार्थत्वात्

५—तत्त्वा० ९ ३ राजवार्तिक २

सर्वेषु सवरहेतुषु प्रधान तप इत्यस्य प्रतिपत्त्यर्थं च पृथग्ग्रहणं क्रियते।

उपर्युक्त विवेचन से निम्न निष्कर्ष निकलते हैं

(१) संवर के कथित साधन—गुप्ति, समिति, धर्म अनुप्रेक्षा, परीषहजय, चारित्र और तप में केवल तप ही संवर और निर्जरा दोनों का हेतु है, अन्य नहीं।

(२) तप से निर्जरा भी होती है पर वह प्रधान हेतु संवर का ही है[1]।

(३) संवर से गुप्ति, समिति आदि कथित हेतुओं में तप सर्व प्रधान है।

(४) समिति, अनुप्रेक्षा और परिषहजय जो शुभ योग रूप हैं उनसे भी संवर होता है।

(५) गुप्ति और चारित्र की तरह समिति, अनुप्रेक्षा आदि योग भी संवर के हेतु हैं।

इन निष्कर्षों पर नीचे क्रमशः विचार किया जाता है

प्रथम निष्कर्ष :

श्री उमास्वाति ने परीषहजय को अन्यत्र निर्जरा का हेतु माना है[2]। अतः अलग सूत्र के औचित्य को सिद्ध करने के लिये टीकाकारों द्वारा जो प्रथम समाधान 'उभयसाधनत्वख्यापनार्थम्' दिया गया है, वह एकान्ततः ठीक प्रतीत नहीं होता। कारण संवर के अन्य कथित हेतुओं में भी निर्जरा सिद्ध होती है।

द्वितीय निष्कर्ष

एक बार भगवान महावीर से पूछा गया—"भगवन्! तप से जीव क्या उत्पन्न करता है?" भगवान ने उत्तर दिया—"तप से जीव पूर्व के बंधे हुए कर्मों का क्षय करता है[3]।"

इसी तरह दूसरी बार प्रश्न किया गया—"भगवन्! तप का क्या फल है?" भगवान ने उत्तर दिया—"हे गौतम! तप का फल वोदाण—पूर्व-संचित कर्मों का क्षय है[4]।"

१—(क) तत्त्वा० ६.३ राजवार्तिक १
तपो निर्जराकारणमपि भवतीति
(ख) वही राजवार्तिक २
तपसा हि अभिनवकर्मसंबन्धाभावः पूर्वोपचितकर्मक्षयश्च, अविपाकनिर्जरा-प्रतिज्ञानात्

२—(क) तत्त्वा० ६.७ भाष्य ६ :
निर्जरा कुशलमूलश्च तपः परीषहजयकृतः कुशलमूलः
(ख) वही ६.८
मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः।

३—उत्त० २६.२७
तवेण भन्ते जीवे किं जणयइ ॥ तवेण वोदाणं जणयइ ॥

४—(क) भगवती २.५
तवे वोदाणफले
(ख) ठाणाङ्ग ३.३.१९०
तवे चेव वोदाणे

इन वार्त्तालापो से स्पष्ट है कि तप निर्जरा का हेतु है, सवर का नही। सवर का हेतु सयम है[1]। 'तवसा निज्जरिज्जइ'[2]—तप से निर्जरा होती है, ऐसा उल्लेख अनेक स्थलो पर प्राप्त है।

आगम मे कहा है—"जैसे शकुनिका पक्षिणी अपने शरीर में लगी हुई रज को पंख झाड-झाड कर दूर कर देती है, उसी तरह से जितेन्द्रिय अहिंसक तपस्वी अनशन आदि तप द्वारा अपने आत्म-प्रदेशो से कर्मो को झाड देता है[3]"

इससे भी तप का लक्षण निर्जरा ही सिद्ध होता है, सवर नही।

अन्यत्र आगम मे कहा है—"तपरूपी बाण कर्मरूपी कवच को भेदन करनेवाला है[4]।"

"तप-समाधि मे सदा लीन मनुष्य तप से पुराने कर्मों को धुन डालता है[5]।"

इन सब से स्पष्ट है कि तप को सवर का हेतु मानना और प्रधान हेतु मानना आगमिक परम्परा नही है।

"तप से सवर होता है और निर्जरा भी" स्वामीजी ने इस सूत्र के स्थान पर निम्न विवेचन दिया है—"तप से निर्जरा होती है। तप करते समय साधु के जहाँ-जहाँ निरवद्य योग का निरोध होता है वहाँ सवर भी होता है। श्रावक तप करता है तब जहाँ सावद्य योग का निरोध होता है वहाँ विरति सवर होता है। तप निर्जरा का ही हेतु है। तप

१—भगवती २ ५

सजमे ण भते! किं फले? तवे ण भते! किं फले? सजमे ण अज्जो! अणण्हय फले तवे वोदाणफले।

२—उत्त० ३० ६

३—सूयडाग १,२ १ १५

सउणी जह पसुगुण्डिया, विहुणिय धसयई सियं रय।
एव दविओवहाणव, कम्म खवइ तवस्सि माहणे॥

४—उत्त० ९ २२

तवनारायजुत्तेण भित्तूण कम्मकचुय।
मुणी विगयसगामो भवाओ परिमुच्चए॥

५—दस० ९ ४

विविहगुणतवोरए निच्च भवइ निरासए निज्जरट्ठिए।
तवसा धुणइ पुराणपावग, जुत्तो सया तवसमाहिए॥

करते समय जहाँ-जहाँ शुभ-अशुभ योगो का निरोध होता है वहाँ तत्सम्बन्धित सवर की भी निष्पत्ति होती है। सवर का हेतु योग-निरोध है और निर्जरा का हेतु तप।"

स्वामीजी का यह कथन उमास्वाति के निम्न उद्‌गारो से महत्वपूर्ण अन्तर रखता है—"तप सवर का उत्पादक होने से नये कर्मो के उपचय का प्रतिषेधक है और निर्जरण का फलक होने से पूर्व कर्मो का निर्जरक है[1]।" वास्तव मे तप सवर का हेतु नही योग-निरोध—सयम—सवर का हेतु है।

भगवान महावीर से पूछा गया—"भगवन्! सयम से जीव क्या प्राप्त करता है।" भगवान ने उत्तर दिया—"सयम से जीव आस्रव-निरोध करता है।" भगवान से फिर पूछा गया—"भगवन्! तप से क्या होता है?" भगवान ने उत्तर दिया—"तप से पूर्व-बद्ध कर्मो का क्षय होता है[2]"

आगम में सवर के जो पाँच हेतु बताये गये हैं[3] उनमे भी तप का उल्लेख नही है। ऐसी हालत में तप सवर का प्रधान हेतु है, ऐसा प्रतिपादन फलित नही होता।

तृतीय निष्कर्ष

तप जब सवर का हेतु नही तब कथित सवर-हेतुओ में वह सब मे प्रधान है, इस कथन का आधार ही नही रहता। सवर के हेतु गुप्ति और चारित्र ही कहे जा सकते हैं, तप नही। कहा भी है—"चरित्तेण निगिण्हाइ तवेण परिसुज्झई[4]"—चारित्र से कर्मास्रव का निरोध—सवर होता है और तप से परिशुद्धि—कर्मो का परिशाटन।

चौथा निष्कर्ष

सम्यक रूप से आना-जाना, बोलना, उठाना-रखना आदि समिति है। शरीर आदि के स्वभाव का बार-बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। क्षुदादि वेदना के होने पर उसे सहना परिषह-जय है[5]। ये सब प्रत्यक्षत योग रूप हैं। श्री उमास्वाति के अनुसार

१—तत्त्वा० ९ ४६ भाष्य

तद्‌आभ्यन्तर तप सवरत्वादभिनवकर्मोपचयप्रतिषेधक निर्जरणफलत्वात्कर्मनिर्जरकम्

२—(क) उत्त० २९ २६-२७

सजमएण भंते जीवे कि जणयइ ॥ स० अणण्हयत्त जणयइ ॥

तवेण भन्ते जीवे कि जणयइ ॥ तवेण वोदाण जणयइ ॥

(ख) ठाणाङ्ग ३ ३ १९०

३—समवायाङ्ग सम० ५

४—उत्त० २८ ३५

५—तत्त्वा० ९ २ सर्वार्थसिद्धि

सम्यगयन समिति, शरीरादीना स्वभावानुचिन्तनमनुप्रेक्षा, क्षुदादिवेदनोत्पत्तौ कर्मनिर्जरार्थं सहन परिषह। परिषहस्य जय परिषहजय

योग से भी सवर होता है। स्वामीजी कहते हैं शुभयोग से निर्जरा होती है और पुण्य का बध होता है—"शुभ योगां थी निर्जरा धर्म पुण्य पिण थाय रे" पर सवर नहीं होता। शुभयोग सवर नही निर्जरा का जनक है।

आगम मे भी शुभ योगो से निर्जरा ही बताई गयी है।

पाँचवा निष्कर्ष

गुप्ति—निवृत्ति रूप है और चारित्र भी निवृत्ति रूप। ये दोनो योग नहीं। उधर समिति, अनुप्रेक्षा, परिषह-जय और तप योग हैं। निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनो से ही निर्जरा सिद्ध नही हो सकती। सयम से सवर सिद्ध होता है और शुभ योग मे निर्जरा। सयम और शुभ योग दोनो निर्जरा के साधक नही हो सकते।

स्वामीजी ने उपर्युक्त विषयो पर विशद प्रकाश डाला है। हम यहाँ उनके विवेचन को उद्धृत करते हैं

> सुभ जोग सवर निश्चें नही, सुभ जोग निरवद व्यापार।
> ते करणी छें निरजरा तणी, तिण सू करम न रूकें लिगार॥
> समुदघात करें जब केवली, कांय जोग तणो व्यापार।
> तिण सू करम तणी निरजरा हुवें, पुन पिण लागें तिण वार॥
> त्यांरी निरजरा सू पुदगल झस्या, त्यां सू सर्व लोक फरसाय।
> जोगां सू निश्चें निरजरा हुवें, चोडे देखो सूतर रो न्याय[1]॥
> अकुशल जोग रुंधता निरजरा हुवें, ते निरजरा रुंधें त्यां लग जाणो रे।
> वले निरजरा हुवें कुसल जोग उदीरयां, ते प्रवर्तें छे त्यां लग पिछाणो रे॥
> ओ तो पडिसंलीणया तप कह्यो श्री जिणेसर, सूतर उवाई मांह्यो रे।
> त्यां सुभ जोगां नें कोई संवर सरधें, ते तो चोडे भूला जायो रे॥
> प्रसस्त जोग पडवजीयो साधु, अणतघाती करमां नें खपाया रे।
> ए उत्तराधेन गुणतीसमें अधेनें, सातमो बोल कह्यो जिणरायो रे॥
> सामायक रो फल सावद्य जोग निवरतें, इणरो ए गुण नीपनो ताह्यो रे।
> ए तिण उत्तराधेन गुणतीसमें अधेनें, कह्यो आठमा बोल रे मांह्यो रे॥

१—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (खं० १) टीकम डोसी री चौपई ढा० ३ दो० १-२

पांच परकार नी सझाय कीया सू, निरजरा हुइ कटीया करमो रे ।
सझाय करें ते निरवद जोगां सू, जब नीपनो निरजरा धर्मो रे ॥
ए पिण उत्तराधेन गुणतीसमें धेंन, उगणीस सू तेवीस तांई रे ॥
त्यां सुभ जोगां ने सवर सरधे, ते भूल गया भर्म मांही रे ।
जोग तणां पचखांण कीयां सू, अजोग सवर हुवो रे ॥
ते अजोग सवर चारित नांही, अजोग सवर चारित सू जूवो रे ॥
अजोग सवर सुभ जोग रूध्यां नीपनो, जब छूटो निरवद व्यापारो रे ।
चारित नीपनो सर्व इवरित त्याग्यां, वाकी इवरित न रही लिगारो रे ॥
अजोग सवर हुवें निरवद जोग त्याग्यां, तिणमें सावद्य रो नही परिहारो रे ।
चारित हुवें सर्व इविरत त्याग्यां, नव कोटि त्याग्यो सावद्य व्यापारो रे ॥
तीन करण जोगां सर्व सावद्य त्याग्यो, ते तो तीन गुपत सवर धर्मो रे ।
पांच सुमति छें निरवद जोग व्यापार, त्यांसू कटें छें आगला करमो रे ॥
गुपत सवर तो निरतर साधु रे, पांच सुमत निरतर नांही रे ।
पांच सुमत तो निरतर नही छें, ए तो प्रवरते छें जठा तांई रे ॥
इर्या सुमत तो चाले जठां ताइ, भाषा सुमत बोलें जठा ताइ रे ।
एसणा सुमत तो प्रवरतें छे त्यां लग, त्यांने स्वर कहीजें नाही रे ॥
आयाणभडमतनिखेवणा सुमत, ते तो लेवें मूके तठा तांई रे ।
परठणा सुमति परेठ जठा तांइ, त्यांनें पिण सवर कहीजें नाही रे ॥
सुमति छे सुभ जोग निरजरा री करणी, सुभ जोगां ने सवर कहें वोयो रे ।
यानें एक कहें तिणरी उधी सरधा, सवर ने सुभ जोग छे दोयो रे ॥
सुभ जोग रुध्यां मिटें निरजरा री करणी, पुन आवारा दुवार रुधांणा रे ।
जब अजोग सवर नीपनो तिण कालें, करण वीर्य जोग मिटाणो रे ॥
जीव तणा प्रदेश चलावें, तेहीज जोग व्यापारो रे ।
ते प्रदेश थिर हुवां अजोग सवर छें, सुभ जोग मिट्या तिणवारो रे ॥
सुभ जोग व्यापार सू करम कटे छें, जब जीव रा प्रदेस चाले रे ।
जीव रा प्रदेस चालें तठा तांई, पुन रा प्रदेस झालें रे ॥
चारित ना परिणांम थिर प्रदेस, त्यांरो सीतलभूत सभावो रे ।
तिण सू सुभ जोग नें चारित न्यारा न्यारा छें, आंनो देखो उघाडो न्यावो रे ॥

वीयावच करण रो फल बतायो, बंधे तीर्थंकर नांम करमो रे ।
ते वीयावच करे सुभ जोगां सू, त्यांसू हुवो निरजरा धर्मो रे ॥
वंदणा करतां नीच गोत खपावें, वले बांधे उंच गोत करमो रे ।
वंदणा करे छे सुभ जोगा सू, तिण सू हुवो निरजरा धर्मो रे ॥
निरजरा री करणी करतां पुन हुवे छे, तिण करणी माहे नहीं खामी रे ।
निरवद जोगां सू निरजरा ने पुन हुवें छें, ते पुन तणा नहीं कामी रे ॥
सुभ जोगां सू निरजरा हुवे छे, तिण सु निरजरा री करणी मे घाल्या रे ।
वले सुभ जोगा सू पुन पिण लागे, तिण सू आश्रव माहि घाल्या रे[1] ॥

स्वामीजी ने इसी विषय पर दूसरी तरह इस प्रकार प्रकाश डाला है

चारित संवर नें सुभ जोग सरधें, इण सरधा सू होसी घणा खराब ।
सुभ जोग ने संवर जिण कह्या न्यारा, त्यारो सुणजो विवरा सुध जाब ।
तेरमें गुणठाणे आतमा सात, तिहा कषाय आतमा टल गइ ताय ।
चवदमे गुणठाणे छ आतमा छे, तिहां जोग आतमा गइ छें विलाय ॥
जोग आतमा मिटी चवदमे गुणठाणे, चारित आतमा तो मिटी नहीं कोय ।
इण लेखे चारित नें सुभ जोग, प्रतख जूआ जूआ छे दोय ॥
चारित ने जोग एक सरधे तो, आठ आतमा री हुवें आतमा सात ।
सुभ जोग नें चारित एक सरधे तिण, चोडेई पडवजीयो मिथ्यात ॥
बारमे तेरमे चवदमे गुणठाणे, खायक चारित छे जथाख्यात ।
ते चारित निरन्तर एकधारा छे, ते तो वधे घटे नहीं छे तिलमात ॥
चारित मोहणी खय हुवे जब, खायक चारित नीपजे ताय ।
इण चारित संवर रो एक सभाव, सुभ जोग ने चारित कदेय न थाय ॥
चारित मोहणी उपसम हुवे जब, उपसम चारित नीपजे ताय ।
खयउपसम हूआं खयउपसम चारित, खय हूआ खायक चारित थाय ॥
चारित मोहणी खय खयउपसम हूआं, तिण सू तो सुभ जोग नीपजे नांहि ।
मोह घट्यां सुभ जोग नीपना सरधे, ते पड गया मोह मिथ्यात रे मांहि ॥
अन्तराय करम खय खयउपसम हूआं, नीपजे खायक खयउपसम ताय ।
ते लब्द वीर्य छे उजलो निरमल, तिण वीर्य सू करम न लागे आय ॥
तिण लबध वीर्य सू करम न लागे, [illegible] वीर्य सू करम [illegible] नहीं ताय ।
लब्द वीर्य छे पुदगल न सजोगे, तिण ने वीर्य आतमा कही जिणराय ॥

१—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (खं० १) टीकम डोसी री चौपई ढा० ३ गा० [illegible]

लवद वीर्य तणो जीव करें व्यापार, ते व्यापार छे करण वीर्य जोग।
तिण व्यापार ने भाव जोग कहीजे, त्यांरो व्यापार छे पुदगल रे सजोग ॥
सावद्य कांम करे ते सावद्य जोग, निरवद काम करे ते निरवद जोग।
तेतो दरव जोग पुदगल ने सघातें, दरव नें भाव जोग रो भलो सजोग ॥
सावद्य जोगां सू पाप लागे छे, निरवद जोगां सू निरजरा होय।
वले निरवद जोगा सू पुन पिण लागे, सुभ जोगां ने सवर सरधो मत कोय ॥
सुभ जोग छें करणी करम काटण री, सवर सू तो रुके छे करम।
सुभ जोगां नें सवर सरधे छें भोला, तेतो करमां तणे वस भूला छे मर्म ॥
मन वचन जोग उतकष्टा रहे तो, अन्तर मोहरत तांइ जांण।
चारित तो उतकष्टो रहे तो, देसउणो कोड पूर्व परमांण ॥
सुभ मन वचन जोग चारित हुवे तो, चारित पिण अ तर मोहरत ताइ।
जो उ चारित री थित इधकी परूपें, तिणने आपरा वोल्या री समझ न काई।
मन वचन रा दोय दोय तीन काया रा, ए सात जोग तेरमें गुणठांणे।
जोग नें सवर कहें तिण ने पूछा कीजें, तू किसा जोग ने सवर जाणे ॥
कदेयक तो सत मन जोग वरते, कदेयक वरते जोग ववहार मन।
एक एक समें दोनू मन नही वरतें, इमहीज वरतें दोनू जोग वचन ॥
काया रा तीन जोग साथे नही वरतें, एक समय वरते काया रो जोग एक।
चारित सवर तो निरतर एक, जोग तो जूजूवा वरते अनेक ॥
जो उ सातोंइ जोगां नें सवर सरधे, ते सातोंइ जोग नही एक साथ।
कदे कोई वरतें कदे कोई वरतें छें, सवर तो एकधारा रहे छे साख्यात[1] ॥

स्वामीजी ने अपने विचारो का उपसहार इस प्रकार दिया है

जोग तो व्यापार जीव तणो छें, जीव रा प्रदेश हालें त्याही।
थिर प्रदेस नें जोग सरधें छे, तिणरें मोटो मिथ्यात रह्यो घट माहि ॥
सुभ जोग नें सवर जूआ जूआ छे, त्या दोया रो जूओ जूओ छे सभाव।
त्या दोया नें एक सरधें अग्यानी, तिण निश्चेंइ कीधो छे मोटो अन्याव ॥
सुभ जोगा सू पुन करम लागें छे, असुभ जोगा सू लागें पाप करम।
सुभ असुभ करम सवर सू रुके छें, वले सुभ जोग स हुवें निरजरा धर्म ॥

१—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (ख० १) टीकम डोसी री चौपई ढाल २ गा० १-८,११-२२

संवर सूं जीवां रा प्रदेस वंध हुवे छे जोग सूं जीव रा प्रदेस री हुवें छे ढा।
या दोयां ने एक सरधे छे अग्यांनी, ते निश्चेंइ नेमा छें हीया फूट[1] ॥

४—तप की महिमा

"तपसा निर्जरा च" इस सूत्र की टीका में टीकाकारों ने एक महत्त्वपूर्ण शंका-समाधान किया है। प्रश्न है—तप को अभ्युदय का कारण मानना इष्ट है, क्योंकि वह देवेन्द्र आदि स्थान विशेष की प्राप्ति का हेतु स्वीकार किया गया है। वह निर्जरा का हेतु कैसे हो सकता है? आचार्य पूज्यपाद कहते हैं—"जैसे अग्नि एक है तो भी उसके विक्लेदन, भस्म और अङ्गार आदि अनेक कार्य उपलब्ध होते हैं, वैसे ही तप को अभ्युदय और कर्म-क्षय दोनों का हेतु मानने में कोई विरोध नहीं है[2]।"

इस बात को श्री अकलङ्क देव ने बड़े ही सुन्दर ढंग से समझाया है। वे कहते हैं—"जैसे किसान को खेती से अभीष्ट धान्य के साथ-साथ पयाल भी मिलता है, उसी तरह तप-क्रिया का प्रयोजन कर्मक्षय ही है। अभ्युदय की प्राप्ति तो पयाल की तरह आनुषंगिक है[3]।"

स्वामीजी ने कहा है

"गोहूं नीपावे छें गोहां के कारणे, पिण खाखला री नहीं चावो रे।
तो पिण सार्थे खाखलो नीपजे छें, बुधवंत समझो इण न्यावो रे॥
ज्यूं करणी करे निरजरा रे काजें, पिण पुन तणी नहीं चावो रे।
पिण पुन नीपजें छें निरजरा करता, खाखला ने गोहां रे न्यावो रे[4] ॥"

१—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (ख० १) टीकम डोसी री चौपई ढा० ५ गा० १४-१७

२—तत्त्वा० ९.३ सर्वार्थसिद्धि

ननु च तपोऽभ्युदयाङ्गमिष्टं देवेन्द्रादिस्थानप्राप्तिहेतुत्वाभ्युपगमात्, तत् कथं निर्जराङ्गं स्यादिति? नैष दोषः, एकस्यानेककार्यदर्शनादग्निवत्। यथाग्निरेकोऽपि विक्लेदनभस्माङ्गारादिप्रयोजन उपलभ्यते तथा तपोऽभ्युदयकर्मक्षयहेतुरित्यत्र को विरोधः।

३—तत्त्वा० ९.३ राजवार्तिक ५

गुणप्रधानफलोपपत्तेर्वा कृषीवलवत्। अथवा, यथा कृषीवलस्य कृषिक्रियायाः पलालशस्यफलगुणप्रधानफलाभिसम्बन्धः तथा मुनेरपि तपःक्रियायाः प्रधानोपसर्जनाभ्युदयनिःश्रेयसफलाभिसम्बन्धोऽभिसन्धिवशाद्वेदितव्यः।

४—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (खण्ड १) टीकम डोसी री चौपई ढा० ५ गा० ३६-३०

श्री अकलङ्कदेव ने आगे जाकर लिखा है—"किसीको अभिसन्धि—विशेष इच्छा से तप के द्वारा अभ्युदय की भी सहज प्राप्ति होती है[1] ।"

पडित सुखलालजी तत्त्वार्थसूत्र के उक्त सूत्र (६ ३) की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—"सामान्य तौर पर तप अभ्युदय अर्थात् लौकिक सुख की प्राप्ति का साधन माना जाता है, ऐसा होने पर भी यह जानना चाहिए कि वह नि श्रेयस् अर्थात् आध्यात्मिक सुख का भी साधन बनता है, कारण कि तप एक होने पर भी उसके पीछे रही हुई भावना के भेद को लेकर वह सकाम और निष्काम दोनो प्रकार का होता है । सकाम तप अभ्युदय को साधता है, और निष्काम तप नि श्रेयस् को साधता है[2] ।"

आगमों में ऐसे स्थल मिलते हैं जहाँ देखा जाता है कि लौकिक कामना से तपस्या करनेवाले का लौकिक अभीष्ट पूरा हुआ है । उदाहरणस्वरूप गर्भवती रानी धारिणी को मन्द-मन्द वर्षा में भ्रमण करने का दोहद उत्पन्न हुआ । उस समय वर्षा-काल नही था । अभयकुमार ने आभूषण, माला, विलेपन, शस्त्रादि उतार डाले और पौषध-शाला मे जा ब्रह्मचर्यपूर्वक पौषध-ग्रहण कर दर्भसंस्तारक बिछा, उसपर स्थित हो तेला ठान दिया और देव को मन मे स्मरण करने लगा । तेला सम्पूर्ण होने पर देव का आसन चला । वह अभयकुमार के पास आया । वर्षा-काल न होने पर भी उसने वर्षा उत्पन्न की । इस तरह धारिणी का दोहद पूरा हुआ[3] । ऐसी घटनाओ से तप लौकिक सुख की प्राप्ति का साधन है—ऐसी मान्यता चल पडे तो आश्चर्य नही पर उससे सर्व व्यापक सिद्धान्त के रूप मे ऐसा प्रतिपादन युक्तियुक्त नही कि "सकाम तप अभ्युदय को साधता है, और निष्काम तप नि श्रेयस् को साधता है ।" तथ्य यह है कि निष्काम तप (आत्म-शुद्धि की कामना के अतिरिक्त अन्य किसी कामना से नहीं किया हुआ तप) कर्मों का क्षय करता है अत वह नि श्रेयस् का कारण है । शुभ योग की प्रवृत्ति के कारण कर्म-क्षय के साथ-साथ पुण्य का भी बन्ध होता है जो सासारिक अभ्युदय का हेतु होता है । जब तप के साथ ऐहिक कामना जोड दी जाती है तब वह तप सकाम होता है । तप के साथ जुडी हुई ऐहिक कामना कभी-कभी ऐहिक सुख की प्राप्ति द्वारा सफल होती देखी जाती

१—देखिए पा० टि० २ का अन्तिम अश

२—तत्त्वार्थसूत्र गुजराती (द्वि० आ०) पृ० ३४६

३—ज्ञाताधर्मकथाङ्ग १ १६

है पर वह सफल होती ही है —ऐसा नियम नहीं है। आत्मिक दृष्टि से तप के साथ जुड़ी हुई कामना पाप-बन्ध का ही कारण होती है। स्वामीजी ने कहा है

पुन तणी बछा कीयां, लागे छै एकत पाप हो लाल।
तिण सू दुख पामे ससार में, बधतो जाये सोग सताप हो लाल॥
पुन री बछा सू पुन न नीपजै, पुन तो सहजे लागे छै आय हो लाल।
ते तो लागे छै निरवद जोग सू निरजरा री करणी सू ताय हो लाल॥
भली लेश्या ने भला परिणाम थी, निश्चेइ निरजरा थाय हो लाल।
जब पुन लागे छै जीव रे, सहज सभावे ताय हो लाल॥
जे करणी करे निरजरा तणी पुन तणी मन मे धार हो लाल।
ते तो करणी खोए ने बापडा गया जमारो हार हो लाल[१]॥

आगम मे कहा है—धर्म-क्रिया केवल कर्म-क्षय के लिए करनी चाहिए अन्य किसी सासारिक-हेतु के लिए नहीं। इससे सम्बन्धित एक अन्य सिद्धान्त भी है। जैसे धर्म क्रिया मोक्ष के लिए करना उचित है उसी तरह धर्म क्रिया करने के बाद उसके बदले मे सासारिक फल की कामना करना भी उचित नहीं। जो धर्म क्रिया कर बदले मे निदान—सासारिक फल की कामना करता है, उसकी धर्म करनी ससार-वृद्धि का कारण होती है। स्वामीजी लिखते हैं

जो तपसा करणी म्हारे अल्प छै, घणो चिंतव्या हुवे नहीं कोय।
जो तपसा करणी म्हारे अति घणी, थोडो चिंतव्यो मताव मू होय॥
जेहवी करणी तेहवा फल लागसी, पिण करणी तो वांछ न कोय।
तो निहांणो कर किण कारणें, आछा किया निश्चे आछो होय॥

स्वामीजी उपसंहार करते हुए कहते हैं :

जिन मत मांहि पिण इम कह्यो, नीहाणो करे तप कोय।
ते तो नरक तणो हुवे पावणों, वले चिहू गति मांहे दुखियो होय॥

तप की महिमा बताते हुए श्री हेमचन्द्रसूरि ने लिखा है—"जिस प्रकार सदोष स्वर्ण प्रदीप्त अग्नि द्वारा शुद्ध होता है, वैसे ही आत्मा तपाग्नि से विशुद्ध होती है। बाह्य और आभ्यन्तर तपाग्नि के देदीप्यमान होने पर यमी दुर्जर कर्मों को तत्क्षण भस्म कर देता है[1]।" उत्तराध्ययन में कहा है—"कोटि भवों के संचित कर्म तप द्वारा जीर्ण होकर झड़ जाते हैं[2]।" इसी आगम में कहा : "तपस्वी बाण से संयुक्त हो, कर्मरूपी कवच का भेदन करनेवाला मुनि, संग्राम का अन्त ला, संसार से—जन्म-जन्मान्तर से मुक्त हो जाता है[3]।' स्वामीजी कहते हैं उत्कृष्ट भावना से तप करनेवाला तीर्थंकर गोत्र तक का बंध करता है। अधिक क्या तप से अनन्त संसारी जीव क्षणभर में करोड़ो भवों के कर्मों को खपाकर सिद्ध हो जाता है।

१८—निर्जरा और निर्जरा की करनी दोनों निरवद्य हैं (गा० ५३-५६)

इन गाथाओं में स्वामीजी ने निम्न बातों पर प्रकाश डाला है :

१—निर्जरा और निर्जरा की करनी दोनों भिन्न-भिन्न हैं पर दोनों ही निरवद्य हैं।

२—निर्जरा मोक्ष का अंश है।

३—नये कर्मों के बंध से निवृत्त हुए बिना संसार-भ्रमण नहीं मिटता।

१—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : श्री हेमचन्द्रसूरिप्रणीत सप्ततत्त्वप्रकरण गा० १४८, १४९ :

सदोषमपि दीप्तेन, सुवर्णं वह्निना यथा।
तपोऽग्निना तप्यमानस्तथा जीवो विशुध्यति॥
दीप्यमाने तपोवह्नौ, बाह्ये चाभ्यन्तरेऽपि च।
यमी जरति कर्माणि, दुर्जराण्यपि तत्क्षणात्॥

२—उत्त० ३० : ६ :

भवकोडीसंचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ

३—उत्त० ९ : २२ (पृ० पा० टि० में उद्धृत)

नीचे इन पर क्रमश प्रकाश डाला जायगा।

१—कर्मों के देश-क्षय से आत्मा का देशरूप उज्ज्वल होना निर्जरा है। जिससे ऐसा होता है, वह निर्जरा की करनी है।

निर्जरा आत्म-प्रदेशों की उज्ज्वलता है। इस अपेक्षा वह निरवद्य है। निर्जरा की करनी शुभ योगरूप होने से निर्मल होती है। अत वह निरवद्य है।

२—निर्जरा मोक्ष का अंश किस प्रकार है, इस पर कुछ प्रकाश पूर्व में डाला जा चुका है। "धर्म हेतुक निर्जरा नव तत्त्वों मे सातवा तत्त्व है। मोक्ष उसीका उत्कृष्ट रूप है। कर्म की पूर्ण निर्जरा (विलय) जो है, वही मोक्ष है। कर्म का अपूर्ण विलय निर्जरा है। दोनो मे मात्रा भेद है, स्वरूप भेद नही[1]।"

जैसे जल का एक बून्द समुद्र का ही अंश होता है, वैसे ही निर्जरा भी मोक्ष का अंश है। अन्तर एक देश और पूर्णता का है। अकृत्स्न कर्म-क्षय निर्जरा है और कृत्स्न कर्म-क्षय मोक्ष[2]।

३—निर्जरा पुराने कर्मों को दूर करती है पर उससे कर्मों का अन्त तभी पा सकता है जब नये कर्मों का सचय न किया जाय। जब तक नये कर्मों का संचार होता रहता है पुराने कर्मों का क्षय होने पर भी कर्मों का अन्त नहीं आता। जिस तरह कर्ज उतारने की विधि यह है कि नया कर्ज न किया जाय और पुराना चुकाया जाय। उसी प्रकार कर्म से निवृत्त होने की प्रक्रिया यह है कि नये कर्मों के आगमन को रोका जाय और पुराने कर्मों का क्षय किया जाय। इस विधि से ही जीव कर्मों से मुक्त हो सकता है। उत्तराध्ययन में इसी विधि का उल्लेख तालाब के उदाहरण द्वारा किया गया है। वहा कहा है—"प्राणिवध, मृषावाद, चोरी, मैथुन और परिग्रह तथा रात्रि भोजन से विरत जीव अनास्रव—नये कर्म-प्रवेश से रहित हो जाता है। जो जीव पाँच समितियों से सवृत्त, तीन गुप्तियों से गुप्त, चार कषाय से रहित, जितेन्द्रिय तथा तीन प्रकार के गर्व और तीन प्रकार के शल्य से रहित होता है, वह अनास्रव—नये कर्म-संचय से रहित होता है। जिस तरह जल आने के मार्ग को रोक देने पर बड़ा तालाब पानी के उलीचे जाने और सूर्य के ताप से क्रमश सूख जाता है, उसी तरह आस्रव—पाप-कर्म के प्रवेश-मार्गों को रोक देनेवाले सयमी पुरुष के करोड़ों भवों के सचित कर्म तप के द्वारा जीर्ण होकर झड़ जाते हैं[3]।"

१—जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व पृ० १४०

२—तत्त्वा० १.४ सर्वार्थसिद्धि

एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरा कृत्स्नकर्मवियोगलक्षणो मोक्षः

३—उत्त० ३० : ५-६, ५-६

बंध पदारथ

दुहा

१—आठमो पदार्थ बंध छे, तिण जीव ने राख्यो छे बंध ।
जिण बंध पदार्थ नहीं ओलख्यो, ते जीव छे मोह अंध ॥

२—बंध थकी जीव दबीयो रहे, काई न रहे उघाडी कोर ।
तिण बंध तणा प्रबल थकी, काई न चले जोर ॥

३—तलाव रूप तो जीव छे, तिण मे पडीया पाणी ज्यू बंध जाण ।
नीकलता पाणी रूप पुन पाप छे, बंध ने लीजो एम पिछाण ॥

४—एक जीव दरब छे तेहने, असंख्यात परदेस ।
सगला परदेसा आश्रव दुवार छे, सगला परदेसा करम परवेस ॥

५—मिथ्यात अविरत ने परमाद छे, वले कषाय जोग विख्यात ।
या पाचा तणा बीस भेद छे, पनेर आश्रव जोग मे समात ॥

: ८ :

बंध पदार्थ

दोहा

बंध पदार्थ और उसका स्वरूप (दो० १-३)

१—आठवां पदार्थ बंध है। इसने जीव को बांध रखा है। जिसने बंध पदार्थ को नहीं पहचाना, वह मोहांध है[१]।

२—बंध से जीव दबा रहता है (उसके सर्व प्रदेश कर्मों से आच्छादित रहते हैं)। उसका कोई भी अंश जरा भी खुला नहीं रहता। बंध की प्रबलता के कारण जीव का जरा भी वश नहीं चलता[२]।

३—जीव तालाबरूप है। तालाब में पड़े हुए—स्थित जलरूप बंध है। पुण्य-पाप को निकलते हुए जलरूप समझना चाहिए। इस प्रकार बंध को पहचान लो[३]।

कर्म-प्रवेश के मार्ग जीव-प्रदेश

४—प्रत्येक जीव द्रव्य के असंख्यात प्रदेश होते हैं। सर्व प्रदेश आश्रव-द्वार हैं—(कर्म-ग्रहण करने के मार्ग हैं)। सर्व प्रदेशों से कर्मों का प्रवेश होता है[४]।

बंध के हेतु

५—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग—ये पांच प्रधान आश्रव हैं। इनमें योग आश्रव के पन्द्रह भेदों को जोड़ देने से कुल बीस आस्रव होते हैं[५]।

बंध से मुक्त होने का उपाय (दो० ६-८)

६—जल के आने के नाले की तरह आश्रव कर्मों के आने के नाले हैं। इन नालों को रोक देने पर संवर होता है जिस से कर्मरूपी जल का आना रुक जाता है। और नया बंध नहीं होता।

७—तलाव नो पाणी घटे तिण विधे, जीव रे घटे छे करम।
जब कायक जीव उजल हुवे, ते तो छें निरजरा धर्म॥

८—कदे तलाव रीतो हुवे, सर्व पाणी तणो हुवे सोष।
ज्यूं सर्व करमा नो सोषत हुवे, रीता तलाव ज्यूं मोष॥

९—बंध तो छे आठ करमा तणो, ते पुदगल नी पर्याय।
तिण बंध तणी ओलखणा कहूं, ते सुणजो चित ल्याय॥

ढाल : १

(अह्व २ कर्म चिट ')

१—बंध नीपजे छे आश्रव दुवार थी, तिण बंध ने कह्यो पुन पापो जी।
ते पुन पाप तो द्रव्य रूप छे, भावे बंध कह्यो जिण आपो जी॥
बंध पदार्थ ओलखो*॥

२—ज्यूं तीर्थंकर आय उपना, ते तो दरब तीर्थंकर जाणो जी।
भावे तीर्थंकर तो जिण समे, होसी तेरमे गुणठाणो जी॥

३—ज्यूं पुन ने पाप लागो कह्यो, ते तो दरब छे पुन ने पापो जी।
भावे पुन पाप तो उदे आया हुआ, सुख दुख भोग संतापो जी॥

४—तिण बंध तणा दोय भेद छे, एक पुन तणो बंध जाणो जी।
बीजो बंध छे पाप रो, दोनूं बंध री करजो पिछाणो जी॥

---

* यह आंकडी प्रत्येक गाथा के अन्त में इसी प्रकार समझें।

७—जिस तरह (सूर्य की गर्मी या उत्सिचन से) तालाब का पानी घटता है, उसी प्रकार (तप आदि से) जीव के कर्म घटते हैं। कर्मों के घटने से जीव कुछ—एक देश उज्ज्वल—निर्मल होता है, यही निर्जरा है।

८—जिस तरह (धीरे-धीरे) सर्व जल के सूख जाने से समय पाकर तालाब रिक्त हो जाता है, ठीक उसी तरह सर्व कर्मों के क्षय हो जाने पर जीव कर्मों से मुक्त हो जाता है। इस तरह मोक्ष रिक्त तालाब के समान है[६]।

९—बंध आठ कर्मों का होता है। बंध पुद्गल की पर्याय है। मैं इस बंध तत्त्व की पहचान कराता हूँ। ध्यानपूर्वक सुनो[७]।

बंध आठ कर्मों का होता है

ढाल : १

१—बंध आश्रव-द्वार से उत्पन्न होता है। बंध को पुण्य और पापात्मक दो प्रकार का कहा गया है। ये पुण्य-पाप तो द्रव्य-बंधरूप हैं। भगवान ने भाव बंध भी कहा है।

द्रव्य बंध और भाव बंध (गा० १-३)

२-३—जिस तरह तीर्थंकर उत्पन्न होने पर द्रव्य तीर्थंकर होते हैं परन्तु भाव तीर्थंकर उस समय होते हैं जब कि वे तेरहवें गुणस्थान को प्राप्त करते हैं। उसी तरह जो पुण्य-पाप का बंध कहा गया है, वह द्रव्य पुण्य-पाप का बंध है। भाव पुण्य-पाप बन्ध तब होता है जब कि कर्म उदय में आकर सुख-दुःख, हर्ष-शोक उत्पन्न करते हैं।

४—बंध दो प्रकार का होता है—एक पुण्य कर्मों का और दूसरा पाप कर्मों का। इन दोनों प्रकार के बंध को अच्छी तरह पहचानो।

पुण्य बंध और पाप-बंध का [illegible] (गा० ४)

५—पुन नो बंध उदे हुआ, जीव ने साता सुख हुवें सोयो जी ।
पाप नों बंध उदे हूआ, विविध पणे दुःख होयो जी ॥

६—बंध उदे नही ज्या लग जीव ने, सुख दुःख मूल न होय जी ।
बंध तो छता रूप लागो रहे, फोडा न पाडे कोय जी ॥

७—तिण बंध तणा च्यार भेद छे, त्याने रुडी रीत पिछाणो जी ।
प्रकत बंध ने थित बंध दुसरो, अनुभाग ने परदेस बंध जाणों जी ॥

८—प्रकत बंध छे करमा री जूजूइ, ते करमा रा सभाव रे न्यायो जी ।
बांधी छे तिण समे बंध छे, जेसी बांधी तेसी उदे आयो जी ॥

९—तिण प्रकत ने बांधी छे काल सूं, इतरा काल तांइ रहसी तामो जी ।
पछेतो प्रकत विललासी, थित सूं प्रकत बंध छे आमो जी ॥

१०—अनुभाग बंध रस विपाक छे, जेसो २ रस देसी ताहो जी ।
ते पिण प्रकत नो बंध रस कह्यो, बांध्या तेसा उज उदे आया जी ॥

११—परदेस बंध कह्यो प्रकत बंध तणो, प्रकत २ रा अनंत परदेसो जी ।
ते लोलीभूत जीव सूं होय रह्या, प्रकत बंध आत्माई बंधेसा जी ॥

१२—आठ करमा री प्रकत छे, जूजूई त्यांरी त्यांरा अनंत परदेसो जी ।
ते त्यांरी परदेस जीव रे, लोलीभूत हुवा छ संगेसा जी ॥

५—पुण्य-बंध के उदय से जीव को सात सुख प्राप्त होते हैं और पाप-बंध के उदय होने से नाना प्रकार के दुःख होते हैं।

कर्मों की सत्ता और उदय

६—जब तक बंध उदय में नहीं आता तब तक जीव को जरा भी सुख-दुःख नहीं होता। (उदय में आने तक) बंध सत्तारूप ही रहता है और थोड़ी भी तकलीफ नहीं देता[८]।

बंध के चार भेद (गा० ७-१२)

७—बंध के चार भेद हैं (१) प्रकृति बन्ध, (२) स्थिति बन्ध, (३) अनुभाग बन्ध और (४) प्रदेश बन्ध। इनको अच्छी तरह से पहचानना चाहिए।

८—प्रत्येक कर्म की प्रकृति भिन्न-भिन्न है। प्रकृति बन्ध कर्मों के स्वभाव की अपेक्षा से होता है। प्रकृति के बंधने पर प्रकृति बन्ध होता है। प्रकृति जैसी बांधी जाती है वैसी ही उदय में आती है।

९—प्रत्येक प्रकृति काल से मापी गयी है। प्रत्येक प्रकृति अमुक काल तक रहती है, बाद में विलीन हो जाती है। इस प्रकार स्थिति बन्ध कर्म-प्रकृति के कालमान की अपेक्षा से होता है।

१०—अनुभाग बन्ध रस-विपाक—कर्म जिस-जिस तरह का रस देगा उसकी अपेक्षा से होता है। यह रस बन्ध भी प्रत्येक प्रकृति का ही होता है। जैसा रस जीव बांधता है वैसा ही उदय में आता है।

११-१२—प्रदेश बन्ध भी प्रकृति बन्ध का ही होता है। एक-एक प्रकृति के अनन्त-अनन्त प्रदेश होते हैं। वे जीव के प्रदेशों से लोलीभूत हो रहे हैं। प्रकृति बंध की यही विशेष पहचान है। आठों कर्मों की प्रकृति भिन्न-भिन्न है। एक-एक प्रकृति के अनन्त प्रदेश जीव के एक-एक प्रदेश के विशेषरूप से लोलीभूत हैं[९]।

१३—न्यानावरणी दरसणावरणी वेदनी, वले आठमो करम अनरायो जी ।
यारी थित छे सगला री सारिपी, ते सुणजो चित्त ल्यायो जी ॥

१४—थित छे या च्यारू करमा तणी अंतरमुहुरत परिमाणो जी ।
उतकष्टी थित या च्यारू करमा तणी, तीस कोडाकोड सागर जाणों जी ॥

१५—थित दरसण मोहणी करम नी, जगन तो अंतरमुहुरत परमाणो जी ।
उतकष्टी थित छे एहनी, सित्तर कोडाकोड सागर जाणों जी ॥

१६—जिगन थित चारित मोहणी करम नी, अंतरमुहुरत कही जगदीसो जी ।
उतकष्टी थित छे एहनी, सागर कोडाकोड चालीसो जी ॥

१७—थित कही छे आउखा करम नी, जिगन अंतरमुहुरत होयो जी ।
उतकष्टी थित सागर तेतीस नी, आगे थित आउखा री न कोयो जी ॥

१८—थित नाम न गोत्र करम तणी, जगन तो आठ मुहुरत सोयो जी ।
उतकष्टी एकीका करम नी, वीस कोडाकोड सागर होयो जी ॥

१९—एक जीव रे आठ करमा तणा, पुदगल रा परदेस अनन्तो जी ।
ते अभवी जीवा थी मापीया, अनन्त गुणा कह्या भगवन्तो जी ॥

२०—ते अनन्त उदे आसी जीव रे, भोगवीया बिण न [illegible] जी ।
उदे आया बिण सुख [illegible], उदे आया सुख [illegible] जी ॥

१३—ज्ञानावरणीय कर्म, दर्शनावरणीय कर्म, वेदनीय कर्म और आठवें अंतराय कर्म—इन सबकी स्थिति एक समान है। चित लगा कर सुनो।

कर्मों की स्थिति (गा० १३-१८)

१४—इन चारों कर्मों की जघन्य स्थिति अंतर मुहूर्त प्रमाण और उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटि सागर जितनी है।

१५—दर्शनमोहनीय कर्म की कम-से-कम स्थिति अंतर मुहूर्त प्रमाण और अधिक-से-अधिक स्थिति सत्तर कोटाकोटि सागर जितनी है।

१६—भगवान ने चारित्रमोहनीय कर्म की जघन्य स्थिति अंतर मुहूर्त की बतलाई है। उत्कृष्ट स्थिति चालीस कोटाकोटि सागर की होती है।

१७—आयुष्य कर्म की जघन्य स्थिति अंतर मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम की होती है। इसकी इससे अधिक स्थिति नहीं होती।

१८—नाम और गोत्र—इनमें से प्रत्येक कर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त की है और उत्कृष्ट बीस कोटाकोटि सागर जितनी[१०]।

१९—प्रत्येक जीव के आठ कर्मों के अनन्त पुद्गल-प्रदेश लगे रहते हैं। अभव्य जीवों की संख्या के माप से भगवान ने इन पुद्गलों की संख्या अनन्त गुणा बतलाई है।

अनुभाग बंध (गा० १९-२१)

२०—ये कर्म जीव के अवश्य ही उदय में आवेंगे, भोगे बिना (बांधे हुए कर्मों से) छुटकारा नहीं हो सकता। कर्मों के उदय में आने से ही सुख-दुःख होता है। बिना उदय के सुख-दुःख नहीं होता।

२१—सुभ परिणामा करम बाधीया, ते सुभ पणे उदे आसी जी ।
असुभ परिणामा करम बाधीया, तिण करमा थी दुःख थासी जी ॥

२२—पाच वरणा आठोइ करम छे, दोय गध ने रस पाचूई जी ।
चोफरसी आठूइ करम छे, रूपी पुदगल करम आठोइ जी ॥

२३—करम तो लूखा ने चोपड्या, वले ठंढा उना होइ जी ।
करम हलका नही भारी नही, सुहालो ने खरदरा न कोइ जी ॥

२४—कोइ तलाव जल सू पूर्ण भस्यो, खाली कोर न रही कायो जी ।
ज्यू जीव भस्यो करमा थकी, आ तो उपमा देस थी ताह्यो जी ॥

२५—असख्याता परदेस एक जीव रे, ते असख्याता जेम तलायो जी ।
सारा परदेस भरीया करमा थकी, जाणे भरीया चोगूणी वायो जी ॥

२६—एक २ परदेस छे जीव नो, तिहा अनता करम ना परदेसो जी ।
ते सारा परदेस भरीया छे वाव ज्यू, करम पुदगल कीयो छे परवेसो जी ॥

२७—तलाव खाली हुवे छे इण विधे, पेहला तो नाला देवे [illegible] जी ।
पछे मोरीयादिक छोडे तलाव री, जब तलाव रीता [illegible] जी ॥

२८—[illegible] जीव रे आश्रव नालो [illegible] दे, [illegible] जी ।
[illegible] आवे सर्व करम ना, जब जीव हुवे करम [illegible] जी ॥

२१—जो कर्म शुभ परिणाम से बांधे गये हे, वे शुभ रूप से उदय मे आयेंगे और जो कर्म अशुभ परिणामों से बांधे गये हैं उनसे दुःख होगा[११]।

प्रदेश-बंध और तालाब का दृष्टान्त (गा० २२-२६)

२२—आठों ही कर्म पांच वर्ण, दो गंध और पांच रसों से युक्त होते हैं। आठों ही कर्म चोस्पर्शी होते हैं। आठों ही कर्म पौद्गलिक और रूपी हैं।

२३—कर्म रूक्ष और स्निग्ध तथा ठण्डे और गर्म होते है। कर्म हल्के, भारी, सुहावने या खरदरे नहीं होते।

२४—जैसे कोई तालाब जल से भरा हो, जरा भी खाली न हो उसी तरह जीव के प्रदेश कर्मों से भरे रहते हैं। यह उपमा एक देश समझनी चाहिए।

२५—प्रत्येक जीव के असंख्यात प्रदेश असंख्यात तालाबों की तरह हैं। ये सब प्रदेश कर्मों से भरे रहते हैं मानो चतुष्कोण वापियां जल से भरी हों।

२६—जहां जीव का एक प्रदेश है वहां कर्मों के अनन्त प्रदेश रहे हुए हैं। इसी तरह असंख्यात प्रदेशी जीव के सर्व प्रदेश कर्मों से उसी प्रकार भरे रहते हैं जिस प्रकार वापियां जल से। आत्मा के एक-एक प्रदेश मे कर्मों का प्रवेश है[१२]।

मुक्ति की प्रक्रिया (गा० २७-२८)

२७-२८—जिस तरह जल आने के नाले को बन्ध कर जल निकलने के नाले को खोल दिया जाय तो भरा हुआ तालाब खाली हो जाता है, उसी प्रकार आस्रवरूपी नाले को रोक कर हर्षित चित्त होकर तप करने से कर्मों का अन्त आता है और जीव कर्मरहित हो जाता है।

२९—करम रहीत हुवो जीव निरमलो, तिण जीव ने कहिजे मोखो जी।
ते सिद्ध हुवो छे सासतो, सर्व करम बंध कर दीयो मोखो जी॥

३०—जोड कीधी छे बंध ओलखायवा, नाथदुवारा सहर मझारो जी।
संवत अठारे ने वरस छपने, चेत विद बारस मनोहर वारो जी॥

२९—कर्म रहित जीव निर्मल होता है। ऐसे जीव को मुक्त कहा जाता है। वह जीव शाश्वत सिद्ध होता है। उसने कर्म-बन्ध का आत्यन्तिक क्षय कर दिया[13]। मुक्त जीव

३०—यह जोड बंध तत्त्व को समझाने के लिए श्रीजीद्वार मे स० १८५६ की चैत्र वदी १२ वार शनिवार को रची गई है। रचना-स्थल व काल

टिप्पणियाँ

१—बंध पदार्थ (दो० १) :

स्वामीजी ने बंध को आठवाँ पदार्थ कहा है और उसका विवेचन भी ठीक मोक्ष के पूर्व किया है। उसका आधार आगमिक कथन है[1]। दिगम्बर आचार्य भी उसका यह स्थान स्वीकार करते हैं[2] उत्तराध्ययन मे नव पदार्थों के नाम निर्देश में उसका स्थान तृतीय है अर्थात् इसका उल्लेख जीव और अजीव पदार्थ के बाद ही आ जाता है[3]। सात पदार्थों का उल्लेख करते हुए वाचक उमास्वाति ने इसे चतुर्थ स्थान पर रखा है अर्थात् इसे आस्रव के बाद और संवर, निर्जरा और मोक्ष के पहले रखा है[4]। हेमचन्द्रसूरि ने सात पदार्थों में इसे छठा पदार्थ बतलाता है[5]।

आगमो मे अन्य पदार्थों की तरह बंध को भी सद्भाव पदार्थ, तथ्यभाव आदि कहा गया है[6]। श्रद्धा के बोलो मे कहा है—"ऐसी संज्ञा मत करो कि बंध और मोक्ष नही हैं पर ऐसी संज्ञा करो कि बंध और मोक्ष हैं[7]।" द्विपदावतारो मे बंध और मोक्ष को प्रतिद्वन्द्वी तत्त्वो मे गिना गया है[8]। इस तरह यह स्पष्ट है कि बंध को जैन दर्शन में एक स्वतंत्र तत्त्व के रूप मे प्रतिपादित किया गया है।

जीव और पुद्गल क्रमशः चेतन और जड होने से परस्पर विरोधी स्वभाववाले पदार्थ हैं फिर भी दोनो परस्पर बद्ध हैं और इसी सम्बन्ध से यह संसार है। लोक में

१—ठाणाङ्ग ९ ६६५ (पृ० २२ पा० टि० १ मे उद्धृत)

२—पञ्चास्तिकाय २ १०८ (पृ० १५० पा० टि० ५ (क) मे उद्धृत)

३—उत्त० २८ १४ (पृ० २४ पर उद्धृत)

४—तत्त्वा० १ ४

५—देखिए पृ० १५१ पा० टि० २

६—(क) ठाणाङ्ग ९ ६६५

(ख) उत्त० २८ १४

७—सूयगड २ ५ १५

णत्थि बंधे व मोक्खे वा, णेवं सन्नं निवेसए।

अत्थि बंधे व मोक्खे वा, एवं सन्नं निवेसए॥

८—ठाणाङ्ग २ ५८

जदत्थि णं लोगे तं सव्वं दुपओआरं तं जहा . बंधे चेव मोक्खे चेव

एक भाग विशेष को—उसकी चोटी को—अलग रख दिया जाय तो ऐसा कोई भी स्थान न मिलेगा जहाँ कि स्वतन्त्र जीव—पुद्गल-मुक्त जीव प्राप्त हो सके। जीव और पुद्गल सत् पदार्थ होने से—उनका पारस्परिक बन्ध भी सत्य है और वह सत् पदार्थ है। जीव और कर्म का बंध काल्पनिक बात नहीं पर क्षण-क्षण होनेवाली घटना है। इसीलिए बंध को आठवाँ सद्भाव पदार्थ माना गया है।

जीव और कर्म के संश्लेष को बंध कहते हैं[1]। जीव अपनी वृत्तियों से कर्म-योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है। इन ग्रहण किये हुए कर्म-पुद्गल और जीव-प्रदेशों का बंधन—संयोग बंध है[2]।

श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती लिखते हैं—"जिस चैतन्य परिणाम से कर्म बंधता है, वह भाव बंध है तथा कर्म और आत्मा के प्रदेशों का अन्योन्य प्रवेश—एक दूसरे में मिल जाना—एक क्षेत्रावगाही हो जाना द्रव्य बंध है[3]।

अभयदेवसूरि कहते हैं—"बेड़ी का बन्धन द्रव्य बन्ध है और कर्म का बन्धन भाव बन्ध[4]।"

जीव और कर्म के प्रदेश-बन्ध को समझाते हुए स्वामीजी ने तीन दृष्टान्त दिए हैं :

१—जिस तरह तेल और तिल लोलीभूत—ओतप्रोत होते हैं, उसी तरह बंध में जीव और कर्म लोलीभूत होते हैं।

२—जिस तरह घृत और दूध लोलीभूत होते हैं, उसी तरह बन्ध में जीव और कर्म लोलीभूत होते हैं।

१—उत्त० २८ १४ नेमिचन्द्रीय टीका

'बन्धश्च'—जीवकर्मणोः संश्लेषः

२—ठाणाङ्ग० १ ४ ९ की टीका

(क) बन्धनं बन्धः सकषायत्वात् जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलान् आदत्ते यत् स बन्ध इति भावः

(ख) ननु बन्धो जीवकर्मणोः संयोगोऽभिमतः

३—द्रव्यसंग्रह : ३२

बज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबंधो सो।

कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो॥

४—ठाणाङ्ग १ ४ ९ टीका

द्रव्यतो बन्धो निगडादिभिर्भावतः कर्मणा।

३—जिस तरह धातु और मिट्टी लोलीभूत होते हैं, उसी तरह बन्ध में जीव और कर्म लोलीभूत होते हैं[1]।

जीव और कर्म का यह पारस्परिक बन्ध प्रवाह की अपेक्षा अनादि है[2]। न जीव पहले उत्पन्न हुआ, न कर्म पहले उत्पन्न हुआ, न दोनों साथ उत्पन्न हुए, न दोनों अनादि काल से उत्पन्न हैं पर दोनों आदि रहित हैं और दोनों का सम्बन्ध आदि रहित है[3]।

बन्ध पदार्थ बेड़ी की तरह है। इसने जीव को जकड रखा है। जो मनुष्य अपने बन्धन को बन्धन नहीं समझता, वह मोहान्ध है। जो बन्धन को बन्धन नहीं समझता वह बन्धन को तोड कर मुक्त नहीं हो सकता। भगवान ने कहा है—"बन्धन को जानो और तोडो[4]।"

२—बन्ध और जीव की परवशता (दो० २)

आचार्य पूज्यपाद ने बन्ध की परिभाषा देते हुए लिखा है—"आत्मकर्मणोरन्योऽन्यप्रदेशानुप्रवेशात्मको बन्धः[5]।" जीव और कर्म के इस ओत प्रोत संयोग को दूध और जल के उदाहरण से अच्छी तरह समझा जा सकता है। जिस तरह मिले हुए दूध और पानी में यह नहीं बतलाया जा सकता कि कहा पानी है और कहाँ दूध है—परन्तु सर्वत्र एक ही पदार्थ नजर आता है ठीक वैसे ही जीव और कर्मों के सम्बन्ध में भी यह नहीं बतलाया जा सकता कि किस अंश में जीव है और किस अंश में कर्म-पुद्गल। परन्तु सभी प्रदेशों में जीव और कर्म का अन्योन्य सम्बन्ध रहता है। जीव के सर्व प्रदेश कर्मों से प्रभावित रहते हैं। उसका थोडा भी अंश कर्मों से उन्मुक्त नहीं रहता। कर्म रहित जीव में—मुक्त जीव में अनेक स्वाभाविक शक्तियां होती हैं। परन्तु संसारी जीव अनन्त काल से कर्म संयुक्त होने से उन शक्तियों को प्रकट नहीं कर सकता। जीव के साथ कर्मों के बन्ध से उसके सब स्वाभाविक गुण दबे हुए रहते हैं। इससे वह परवश—पराधीन।

१—नेराद्वार दृष्टान्तद्वार

२—ठाणाङ्ग १ ४ ६ टीका

आदि रहितो जीवकर्मयोग इति पक्ष

३—ठाणाङ्ग १ ४ ६ टीका

४—सूयगड १,१,१,१

बुज्झिज्ज त्ति तिउट्टिज्जा बन्धनं परिजाणिया।

५—तत्त्वार्थ १.४ सर्वार्थसिद्धि

हो जाता है। न वह पूरा देख सकता है और न पूरा जान सकता है। वह पूर्ण चारित्रवान भी नहीं हो सकता। उसे नाना प्रकार के सुख दुःख वेदन करने पड़ते हैं। एक नियत आयु तक शरीर विशेष में रहना पड़ता है। उसे अनेक रूप करने पड़ते हैं—नाना गतियों में भटकना पड़ता है। नीच या उच्च गोत्र में जन्म लेना पड़ता है। वह अपनी अनन्त वीर्य शक्ति को स्फुरित नहीं कर सकता। इस तरह कर्म के बंधन से जकड़ा हुआ जीव नाना प्रकार से पराधीन हो जाता है—वह अपनी शक्तियों को प्रकट करने का बल खो सा चुका होता है। इस प्रकार कर्म की पराधीनता में जीव निःसत्त्व हो जाता है। उसका कोई वश नहीं चलता।

श्री हेमचन्द्रसूरि लिखते हैं—"जीव कषाय से कर्मयोग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, यह बन्ध है। वह जीव की अस्वतंत्रता का कारण है[1]।"

३—बंध और तालाब का दृष्टान्त (दो० ३) :

जिस तरह तालाब गृहीत जल से परिपूर्ण रहता है, उसी तरह संसारी जीव के आत्म-प्रदेश गृहीत कर्मरूप परिणाम पाए हुए पुद्गल-स्कंधों से परिपूर्ण रहते हैं। जिस तरह संचित जल तालाब में स्थित रहता है, उसी प्रकार गृहीत कर्म आत्म-प्रदेशों में स्थित रहते हैं। यही बंध है। जिस तरह तालाब में स्थित जल निकलता रहता है, वैसे ही संचित कर्म भी सुख या दुःखरूप फल देकर आत्म प्रदेशों से निकलते रहते हैं, इस तरह पुण्य-पाप निकलते हुए जल के तुल्य हैं और बन्ध तालाब में स्थित जल तुल्य। कर्मों का सत्तारूप अवस्थान बंध है और उनकी उदयरूप परिणति पुण्य पाप। संचित कर्म फल नहीं देते केवल सत्तारूप में रहते हैं, यह बंध है। संचित कर्म उदय में आ सुख या दुःख देते हैं, तब वे पुण्य या पाप संज्ञा से प्रज्ञापित होते हैं।

४—जीव प्रदेश और कर्म प्रदेश (दो० ४) :

इस विषय में पूर्व में विशेष प्रकाश डाला जा चुका है[2]।

जीव असंख्यात प्रदेशी द्रव्य है[3]। वह प्रत्येक प्रदेश से कर्म-स्कंध ग्रहण करता है। कर्म-ग्रहण आत्मा के खास प्रदेशों द्वारा ही नहीं होता परन्तु ऊपर, नीची, तिरछी सब दिशाओं के आत्म-प्रदेशों द्वारा होता है।

१—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : सप्ततत्त्वप्रकरण गा० १[illegible]

सकषायतया जीवः कर्मयोग्यांस्तु पुद्गलान्।
यदादत्ते स बन्धः स्याज्जीवास्वातन्त्र्यकारणम्॥

२—देखिए पृ० २८५ अनुच्छेद ५ तथा पृ० ४१७

३—देखिए पृ० २८ अनुच्छेद ४, पृ० ३१ टि० ८ का अन्तिम अनुच्छेद और पृ० ३९-४०

५—बंध-हेतु (टी० ५) :

आगमों में बन्ध-हेतु दो कहे गए हैं—(१) राग और (२) द्वेष[1]। —"रागो य दोसो वि य कम्मबीयं[2]"—राग और द्वेष कर्म के बीज हैं। जो भी पाप कर्म हैं, वे राग और द्वेष से अर्जित होते हैं—"जहा उ पावगं कम्मं, रागदोससमज्जियं[3]" इन आगम वाक्यों में भी दो ही बन्ध-हेतुओं का उल्लेख है।

टीकाकार ने राग से माया और लोभ—इन दो को ग्रहण किया है और द्वेष से क्रोध और मान को[4]। आगम में अन्यत्र कहा है कि जीव चार स्थानों से आठ कर्म प्रकृतियों का चयन करता है। भूत में किया है और भविष्यत् में करेगा। ये चार स्थान क्रोध, मान माया और लोभ हैं[5]।

एक बार गौतम ने पूछा—"भगवन्! जीव कर्म-प्रकृतियों का बंध कैसे करते हैं?" भगवान ने उत्तर दिया—"गौतम! जीव दो स्थानों से कर्मों का बंध करते हैं—एक राग और दूसरे द्वेष से। राग दो प्रकार का है—माया और लोभ। द्वेष भी दो प्रकार का है—क्रोध और मान[6]।"

क्रोध, मान, माया और लोभ का संग्राहक शब्द कषाय है। इस तरह आगमिक विवेचन से एक कषाय ही बन्ध-हेतु होता है।

१—(क) ठाणाङ्ग २.४.९६

(ख) समवायाङ्ग सम० २

२—उत्त० ३२.७

३—उत्त० ३०.१

४—ठाणाङ्ग २.२.९६ की टीका

रागो मायालोभकषायलक्षणः द्वेषस्तु क्रोधमानकषायलक्षणः यदाह—

मायालोभकषायश्चेत्येतद् रागसंज्ञितं द्वन्द्वम्।

क्रोधो मानश्च पुनर्द्वेष इति समासनिर्दिष्टः ॥

५—ठाणाङ्ग [illegible]

जीवा णं चउहिं ठाणेहिं अट्ठ कम्मपगडीओ चिणिंसु, तं० कोहेणं माणेणं मायाए लोभेणं

६—प्रज्ञापना २३.१.२

दूसरा कथन है—"योग प्रकृतिबंध और प्रदेशबन्ध का हेतु है और कषाय स्थिति बंध और अनुभागबन्ध का हेतु[1]।" इसमें योग और कषाय—ये दो बन्ध-हेतु ठहरते हैं।

तीसरा कथन है—"मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग—ये बन्ध-हेतु हैं[2]।" "इन चार बन्ध-हेतुओं के ५७ भेद होते हैं[3]।"

उपर्युक्त बन्ध हेतुओं में प्रमाद का उल्लेख नहीं है। आगम में उसे भी बन्ध-हेतु कहा है (भग० १ २)। श्री उमास्वाति ने प्रमाद को भी बन्ध-हेतु माना है —

"मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः[4]।"

इस तरह बन्ध-हेतुओं की संख्या के सम्बन्ध में मतभेद है। कोई एक ही बन्ध-हेतु मानते हैं, कोई दो, कोई चार और कोई पाँच।

जहाँ एक कषाय को ही बन्धहेतु कहा है, वहाँ उस कथन को बन्ध हेतुओं में कषाय की प्रधानता का सूचक समझना चाहिए। अथवा बन्ध हेतुओं का एकदेश कथनमात्र समझना चाहिए।

इन भिन्न-भिन्न परम्पराओं का समन्वय इस प्रकार किया गया है —"प्रमाद एक प्रकार का असंयम ही है और इसलिए वह अविरति या कषाय में आ जाता है, इसी दृष्टि से 'कर्मप्रकृति' आदि ग्रन्थों में केवल चार बन्धहेतु ही बताए गए हैं। बारीकी से देखने से मिथ्यात्व और असंयम—ये दोनों कषाय के स्वरूप से भिन्न नहीं पड़ते, इसलिए कषाय और योग—ये दो ही बन्ध-हेतु गिने गए हैं[5]।"

मिथ्यात्वादि पाँच हेतुओं का परस्पर पार्थक्य पहले बताया जा चुका है। ऐसी हालत में यह समन्वय बहुत दूर तक नहीं जाता।

१—ठाणाङ्ग २ ४ ९६ टीका

जोगा पयडिपएसं ठिइअणुभागं कसायओ कुणइ

२—ठाणाङ्ग २ ४ ९६ टीका :

मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा बन्धहेतवः

३—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : देवगुप्तसूरिप्रणीत नवतत्त्वप्रकरण गा० १२ का भाष्य गा० १००

मिच्छत्तमविरई तह, कसायजोगा य बंधहेउत्ति।
एए चउरो मूले, भेएण उ सत्तवण्णत्ति॥

४—तत्त्वा० ८ १

५—तत्त्वार्थसूत्र (गुजराती द्वि० आ०) पृ० ३२२-३२३

स्वामीजी ने प्रस्तुत ढाल मे बन्ध-हेतु अथवा उनकी सख्या का स्पष्ट रूप मे उल्लेख नही किया है। उन्होने कहा है—"बंध की उत्पत्ति आस्रवो से है। आस्रवो के निरोध से सवर होता है। फिर कर्मो का बन्ध नही होता।" इस तरह स्वामीजी ने प्रकारान्तर से बीस आस्रवो को ही बन्ध हेतु माना है।

पाँच प्रधान आस्रव और योगास्रव के १५ भेदो का विवेचन पहले किया जा चुका है[1]।

भिन्न-भिन्न कर्मो के बन्ध-हेतुओ का उल्लेख भी प्रसग वश पहले भिन्न-भिन्न स्थलो पर आ चुका है। इन सब का समावेश पाँच बन्ध-हेतुओ में हो जाता है।

नीचे भगवती सूत्र (७ १० तथा ८ ९) पर आधारित भिन्न-भिन्न कर्मो के बन्ध हेतुओ की एकत्रित सक्षिप्त तालिका उपस्थित की जाती है

कर्म — बंध-हेतु

१—ज्ञानावरणीय—(१) ज्ञानप्रत्यनीकता (२) ज्ञान-निह्नव (३) ज्ञानान्तराय (४) ज्ञान प्रद्वेष (५) ज्ञानाशातना (६) ज्ञानविसवादन-योग

२—दर्शनावरणीय—(१) दर्शनप्रत्यनीकता (२) दर्शननिह्नव (३) दर्शनान्तराय (४) दर्शनप्रद्वेष (५) दर्शनाशातना (६) दर्शनविसंवादन योग

३—वेदनीय—

सातवेदनीय—(१) अदुःख (२) अशोक (३) अझूरण (४) अटिप्पण (५) अपिट्टण (६) अपरितापन

असातवेदनीय—(१) पर दुःख (२) पर शोक (३) पर झूरण (४) पर टिप्पण (५) पर पिट्टण (६) पर परितापन

४—मोहनीय— (१) तीव्र क्रोध (२) तीव्र मान (३) तीव्र माया (४) तीव्र लोभ (५) तीव्र दर्शन मोहनीय (६) तीव्र चारित्र मोहनीय

५—आयुष्य

नारकीय— (१) महा आरम्भ (२) महा परिग्रह (३) मांसाहार (४) पंचेन्द्रिय वध

तिर्यञ्च— (१) माया (२) वञ्चना (३) असत्य वचन (४) कूट तोल, कूट माप

मनुष्य— (१) प्रकृतिभद्रता (२) प्रकृतिविनीतता (३) सानुक्रोशता (४) अमत्सरता

१—देखिए पृ० ३८३ और आगे

६—नाम—

शुभ— (१) काय-ऋजुता (२) भाव-ऋजुता (३) भाषा-ऋजुता (४) अवि-संवादनयोग

अशुभ— (१) काय-अऋजुता (२) भाव-अऋजुता (३) भाषा-अऋजुता (४) विसंवादनयोग

७—गोत्र—

उच्च— (१) जाति-अमद (२) कुल-अमद (३) बल-अमद (४) रूप-अमद (५) तप-अमद (६) श्रुत-अमद (७) लाभ-अमद (८) ऐश्वर्य-अमद

नीच— (१) जाति-मद (२) कुल-मद (३) बल मद (४) रूप-मद (५) तप-मद (६) श्रुत-मद (७) लाभ-मद (८) ऐश्वर्य-मद

८—अन्तराय— (१) ज्ञानान्तराय (२) लाभान्तराय (३) भोगान्तराय (४) उप-भोगान्तराय (५) वीर्यान्तराय

मिथ्यादर्शनादि जो पाँच बन्ध-हेतु हैं उनमें से पूर्व हेतु विद्यमान होने पर उत्तर हेतु विद्यमान रहता है, किन्तु उत्तर हेतु हो तो पूर्व हेतु हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है—इसकी भजना समझनी चाहिए[1]। प्रत्येक गुणस्थान में पाँचों बन्ध-हेतु नहीं होते। केवल प्रथम गुणस्थान में ही पाँचों समुदायरूप से रहते हैं। दूसरे, तीसरे और चौथे गुणस्थान में अविरति, प्रमाद, कषाय और योग होते हैं। पाँचवें में देश अविरति, प्रमाद, कषाय और योग होते हैं। छठे गुणस्थान में प्रमाद, कषाय और योग—ये तीन होते हैं। सातवें, आठवें, नवें, दसवें और ग्यारहवें गुणस्थान में कषाय और योग—ये दो ही होते हैं। ग्यारहवें में सत्तारूप से कषाय है पर उदय में नहीं है अर्थात् वहाँ पर भी कषाय प्रत्ययिक बन्ध नहीं है। बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में केवल योग होता है। चौदहवें गुणस्थान में एक भी बन्ध-हेतु नहीं होता। वह अनु-नर्बन्धक होता है[2]।

इस सम्बन्ध में श्री जयाचार्य के विचार प्रसंग-वश पहले बताये जा चुके हैं (टि० २८०, पृ० ५२७-५३१)। पाठक उन स्थलों को अवश्य देख लें।

१—आर्हतदर्शन दीपिका—चतुर्थ उल्लास, बन्ध अधिकार पृ० ६०४

२—वही पृ० ६७६

६—आस्रव, संवर, बंध, निर्जरा और मोक्ष (दो० ६-८)

इन दोहो मे स्वामीजी ने सक्षेप मे, पर बडे ही सुन्दर ढगमे आस्रव, सवर आदि का स्वरूप और परस्पर सम्बन्ध बतला दिया है ।

बन्ध का स्वरूप समझाने के लिए स्वामीजी ने जो तालाब का दृष्टान्त दिया था (दो० ३), उसी को विस्तारित करते हुए वे कहते हैं

जिस तरह तालाब मे नालो द्वारा जल का सचार होता है, उसी तरह जीव के प्रदेशो मे आस्रव द्वारा कर्मो का प्रवेश होता है । आस्रव, जीव रूपी तालाब मे कर्म रूपी जल आने के नाले हैं । नालो को रोक देने से जिस तरह तालाब में नए जल का सचार होना रुक जाता है, उसी तरह मिथ्यात्वादि आस्रवो के निरोध से सवर होता है—अर्थात् नए कर्मो का आगमन रुक जाता है । जिस तरह नए जल के सचार को रोक देने से तालाब ऊपर नही उठता, उसी प्रकार आत्मप्रदेशो में नए कर्मो के प्रवेश को रोक देने से फिर बध नही होता ।

जल के नए सचार के अभाव मे जिस तरह पूर्व सकलित हुआ जल सूरज की गर्मी तथा व्यवहार आदि से क्रमश घटता जाता है और नीचे तालाब का पेंदा दिखाई देने लगता है, ठीक उसी तरह सवरयुक्त आत्मा के प्रदेशो मे से कर्म कुछ तो फल दे देकर और कुछ तपस्या आदि क्रियाओ से क्षय को प्राप्त होते हैं । इस तरह कर्मो के कमी पड़ जाने से आत्मा मे निर्मलता आ जाती है । आत्मा के प्रदेशो का इस प्रकार अशत उज्ज्वल होना निर्जरा है ।

जिस तरह कम होते-होते तालाब का जल सम्पूर्ण सूख जाता है और नीचे की सूखी जमीन निकल आती है, उसी तरह तपस्यादि से जीव के प्रदेशो से कर्मो का परिशाटन होते-होते अन्त मे आत्मप्रदेश कर्म-रहित हो जाता है और आत्मा अपने सम्पूर्ण स्वभाव मे प्रकट हो जाता है । आत्मा का सम्पूर्ण निर्मल हो जाना—उसके प्रदेशो में कर्म रूपी पुद्गलो का लेश भी न रहना, यही जीव का मोक्ष है । इस तरह मुक्त आत्मा सिद्ध भाव से युक्त होती है ।

बन्ध आस्रव और निर्जरा के बीच की स्थिति है। आस्रव के द्वारा पौद्गलिक कर्म आत्म-प्रदेशो मे आते हैं। निर्जरा के द्वारा वे आत्म-प्रदेशो से बाहर निकलते हैं। कर्म-परमाणुओं के आत्म-प्रदेशों मे आने और फिर से चले जाने के बीच की दशा को संक्षेप मे बंध कहा जाता है [1]।

७—बंध पुद्गल की पर्याय है (दो० ६)

जड़ द्रव्य पुद्गल की वर्गणाएँ अनेक होती हैं उनमे से एक वर्गणा ऐसी है जो कर्मरूप परिणमित हो सकती है। जीव अपने आस-पास के क्षेत्र मे से इस कर्मयोग्य पुद्गल वर्गणा के स्कंधों को ग्रहण करता है और उन्हे कापायिक विकार से कर्मरूप मे परिणमन करता है। कर्म भाव से परिणाम पाए हुए पुद्गलो का जो आत्म-प्रदेशो के साथ सम्बन्ध है, उसी का नाम बंध है। इस तरह यह साफ प्रकट है कि बंध पुद्गल की पर्याय है।

आत्मा के साथ जिन कर्मों का बंध होता है, वे अनन्त प्रदेशी होते हैं। उनमे चतुस्पर्शित्व होता है। वे आत्मा की सत्-असत् प्रवृत्ति द्वारा गृहीत होते हैं।

बन्ध की अपेक्षा जीव और पुद्गल फूल और गंध, तिल और तेल की तरह अभिन्न हैं—एकमेक हैं। लक्षण की अपेक्षा भिन्न हैं—कोई अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता। जीव चेतन है और पुद्गल अचेतन, जीव अमूर्त्त है और पुद्गल मूर्त्त। मूर्त्त कर्म का आत्मा मे अव-स्थान बंध है। कर्म-पुद्गलो की आत्मप्रदेशो मे अवस्थान रूप परिणति ही बंध है अतः बन्ध पुद्गल पर्याय है।

८—द्रव्य-बंध भाव-बंध (गा० १-६)

हैं। कर्मो का फल देने के लिए उदय मे आना भाव-बंध है। उदाहरणस्वरूप जन्म-ग्रहण करने पर भावी तीर्थंकर द्रव्य तीर्थंकर होता है। बाद में जब वह तेरहवें गुण-स्थान को प्राप्त कर वास्तव मे तीर्थंकर होता है, तभी वह भाव-तीर्थंकर कहलाता हैं। उसी तरह से बंधे हुए कर्मों का सत्तारूप मे रहना द्रव्य-बंध है और उन्हीं कर्मो का उदय में आकर फल देने की शक्ति का प्रदर्शन करना भाव-बंध है।

कर्म दो प्रकार के होते हैं—शुभ या अशुभ। शुभ कर्म पुण्य कहलाते हैं और अशुभ कर्म पाप। जीव के प्रदेशो के साथ शुभ या अशुभ कर्मो के सश्लेष की अपेक्षा से बंध भी शुभ और अशुभ दो तरह का होता है। शुभ बंध को पुण्य-बंध और अशुभ बंध को पाप-बंध कहते हैं।

बंधे हुए प्रत्येक कर्म मे फल देने की शक्ति होती है परन्तु जिस तरह आम में रस देने की शक्ति होने तथा बीज मे सत्तारूप से वृक्ष रहने पर भी बिना पके हुए आम से रस नही निकलता तथा अवसर आए बिना वृक्ष प्रगट नही होता, ठीक उसी प्रकार कर्मो में फल देने की शक्ति रहने पर भी वे विपाक अवस्था मे आए बिना फल नहीं दे पाते। सत्तारूप पुण्य बंध जब विपाक-काल को प्राप्त हो उदयावस्था में आता है तब जीव को नाना भाँति के सुखो की प्राप्ति होती है और इसी तरह जब सत्तारूप पाप बंध का उदय होता है तो अनेक प्रकार के दुखो की प्राप्ति होती है।

६—बंध के चार भेद (गा० ७-१२)

लगती है, परन्तु जीभ का छेदन करती है, उसी प्रकार वेदनीय कर्म सुख दुख अनुभव कराता है। जिससे भवधारण हो, उसे आयुकर्म कहते हैं। आयु का स्वभाव खोडे(बेडी) के समान है। जिस तरह खोडे मे रहते हुए प्राणी का उसमे से निकलना सभव नही, उसी तरह आयु कर्म की समाप्ति के बिना जीवन का अन्त नही आता। जिससे विशिष्ट गति, जाति, आदि प्राप्त होते हैं, उसे नाम कर्म कहते हैं। इसका स्वभाव चित्रकार के समान है। चित्रकार नाना आकार बनाता है, उसी प्रकार यह कर्म नाना मनुष्य, तिर्यचादि के आकार बनाता है। जिससे उच्चता या नीचता प्राप्त होती है, उसे गोत्र कर्म कहते हैं। गोत्र कर्म का स्वभाव कुभकार के समान है। जिस प्रकार कुभकार छोटे बडे नाना प्रकार के बर्तन बनाता है, उसी प्रकार यह कर्म उच्च-नीच गोत्र प्राप्त कराता है। जो दान, लाभ आदि मे अन्तराय डालता है, उसे अन्तराय कर्म कहते हैं। उसका स्वभाव राजभण्डारी के समान है। जिस तरह राजा की इच्छा होने पर भी राजभण्डारी दान नही देने देता, उसी तरह अन्तराय कर्म दानादि नहीं देने देता[1]।

इस प्रकार कर्मों के स्वभाव भिन्न-भिन्न हैं। कर्मों का अपने-अपने स्वभाव सहित जीव से सम्बन्धित होना प्रकृति वध है।

प्रत्येक प्रकृति का कर्म अमुक समय तक आत्म-प्रदेशो के साथ लगा रहता है। इस काल-मर्यादा को स्थिति-वध कहते हैं। आत्मा के द्वारा ग्रहण की हुई उपर्युक्त कर्मपुद्गलो की राशि कितने काल तक आत्म-प्रदेशो मे रहेगी, उसकी मर्यादा स्थिति वध है।

जीव के व्यापार द्वारा ग्रहण की हुई शुभाशुभ कर्मों की प्रकृतियों का तीव्र मद इत्यादि प्रकार का अनुभव अनुभाग वध कहलाता है। कर्म के शुभाशुभ फल की तीव्रता या मदता को रस कहते हैं। उदय मे आने पर कर्म का अनुभव तीव्र या मद कैसा होगा, यह प्रकृति आदि की तरह ही कर्म-बन्ध के समय ही नियत हो जाता है। इसी का नाम अनुभाग बन्ध है।

१—नवतत्त्वसाहित्यसग्रह : अव० वृत्त्यादिसमेत नवतत्त्वप्रकरणम् ७२ :

पडपडिहारासिमज्जहडचित्तकुलालभडगारीण।

जह एएसि भावा कम्माण वि जाण तह भावा ॥

आत्मा के असंख्य प्रदेश होते हैं। इन असंख्य प्रदेशो में से एक-एक प्रदेश पर अनन्तानन्त कर्म-वर्गणाओ का संग्रह होना प्रदेश बंध कहलाता है। जीव के प्रदेश और पुद्गल के प्रदेशो का एक क्षेत्रावगाही होकर स्थित होना प्रदेश बंध है।

प्रकृति समुदाय स्यात्, स्थिति कालावधारणम्।
अनुभागो रसो ज्ञेय प्रदेशो दलसंचय ॥

बंध के स्वरूप को सम्यक् रूप से समझाने के लिए मोदक का दृष्टान्त दिया जाता है

(१) द्रव्य विशेष से बना हुआ मोदक कोई कफ को दूर करता है, कोई वायु को और कोई पित्त को। इस तरह मोदको की भिन्न-भिन्न प्रकृति होती है। इसी प्रकार किसी कर्म का स्वभाव ज्ञान रोकने का, किसी कर्म का स्वभाव दर्शन रोकने का, किसी का चारित्र रोकने का होता है। इस तरह कर्म के स्वभाव की अपेक्षा से प्रकृति बंध होता है।

(२) कोई मोदक एक पक्ष तक, कोई एक महीने तक, कोई दो, कोई तीन, कोई चार महीने तक एक रूप में रहता है। उसके बाद वह नष्ट हो जाता है। इस तरह प्रत्येक मोदक की एक रूप में रहने की अपनी-अपनी काल-मर्यादा—स्थिति होती है। इसी तरह कोई कर्म उत्कृष्ट रूप में बीस कोटाकोटि सागर प्रमाण स्थितिवाला होता है, कोई तीस कोटाकोटि सागर प्रमाण स्थितिवाला और कोई सत्तर कोटाकोटि सागर प्रमाण स्थितिवाला। बंधे हुए कर्म जितने काल तक स्थित रहते हैं, उसे स्थिति बंध कहते हैं।

जोड़ देता है। जिस तरह दीपक बाट द्वारा तेल को ग्रहण कर अपनी उष्णता से उसे ज्वाला रूप में परिणमता है, उसी प्रकार जीव काषायिक विकार से योग्य पुद्गलों को ग्रहण कर उसे कर्मभावरूप से परिणमता है। कर्मपुद्गल जीव द्वारा गृहीत होकर कर्मरूप परिणाम पाते हैं इसका अर्थ यह है कि उसी समय उसमें चार अंशों का निर्माण होता है, ये ही अंश बंध के प्रकार हैं। जिस तरह बकरी, गाय, भैंस आदि द्वारा खाया गया घास आदि दूध रूप में परिणमित होता है, उस समय उसमें मधुरता का स्वभाव बनता है, उस स्वभाव के अमुक वक्त तक उसी रूप में टिके रहने की काल-मर्यादा निर्मित होती है, इस मधुरता में तीव्रता, मंदता आदि विशेषताएँ आती हैं, और इस दूध का पौद्गलिक परिणाम भी साथ ही में निर्मित होता है। उसी तरह जीव द्वारा गृहीत होने पर उसके प्रदेशों में संश्लेष पाए हुए कर्म पुद्गलों में भी चार अंशों का निर्माण होता है प्रकृति, स्थिति, अनुभाव और प्रदेश।

१-कर्म पुद्गलों में जो ज्ञान को आवृत करने का, दर्शन को अटकाने का, सुख-दुःख अनुभव कराने वगैरह का जो भाव बनता है, वह स्वभाव-निर्माण ही प्रकृतिबंध है।

२-स्वभाव बनने के साथ ही उस स्वभाव से अमुक वक्त तक च्युत न होने की मर्यादा पुद्गलों में निर्मित होती है, इस काल-मर्यादा का निर्माण ही स्थितिबंध है।

३-स्वभाव के निर्माण होने के साथ ही उसमें तीव्रता, मंदता आदि रूप फलानुभव करानेवाली विशेषताएँ बनती हैं। ऐसी विशेषताएँ ही अनुभावबंध है।

४-गृहीत होकर भिन्न-भिन्न स्वभाव में परिणाम पाती हुई पुद्गल राशि स्वभावानुसार अमुक-अमुक परिणाम में बट जाती है, यह परिमाण-विभाग ही प्रदेशबंध है[१]।"

१०—कर्मों की प्रकृतियाँ और उनकी स्थिति (गा० १२-१८)

कर्म की प्रकृतियों का वर्णन स्वामीजी पुण्य (टा० १) और पाप की ढाल में कर चुके हैं अतः उनका पुनः विवेचन यहाँ नहीं किया है।

मूल कर्म-प्रकृतियां	उत्तर प्रकृतियां
१—ज्ञानावरणीय	(१) आभिनिबोधिकज्ञानावरणीय, (२) श्रुतज्ञानावरणीय, (३) अवधिज्ञानावरणीय, (४) मनःपर्यायज्ञानावरणीय, (५) केवल ज्ञानावरणीय।
२—दर्शनावरणीय	(१) चक्षुदर्शनावरणीय, (२) अचक्षुदर्शनावरणीय, (३) अवधिदर्शनावरणीय, (४) केवलदर्शनावरणीय, (५) निद्रा, (६) निद्रानिद्रा, (७) प्रचला, (८) प्रचलाप्रचला, (९) स्त्यानर्द्धि।
३—वेदनीय	(१) सातावेदनीय, (२) असातावेदनीय।
४—मोहनीय	(१) दर्शन मोहनीय, (२) चारित्र मोहनीय।
५—आयुष्य	(१) नरकायु, (२) तिर्यञ्चायु, (३) मनुष्यायु, (४) देवायु।
६—गति	(१) गति नाम, (२) जाति नाम, (३) शरीर नाम, (४) शरीर-अङ्गोपाङ्गनाम, (५) शरीर बंधन नाम, (६) शरीर-सघात नाम, (७) संहनन नाम, (८) संस्थान नाम, (९) वर्ण नाम, (१०) गन्ध नाम, (११) रस नाम, (१२) स्पर्श नाम, (१३) अगुरुलघु नाम, (१४) उपघात नाम, (१५) पराघात नाम, (१६) आनुपूर्वी नाम, (१७) उच्छ्वास नाम, (१८) आतप नाम, (१९) उद्योत नाम, (२०) विहायोगति नाम, (२१) त्रस नाम, (२२) स्थावर नाम, (२३) सूक्ष्म नाम, (२४) बादर नाम, (२५) पर्याप्त नाम, (२६) अपर्याप्त नाम, (२७) साधारण-शरीर नाम, (२८) प्रत्येक शरीर नाम, (२९) स्थिर नाम, (३०) अस्थिर नाम, (३१) शुभ नाम, (३२) अशुभ नाम, (३३) सुभग नाम, (३४) दुर्भग नाम, (३५) सुस्वर नाम, (३६) दुःस्वर नाम, (३७) आदेय नाम, (३८) अनादेय नाम, (३९) यशःकीर्ति नाम, (४०) अयशःकीर्ति नाम, (४१) निर्माण नाम, (४२) तीर्थंकर नाम।
[illegible]	(१) उच्चगोत्र, (२) नीच गोत्र।

८—अन्तराय (१) दान-अन्तराय, (२) लाभ-अन्तराय, (३) भोग-अन्तराय, (४) उपभोग अन्तराय, (५) वीर्य-अन्तराय[1] ।

स्वामीजी ने भिन्न-भिन्न कर्मों की स्थितियां इस प्रकार बतलायी हैं

कर्म	जघन्य स्थिति	उत्कृष्ट स्थिति
१—ज्ञानावरणीय	अन्तर मुहूर्त	३० कोटाकोटि सागर
२—दर्शनावरणीय	"	"
३—वेदनीय	"	"
४—मोहनीय	"	"
दर्शन मोहनीय	"	७० "
चारित्र ,,	"	४० "
५—आयुष्य	"	३३ "
६—नाम	८ मुहूर्त	२० "
७—गोत्र	"	२० "
८—अन्तराय	अन्तर "	३० "

इस स्थिति-वर्णन का आधार उत्तराध्ययन सूत्र है[2] । प्रज्ञापना सूत्र में आठ कर्म ही नहीं उनकी उत्तर प्रकृतियों का भी स्थिति-वर्णन मिलता है[3] ।

स्वामीजी ने वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की बतलाई है। यह प्रज्ञापना और उत्तराध्ययन सूत्र के आधार पर है। भगवती में इस कर्म की स्थिति दो समय

१—मूल प्रकृतियां, उत्तर प्रकृतियां और उनके उपभेदों की व्याख्या के लिए देखिए पृ० २०३-४४ , १५५-५६ , १५९-६८ ।

२—उत्त० ३३ १९-२३

३—प्रज्ञापना २३ २ २१-२९ । कोष्ठक रूप में इसका संकलन 'जैन धर्म और दर्शन' नामक पुस्तक में प्राप्त है। देखिए पृ० २८३-४८७ ।

की कही गई है[1]। कई ग्रन्थो में इस कर्म की जघन्य स्थिति बारह अन्तर्मुहूर्त की कही गई है[2]।

भगवती सूत्र मे आयुष्य कर्म की उत्कृष्ट स्थिति पूर्वकोटि त्रिभाग अधिक ३३ सागरोपम वर्ष की कही गयी है[3]।

बन्ध-काल से लेकर फल देकर दूर हो जाने तक के समय को कर्मो की स्थिति कहते हैं। कम-से-कम स्थिति जघन्य और अधिक-से-अधिक स्थिति उत्कृष्ट कहलाती है। बन्धने के बाद कर्म का विपाक होता है और फिर वह उदय मे आकर फल देता है। विपाककाल में कर्म फल नही देता केवल सत्तारूप में आत्म-प्रदेशो में पड़ा रहता है। उस काल के बाद कर्म उदय में आता है और फलानुभव कराने लगता है। फलानुभव के काल को कर्म-निषेक काल कहते हैं। यहाँ कर्मो की जो स्थितियाँ बतलायी गई हैं वह दोनो काल को मिला कर कही गई है। अबाधाकाल को जानने का तरीका यह है कि जिस कर्म की स्थिति जितने सागरोपम की होती है, उतने सौ वर्ष अबाधाकाल होता है। उदाहरणस्वरूप ज्ञानावरणीय कर्म की स्थिति ३० कोटाकोटि सागरोपम है। उसका अबाधाकाल ३००० वर्ष का कहा है। इतने वर्षो तक वह सत्तारूप में रहता है, फल नहीं देता। यह विपाककाल है। भगवती सूत्र मे अबाधा और निषेक काल का वर्णन इस प्रकार मिलता है

कर्म	अबाधा काल	निषेक काल
१—ज्ञानावरणीय	३००० वर्ष	३० कोटाकोटि सागर कम ३००० वर्ष
२—दर्शनावरणीय	"	"
३—वेदनीय	"	"

१—भगवती ६.३

वेदणिज्जं जह० दो समया

२—(क) तत्त्वार्थ० ८.१९

अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य — वेदनीयप्रकृतेरपरा द्वादशमुहूर्ता [illegible]

[illegible] भाष्य

(ख) नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : देवानन्दसूरिकृत सप्ततत्त्वप्रकरण

जघन्या [illegible] वेदनीयस्य द्वादश मुहूर्ता

३—भगवती [illegible]

[illegible] उक्को० तेत्तीसं सागरोवमाणि पुव्वकोडितिभागमब्भहियाणि ...

कर्म	अवाधा काल	निषेक काल
४—मोहनीय	७००० वर्ष	७० कोटाकोटि सागर कम ७००० वर्ष
५—आयुष्य	पूर्वकोटि त्रिभाग	पूर्वकोटि त्रिभाग उपरान्त तेतीस सागरोपम कम पूर्व कोटि त्रिभाग
६—नाम	२००० वर्ष	२० सागरोपम कम २००० वर्ष
७—गोत्र	"	"
८—अतराय	३००० वर्ष	३० कोटाकोटि सागर कम ३००० वर्ष

आठो कर्मो की उत्तर प्रकृतियो के अवाधा और निषेक काल का वर्णन प्रज्ञापना सूत्र में उल्लिखित है[1]।

११—अनुभाव बंध और कर्म फल (गाथा १६-२१) :

उपर्युक्त गाथाओ मे अनुभाग-बन्ध और कर्म-फल पर विशेष प्रकाश डाला गया है। जीव के साथ कर्मो का तादात्म्यसम्बन्ध ही बन्ध है। मिथ्यात्व आदि हेतुओ से कर्म-योग्य पुद्गल-वर्गणाओ के साथ आत्मा का—दूध और जल की तरह अथवा लोहपिण्ड और अग्नि की तरह—अन्योन्यानुगमरूप अभेदात्मक सम्बन्ध होता है, वही बन्ध है[2]।

आठ कर्मो के पुद्गल-प्रदेश अनन्त होते हैं। इन प्रदेशो की संख्या [illegible] के [illegible] जीवो से अनन्त गुणी और अनन्त सिद्धो के अनन्तवें भाग जितनी होती है[3]।

बन्ध के समय अध्यवसाय की तीव्रता या मदता के अनुसार कर्मों मे तीव्र या मद फल देने की शक्ति उत्पन्न होती है। विविध प्रकार की फल देने की शक्ति [illegible] अनुभाग है।

ये बांधे हुए कर्म अवश्य उदय में आते हैं। वे उदय में आए बिना [illegible] और न फल भोगे बिना उनसे छुटकारा हो सकता है। उदय मे आने [illegible] पर कर्म अकर्म हो अपने आप आत्म-प्रदेशो से दूर हो जाते हैं। [illegible] काल नही आता है तब तक बध हुए कर्मो से सुख-दुःख कुछ भी [illegible] नहीं [illegible]।

१—प्रज्ञापना २३ २ २१-२६

२—नवतत्त्वसाहित्यसग्रह वृत्यादिसमेत नवतत्त्वप्रकरणम् गाथा [illegible] की [illegible] अवचूर्णि

मिथ्यात्वादिभिर्हेतुभि कर्मयोग्यवर्गणापुद्गलैरात्मन [illegible]
वद्वान्योन्यानुगमाभेदात्मक सम्बन्धो बन्ध ।

३—उत्त० ३३ १७ (पृ० ४५७ टि० ४ में उद्धृत)

कर्मों के उदय में आने पर ही सुख-दुःख होता है। बांधे हुए कर्म शुभ होते हैं तो उन कर्मों का विपाक—फल शुभ—सुखमय होता है। बांधे हुए कर्म अशुभ होते हैं तो उस काल में उन कर्मों का विपाक अशुभ—दुःखरूप होता है।

कर्म तीव्र भाव से बांधे हुए होते हैं तो उनका फल तीव्र होता है और मन्द भाव से बांधे हुए होते हैं तो फल मन्द होता है।

उदय में आने पर कर्म अपनी मूल प्रकृति के अनुसार फल देता है। ज्ञानावरणीय कर्म अपने अनुभाव—फल देने की शक्ति के अनुसार ज्ञान का आच्छादन करता है और दर्शनावरणीय दर्शन का। इस तरह दूसरे कर्म भी अपनी-अपनी मूल प्रकृति के अनुसार ही तीव्र या मन्द फल देते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से दर्शन का आच्छादन नहीं हो सकता और न दर्शनावरणीय कर्म से ज्ञान का। इसी तरह अन्य कर्मों के विषय में समझना चाहिए। यह नियम मूल प्रकृतियों में ही परस्पर लागू होता है। मूल प्रकृतियां फलानुभव में परस्पर अपरिवर्तनशील हैं। परन्तु अपवादों को छोड़ कर उत्तर प्रकृतियों में यह नियम लागू नहीं पड़ता। एक कर्म की उत्तर प्रकृति उसी कर्म की अन्य उत्तर प्रकृति रूप परिणति कर सकती है। उदाहरणस्वरूप मतिज्ञानावरणीय कर्म, श्रुतज्ञानावरणीय कर्म में बदल सकता है। और ऐसा होने पर उसका [illegible] श्रुतज्ञानावरणीय रूप ही होता है।

प्रकृति-सक्रम की तरह बन्धकालीन रस मे भी बाद मे अन्तर हो सकता है। तीव्र रस मन्द और मन्द रस तीव्र हो सकता है।

एक बार गौतम ने पूछा[1]—"भगवन्! किए हुए पाप कर्मों का फल भोगे बिना उनसे मुक्ति नही होती, क्या यह सच है?" भगवान ने उत्तर दिया—"गौतम! यह सच है। नैरयिक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव—सर्व जीव किए हुए पाप कर्मों का फल भोगे बिना उनसे मुक्त नही होते। गौतम! मैंने दो प्रकार के कर्म बतलाये हैं—प्रदेश कर्म[2] और अनुभाग-कर्म[3]। जो प्रदेश-कर्म हैं, वे नियमत भोगे जाते हैं। जो अनुभाग-कर्म हैं, वे कुछ भोगे जाते हैं, कुछ नही भोगे जाते।"

एक बार गौतम ने पूछा—"भगवन्! अन्ययूथिक कहते हैं—सब जीव एवभूत-वेदना (जैसा कर्म बाधा है वैसे ही) भोगते हैं, यह कैसे है?" भगवान बोले—"गौतम! अन्ययूथिक जो ऐसा कहते हैं, वह मिथ्या कहते हैं। मैं तो ऐसा कहता हूँ—कई जीव एवभूत वेदना भोगते हैं और कई अन् एवभूत वेदना भी भोगते हैं। जो जीव किए हुए कर्मों के अनुसार ही वेदना भोगते हैं, वे एवभूत वेदना भोगते हैं और जो जीव किए हुए कर्मों से अन्यथा भी वेदना भोगते हैं, वे अन्-एवभूत वेदना भोगते हैं[4]।"

आगम मे कहा है—"एक कर्म शुभ होता है और उसका विपाक भी शुभ होता है। एक कर्म शुभ होता है और उसका विपाक अशुभ होता है। एक कर्म अशुभ होता है और उसका विपाक शुभ होता है। एक कर्म अशुभ होता है और उसका विपाक भी अशुभ होता है[5]।"

१—भगवती १ ४

हता गोयमा! नेरइयस्स वा तिरिक्खमणुदेवस्स वा जे कडे पावे कम्मे नत्थि तस्स अवेइत्ता मोक्खो एव खलु मए गोयमा! दुविहे कम्मे पन्नत्ते तं जहा—पएसकम्मे य अणुभागकम्मे य। तत्थ ण ज त पएसकम्म त नियमा वेएइ, तत्थ ण ज त अणुभागकम्म त अत्थेगइय वेएइ अत्थेगइय नो वेएइ

२—भगवती १ ४ वृत्ति

प्रदेशा कर्मपुद्गला जीवप्रदेशेष्वोतप्रोता तद्रूप कर्म प्रदेशकर्म।

३—भगवती १ ४ वृत्ति

अनुभाग तेषामेव कर्मप्रदेशानां सवेद्यमानताविषयो रस तद्रूप कर्मानुभागकर्म

४—भगवती ५ ५

५—ठाणाङ्ग ४ ४ ३१२

कर्मों के उदय मे आने पर ही सुख-दुःख होता है। बाँधे हुए कर्म शुभ होते है तो उन कर्मों का विपाक—फल शुभ—सुखमय होता है। बाँधे हुए कर्म अशुभ होते हैं तो उदय काल मे उन कर्मों का विपाक अशुभ—दुःखरूप होता है।

कर्म तीव्र भाव से बाँधे हुए होते हैं तो उनका फल तीव्र होता है और मन्द भाव से बाँधे हुए होते हैं तो फल मन्द होता है।

उदय में आने पर कर्म अपनी मूल प्रकृति के अनुसार फल देता है। ज्ञानावरणीय कर्म अपने अनुभाव—फल देने की शक्ति के अनुसार ज्ञान का आवरण करता है और दर्शनावरणीय दर्शन का। इस तरह दूसरे कर्म भी अपनी-अपनी मूल प्रकृति के अनुसार ही तीव्र या मन्द फल देते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञानावरणीय कर्म से कभी दर्शन का आच्छादन नहीं हो सकता और न दर्शनावरणीय कर्म से ज्ञान का। इसी तरह अन्य कर्मों के विषय में समझना चाहिए। यह नियम मूल प्रकृतियों में ही परस्पर लागू होता है। मूल प्रकृतियाँ फलानुभव में परस्पर अपरिवर्तनशील हैं। पर कुछ अपवादों को छोड़ कर उत्तर प्रकृतियों में यह नियम लागू नहीं पड़ता। एक कर्म की उत्तर प्रकृति उसी कर्म की अन्य उत्तर प्रकृतिरूप परिणति कर सकती है। उदाहरणस्वरूप मतिज्ञानावरणीय कर्म, श्रुतज्ञानावरणीय कर्म में बदल सकता है। और ऐसा होने पर उसका फल भी श्रुतज्ञानावरणीय रूप ही होता है।

प्रकृति-संक्रम की तरह बन्धकालीन रस में भी बाद में अन्तर हो सकता है। तीव्र रस मन्द और मन्द रस तीव्र हो सकता है।

एक बार गौतम ने पूछा[1]—"भगवन्! किए हुए पाप कर्मों का फल भोगे बिना उनसे मुक्ति नहीं होती, क्या यह सच है?" भगवान ने उत्तर दिया—"गौतम! यह सच है। नैरयिक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव—सर्व जीव किए हुए पाप कर्मों का फल भोगे बिना उनसे मुक्त नहीं होते। गौतम! मैंने दो प्रकार के कर्म बतलाये हैं—प्रदेश-कर्म[2] और अनुभाग-कर्म[3]। जो प्रदेश-कर्म हैं, वे नियमतः भोगे जाते हैं। जो अनुभाग-कर्म हैं, वे कुछ भोगे जाते हैं, कुछ नहीं भोगे जाते।"

एक बार गौतम ने पूछा—"भगवन्! अन्ययूथिक कहते हैं—सब जीव एवंभूत-वेदना (जैसा कर्म बांधा है वैसे ही) भोगते हैं, यह कैसे है?" भगवान बोले—"गौतम! अन्ययूथिक जो ऐसा कहते हैं, वह मिथ्या कहते हैं। मैं तो ऐसा कहता हूँ—कई जीव एवंभूत वेदना भोगते हैं और कई अन्-एवंभूत वेदना भी भोगते हैं। जो जीव किए हुए कर्मों के अनुसार ही वेदना भोगते हैं, वे एवंभूत वेदना भोगते हैं और जो जीव किए हुए कर्मों से अन्यथा भी वेदना भोगते हैं, वे अन्-एवंभूत वेदना भोगते हैं[4]।"

आगम में कहा है—"एक कर्म शुभ होता है और उसका विपाक भी शुभ होता है। एक कर्म शुभ होता है और उसका विपाक अशुभ होता है। एक कर्म अशुभ होता है और उसका विपाक शुभ होता है। एक कर्म अशुभ होता है और उसका विपाक भी अशुभ होता है[5]।"

१—भगवती १ ४

हंता गोयमा! नेरइयस्स वा तिरिक्खजोणियस्स वा [illegible] नत्थि तस्स अवेइत्ता मोक्खो एवं खलु मए गोयमा! दुविहे कम्मे पन्नत्ते, तं जहा—पएसकम्मे य अणुभागकम्मे य। तत्थ णं [illegible] वेएइ, तत्थ णं जं तं अणुभागकम्मं तं अत्थेगइयं वेएइ [illegible]

२—भगवती १ ४ वृत्ति

प्रदेशाः कर्मपुद्गला जीवप्रदेशेष्वोतप्रोता तद्रूपं कर्म [illegible]।

३—भगवती १ ४ वृत्ति

अनुभागः तेषामेव कर्मप्रदेशानां संवेद्यमानतादिविषयो रसः तद्रूपं कर्म [illegible]

४—भगवती ५ ५

५—ठाणाङ्ग ४ ४ ३१२

कर्मों के उदय में आने पर ही सुख-दुःख होता है। बांधे हुए कर्म शुभ होते हैं तो उन कर्मों का विपाक—फल शुभ—सुखमय होता है। बांधे हुए कर्म अशुभ होते हैं तो काल में उन कर्मों का विपाक अशुभ—दुःखरूप होता है।

कर्म तीव्र भाव से बांधे हुए होते हैं तो उनका फल तीव्र होता है और मन्द भाव से बांधे हुए होते हैं तो फल मन्द होता है।

उदय में आने पर कर्म अपनी मूल प्रकृति के अनुसार फल देता है। ज्ञानावरणीय कर्म अपने अनुभाव—फल देने की शक्ति के अनुसार ज्ञान का आच्छादन करता है और दर्शनावरणीय दर्शन का। इस तरह दूसरे कर्म भी अपनी-अपनी मूल प्रवृत्ति के अनुसार ही तीव्र या मन्द फल देते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से दर्शन का आच्छादन नहीं हो सकता और न दर्शनावरणीय कर्म से ज्ञान का। इसी तरह अन्य कर्मों के विषय में समझना चाहिए। यह नियम मूल प्रकृतियों में ही परस्पर लागू होता है। मूल प्रकृतियाँ फलानुभव में परस्पर अपरिवर्तनशील हैं। पर कुछ अपवादों को छोड़ कर उत्तर प्रकृतियों में यह नियम लागू नहीं पड़ता। एक कर्म की उत्तर प्रकृति उसी कर्म की अन्य उत्तर प्रकृतिरूप परिणति कर सकती है। उदाहरणस्वरूप मतिज्ञानावरणीय कर्म, श्रुतज्ञानावरणीय कर्म में बदल सकता है। और ऐसा होने पर उसका फल भी श्रुतज्ञानावरणीय रूप ही होता है।

उत्तर प्रकृतियों में दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का संक्रम नहीं होता। इसी प्रकार सम्यक् वेदनीय और मिथ्यात्व वेदनीय उत्तर प्रकृतियों का भी संक्रम नहीं होता। आयुष्य की उत्तरप्रकृतियों का भी परस्पर संक्रम नहीं होता। उदाहरणस्वरूप नारक आयुष्य, तिर्यञ्च आयुष्य रूप में संक्रम नहीं करता। इसी तरह अन्य आयुष्य भी परस्पर असंक्रमशील हैं[1]।

१—(क) तत्त्वा० ८.२२ भाष्य

उत्तरप्रकृतिषु सर्वासु मूलप्रकृत्यभिन्नासु न तु मूलप्रकृतिषु संक्रमो विद्यते, उत्तरप्रकृतिषु च दर्शनचारित्रमोहनीययोः सम्यग्मिथ्यात्ववेदनीयस्यायुष्कस्य च ।

(ख) तत्त्वा० ८.२२ सर्वार्थसिद्धि

अनुभवो द्विधा प्रवर्तते स्वमुखेन परमुखेन च। सर्वासां मूलप्रकृतीनां स्वमुखेनैवानुभवः। उत्तरप्रकृतीनां तुल्यजातीयानां परमुखेनापि भवति आयुर्दर्शनचारित्रमोहवर्जानाम्। न हि नरकायुर्मुखेन तिर्यगायुर्मनुष्यायुर्वा विपच्यते। नापि दर्शनमोहश्चारित्रमोहमुखेन, चारित्रमोहो वा दर्शनमोहमुखेन

प्रकृति-संक्रम की तरह बन्धकालीन रस में भी बाद में अन्तर हो सकता है। तीव्र रस मन्द और मन्द रस तीव्र हो सकता है।

एक बार गौतम ने पूछा[1]—"भगवन्! किए हुए पाप कर्मों का फल भोगे बिना उनसे मुक्ति नहीं होती, क्या यह सच है?" भगवान ने उत्तर दिया—"गौतम! यह सच है। नैरयिक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव—सर्व जीव किए हुए पाप कर्मों का फल भोगे बिना उनसे मुक्त नहीं होते। गौतम! मैंने दो प्रकार के कर्म बतलाये हैं—प्रदेश कर्म[2] और अनुभाग-कर्म[3]। जो प्रदेश-कर्म हैं, वे नियमतः भोगे जाते हैं। जो अनुभाग-कर्म हैं, वे कुछ भोगे जाते हैं, कुछ नहीं भोगे जाते।"

एक बार गौतम ने पूछा—"भगवन्! अन्ययूथिक कहते हैं—सब जीव एवंभूत-वेदना (जैसा कर्म बांधा है वैसे ही) भोगते हैं, यह कैसे है?" भगवान बोले—"गौतम! अन्य-यूथिक जो ऐसा कहते हैं, वह मिथ्या कहते हैं। मैं तो ऐसा कहता हूँ—कई जीव एवंभूत वेदना भोगते हैं और कई अन्-एवंभूत वेदना भी भोगते हैं। जो जीव किए हुए कर्मों के अनुसार ही वेदना भोगते हैं, वे एवंभूत वेदना भोगते हैं और जो जीव किए हुए कर्मों से अन्यथा भी वेदना भोगते हैं, वे अन्-एवंभूत वेदना भोगते हैं[4]।"

आगम में कहा है—"एक कर्म शुभ होता है और उसका विपाक भी शुभ होता है। एक कर्म शुभ होता है और उसका विपाक अशुभ होता है। एक कर्म अशुभ होता है और उसका विपाक शुभ होता है। एक कर्म अशुभ होता है और उसका विपाक भी अशुभ होता है[5]।"

१—भगवती १ ४

एवं गोयमा! नेरइयस्स वा तिरिक्खमणुस्सदेवस्स वा जे कडे पावे कम्मे नत्थि तस्स अवेइत्ता मोक्खो ... एवं खलु मए गोयमा! दुविहे कम्मे पन्नत्ते तं जहा—पएसकम्मे य अणुभागकम्मे य। तत्थ णं जं तं पएसकम्मं तं नियमा वेएइ, तत्थ णं जं तं अणुभागकम्मं तं अत्थेगइयं वेएइ अत्थेगइयं नो वेएइ

२—भगवती १ ४ वृत्ति

प्रदेशा कर्मपुद्गला जीवप्रदेशेष्वोतप्रोता तद्रूप कर्म प्रदेशकर्म।

३—भगवती १ ४ वृत्ति

अनुभाग तेषामेव कर्मप्रदेशानां संवेद्यमानताविषयो रस तद्रूप कर्म अनुभागकर्म

४—भगवती ५ ५

५—ठाणाङ्ग ४ ४ ३१२

इस विषय में 'स्थानाङ्ग' का पाठ इस प्रकार है

चउहिं ठाणेहिं जीवा मणुस्सत्ताते कम्मं पगरेंति, तंजहा—पगतिभद्दताते पगतिविणीययाए साणुक्कोसयाते अमच्छरिताते। (४.४.३७३)

'तत्त्वार्थसूत्र' में मनुष्यायुष्य के बंध-हेतु इस प्रकार वर्णित हैं

अल्पारम्भपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवार्जवं च मानुषस्य। (६.१८)

'तत्त्वार्थसूत्र' के अनुसार (१) अल्पारम्भ, (२) अल्पपरिग्रह (३) स्वभाव मार्दव (४) आर्जव—ये चार मनुष्यायुष्य कर्म के बंध-हेतु हैं।

आगमोक्त और इन हेतुओं का पार्थक्य स्पष्ट है।

शुभ मनुष्यायुष्य के बंध-हेतु भी शुभ हैं।

२०—देवायुष्य के बंध-हेतु (गा० २६)

देवायुष्य के बंध-हेतुओं का वर्णन 'भगवती सूत्र' के पाठ में इस प्रकार है

देवाउयकम्मासरीर—पुच्छा। गोयमा! सरागसंजमेणं, संजमासंजमेणं, बालतवोकम्मेणं, अकामनिज्जराए, देवाउयकम्मासरीर० जाव पयोगबंधे। (८.९)

यहाँ देवायुष्यकार्मण शरीरप्रयोगबंध के बंध-हेतु निम्न रूप से बताये गये हैं

(१) सरागसंयम[1],

(२) संयमासंयम[2],

(३) बालतपःकर्म[3],

(४) अकामनिर्जरा[4] और

(५) देवायुष्यकार्मणशरीरप्रयोगनामकर्म का उदय।

इस विषयक 'स्थानाङ्ग' का पाठ इस प्रकार है

चउहिं ठाणेहिं जीवा देवाउयत्ताए कम्म पगरेंति, तजहा—सरागसजमेण सजमासजमेण बालतवोकम्मेण अकामणिज्जराए। (४ ४.३७३)

'तत्त्वार्थसूत्र' का पाठ इस प्रकार है

सरागसयमसयमासयमाकामनिर्जराबालतपासि देवस्य। (६ २०)

यहाँ यह विशेष ध्यान देने की बात है कि इन हेतुओ को तत्त्वार्थकार ने साता वेदनीय कर्मबध के हेतुओ में भी स्थान दिया है।

शुभ देवायुष्य कर्मबध के हेतु भी शुभ हैं।

२१—शुभ-अशुभ नामकर्म के बंध-हेतु (गा० २७-२८)

यहाँ संकेतित 'भगवतीसूत्र' का पाठ इस प्रकार है.

सुभनामकम्मासरीर—पुच्छा। गोयमा! काउज्जुययाए, भावुज्जुययाए, भासुज्जुययाए अविसवादणजोगेण, सुभनामकम्मासरीर० जाव पयोगबधे। असुभनामकम्मासरीर—पुच्छा। गोयमा! कायअणुज्जुययाए, भावअणुज्जुययाए, भासअणुज्जुययाए, विसवायणाजोगेण, असुभनामकम्मा० जाव पयोगबधे (८ ६)।

शुभ नामकार्मणशरीरप्रयोगबध के हेतु इस प्रकार हैं

(१) काया की ऋजुता,

(२) भाव की ऋजुता,

(३) भाषा की ऋजुता,

(४) अविसवादनयोग—जैसी कथनी वैसी करनी और

(५) शुभ नामकार्मणशरीरप्रयोगनामकर्म का उदय।

अशुभ नामकार्मणशरीरप्रयोगबध के हेतु इस प्रकार हैं

(१) काया की अनृजुता,

(२) भाव की अनृजुता,

(३) भाषा की अनृजुता,

(४) विसवादन योग—जैसी कथनी वैसी करनी का अभाव और

(५) अशुभनामकार्मणशरीरप्रयोगनामकर्म का उदय।

'तत्त्वार्थसूत्र' में इस विषय का पाठ इस प्रकार है

योगवक्रता विसवादन चाशुभस्य नाम्न । (६ २१)

'तत्त्वार्थसूत्र' में उच्च गोत्र तथा नीच गोत्र के बंध-हेतु इस प्रकार हैं

परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणाच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य (६.२४)

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य। (६.२५)

इन पाठों के अनुसार परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, सद्गुणों का आच्छादन और असद्गुणों के प्रकाशन ये नीच गोत्र के बंध-हेतु हैं और इनसे विपरीत अर्थात् परप्रशंसा, आत्मनिन्दा आदि उच्च गोत्र के बंध-हेतु हैं।

शुभ उच्च गोत्र के बंध-हेतु शुभ हैं और नीच गोत्र के बंध-हेतु अशुभ हैं।

२३—ज्ञानावरणीय आदि चार पाप कर्मों के बंध-हेतु (गा० ३१) .

कर्म आठ हैं। पुण्य और पाप इन दो कोटियों की अपेक्षा से वर्गीकरण करने पर ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय—ये चारों एकांत पाप की कोटि में आते हैं (देखिए पृ० १५५-६ टि० ३ (१))।

बंध-हेतुओं की दृष्टि से पाप कर्मों के बंध-हेतु भी पाप रूप हैं। जिस करनी से पाप कर्मों का बंध होता है वह सावद्य और जिन-आज्ञा के बाहर होती है। ज्ञानावरणीय आदि चार एकान्त पाप कर्मों के बंध-हेतु नीचे दिये जाते हैं, जिनसे यह कथन स्वतः प्रमाणित होगा।

१—ज्ञानावरणीय कर्म के बंध-हेतु

(१) ज्ञान-प्रत्यनीकता,

(२) ज्ञान-निह्नव,

(३) ज्ञानान्तराय,

(४) ज्ञान-प्रद्वेष,

(५) ज्ञानाशातना और

(६) ज्ञान-विसंवादन योग।

२—दर्शनावरणीय कर्म के बंध-हेतु

(१) दर्शन-प्रत्यनीकता,

(२) दर्शन-निह्नव,

(३) दर्शनान्तराय,

(४) दर्शन-प्रद्वेष,

(५) दर्शनाशातना और

(६) दर्शन-विसंवादन योग।

७—'भगवती सूत्र' में पुण्य-पाप की करनी का उल्लेख (गा० ३३) :

'भगवती सूत्र' शतक ८ उद्देशक ६ से वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र कर्म के बंध-हेतुओं से सम्बन्धित पाठों के अवतरण ऊपर दिये जा चुके हैं। ज्ञानावरणीय आदि चार एकान्त पाप कर्मों के बंध-हेतु विषयक पाठ क्रमशः वहाँ इस प्रकार मिलते हैं :

(१) णाणावरणिज्जकम्मासरीरप्पओगबंधे णं भंते ! कस्स कम्मस्स उदएणं ? गोयमा ! नाणपडिणीययाए, णाणणिण्हवणयाए, णाणंतराएणं, णाणप्पदोसेणं, णाणच्चासायणयाए, णाणविसंवादणाजोगेणं णाणावरणिज्जकम्मासरीरप्पओगनामाए कम्मस्स उदएणं णाणावरणिज्जकम्मासरीरप्पओगबंधे।

(२) दरिसणावरणिज्जकम्मासरीरप्पओगबंधे णं भंते ! कस्स कम्मस्स उदएणं ? गोयमा ! दंसणपडिणीययाए, एवं जहा णाणावरणिज्जं, नवरं दंसणनामं घेत्तव्वं, जाव दंसणविसंवादणाजोगेणं दंसणावरणिज्जकम्मासरीरप्पओनामाए कम्मस्स उदएणं जाव पओगबंधे।

(३) मोहणिज्जकम्मासरीर—पुच्छा। गोयमा ! तिव्वकोहयाए, तिव्वमाणयाए, तिव्वमाययाए, तिव्वलोभयाए, तिव्वदंसणमोहणिज्जयाए, तिव्वचरित्तमोहणिज्जयाए मोहणिज्जकम्मासरीरप्पओग० जाव पओगबंधे।

(४) अंतराइयकम्मासरीर—पुच्छा। गोयमा ! दाणंतराएणं, लाभंतराएणं, भोगंतराएणं, उवभोगंतराएणं, वीरियंतराएणं अंतराइयकम्मासरीरप्पयोगनामाए कम्मस्स उदएणं अंतराइयकम्मासरीरप्पयोगबंधे।

२६—कल्याणकारी कर्म-बंध के दस बोल (गा० ३४-३७) :

भिन्न-भिन्न पुण्य कर्मों के बंध-हेतुओं का पृथक्-पृथक् विवरण पहले आ चुका है। इन गाथाओं में स्वामीजी ने 'स्थानाङ्ग सूत्र' के दसवें स्थानक के उस पाठ का मर्म उपस्थित किया है, जिसमें भद्र कर्मों के प्रधान बंध-हेतुओं का समुच्चय रूप से संकलन है। वह पाठ इस प्रकार है :

दसहिं ठाणेहिं जीवा आगमेसिभद्दत्ताए कम्मं पगरेंति तं०—अणिदाणताते, दिट्ठि-संपन्नयाए, जोगवाहियत्ताते, खंतिखमणताते, जिइंदियताते, अमाइल्लताते, अपा-सत्थताते, सुसामण्णताते, पवयणवच्छल्लयाते, पवयणउब्भावणताए। (१० ७५८)

इसका भावार्थ है—दस स्थानकों से—बातों से जीव आगामी भव में भद्र रूपकर्म प्राप्त करता है :

(१) अनिदान तप आदि धार्मिक अनुष्ठान के फलस्वरूप सांसारिक भोगादि की प्रार्थना-कामना करने को निदान कहते हैं, उसका अभाव ,

(२) दृष्टिसंपन्नता निर्मल सम्यक्दर्शन से संयुक्त होना ,

(३) योगवाहिता—समाधिभाव । योगो में, बाह्य पदार्थों के प्रति, उत्सुकता का अभाव ,

(४) क्षान्ति-क्षमणता , आक्रोश, वध, बंधन आदि परिषह-सहन

(५) जितेन्द्रियता—इन्द्रिय-दमन ,

(६) अमायाविता · छल, कपटादि का अभाव ,

(७) अपार्श्वस्थता ज्ञान, दर्शन, चारित्र की उपासना । शय्यातर पिण्ड, अभिहृत पिण्ड, नित्य पिण्ड, नियताग्र पिण्ड आदि का सेवन न करना ,

(८) सश्रामण्य पार्श्वस्थतादि अवगुणो से रहित मूल उत्तर गुणो से सयुक्त होना

(९) प्रवचन-वत्सलता—पाँच समितियो और तीन गुप्ति का सम्यक्पालन और

(१०) प्रवचन-उद्भावनता—धर्म-कथा-कथन ।

यह भद्र कर्म शुभ है और यहाँ वर्णित उसके बंध-हेतु भी शुभ हैं ।

इस पाठ से भी यही सिद्ध होता है कि पुण्य कर्मो के बंध-हेतु निरवद्य होते हैं।

२७—पुण्य के नव बोल (गा० ५४) ·

द्वितीय ढाल के प्रथम दो दोहो में जो बात कही है वही यहाँ पुनः कही गयी है (देखिए पृ० २००-२०१ टि० १,२) । इस पुनरुक्ति का कारण यह है कि स्वामीजी आगे जाकर इन नवो ही बोलो की अपेक्षा की चर्चा करना चाहते हैं और उस चर्चा की उत्थानिका के रूप में पुनरावृत्ति करते हुए उन्होने कहा है

"पुण्य उत्पत्ति के नवो हेतु निरवद्य हैं । वे जिन आज्ञा में हैं । सावद्य निरवद्य व्यतिरिक्त रूप मे नवो बोल पुण्य-बंध के हेतु नहीं हैं ।"

२८—क्या नवों बोल अपेक्षा रहित हैं ? (गा० ५०-५४)

उठता। सबको सब तरह के भोजन और पेय देने से पुण्य कर्म होता है।

अन्न पुण्य, पान पुण्य आदि का इस प्रकार अर्थ करना स्वामीजी की दृष्टि मे न्याय-सगत नही। उनके विचार से इस प्रकार का अर्थ करना जिन-प्रवचनो के विपरीत है। अपात्र दान से कभी पुण्य नही होता।

२६—पुण्य के नौ बोलों की समझ और अपेक्षा (गा० ४५-५४) :

सूत्रो में अनेक बोल बिना अपेक्षा के दिये हुये हैं। उदाहरण स्वरूप—वदना का बोल (गा० ११ और टिप्पणी ८)। सूत्र में मात्र इतना ही उल्लेख है कि वदना से मनुष्य नीच गोत्र का क्षय करता है और उच्च गोत्र का बध। किसकी वदना से ऐसा फल मिलता है, इसका वहाँ उल्लेख नहीं। वैसे ही वैयावृत्य के बोल मे कहा है कि वैयावृत्य से तीर्थंकर गोत्र का बध होता है। किसकी वैयावृत्य से तीर्थंकर गोत्र का बध होता है इसका भी उल्लेख नही। सोच-विचार कर इन बोलो की अपेक्षा—सगति बैठानी पडती है। इसी प्रकार इन नौ बोलो के सबध में भी समझना चाहिए। इन नौ बोलो का वही सगतार्थ होगा जो कि आगम का अविरोधी अर्थात् निरवद्य-प्रवृत्ति का द्योतक होगा क्योकि यह दिखाया जा चुका है कि पुण्य कर्मों की प्रकृतियो के बध-हेतुओ में एक भी ऐसा कार्य नहीं आता जो सावद्य हो।

स्वामीजी का तर्क है कि नौ बोलो में नमस्कार-पुण्य का भी उल्लेख है। किसे नमस्कार करने से पुण्य होता है, इसका वहाँ कोई स्पष्टीकरण नही है, परन्तु इससे हर किसी को नमस्कार करना पुण्य का हेतु नही होता। 'नमोक्कार सूत्र' में भगवान ने पाँच नमस्य-पद बतलाये हैं, उन्हींको नमस्कार करने से पुण्य होता है, अन्य लोगों को नमस्कार करने से नही।

इसी प्रकार मन पुण्य, वचन पुण्य और काय पुण्य का उल्लेख है, परन्तु दुष्प्रवृत्त मन, वचन और काय से पुण्य नही होगा, उनकी शुभ प्रवृत्ति से ही पुण्य होगा। उसी प्रकार अन्न पुण्य, पान पुण्य का अर्थ भी पात्र-अपात्र, सचित्त-अचित्त और एषणीय-अनेषणीय के भेदाधार पर करना होगा। आगमों के अनुसार निर्ग्रंथ साधु को अचित्त, एषणीय अन्न-पान आदि का देना ही पुण्य है। अन्य दान निरवद्य या पुण्य-बध के हेतु नही। स्वामीजी कहते हैं

(१) यदि अन्न पुण्य, पान पुण्य का अर्थ करते समय पात्र-अपात्र, कल्प्य-अकल्प्य और अचित्त-सचित्त के विवेक की आवश्यकता नहीं और सर्व दानो में पुण्य हो तो उस हालत में स्थान, शय्या और वस्त्र पुण्य के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होगी। मन

पुण्य, वचन पुण्य और काय पुण्य में भी शुभ-अशुभ प्रवृत्ति का अन्तर रखने की आवश्यकता नही होगी , हर प्रकार के मन प्रवर्तन से पुण्य होगा। इसी प्रकार नमस्कार पुण्य में भी नमस्य को लेकर भेद करने की आवश्यकता नहीं रहेगी, हर किसी को नमस्कार करने से पुण्य होगा। इस तरह 'शुभ योग से पुण्य होता है' यह सर्वमान्य सिद्धान्त ही अर्थशून्य हो जायगा।

(२) यदि नमस्कार पुण्य केवल पच परमेष्ठियो को नमस्कार करने मे ही मानते हैं और मन, वचन तथा काय पुण्य केवल उनके शुभ प्रवर्तन में, तो उस हालत में समुच्चय की स्थापना नही टिक सकती। केवल अन्न पुण्य और पान पुण्य को ही समुच्चय—अपेक्षा रहित मानने का कोई कारण नही, सबको अपेक्षा रहित मानना चाहिए। यदि नमस्कार पुण्य, मन पुण्य, वचन पुण्य और काय पुण्य को सापेक्ष मानते हो तो उस परिस्थिति में अन्न पुण्य, पान पुण्य आदि को भी सापेक्ष मानना होगा और यही कहना होगा कि निर्ग्रंथ-श्रमण को प्रासुक और एपणीय कल्प्य वस्तु देने मे ही पुण्य होता है।

(३) दान के सम्बन्ध में श्रमणोपासक का बारहवाँ अतिथिसविभागव्रत दिशासूचक है। जहाँ कही भी इस व्रत का उल्लेख आया है वहाँ पर श्रमण निर्ग्रंथो को अचित्त निर्दोष अन्न आदि देने की बात कही गई है। उदाहरण स्वरूप 'सूत्रकृताङ्ग' में कहा है

"श्रमणोपासक निर्ग्रंथ-श्रमणो को प्रासुक, एपणीय और स्वीकार करने योग्य अन्न, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कबल, रजोहरण, औषधि, भैषज्य, पीठ, पाट, शय्या और स्थान देते रहते हैं[1]।"

'भगवती सूत्र' में तुगिका नगरी के श्रावको के वर्णन में भी ऐसा ही पाठ है[2]। 'उपासकदशाङ्ग सूत्र' के प्रथम अध्ययन में आनन्द श्रावक ने इसी रूप में बारहवें व्रत को धारण किया है[3]। 'सूत्रकृताङ्ग' में आगे जाकर लिखा है " [illegible]

१—सूत्रकृताङ्ग २ २ ३९ समणे निग्गथे फासुएसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं वत्थपडिग्गहकबलपायपुछणेणं ओसहभेसज्जेणं पीढफलगसेज्जासथारएणं पडिलाभेमाणा विहरंति।

२—भगवती २.५ : समणे निग्गंथे फासु—एसणिज्जेणं असण—पाण—खाइम—साइमेणं, वत्थ—पडिग्गह—कबल—पायपुछणेणं, पीढ—फलग—सेज्जा—सथारएणं ओसह—भेसज्जेणं पडिलाभेमाणा अहापरिग्गहिएहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणा विहरन्ति।

३—उपासकदशा १ ५८ कप्पइ मे समणे निग्गंथे फासुएणं एसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं वत्थपडिग्गहकबलपायपुछणेणं पीढफलगसिज्जासथारएणं ओसहभेसज्जेणं य पडिलाभेमाणस्स विहरित्तए।

जीवन विताने वाले श्रमणोपासक आयुष्य पूरा होने पर मरण पाकर, महाऋद्धि वाले तथा महाद्युति वाले देवलोको में से कोई एक देवलोक में जन्म पाते हैं[1] ।" इससे प्रकट होता है कि पुण्य का सचय श्रमण-निर्ग्रंथो को अन्न आदि देने से ही होता है और अन्न पुण्यादि का अर्थ इसी रूप में करना अभीष्ट है ।

(४) विचार करने पर मालूम देगा कि पुण्य-सचय के जो नौ बोल बताए गये हैं वे वेदनीय, नाम, गोत्र और आयुष्य कर्मो की शुभ प्रकृतियो के बध-हेतुओ की संक्षिप्त सूचि-रूप हैं। इन बध-हेतुओ को सामने रखकर ही नौ बोलो का अर्थ करना उचित होगा। वहाँ तथारूप श्रमण-माहन को अशनादि देने से पुण्य कहा है, सर्व दान में नही ।

'सुमगला टीका' में पुण्य-बध के हेतुओ की व्याख्या करते हुए लिखा है "सुपात्रो को—तीर्थंकर, गणधर, आचार्य, स्थविर और मुनियो को अन्न देना, सुपात्रो को निरवद्य स्थान देना, सुपात्रो को वस्त्र देना, सुपात्रो को निर्दोष प्रासुक जल प्रदान करना, सुपात्रो को सस्तारक प्रदान करना, मानसिक शुभ सकल्प, वाचिक शुभ व्यापार, कायिक शुभ व्यापार और जिनेश्वर, यति प्रभृतियो का वदन-नमस्कार-पूजन आदि ये नौ पुण्य-बध के हेतु हैं[2] ।"

नौ पुण्यो की यह व्याख्या सम्पूर्णत शुद्ध है और स्वामीजी की व्याख्या से पूर्णरूपेण मिलती है। मूल शब्द 'नमोक्कार पुन्ने' है, जिसमें पुण्यादि से पूजन करने का समावेश

१—सूत्रकृताङ्ग २ २ ३६ ते ण एयारूवेण विहारेण विहरमाणा वहूइं वासाइं समणोवासगपरियाग पाउणति पाउणित्ता आवाहंसि उप्पन्नसि वा अणुप्पन्नसि वा वहूइ भत्ताइ पच्चक्खायति वहूइ भत्ताइ पच्चक्खाएत्ता वहूई भत्ताइ अणसणाए छेदेन्ति वहूइ भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता आलोइयपडिक्कता समाहिपत्ता कालमासे काल किच्चा अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवति, तजहा—महड्ढिएसु महज्जुइएसु जाव महासुक्खेसु

२—श्रीनवतत्त्वप्रकरणम् (सुमङ्गला टीका पृ० ४८-४६) सुपात्रेभ्य तीर्थंकरगणधराऽऽचार्यस्थविरमुनिभ्योऽन्नप्रदान (१) सुपात्रेभ्यो निरवद्यवसतेर्वितरणम् (२) सुपात्रेभ्यो वाससा प्रदानम् (३) सुपात्रेभ्यो निर्दुष्टप्रासुकजलप्रदानम् (४) सुपात्रेभ्य सस्तारकस्य प्रदानम् (५) मनस शुभसकल्प (६) वाच शुभव्यापार (७)कायस्य शुभव्यापार (८) जिनेश्वरयतिप्रभृतीना नमनवदनपूजनादीनि (९) इत्येतानि नव पुण्यबन्धस्य हेतुत्वेनोदाहृतानि, तथा चोक्त श्रीमत् स्थानाङ्गसूत्रे—"णवविधे-पुण्णे-अन्नपुन्ने १ पाणपुन्ने २ वत्थपुन्ने ३ लेण-पुन्ने ४ सयणपुन्ने ५ मणपुन्ने ६ वतिपुन्ने ७ कायपुन्ने ८ नमोक्कार पुन्ने ।"

नही होता। 'पूजन' शब्द द्वारा पुष्पादि से द्रव्यपूजा का संकेत किया गया है तो यह अवश्य दोषरूप है।

यह व्याख्या देने के बाद उसी टीका में लिखा है :

"तीर्थंकर, गणधर, मोक्षमार्गानुयायी मुनि ही सुपात्र हैं।

"देश विरतिवान् गृहस्थ तथा सम्यक्‌दृष्टि पात्र हैं।

"दीन, करुणा के पात्र, अंगोपांग से हीन व्यक्ति भी पात्रो के उदाहरण में सम्मिलित हैं।

"इन दो के अतिरिक्त शेष सभी अपात्र हैं।

"सुपात्रो को धर्मबुद्धि से दिये गये प्रासुक अशनादि के दान से अशुभ कर्मों की महती निर्जरा तथा महान् पुण्य-बंध होता है।

"देश विरति तथा सम्यक्‌दृष्टि श्रावको को अन्नादि देने से मुनियो के दान की अपेक्षा अल्प पुण्य-बंध तथा अल्प निर्जरा होती है।

"अंग विहीनादि को अनुकंपा की बुद्धि से दान देने से श्रावको को दान देने की अपेक्षा भी अल्पतर पुण्य-बंध होता है।

"कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कोई व्यक्ति किसी के घर दान के लिए जाता है और उसे यह सोच कर दान देना पड़ता है कि अपने घर आये इस व्यक्ति को यदि मैं नहीं देता हूँ तो इससे अपने अर्हत् धर्म की लघुता होगी। ऐसा सोच कर दान देने वाला व्यक्ति अल्पतम पुण्य-बंध प्राप्त करता है।

'सुमगला टीका' के उपर्युक्त विवेचन का सार यह है कि स्वस्थ मिथ्यात्वियो को इच्छापूर्वक देने के अतिरिक्त सबको अन्न देने में कम या अधिक पुण्य होता है। तत्त्व निर्णय में दान के निषेध की शका करने की आवश्यकता नही। तथ्य यह है कि आगमो में सुपात्र अर्थात् श्रमण-निर्ग्रंथ को छोड कर अन्य किसी को अन्नादि देने से पुण्य होता है, ऐसा विधान कही भी दृष्टिगोचर नही होता।

श्रावक के बारहवें व्रत अतिथि-सविभाग का स्वरूप बताते हुये तत्त्वार्थसूत्रकार कहते हैं

"न्यायागत, कल्पनीय अन्नपानादि द्रव्यो का, देश-काल-श्रद्धा-सत्कार के क्रम से, अपने अनुग्रह की प्रकृष्ट बुद्धि से सयतियो को दान करना अतिथिसविभागव्रत है[1]।"

न्यायागत का अर्थ है—अपनी वृत्ति के अनुष्ठान—सेवन से प्राप्त—अर्थात् अपने[2]।

कल्पनीय का अर्थ है—उद्गमादि-दोष-वर्जित[3]।

अन्नपानादि द्रव्यो का अर्थ है-अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, प्रतिश्रय सस्तार और भेषजादि वस्तुएँ[4]।

देश-काल-श्रद्धा-सत्कार के क्रम से का अर्थ है-देश, काल के अनुसार श्रद्धा—विशुद्ध परिणाम और सत्कार—अभ्युत्थान, आसन दान, वदन अनुव्रजनादि की परिपाटी के साथ[5]।

अनुग्रह की प्रकृष्ट बुद्धि का अर्थ है—मैं पच महाव्रत युक्त साधु को दे रहा हू, इसमें मेरा अनुग्रह—कल्याण है, इस उत्कृष्ट भावना से[6]।

१—तत्त्वार्थसूत्र ७ १६ भाष्य अतिथिसविभागो नाम न्यायागतानां कल्पनीयाना-मन्नपानादीना द्रव्याणा देशकालश्रद्धासत्कारक्रमोपेत परयात्मानुग्रहबुद्धया सयतेभ्यो दानमिति।

२—सिद्धसेन टीका ७ १६ न्यायोद्विजक्षत्रियविट्शूद्राणां च स्ववृत्त्यनुष्ठानम्। तेन तादृशा न्यायेनागतानाम्।

३—वही कल्पनीयानामिति उद्गमादिदोषवर्जितानाम्

४—वही अशनीयपानीयखाद्यस्वाद्यवस्त्रपात्रप्रतिश्रयसस्तारभेषजादीनाम्। पुद्गल-विशेषाणाम्।

५—वही श्रद्धा विशुद्धश्चित्तपरिणाम पात्राद्यपेक्ष। सत्कारोऽभ्युत्थानासनदानवन्दनानु-व्रजनादि। क्रम परिपाटी। देशकालापेक्षो य पाको निर्वृत्त स्वगेहे तस्य पेयादिक्रमेण दानम्।

६—वही परयेति प्रकृष्टया आत्मनोऽनुग्रहबुद्धया ममायमनुग्रहो महाव्रतयुक्तं साधुभि क्रियते यदशनीयाद्यादत्त इति।

संयतियो को—इसका अर्थ है—मूल उत्तर गुण से सम्पन्न संयतात्माओ को। महा व्रतयुक्त साधुओ को[1]।

भाष्य-पाठ के 'कल्पनीय', 'श्रद्धा-सत्कार', 'अनुग्रह-बुद्धि' और 'संयति' शब्द और इन शब्दो की 'सिद्धसेन टीका' से यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्त्वार्थकार ने संयतियो—साधुओं को ही इस व्रत का पात्र, साधुओ के ग्रहण योग्य वस्तुओ को ही कल्पनीय देय द्रव्य माना है। मूल सूत्र स्पर्शी दिगम्बरीय टीका और वार्त्तिक[2] भी इसीका समर्थन करते हैं। सार यह है कि बारहवें व्रत के 'अतिथि' शब्द की व्याख्या में साधु के अतिरिक्त किसी अन्य को दान देने का विधान नही है। ऐसी हालत में दूसरो को दान देने में पुण्य की स्थापना करना स्वतंत्र कल्पना है।

दान की परिभाषा 'तत्त्वार्थ सूत्र' में अन्यत्र इस प्रकार है 'अनुग्रह के लिये अपनी वस्तु का उत्सर्ग करना दान है' (अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ७ ३३)। वही लिखा है 'विधि, देयवस्तु, दाता और ग्राहक की विशेषता से उसकी (दान की) विशेषता है' (विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेष ७ ३४)। भाष्य में 'पात्रेऽतिसर्गो दानम्' अर्थात् पात्र के लिये अतिसर्ग करना—त्याग करना दान कहा है। 'पात्र विशेष' की व्याख्या करते हुये भाष्य में लिखा है 'पात्रविशेष सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतप सम्पन्नता इति।' सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप की सम्पन्नता से पात्र मे विशेषता आती है। 'सर्वार्थसिद्धि' में भी मोक्ष के कारण भूत गुणो से युक्त रहना पात्र की विशेषता बताई है (मोक्षकारणगुणसंयोग पात्रविशेष ७ ३९)। द्रव्य विशेष की व्याख्या करते हुए लिखा

१—वही अत्र संयता मूलोत्तरसम्पन्नास्तेभ्य संयतात्मभ्यो दानमिति

२—(क) सर्वार्थसिद्धि ७ २१ संयममविनाशयन्नततीत्यतिथि। मोक्षार्थमभ्युद्यतायातिथये संयमपरायणाय शुद्धाय शुद्धचेतसा निरवद्या भिक्षा देया। धर्मोपकरणानि च सम्यग्दर्शनाद्युपबृंहणानि दातव्यानि। औषधमपि योग्यमुपयोजनीयम्। प्रतिश्रयश्च परमधर्मश्रद्धया प्रतिपादयितव्य इति।

(ख) राजवार्तिक ७ २१ चारित्रलाभबलोपेतत्वात् संयमम् [illegible] अतत्यतिथि

(ग) श्रुतसागरी ७ २१ संयममविराधयन् अतति [illegible] तिथि। [illegible] मोक्षार्थं उद्यत संयमतत्पर शुद्ध [illegible] निरवद्या भिक्षा दातव्या, धर्मोपकरणानि च [illegible] औषधमपि योग्यमेव देयम्, [illegible] परमधर्मश्रद्धया [illegible]

है जिससे स्वाध्याय, तप आदि की वृद्धि होती है वह द्रव्य विशेष है (तप स्वाध्यायपरि-वृद्धिहेतुत्वादिर्द्रव्यविशेष ७ ३६) ।

उपर्युक्त विवेचन से भी स्पष्ट है कि दान की विशेष रूप से स्वतंत्र व्याख्या करते हुए भी वहाँ पात्र में असयतियो को स्थान नही दिया है ।

'भगवती सूत्र' में असयतियो को 'प्रासुक अप्रासुक-अशन पानादि' देने में एकान्त पाप कहा है :

समणोवासगस्स ण भंते ! तहारूव असंजयं अविरय-पडिहय-पच्चक्खायपाव-कम्म फासुएण वा, अफासुएण वा, एसणिज्जेण वा, अणेसणिज्जेण वा असण-पाण० जाव कि कज्जइ ? गोयमा ! एगतसो से पावे कम्मे कज्जइ, नत्थि से कावि निज्जरा कज्जइ (८ ६) ।

ऐसी स्थिति में किसी भी परिस्थिति में दिये गये असयति दानो में पुण्य की प्ररूपणा नही की जा सकती ।

पूर्व विवेचन में भिन्न-भिन्न पुण्य कर्मो के वध-हेतुओ के उल्लेख आये हैं । पुण्य-वध के इन हेतुओ में सार्वभौम दान को कही भी स्थान नही है । तथारूप श्रमण-निर्ग्रंथ को प्रासुक एषणीय आहारादि के दान से ही पुण्य प्रकृति का वध वतलाया है । तथ्य यही है कि अन्न-पुण्य, पान-पुण्य आदि की व्याख्या करते हुये पात्र रूप में साधु को ही स्वीकार करना आगमानुसारी व्याख्या है ।

३०—सावद्य-निरवद्य कार्य का आधार (गा० ५५-५८) :

स्वामीजी ने गाथा ४४ से ५४ तक यह सिद्ध किया है कि सावद्य दान से पुण्य कर्म का वध नही होता । सार्वभौम रूप से कहा जाय तो इसका आशय यह होगा कि सावद्य कार्य से पुण्य-कर्म का वध नही होता, निरवद्य कार्य से पुण्य-कर्म का वध होता है ।

प्रश्न होता है—निरवद्य कार्य और सावद्य कार्य का आधार क्या है ? स्वामीजी यहाँ वताते हैं—जिस कार्य में जिन-आज्ञा होती है वह निरवद्य कार्य होता है और जिस कार्य में जिन-आज्ञा नही होती वह सावद्य कार्य है ।

उदाहरण स्वरूप जीवो का घात करना, असत्य वोलना आदि अठारह पापो का सेवन जिन-आज्ञा में नही है । ये सावद्य कार्य हैं । हिंसा न करना, झूठ न वोलना आदि जिन-आज्ञा में हैं । ये निरवद्य कार्य हैं ।

निरवद्य कार्य में प्रयुक्त मन, वचन और काय के योग शुभ हैं और सावद्य कार्य में

प्रयुक्त मन, वचन और काय के योग अशुभ।

सयति साधुओ को अशनादि देने से सयम का पोषण होता है। सयम का पोषण होने से सयति दान जिन-आज्ञा में है और निरवद्य कार्य है। उसमें प्रवृत्ति शुभ योग रूप है और उसमे पुण्य का बध होता है। अन्य दानो मे असयम का पोषण होता है। उनमें जिन-आज्ञा नही। वे सावद्य कार्य हैं। उनमे प्रवृत्त होना अशुभ योग है और उससे पाप का बध होता है।

आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं "शुभ परिणामनिर्वृत्त योग शुभ है और अशुभ परिणामनिर्वृत योग अशुभ। शुभ-अशुभ कर्मों के कारण योग शुभ या अशुभ नही होते। यदि ऐसा हो तो शुभ योग ही न हो, क्योकि शुभ योग को भी ज्ञानावरणादि कर्मों के बध का कारण माना है[1]।"

श्रुतसागरी तत्त्वार्थवृत्ति में इतना विशेष है "शुभाशुभ कर्म के हेतु मात्र से यदि योग शुभ-अशुभ हो तो सयोगी केवली के भी शुभाशुभ कर्म का प्रसग उपस्थित होगा। पर वैसा नही होता। पुन शुभ योग भी ज्ञानावरणादि कार्यो के बध का कारण होता है। यथा किसी ने कहा—'हे विद्वन्! तुम उपवासी हो अत पठन मत करो, विश्राम लो।' हित परिणाम से ऐसा कहने वाले का चित्त अभिप्राय होता है—अभी विश्राम लेगा तो वह बाद में अधिक तप और श्रुताध्ययन कर सकेगा। उसके परिणाम विशुद्ध होने से तप और श्रुत का वर्जन करने पर भी वह अशुभाश्रव का भागी नही होता। 'आप्त मीमांसा' में कहा भी है—स्व और पर में उत्पन्न होने वाला सुख-दुःख यदि विशुद्धि[illegible] पुण्याश्रव होगा, यदि सक्लेशपूर्वक हैं तो पापाश्रव होगा[2]।"

१—सर्वार्थसिद्धि ६. ३ टीका कथ योगस्य शुभाशुभत्वम्? शुभपरिणामनिर्वृत्तो योग शुभ। अशुभपरिणामनिर्वृत्तश्चाशुभ। न पुन शुभाशुभकर्मकारणत्वेन। यद्येवमुच्य[illegible] शुभयोग एव न स्यात् शुभयोगस्यापि ज्ञानावरणादिबन्धहेतुत्वाभ्युपगमात्।

२—श्रुतसागरी वृत्ति ६. ३: न तु शुभाशुभकर्महेतुमात्रत्वेन शुभाशुभौ योगौ [illegible] तथा सति सयोगकेवलिनोऽपि शुभाशुभकर्मप्रसङ्ग स्यात, न च तथा। ननु शुभ योगोऽपि ज्ञानावरणादिबन्धहेतुर्वर्तते। यथा केनचिदुक्तम्—'भो विद्वन्, [illegible] पोषितो वर्तसे तत त्व पठन मा कुरु विश्रम्यताम्' इति, तत हितव्युत्पत्ति[illegible] णादि प्रयोक्तुर्भवति, तेन एक एवाशुभयोगोऽङ्गीक्रियताम्, शुभयोग [illegible] सत्यम्, स यदा हितेन परिणामेन पठन्त विश्रमयति तदा तस्य [illegible] अभिप्रायो वर्तते—'यदि इदानीमयं विश्राम्यति तदाग्रे अस्य बहुतर [illegible] दिक भविष्यति' इत्यभिप्रायेण तप श्रुतादिक वारयन्नपि अशुभाश्रव[illegible] न [illegible] विशुद्धिसक्लेशपरिणामहेतुत्वादिति। तदुक्तम्—"विशुद्धिसक्लेशाङ्ग चेत् [illegible] स्वपरस्थम्। पुण्यपापास्रवो युक्तो न चेद् व्यर्थस्तवार्हत॥ (आप्त मीमांसा श्लोक ९५)

इस सम्बन्ध मे प्रज्ञाचक्षु प सुखलालजी लिखते हैं—"योग के शुभत्व और अशुभत्व का आधार भावना की शुभाशुभता है। शुभ उद्देश्य से प्रवृत्त योग शुभ, और अशुभ उद्देश्य से प्रवृत्त योग अशुभ है। कार्य—कर्म-वध की शुभाशुभता पर योग की शुभाशुभता अवलम्बित नही, क्योकि ऐसा मानने से सारे योग अशुभ ही कहलायेंगे, कोई शुभ नही कहलायेगा, क्योकि शुभ योग भी आठवें आदि गुण स्थानो मे अशुभ ज्ञानावरणीय आदि कर्मो के वन्व का कारण होता है (इसके लिए देखो हिन्दी 'कर्म-ग्रन्थ' भाग चौथा "गुण स्थानो में वध विचार", तथा हिन्दी 'कर्म ग्रन्थ' भाग २)[1]।"

उपर्युक्त तीनो उद्धरणो में जो वात कही गई है वह अत्यन्त अस्पष्ट तथा सदिग्ध है। उल्लिखित 'कर्म-ग्रन्थो' के सदर्भों में भी इस सवन्ध में कोई विशेष प्रकाश डालने वाली वात नही। शुभयोग से ज्ञानावरणीय कर्म के वध का उल्लेख किसी भी आगम में प्राप्त नही है।

इसी भावनावाद का सहारा लेकर ही हरिभद्रसूरि जैसे विद्वान् आचार्य ने द्रव्य-स्नान[2] और पुष्प-पूजा[3] को अशुद्ध कहते हुए भी उनमें पुण्य की प्ररूपणा की है।

स्वामीजी ने प्रकारान्तर से इस भावनावाद का यहाँ खण्डन किया है। उनकी दृष्टि से भावना, आशय अथवा उद्देश्य से योग शुभ-अशुभ होता है, यह सिद्धान्त ही अशुद्ध है। सर्दी के दिन हैं। शीत के कारण एक जैन साधु कांप रहा है। एक मनुष्य उसे कांपता हुआ देखकर शीत-निवारण के लिये अग्नि जला कर उसे तपाता है। स्वामीजी

१—तत्त्वार्थसूत्र (तृ० आ० गुज०) पृ० २५२

२—अष्टकप्रकरण स्नानाष्टक ३—४

कृत्वेदं यो विधानेन देवतातिथिपूजनम्।
करोति मलिनारम्भी तस्यैतदपि शोभनम्॥
भावशुद्धिनिमित्तत्वात्तथानुभवसिद्धित।
कथञ्चिद्दोषभावेऽपि तदन्यगुणभावत॥

३—वही पूजाष्टकम् २-४

शुद्धागमैर्यथालाभ प्रत्यग्रै शुचिभाजनै।
स्तोकैर्वा बहुभिर्वाऽपि पुष्पैर्जात्यादिसम्भवै॥
अष्टापायविनिर्मुक्ततदुत्थगुणभूतये।
दीयते देवदेवाय या साऽशुद्धेत्युदाहृता॥
सङ्कीर्णेषा स्वरूपेण द्रव्याद्भावप्रसक्तित।
पुण्यबन्धनिमित्तत्वाद् विज्ञेया सर्वसाधनी॥

अन्यत्र कहते हैं—यदि भावना से योग शुभ हो तो यह योग भी शुभ होगा। एक मनुष्य जैन साधु को अनुकम्पावश सचित्त जल देता है। यदि भावना से योग शुभ हो तो साधु को सचित्त जल देना भी शुभ योग होगा।

आगम में अग्नि को लोहे के शस्त्र-अस्त्रों की अपेक्षा भी अधिक तीक्ष्ण और पापकारी शस्त्र कहा गया है। प्राणियों के लिए यह घात स्वरूप है। कहा है—"साधु! अग्नि सुलगाने की कभी इच्छा न करे। प्रकाश और शीत आदि के निवारण के लिए भी किञ्चित भी अग्नि का आरम्भ न करे। वह अग्नि का कभी सेवन न करे[1]।"

इसी तरह साधु के लिए सचित्त जल का वर्जन है। कहा है—"निर्जन पथ में अत्यन्त तृषा से आतुर हो जाने और जिह्वा के सूख जाने पर भी साधु शीतोदक का सेवन न करे[2]।"

साधु को अकल्प्य का सेवन कराना जहाँ उसके व्रतों का भङ्ग करना है वहाँ अग्नि सुलगाने और सचित्त जल देने में भी हिंसा है। ऐसी हालत में भावना से शुभाशुभ योग का निर्णय करना सिद्धान्त-सम्मत नहीं। जो जिन-आज्ञा के बाहर की क्रिया करता है उसकी भावना, उसके आशय और उद्देश्य शुभ नहीं कहे जा सकते।

स्वामीजी आगे कहते हैं—एक मनुष्य साधुओं को वंदना करने की भावना से घर से निकलता है। रास्ते में अयतनापूर्वक चलता है। जीवों का घात होता है। यदि भावना से योग शुभ हो तो जीवों का घात करते हुए अयतनापूर्वक चलना भी शुभ होगा।

एक श्रावक धर्म-लाभ की भावना से खुले मुँह स्वाध्याय-स्तवन करता है। यदि भावना से योग शुभ हो तो जीवो का घात करते हुए खुले मुह स्तवन आदि करना भी शुभ योग होगा[1]।

जो परिणामवाद अशुद्ध द्रव्य पूजा मे पुण्य का प्ररूपक हुआ उसकी आलोचना करते हुए स्वामीजी कहते हैं—"कई कहते हैं कि अपने परिणाम अच्छे होने चाहिए फिर जीव-हिंसा का पाप नही लगता। जो दूसरे जीवो के प्राणो को लूटता है उसके परिणाम भला अच्छे कैसे हैं? आगमो में कहा है–अर्थ, अनर्थ और धर्म के हेतु जीव-घात करने मे पाप होता है। फिर भी कई कहते हैं, धर्म के लिए जीव-हिंसा से पाप का वध नही होता क्योंकि परिणाम विशुद्ध हैं। जो उदीर कर जीव-हिंसा कर रहा है उसके परिणामो को अच्छे बतलाना निरी विवेकरहित बात है[2]।'

१—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (खण्ड १) विरत इविरत री चौपई ढाल ८ २,३,४,६,८ :

साध नें तपावें अगन सू अग्यांनी, ते तो पाप अठारां में पेंहलों रे।
तिण माहें पुन परूपें अग्यांनी, तिणने पिडत कहीजें के गेंहलो रे॥
साधु नें तपाया में पुन परूपें, ते तो मूढ मिथ्याती छे पूरो रे।
अगन री हिंसा में पाप न जाणे, ते मत निम्चेंइ कूडो रे॥
सभाय स्तवन कहें मुख उघाडें, जब वाउ जीवां री हुवें घातो रे।
केइ कहें वाउकाय रो पाप न लागे, आ उध मती री छे वातो रे॥
साधा नें वादण जाता मारग में, तस थावर री हुवें घातो रे।
ज्या सू जीव मूआ ज्यानें पाप न सरधें, त्यारा घट माहें घोर मिथ्यातो रे॥
विण उपीयोग मारग माहें चालें, कदे न मरे जीव किण घारो रे।
तो पिण वीर कह्यों छें तिण नें, छ काय रो मारणहारो रे॥

२—(क) वही ढा० ६ दोहा १-२

जिण आगम माहें इम कह्यों, श्री जिण मुख सू आप।
अर्थ अनर्थ धर्म कारणे, जीव हणया छें पाप॥
केइ अग्यानी इम कहें, धर्म काजें हणें जीव कोय।
चोखा परिणामा जीव मारीया, त्यांरो जावक पाप न होय॥
जीव मारें छे उदीर नें, तिणरा चोखा कहें परिणाम।
ते वेवेक विकल सुध बुध विना, वले जेंनी धरावें नांम॥

(ख) वही ढा० १२ ३४,३६

जीव मार्‌या हो पाप लागे नहीं,
चोखा चाहीजें निज परिणाम हो॥
तिणरा चोखा परिणाम किहा थकी,
पर जीवा रा लूटे छे प्राण हो॥

ऐसी परिस्थिति मे शुभ-अशुभ योग का निर्णायक तत्त्व भावना या उद्देश्य नहीं परन्तु वह कार्य जिन-आज्ञा सम्मत है या नही यह तत्त्व है। यदि कार्य जिन-आज्ञा सम्मत है तो उसमे मन, वचन, काय की प्रवृत्ति शुभ योग है और यदि कार्य जिन-आज्ञा सम्मत नही तो उसमे प्रवृत्ति अशुभ योग है

मन वचन काया रा योग तीनूई, सावद्य निरवद जोगो।
निरवद जोगां री श्री जिण आग्या, तिणरी करो पिछाणो रे॥
जोग नाम व्यापार तणो छें, ते भला नें भूंडा जाणो।
भला जोगां री जिण आगना छें, माठा जोग जिण आगना बार रे॥
मन वचन काया भली परवरतावो, गृहस्थ नें कहे जिणराय।
ते काया भली किण विध परवरतावें, तिणरो विवरो सुणो चित ल्याय।
निरवद किरतब मांहे काया परवरतावें, तिण किरतब ने काय जोग जाणो।
तिण किरतब री छै जिण आग्या, किरतब नें करो ओलखाणो रे[1]॥

स्वामीजी ने कहा है ध्यान, लेश्या, परिणाम और अध्यवसाय ये चारों शुभ-अशुभ दोनो तरह के होते हैं। शुभ ध्यान, शुभ लेश्या, शुभ परिणाम और शुभ अध्यवसाय इन चारो मे ही जिन-आज्ञा है। अशुभ ध्यान, अशुभ लेश्या, अशुभ परिणाम और अशुभ अध्यवसाय इन चारो में जिन-आज्ञा नहीं है[2]।

१—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (खण्ड १) जिनाग्या री चौपई ढाल ३ : ३८-४०

२—वही ढाल १ : १२-१३

शुभ ध्यान, शुभ लेश्या, शुभ परिणाम और शुभ अध्यवसाय चारो शुभ और प्रशस्त भाव हैं। इनसे निर्जरा के साथ पुण्य का वध होता है । अशुभ ध्यान, अशुभ लेश्या, अशुभ परिणाम और अशुभ अध्यवसाय चारो अशुभ और अप्रशस्त भाव हैं। इनसे पाप कर्मो का वध होता है। इन्हें एक उदाहरण से समझा जा सकता है। साधु की वदना करना निरवद्य कार्य है। साधु-वदन का ध्यान, लेश्या, परिणाम और अध्यवसाय शुभ मनोयोग रूप हैं। यतनापूर्वक साधु की स्तुति करना शुभ वचन योग है। उठ-बैठ कर वदना करना शुभ काय योग है। परदार-सेवन का ध्यान, लेश्या, परिणाम और अध्यवसाय अशुभ मनोयोग रूप हैं। वचन और काय से उस ओर प्रवृत्ति करना अशुभ वचन और काय योग हैं।

भावना साधु-वदन की होने पर भी वचन और काय के योग अशुभ हो सकते हैं। भावना की शुद्धि से योगो मे उस समय तक शुद्धि नही आयेगी जब तक वे अपने आप मे प्रशस्त और यतनापूर्वक नही हैं। स्वामीजी ने इस वात को इस प्रकार कहा है :

"एक मनुष्य साधु की वदना करने के उद्देश्य से घर से निकलता है। उद्देश्य साधु-वदन का होने पर भी जाते समय वह मार्ग मे जैसे कार्य करेगा वैसे ही फल उसे मिलेंगे। रास्ते में सावद्य-निरवद्य जैसे उसके तीनो योग होगे उसी अनुसार उसके अलग-अलग पुण्य-पाप का वध होगा। यदि मन योग शुभ होगा तो उससे एकान्त निर्जरा होगी तथा वचन और काय के योग अशुभ होंगे तो उनसे एकान्त पाप होगा। कदाचित् काय और वचन योग शुभ होंगे तो उनसे धर्म होगा, मन योग अशुभ होगा तो उससे पाप लगेगा। अगर तीनो ही योग शुभ होंगे तो जरा भी पाप का वध नही होगा। अगर तीनो योग अशुभ होंगे तो केवल पाप का वध होगा। इस प्रकार वन्दना के उद्देश्य से रास्ते मे जाते समय तीनो योगो का भिन्न-भिन्न व्यापार हो सकता है। जो योग अशुभ होगा उससे पाप और जो योग शुभ होगा उससे पुण्य का वध होगा, इसमें अन्तर नही पड सकता। दूध और जल की तरह सावद्य और निरवद्य के फल भिन्न-भिन्न हैं। साधु के पास पहुचने पर यदि वह भाव सहित साधु की वन्दना करता है तो उसके कर्मों का क्षय होता है। साधु-वन्दन के लिए जाना, वहाँ से लौटना और साधु के समीप पहुचने पर उसकी वन्दना करना—ये तीनो भिन्न-भिन्न कर्तव्य हैं। उसका जाना साधु की वन्दना करने के लिए है, उसका आना घर के लिए है। साधु की वन्दना करना उक्त दोनो कार्यों से भिन्न है। ये तीनो कर्तव्य एक नहीं हैं[1]।"

१—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (खण्ड १) विरत इविरत री चौपई ढाल ६ १२-१६

३१—उपसंहार (गा० ५९-६३)

इन गाथाओ मे जो बातें कही गयी हैं वे प्राय पुनरुक्त हैं। इन गाथाओ के उपसहारात्मक होने से इसी ढाल के प्रारम्भिक भावो की उनमे पुनरुक्ति हो यह स्वाभाविक है। पुण्य की प्रथम ढाल सवत् १८५५ की कृति है। यह दूसरी ढाल सवत् १८४३ की कृति है। प्रथम ढाल में विषय को जिस रूप में उठाया गया है, द्वितीय ढाल मे विषय को उसी रूप में समाप्त किया गया है। प्रथम ढाल के प्रारभिक दोहो तथा गाथा सख्या ५२-५८ तक में जो बात कही गयी है वही बात इस ढाल मे ६१-६३ सख्या की गाथाओ मे है। ६०वीं गाथा में जो बात है वही प्रारभिक दोहा सख्या १ मे है। ५९वी गाथा में सार रूप में उसी बात की पुनरुक्ति है जो इस ढाल का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। उपसहार के रूप में यहाँ निम्न बातें कही गयी हैं:

(१) निर्जरा और पुण्य की करनी एक है। जहाँ पुण्य होगा वहाँ निर्जरा होगी ही। जिस कार्य में निर्जरा है वह जिन भगवान की आज्ञा में है।

इस विषय मे यथेष्ट प्रकाश टिप्पणी ४ (पृ० २०३-२०८) में डाला जा चुका है। पुण्य-हेतुओ का विवेचन और उस सम्बन्ध में दी हुई सारी टिप्पणियाँ इस पर विस्तृत प्रकाश डालती हैं।

(२) पुण्य नौ प्रकार से उत्पन्न होता है, ४२ प्रकार से भोग में आता है।

इसके स्पष्टीकरण के लिये देखिये टिप्पणी १ (पृ० २००-१)।

अन्न-पुण्य, पान-पुण्य आदि पुण्य के नौ प्रकारो मे मन-पुण्य, वचन-पुण्य और काय-पुण्य भी समाविष्ट हैं। मन, वचन और काय के प्रशस्त व्यापारो की सख्या निर्दिष्ट करना सभव नहीं। ऐसी हालत मे नौ की सख्या उदाहरण स्वरूप है, अन्तिम नहीं। मन, वचन और काय के सर्व प्रशस्त योग पुण्य के हेतु हैं। पुण्य-बध के हेतुओ का जो विवेचन पूर्व में आया है उसमें मन-पुण्य, वचन-पुण्य और काय-पुण्य के अनेक उदाहरण सामने आये हैं।

'विशेषावश्यकभाष्य' मे सात वेदनीय, सम्यक्त्व मोहनीय, हास्य, पुरुषवेद, रति, शुभायु, शुभ नाम, शुभ गोत्र—इन प्रकृतियो को पुण्यप्रकृति कहा गया है[1]। शुभायु में

---

[1]—विशेषावश्यकभाष्य १९४६ :

सात सम्म हास पुरिस-रति-सुभायु-णाम-गोत्ताइं।
पुण्णं सेस पावं णेय सविवागमविवागं॥

देव, मनुष्य और तिर्यञ्च की आयु का समावेश है। शुभ नामकर्म प्रकृति में ३७ प्रकृतियों का समावेश है। इस तरह 'विशेषावश्यकभाष्य' के अनुसार ये ४६ प्रकृतियाँ शुभ होने से पुण्य रूप हैं।

'तत्त्वार्थसूत्र' के अनुसार भी पुण्य की ४६ प्रकृतियाँ हैं। आगम में सम्यक्त्व मोहनीय, हास्य, पुरुषवेद, रति इन्हें पुण्य की प्रकृति नहीं माना गया है। इन्हें न गिनने से पुण्य की प्रकृतियां ४२ ही रहती हैं[1] (देखिये टिप्पणी १० पृ० १६७-८)। बांधे हुए पुण्य कर्म ४२ प्रकार से उदय में आते हैं और अपनी प्रकृति के अनुसार फल देते हैं। यही पुण्य का भोग है।

(३) जो पुण्य की वांछा करता है वह कामभोगों की वांछा करता है। कामभोगों की वांछा से संसार की वृद्धि होती है।

इस विषय में प्रथम ढाल के दोहे १-५ और तत्संबंधी टिप्पणी १ (पृ० १५० ५१ द्रष्टव्य है। इस संबंध में एक प्रसिद्ध दिगम्बराचार्य का निम्न चिन्तन प्राप्त है

निर्ग्रंथ-प्रवचन में "पुण्य और पाप दोनों से मुक्त होना ही मोक्ष है[2]।" "जिसके पुण्य और पाप दोनों ही नहीं होते वही निरंजन है[3]।"

पुण्य से स्वर्गादि के सुख मिलते हैं और पाप से नरकादि के दुःख, ऐसा सोच कर जो पुण्य कर्म उत्पन्न करने के लिये शुभ क्रिया करता है वह पाप कर्म का बंध करता है। जैसे पाप दुःख का कारण है वैसे ही पुण्य से प्राप्त भोग-सामग्री का सेवन भी दुःख का कारण है, अतः पुण्य कर्म काम्य नहीं है।

"जो जीव पुण्य और पाप दोनों को समान नहीं मानता वह जीव मोह से मोहित हुआ बहुत काल तक दुःख सहता हुआ भटकता है[4]।"

१—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह भाष्यसहित नवतत्त्वप्रकरणम्

साय उच्चागोय सत्तत्तीस तु नामपगईओ।

तिन्नि य आऊणि तहा, बायाल पुन्नपगईओ ॥ ७ ॥

२—परमात्मप्रकाश २ ६३

पावें णारउ तिरिउ जिउ पुण्णें अमरु वियाणु।

दोहि वि मट्ट णिव्वाणु ॥

३—परमात्मप्रकाश १ २१

अस्ति न पुण्यं न पापं यस्य ।

स एव निरञ्जनो भावः ॥

४—परमात्मप्रकाश २ ५५

जो णवि मण्णइ जीउ समु पुण्णु वि पाउ वि दोइ।

सो चिरु दुक्खु सहंतु जिय मोहिं हिंडइ लोइ ॥

"वे पुण्य अच्छे नही जो जीव को राज्य देकर शीघ्र ही दुःख उत्पन्न करें[1]।" "यद्यपि असद्भूत व्यवहारनय से द्रव्यपुण्य और द्रव्यपाप ये दोनो एक दूसरे से भिन्न हैं, और अशुद्धनिश्चयनय से भावपुण्य और भावपाप ये दोनो भी आपस में भिन्न हैं, तो भी शुद्ध निश्चयनय से पुण्य-पाप रहित शुद्धात्मा से दोनो ही भिन्न और बंधरूप होने से दोनो समान ही हैं। जैसे कि सोने की बेडी और लोहे की बेडी ये दोनो ही बन्ध के कारण होने से समान हैं[2]।" "पुण्य से घर में धन होता है, धन से मद, मद से मतिमोह (बुद्धिभ्रम) और मतिमोह से पाप होता है, इसलिए ऐसा पुण्य हमारे न होवे[3]।"

काम-भोगो की इच्छा—निदान के दुष्परिणाम का हृदयस्पर्शी वर्णन 'दशाश्रुतस्कध'[4] में प्राप्त है। वहां सुचरित्र—तप, नियम और ब्रह्मचर्य वास के बदले में मानुषिक काम-भोगो की कामना करने वाले श्रमण-श्रमणियो के विषय में कहा गया है :

"ऐसे साधु या साध्वी जब पुन मनुष्य-भव प्राप्त करते हैं तब उनमें से कई तथारूप श्रमण-माहन द्वारा दोनो समय केवली-प्रतिपादित धर्म सुनाये जाने पर भी उसे सुनें, यह सम्भव नही। वे केवली प्रतिपादित धर्म सुनने के अयोग्य होते हैं। वे महा इच्छावाले, महा आरम्भी, महा परिग्रही, अधार्मिक और दक्षिणगामी नैरयिक होते हैं तथा आगामी जन्म में दुर्लभबोधि होते हैं।

"कोई धर्म को सुन भी ले पर यह सभव नही कि वह धर्म पर श्रद्धा कर सके, विश्वास कर सके, उसपर रुचि कर सके। सुनने पर भी वह धर्म पर श्रद्धा करने में असमर्थ होता है। वह महा इच्छावाला, महा आरंभी, महा परिग्रही और अधार्मिक होता है। वह दक्षिणगामी नैरयिक और दूसरे जन्म में दुर्लभबोधि होता है।

१—परमात्मप्रकाश २ ५७ :

म पुणु पुण्णइं भल्लाइं णाणिय ताइं भणंति।
जीवहं रज्जइं देवि लहु दुक्खइं जाइं जणंति॥

२—वही २ ५५ की टीका :

यद्यप्यसद्भूतव्यवहारेण द्रव्यपुण्यपापे परस्परभिन्ने भवतस्तथैवाशुद्धनिश्चयेन भावपुण्यपापे भिन्ने भवतस्तथापि शुद्धनिश्चयनयेन पुण्यपापरहितशुद्धात्मन सकाशाद्विलक्षणे सुवर्णलोहनिगलवद्बन्ध प्रति समाने एव भवत।

३—वही २ ६० :

पुण्णेण होइ विहवो विहवेण मओ मएण मइ-मोहो।
मइ-मोहेण य पाव ता पुण्ण अम्ह मा होउ॥

४—दशा १०

"कोई धर्म को सुन लेता है, उस पर श्रद्धा, विश्वास और रुचि भी करने लगता है पर सम्भव नही कि वह शीलव्रत, गुणव्रत, विरमणव्रत, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास का ग्रहण कर सके।

"कोई तथारूप श्रमण-माहन द्वारा प्ररूपित धर्म सुन लेता है, उसपर श्रद्धा, विश्वास और रुचि करने लगता है तथा शीलव्रतादि भी ग्रहण कर लेता है पर यह सम्भव नही कि वह मुंडित हो घर से निकल अनगारिता ग्रहण कर सके।

"कोई तथारूप श्रमण-माहन द्वारा केवली-प्ररूपित धर्म सुनता है, उसपर श्रद्धा, विश्वास और रुचि करता है तथा मुण्ड हो घर से निकल अनगारिता—प्रव्रज्या ग्रहण करता है पर सम्भव नही कि वह इसी जन्म मे, इसी भव मे सिद्ध हो—सर्व दुःखो का अन्त कर सके।"

इस प्रकार निदान कर्म का पाप रूप फल-विपाक होता है।

जो तप आदि कृत्यों के फलस्वरूप कामभोगो की कामना करता है और जो शुद्ध भाव से केवल कर्मक्षय के लिए तपस्या करता है उन दोनों के फल-विपाक का चित्रण 'उत्तराध्ययन सूत्र' के चित्तसम्भूत अध्ययन मे बड़े ही मार्मिक ढंग से किया गया है। यह प्रकरण दशाश्रुतस्कन्ध में प्ररूपित उक्त सिद्धान्त का सोदाहरण विवेचन है। उसका संक्षिप्त सार नीचे दिया जा रहा है।

कांपिल्य नगर में चूलनी रानी की कुक्षि से उत्पन्न हो सम्भूत महर्द्धिक, महायशस्वी चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त हुआ। चित्त पुरिमताल नगर के विशाल श्रेष्ठि कुल में उत्पन्न हो धर्म सुनकर दीक्षित हुआ। एक बार कांपिल्य नगर में चित्त और सम्भूत दोनों मिले और आपस में सुख-दुःख फल विपाक की बातें करने लगे।

सम्भूत बोले—"हम दोनो भाई एक दूसरे के वश मे रहने वाले, एक दूसरे में अनुरक्त करने वाले और एक दूसरे के हितैषी थे। दशार्ण देश मे हम दोनो दास थे, कालिंजर पर्वत पर मृग, मृतगंगा के किनारे हंस और काशी मे चाण्डाल थे। हम देवलोक में महर्द्धिक देव थे। यह हम दोनो का छठवां भव है जिसमें हम एक दूसरे से पृथक हुए हैं।"

चित्त बोले—"राजन्! तुमने मन से निदान किया था, उस कर्म-फल के विपाक से हमारा वियोग हुआ है[1]।"

१—उत्त० १३ : ८

कम्मा नियाणप्पगडा तुमे राय विचिन्तिया।
तेसिं फलविवागेण विप्पओगमुवागया॥

सम्भूत बोले—"हे चित्त ! मैंने पूर्व जन्म मे सत्य और शौचयुक्त कर्म किये थे उनका फल यहा भोग रहा हू। क्या तुम भी वैसा ही फल भोग रहे हो ?"

चित्त बोले—"मनुष्यो का सुचीर्ण—सदाचरण सफल होता है। किए हुए कर्मों का फल भोगे विना मुक्ति नही होती। मेरी आत्मा भी पुण्य के फलस्वरूप उत्तम द्रव्य और कामभोगो से युक्त थी। पर मैं अल्पाक्षर और महान अर्थवाली गाथा को सुनकर ज्ञानपूर्वक चारित्र से युक्त होकर श्रमण हुआ हूँ।"

सम्भूत बोले—"हे भिक्षु ! नृत्य, गीत और वाद्ययन्त्रो से युक्त ऐसी स्त्रियो के परिवार के साथ इन भोगो को भोगो। यह प्रव्रज्या तो निश्चय ही दु खकारी है।"

चित्त बोले—"राजन् ! अज्ञानियो के प्रिय किन्तु अन्त मे दुख दाता—काम-गुणो में वह सुख नही है, जो काम-विरत, शील-गुण में रत रहने वाले तपोधनी भिक्षुओ को होता है।

"राजन् ! चाण्डाल-भव में कृत धर्माचरण के शुभ फलस्वरूप यहाँ तुम महा प्रभावशाली ऋद्धिमत और पुण्य-फल से युक्त हो। राजन् ! इस नाशवान जीवन मे जो अतिशय पुण्यकर्म नही करता है, वह धर्माचरण नही करने से मृत्यु के मुह मे जाने पर शोक करता है। उसके दु ख को ज्ञातिजन नहीं बटा सकते, वह स्वय अकेला ही दु ख भोगता है, क्योकि कर्म कर्त्ता का ही अनुसरण करते हैं। यह आत्मा अपने कर्म के वश होकर स्वर्ग या नरक मे जाता है। पाञ्चालराज ! सुनो तुम महान आरम्भ करने वाले मत बनो।"

सम्भूत बोले—"हे साधु ! आप जो कहते हैं उसे मैं समझता हूँ, किन्तु हे आर्य ! ये भोग बन्धनकर्त्ता हो रहे हैं, जो मेरे जैसे के लिए दुर्जय हैं। हे चित्त ! मैंने हस्तिनापुर मे महाऋद्धिशाली नरपति (और रानी) को देखकर कामभोग मे आसक्त हो अशुभ निदान किया था, उसका प्रतिक्रमण नही करने से मुझे यह फल मिला है। इससे मैं धर्म को जानता हुआ भी काम-भोगो मे मूर्च्छित हूँ[1]। जिस प्रकार कीचड मे फँसा हुआ हाथी स्थल को देखकर भी किनारे नहीं आ सकता उसी प्रकार काम-गुणो में आसक्त हुआ मैं साधु के मार्ग को जानता हुआ भी अनुसरण नहीं कर सकता।"

१—उत्त० १३ : २८-२९

हत्थिणपुरम्मि चित्ता दट्ठूण नरवइं महिड्ढीयं।
कामभोगेसु गिद्धेणं नियाणमसुहं कडं॥
तस्स मे अपडिकन्तस्स इमं एयारिसं फलं।
जाणमाणो वि जं धम्मं कामभोगेसु मुच्छिओ॥

चित्त बोले—"राजन् ! तुम्हारी भोगो को छोड़ने की बुद्धि नही है, तुम आरम्भ परिग्रह मे आसक्त हो। मैंने व्यर्थ ही इतना बकवाद किया। अब मैं जाता हूँ।"

साधु के वचनो का पालन नही कर और उत्तम काम-भोगो को भोगकर पाञ्चाल राज ब्रह्मदत्त प्रधान नरक मे उत्पन्न हुए।

महर्षि चित्त काम-भोगो से विरक्त हो, उत्कृष्ट चारित्र और तप तथा सर्वोत्कृष्ट सयम का पालन कर सिद्ध गति को प्राप्त हुए।

आगम में चार बातें दुर्लभ कही गई हैं (क) मनुष्य-जन्म, (ख) धर्म-श्रवण (ग) श्रद्धा और (घ) सयम में वीर्य[1]। निदान का ऐसा पाप फल-विपाक होता है कि इन चारो की प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है। इस तरह निदान से ससार की वृद्धि होती है मुक्ति-मार्ग शीघ्र हाथ नही आता।

(४) वांछा एक मुक्ति की ही करनी चाहिए, पुण्य अथवा सासारिक सुखों की नहीं।

आगम मे कहा है "कोई इहलोक के लिए तप न करे, परलोक के लिए तप न करे, कीर्ति-श्लोक के लिए तप न करे, एक निर्जरा (कर्म-क्षय) के लिए तप करे और किसी के लिए नहीं। यही तप समाधि है[2]।" "कोई इहलोक के लिए आचार—चारित्र का पालन न करे, परलोक के लिए आचार का पालन न करे, कीर्ति-श्लोक के लिए आचार का पालन न करे, पर अरिहतो द्वारा प्ररूपित हेतु के लिए ही आचार का पालन करे, अन्य किसी हेतु के लिए नहीं। यही आचार समाधि है[3]।"

१—उत्त० ३ १

चत्तारि परमगाणि, दुल्लहाणीह जन्तुणो।
माणुसत्त सुई सद्धा सजमम्मि य वीरियं॥

२—दशवैकालिक ६ ४.७

नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा, नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा, नो कित्ति-वण्ण-सद्द-सिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा, नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा चउत्थं पयं भवइ॥ ७॥

३—वही ६.४ ६

चउव्विहा खलु आयार समाही भवइ, त जहा। नो इहलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठेज्जा, नो परलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठेज्जा, नो कित्ति-वण्ण-सद्द-सिलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठेज्जा, नन्नत्थ आरहन्तेहिं हेऊहिं आयारमहिट्ठेज्जा चउत्थं पयं भवइ।

"जिसके और कोई आशा नही होती, और जो केवल निर्जरा के लिए तप करता , वह पुराने पाप कर्मो को धुन डालता है[1] ।"

स्वामीजी ने अन्यत्र कहा है

"निर्वद्य जोग तो साधु प्रवर्तावै ते कर्मक्षय करवाने प्रवर्तावै छै। निर्वद्य जोग थी महानिर्जरा हुवै छै। कर्मा री कोड खपै छै। इण कारणे प्रवर्तावै छै। पिण पुन्य लगावाने प्रवर्तावै नही। जो पुन्य लगावाने जोग प्रवर्तावै तो जोग अशुभ हीज हुवै। पुन्य री चावना ते जोग अशुभ छै।

"शुभ जोग प्रवर्तावतां पुन्य लागै छै ते साधु रै सारे नही। आपरा कर्म काटण नै जोग प्रवर्तायां वीतराग नी आज्ञा छै। तिण सू निर्वद्य जोग आज्ञा माँहि छै।

"निर्वद्य जोग पुन्य ग्रहे छै। ते टालवा री साधु री शक्ति नही। निर्वद्य जोग सू पुन्य लागै ते सहजे लागे छै। तिण उपर साधु राजी पिण नही। जाणपणा माँहि पिण यू जाणे छै—ए पुन्य कर्म ने काटणा छै। इणने काट्यां विना मोने आत्मीक सुख हुवै नही।

"इण पुन्य सू तो पुद्गलीक सुख पामै छै। तिण उपर तो राजी हुयां सात आठ पाडूवा कर्म बधे तिण सू साधु चारित्रियां ने राजी होणो नही[2] ।"

जो सर्व काम, सर्व राग आदि से रहित हो केवल मोक्ष के लिए धर्म-क्रिया करता है उसे किस प्रकार मुक्ति प्राप्त होती है, इसका उल्लेख इस प्रकार मिलता है। एक बार श्रमण भगवान महावीर ने कहा

"हे आयुष्मान् श्रमणो! मैंने निर्ग्रंथ-धर्म का प्रतिपादन किया है। यह निर्ग्रन्थ-प्रवचन सत्य है, अनुत्तर है, प्रतिपूर्ण है, केवल है, सशुद्ध है, नैयायिक है, शल्य का नाश करने वाला है, सिद्धि-मार्ग है, मुक्ति-मार्ग है, निर्याण-मार्ग है, निर्वाण-मार्ग है और अविसंदिग्ध-मार्ग है। यह सर्व दुःखो के क्षय का मार्ग है। इस मार्ग में स्थित जीव सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं और परिनिवृत्त हो सर्व दुःखो का अन्त करते हैं।

१—दशवैकालिक ९ ४ ८

विविह-गुण-तवो-रए य निच्चं
भवइ निरासए निज्जरट्ठिए ।
तवसा धुणइ पुराण-पावगं
जुत्तो सया तव-समाहिए ॥

२—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (खण्ड १) टीकम डोसी री चर्चा

" जो निर्ग्रंथ इस प्रवचन में उपस्थित हो, सर्व काम, सर्व राग, सर्व संग, सर्व स्नेह से रहित हो सर्व चरित्र में परिवृद्ध—दृढ होता है उसे अनुत्तर ज्ञान से, अनुत्तर दर्शन से और अनुत्तर शान्ति-मार्ग से अपनी आत्मा को भावित करते हुए अनन्त, अनुत्तर निर्व्याघात, निरावरण, सम्पूर्ण, प्रतिपूर्ण और श्रेष्ठ केवलज्ञान और केवलदर्शन की उत्पत्ति होती है।

"फिर वह भगवान, अर्हत्, जिन, केवली, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होता है। फिर वह देव, मनुष्य और असुरो की परिषद् में उपदेश आदि करता है। इस प्रकार बहुत वर्षों तक केवली-पर्याय का पालन कर आयु को समाप्त देख भक्त-प्रत्याख्यान करता है और अनेक भक्तो का अनशन द्वारा छेदन कर अन्तिम उच्छ्वास-नि श्वास में सिद्ध होता है और सर्व दु खो का अन्त कर देता है।

" हे आयुष्मान् श्रमणो ! निदानरहित क्रिया का यह कल्याण रूप फल विपाक है जिससे कि निर्ग्रन्थ इसी जन्म में सिद्ध हो सर्व दु खो का अन्त करता है[1] "

१—दशाश्रुतस्कन्ध दशा १०

: ४ :

पाप पदारथ

दुहा

१—पाप पदारथ पाडओ, ते जीव ने घणो भयकार।
ते घोर रुद्र छै बीहामणो, जीव ने दुःख नो दातार॥

२—पाप तो पुदगल द्रव्य छै, त्याने जीव लगाया ताम।
तिणसूं दुःख उपजै छै जीव रे, त्यारो पाप कर्म छै नाम॥

३—जीव खोटा खोटा किरतब करै, जब पुदगल लागै ताम।
ते उदय आया दुख उपजे, ते आप कमाया काम॥

४—ते पाप उदय दुख उपजे, जब कोई म करजो रोस।
आप कीया जिसा फल भोगवे, कोई पुदगल रो नहीं दोस॥

५—पाप कर्म नें करणी पाप री, दोनूं जूआ जूआ छै ताम।
त्यानें जथातथ परगट करूं, ते सुणजो राख चित ठाम॥

: ४ :

पाप पदार्थ

दोहा

१—पाप पदार्थ हेय है। वह जीव के लिए अत्यन्त भयकर है। वह घोर, रुद्र, डरावना और जीव को दुःख देने वाला है।

पाप पदार्थ का स्वरूप

२—पाप पुद्गल-द्रव्य है। इन पुद्गलों को जीव ने आत्म-प्रदेशों से लगा लिया है। इनसे जीव को दुःख उत्पन्न होता है। अत इन पुद्गलों का नाम पाप कर्म है।

पाप की परिभाषा

३—जब जीव बुरे-बुरे कार्य करता है तब ये (पाप कर्म रूपी) पुद्गल आकर्षित हो आत्म-प्रदेशों से लग जाते है। उदय में आने पर इन कर्मो से दुःख उत्पन्न होता है। इस तरह जीव के दुःख स्वयकृत हैं।

पाप और पाप-फल स्वयकृत हैं

४—पापोदय से जब दुःख उत्पन्न हों तब मनुष्य को क्षोभ नहीं करना चाहिए। जीव जैसे कर्म करता है वैसे ही फल उसे भोगने पड़ते हैं। इसमें पुद्गलों का कोई दोष नहीं है[1]।

जैसी करनी वैसी भरनी

५—पाप-कर्म और पाप की करनी ये एक दूसरे से भिन्न हैं[2]। अब मै पाप कर्मों के स्वरूप को यथातथ्य भाव से प्रकट करता हूँ। चित्त को स्थिर रखकर सुनना।

पाप कर्म और पाप की करनी भिन्न-भिन्न हैं

ढाल : १

(मेघकुमर हाथी रा भव में)

१—घनघातीया च्यार कर्म जिण भाख्या, ते अभपडल बादल ज्यू जाणो।
त्या जीव तणा निज गुण ने विगाड्या, चंद बादल ज्यू जीव कर्म दबाणो॥
पाप कर्म अन्तःकरण ओलखीजे*॥

२—ग्यानावर्णी ने दर्शनावर्णीय, मोहणी ने अन्तराय छै ताम।
जीव रा जेहवा जेहवा गुण विगाड्या, तेहवा तेहवा कर्मां रा नाम॥

३—ग्यानावर्णी कर्म ग्यान आवा न दे, दर्शणावर्णी दर्शण आवे दे नाही।
मोह कर्म जीव ने करे मतवालो, अनराय आछी वस्तु आडी छै मांही॥

४—ए कर्म तो पुदगल रूपी चोफरसी, त्याने खोटी करणी करे जीव लगाया।
त्यारा उदा सू खोटा खोटा जीव रा नाम, तेहवा इज खोटा नाम कर्मा रा पाया॥

५—या च्यारू कर्मां री जुदी जुदी प्रकृत, जूआ जूआ छै त्यारा नाम।
त्यासू जूआ जूआ जीव रा गुण अटक्या, त्यारो थोड़ो सो विस्तार कहूं छूं ताम।

---

* प्रत्येक गाथा के अन्त में इसकी पुनरावृत्ति है।

ढाल : १

घनघाती कर्म और उनका सामान्य स्वभाव

१—जिन भगवान ने चार घनघाती कर्म कहे हैं। इन कर्मों को अभ्रपटल—बादलों की तरह समझो। जिस तरह बादल चन्द्रमा को ढक लेते हैं उसी प्रकार इन कर्मों ने जीव को आच्छादित कर उसके स्वाभाविक गुणों को विकृत (फीका) कर दिया है।

घनघाती कर्मों के नाम

२—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय ये चार घनघाती कर्म हैं। कर्मों के ये ज्ञानावरणीय आदि नाम क्रमशः आत्मा के उन-उन ज्ञानादि गुणों को विकृत करने से पड़े हैं।

प्रत्येक का स्वभाव

३—ज्ञानावरणीय कर्म ज्ञान को उत्पन्न नहीं होने देता। दर्शनावरणीय कर्म दर्शन को उत्पन्न होने से रोकता है। मोहनीय कर्म जीव को मतवाला कर देता है। अन्तराय कर्म अच्छी वस्तु की प्राप्ति में बाधक होता है।

गुण-निष्पन्न नाम (गा० ४-५)

४—ये कर्म चतुःस्पर्शी रूपी पुद्गल हैं। जीव ने बुरे कृत्यों से इन्हें आत्म-प्रदेशों से लगाया है। इनके उदय से जीव के (अज्ञानी आदि) बुरे नाम पड़ते हैं। जो कर्म जैसी बुराई उत्पन्न करता है उसका नाम भी उसीके अनुसार है।

५—ज्ञानावरणीय आदि चारों कर्मों की प्रकृतियां एक दूसरे से भिन्न हैं। अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार इनके भिन्न-भिन्न नाम हैं। ये कर्म जीव के भिन्न-भिन्न गुणों को रोकते-अटकाते हैं। अब मैं इनके स्वरूप को कुछ विस्तार से कहूँगा।

६—ग्यांनावर्णी कर्म री प्रकृत पाचे, तिणसूं पाचोइ ग्यान जीव न पावे।
मत ग्यानावर्णी मतग्यान रे आडी, सुरत ग्यानावर्णी सुरत ग्यान न आवे॥

७—अवधि ग्यानावर्णी अवधि ग्यान ने रोके, मनपरज्यावर्णी मनपरज्या आडी।
केवल ग्यानावर्णी केवल ग्यान रोके, या पाचा मे पाचमी प्रकृत जाडी॥

८—ग्यानावर्णी कर्म षयउपसम हुवे, जब पामे छै च्यार ग्यान।
केवल ज्ञानावर्णी तो खयोपसम न हुवै, आ तो षय हुवा पामे केवलग्यान॥

९—दर्शणावर्णी कर्म री नव प्रकृत छै, ते देखवाने सुणवादिक आडी।
जीवा ने जावक कर देवे आवा, त्या मे केवल दर्शणावर्णी सगला म जाडी॥

१०—चषू दर्शणावर्णी कर्म उदे सू, जीव चषू रहीत हुवे आंधो।
अचषू दर्शणावर्णी कर्म रे जोगे, च्यारू इंद्रीया री पर जाणे [illegible]॥

११—अवधि दर्शणावर्णी कर्म उदे सू, अवधि दर्शन न पामे [illegible]।
केवल दर्शणावर्णी तणे परसगे, उपजे नही केवल दरसण [illegible]॥

१२—निद्रा सुतो तो सुखे जगायो जागे, निद्रा २ उदे दुखे जागे [illegible]।
बेठा उभा जीव नें नींद आवे, तिण नींद तणों छै प्रचला [illegible]॥

१३—प्रचला २ नींद उदे सू जीव नें, [illegible]
पाचमी नींद छे कठिण थीणोदी, तिण नींद [illegible]

ज्ञानावरणीय कर्म की पाँच प्रकृतियो का स्वभाव (गा ६-७)

६-७—ज्ञानावरणीय कर्म की पांच प्रकृतियां है। जिनसे जीव पांच ज्ञानों को नहीं पाता। मतिज्ञानावरणीय कर्म मतिज्ञान के लिए रुकावट स्वरूप होता है। श्रुतज्ञानावरणीय कर्म श्रुतज्ञान को नहीं आने देता। अवधिज्ञानावरणीय कर्म अवधिज्ञान को रोकता है। मन पर्यवावरणी कर्म मन पर्यव-ज्ञान को नहीं होने देता और केवलज्ञानावरणीय केवल-ज्ञान को रोकता है। इन पांचों में पांचवीं प्रकृति सबसे अधिक घनी होती है।

इसके क्षयोपशम आदि से निष्पन्न भाव

८—ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जीव (मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्यवज्ञान) चार ज्ञान प्राप्त करता है। केवलज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम नहीं होता, उसके क्षय होने से केवलज्ञान प्राप्त होता है[४]।

दर्शनावरणीय कर्म की नौ प्रकृतियाँ (गा ६-१५)

९—दर्शनावरणीय कर्म की नौ प्रकृतियां है, जो नाना रूप से देखने और सुनने मे बाधा करती है। ये जीव को बिलकुल अंधा कर देती है। इनमे केवलदर्शनावरणीय कर्म प्रकृति सबसे अधिक घनी होती है।

१०—चक्षुदर्शनावरणीय कर्म के उदय से जीव चक्षुहीन—बिलकुल अंधा और अजान हो जाता है। अचक्षुदर्शनावरणीय कर्म के योग से (अवशेष) चार इन्द्रियों की हानि हो जाती है।

११—अवधिदर्शनावरणीय कर्म के उदय से जीव अवधिदर्शन को नहीं पाता तथा केवलदर्शनावरणीय कर्म-प्रसग से केवल-दर्शन रूपी दीपक प्रकट नहीं होता।

१२-१६-जो सोया हुआ प्राणी जगाने पर सहज जागता है—उसकी नींद 'निद्रा' है, 'निद्रा निद्रा' के उदय से जीव कठिनाई से जागता है। बैठे-बैठे, खड़े-खड़े जीव को नींद आती है—उसका नाम 'प्रचला' है। जिस निद्रा के उदय से जीव को चलते-फिरते नींद आती है वह 'प्रचला-प्रचला' है। पांचवीं निद्रा 'स्त्यानगृद्धि' है। इससे जीव बिलकुल दब जाता है। यह निद्रा बड़ी कठिन—गाढ होती है।

१४—पाच निद्रा नें च्यार दर्शणावर्णी थी, जीव अंध हुवे जावक न सुझे लिगार।
देखण आश्री दर्शणावर्णी कर्म, जीव रे जावक कीयो अंधार॥

१५—दर्शणावर्णी कर्म षयउपसम हुवे जद, तीन षयउपशम दर्शन पामे छै जीवो।
दर्शणावर्णी जावक षय होवे जब, केवल दर्शण पामे ज्यूं घट दीवो॥

१६—तीजो घनघातीयो मोह कर्म छे, तिणरा उदा सूं जीव होवें मतवालो।
सूधी श्रद्धा रे विषे मूढ मिथ्यानी, माठा किरतब रो पिण न होवें टालो॥

१७—मोहणी कर्म तणा दोय भेद कह्या जिण, दर्शण मोहणी ने चारित मोहणी जान।
इण जीव रा निज गुण दोय विगाड्या, एक समकत ने दूजो चारित जान॥

१८—वले दर्शण मोहणी उदे हुवे जब, सुध समकती जीव रो हुवे मिथ्यानी।
चारित मोहणी कर्म उदे हुवे जब, चारित खोयने हुवे छ काय रो घानी॥

१९—दर्शण मोहणी कर्म उदे सूं, सुधी सरधा समकत नावे।
दर्शण मोहणी उपसम हुवे जब, उपसम समकत निरमली पावे॥

२०—दर्शण मोहणी जावक खय होवे, जब खायक समकित सासती पावे।
दर्शण मोहणी षयउपसम हुवे जब, षयउपसम समकत जीव नें आवे॥

२१—चारित मोहणी कर्म उदे सूं, सर्व विरत चारित नहीं आवे।
चारित मोहणी उपसम हुवे जब, उपसम चारित निरमलो पावे॥

२२—चारित मोहणी जावक खय हुवे, तो खायक चारित जावे श्रीकार।
चारित मोहणी खयोपसम हुवे जद, खयउपसम चारित पावे च्यार॥

१४—उपर्युक्त पांच निद्राओं तथा चक्षु, अचक्षु, अवधि तथा केवल इन चार दर्शनावरणीय कर्मों से जीव बिलकुल अंधा हो जाता है—उसे बिलकुल दिखाई नहीं देता। देखने की अपेक्षा से दर्शनावरणीय कर्म पूरा अंधेरा कर देता है।

इसके क्षयोपशम आदि से निष्पन्न भाव

१५—दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने से जीव को चक्षु, अचक्षु और अवधि ये तीन क्षयोपशम दर्शन प्राप्त होते हैं। इस कर्म के सम्पूर्ण क्षय से केवलदर्शनरूपी दीपक घट में प्रकट होता है[५]।

मोहनीय कर्म का स्वभाव और उसके भेद (गा १६-१७)

१६—तीसरा घनघाती कर्म मोहनीय कर्म है। उसके उदय से जीव मतवाला हो जाता है। इस कर्म के उदय से जीव सच्ची श्रद्धा की अपेक्षा मूढ़ और मिथ्यात्वी होता है तथा उसके बुरे कार्यों का परिहार नहीं होता।

१७—जिन भगवान ने मोहनीय कर्म के दो भेद कहे हैं (१) दर्शनमोहनीय और (२) चारित्रमोहनीय। यह मोहनीय कर्म सम्यक्त्व और चारित्र—जीव के इन दोनों स्वाभाविक गुणों को बिगाड़ता है।

दर्शनमोहनीय के उदय आदि से निष्पन्न भाव (गा १८-२०)

१८—जब दर्शनमोहनीय कर्म का उदय होता है तब शुद्ध सम्यक्त्वी जीव भी मिथ्यात्वी हो जाता है। जब चारित्रमोहनीय कर्म उदय में होता है तब जीव चारित्र खोकर छः प्रकार के जीवों का घाती हो जाता है।

१९-२०-दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से शुद्ध श्रद्धान—सम्यक्त्व नहीं आता। इसके उपशम होने पर जीव निर्मल उपशम सम्यक्त्व पाता है। इस कर्म के बिलकुल क्षय होने पर शाश्वत क्षायक सम्यक्त्व और क्षयोपशम होने पर क्षयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त होता है[६]।

चारित्रमोहनीय कर्म और उसके उदय आदि से निष्पन्न भाव

२१-२२-चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से सर्वविरति रूप चारित्र नहीं आता। इस कर्म के उपशम होने से जीव निर्मल उपशम चारित्र पाता है और इसके सम्पूर्ण क्षय से उत्कृष्ट क्षायक चारित्र की प्राप्ति होती है। इसके क्षयोपशम से जीव चार क्षयोपशम चारित्र प्राप्त करता है।

२३—जीव तणा उदे भाव नीपना, ते कर्म तणा उदा सू पिछाणो।
जीव रा उपसम भाव नीपना, ते कर्म तणा उपसम सू जाणो॥

२४—जीव रा खायक भाव नीपना, ते तो कर्म तणो खय हुवा सू ताम।
जीव रा खयोपसम भाव नीपना, खयउपसम कर्म हुआ सू नाम॥

२५—जीव रा जेहवा जेहवा भाव नीपना, ते जेहवा जेहवा छै जीव रा नाम।
ते नाम पाया छै कर्म सजोग विजोगे, तेहवाइज कर्मां रा नाम छै ताम॥

२६--चारित मोहणी तणी छै पचवीस प्रकृत, त्या प्रकृत तणा छै जूआजूआ नाम।
त्यारा उदा सू जीव तणा नाम तेहवा, कर्म ने जीव रा जूआ जूआ परिणाम॥

२७—जीव अतत उतकष्टो क्रोध करे जब, जीव रा दुष्ट घणा परिणाम।
तिणनें अनुताणुवधीयो क्रोध कह्यो जिण, ते कपाय आत्मा छै जीव रो नाम॥

२८—जिण रा उदा सू उतकष्टो क्रोध करे छै, ते उतकष्टा उदे आया छै ताम।
ते उदे आया छै जीव रा सच्या, त्यारो अणुताणवधी क्रोध छै नाम॥

२९—तिण सु कायक थोडो अप्रत्याखानी क्रोध, तिण सू कायक थोडो प्रत्याख्यान।
तिण सु कायक थोडा छै सजल रो क्रोध, आ क्रोध री चोकडी कही भगवान॥

३०—इण रीते मान री चोकडी कहणी, माया नें लोभ री चोकडी इम जाणो।
च्यार चोकडी प्रसगे कर्मां रा नाम, कर्म प्रसगे जीव रा नाम पिछाणो॥

कर्मोदय आदि और भाव (गा. २३-२५)

२३-५-जीव के जो औदयिक भाव उत्पन्न होते हैं उन्हें कर्म के उदय से जानो। जीव के जो औपशमिक भाव उत्पन्न होते हैं उन्हें कर्म के उपशम से जानो। जीव के जो क्षायिक भाव उत्पन्न होते हैं वे कर्म के क्षय से होते हैं तथा क्षयोपशम भाव कर्म के उपशम से। जीव के जो-जो भाव (औदयिक आदि) उत्पन्न होते हैं उन्हीं के अनुसार जीवों के नाम हैं। कर्मों के सयोग या वियोग से जैसे-जैसे नाम जीवों के पडते है वैसे-वैसे उन कर्मों के भी पड जाते है।

चारित्र मोहनीय कर्म की २५ प्रकृतियाँ (गा २६-३६)

२६—चारित्रमोहनीय कर्म की २५ प्रकृतियाँ है, जिनके भिन्न-भिन्न नाम है। जिस प्रकृति का उदय होता है उसीके अनुसार जीव का नाम पड जाता है। ये कर्म और जीव के भिन्न-भिन्न परिणाम हैं।

क्रोध चौकडी

२७—जब जीव अत्यन्त उत्कृष्ट क्रोध करता है तो उसके परिणाम भी अत्यन्त दुष्ट होते है, ऐसे क्रोध को जिन भगवान ने अनन्तानुबन्धी क्रोध कहा है। ऐसे क्रोध वाले जीव का नाम कषाय आत्मा है।

२८—जिन कर्मों के उदय से जीव उत्कृष्ट क्रोध करता है वे कर्म भी उत्कृष्ट रूप से उदय में आए हुए होते हैं। जो कर्म उदय में आते हैं वे जीव द्वारा ही सचित किए हुए होते हैं और उनका नाम अनन्तानुबन्धी क्रोध है।

२९—अनन्तानुबन्धी क्रोध से कुछ कम उत्कृष्ट अप्रत्याख्यान क्रोध होता है और उससे कुछ कम उत्कृष्ट सज्वलन क्रोध होता है। जिन भगवान ने यह क्रोध की चौकडी बतलाई है।

मान, माया और लोभ चौकडी

३०—इसी प्रकार मान की चौकडी कहनी चाहिए। माया और लोभ की चौकडी भी इसी तरह समझो। इन चार चौक-डियों के प्रसग से कर्मों के नाम भी वैसे ही हैं तथा कर्मों के प्रसग से जीव के नाम भी वैसे ही जानो।

३१—जीव क्रोध करे क्रोध री प्रकत सू, मान करे मान री प्रकत सू ताम।
माया कपट करे छे माया री प्रकत सू, लोभ करे छे लोभ री प्रकत सू आम॥

३२—क्रोध करे तिण सू जीव क्रोधी कहायो, उदे आइ ते क्रोध री प्रकत कहाणी।
इण हीज रीत मान माया ने लोभ, याने पिण लीजो इण ही रीत पिछाणी॥

३३—जीव हसे छै हास्य री प्रकत उदे सू, रित अरित री प्रकत सू रित अरित वाव।
भय प्रकत उदे हुआ भय पामे जीव, सोग प्रकत उदे जीव ने सोग आवे॥

३४—दुगछा आवे दुगछा प्रकत उदे सू, अस्त्री वेद उदे सू वेदे विकार।
तिणनें पुरष तणी अभिलापा होवे, पछे वेंतो २ हुवे बोहत विगाड़॥

३५—पुरष वेद उदे अस्त्री नी अभिलापा, निपुसक वेद उदे हुवे दोया री चाय।
करम उदे सू सवेदी नाम कह्यो जिण, करमा ने पिण वेद कह्या जिण राय॥

३६—मिथ्यात उदे जीव हुवो मिथ्याती, चारित मोह उदे जीव हुवो कुकरमी।
इत्यादिक माठा २ छै जीव रा नाम, वले अनार्य हिंसाधर्मी॥

३७—चोथो घनघातीयो अतराय करम छै, तिणरी प्रकृत पाच कही जिण नाम।
ते पाचूई प्रकत पुदगल चोफरसी, त्या प्रकृत रा छै जजूजा नाम॥

३८—दानानराय छै दान रे आडी, लाभातराय सू वस्त लाभ सके नाही।
मन गमता पुदगल ना सुग जे, लाभ न सके सब्दादिक कांई॥

३१—जीव क्रोध की प्रकृति से क्रोध, मान की प्रकृति से मान, माया की प्रकृति से माया-कपट और लोभ की प्रकृति से लोभ करता है।

३२—क्रोध करने से जीव क्रोधी कहलाता है और जो प्रकृति उदय में आती है वह क्रोध-प्रकृति कहलाती है। इसी प्रकार मान, माया और लोभ इनको भी पहचानना चाहिए।

हास्यादि प्रकृतियाँ

३३—हास्य-प्रकृति के उदय से जीव हँसता है, रति-अरति प्रकृति के उदय से रति-अरति को बढ़ाता है। भय-प्रकृति के उदय से जीव भय पाता है तथा शोक-प्रकृति के उदय से जीव शोक-ग्रस्त होता है।

जुगुप्सा प्रकृति
तीन वेद

३४-३५-जुगुप्सा-प्रकृति के उदय से जुगुप्सा होती है। स्त्री-वेद के उदय से विकार बढ़कर पुरुष की अभिलाषा होती है। यह अभिलाषा बढ़ते-बढ़ते बहुत बिगाड़ कर डालती है। पुरुष-वेद के उदय से स्त्री की और नपुंसक-वेद के उदय से स्त्री और पुरुष दोनों की अभिलाषा होती है। जिन भगवान ने कर्मों को वेद तथा कर्मोदय से जीव को सवेदी कहा है।

चारित्र-मोहनीय कर्म का सामान्य स्वरूप

३६—मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से जीव मिथ्यात्वी होता है। चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से जीव कुकर्मी होता है। कुकर्मी, अनार्य, हिंसा-धर्मी आदि हलके नाम इसी कर्म के उदय से होते हैं।

अन्तराय कर्म और उसकी प्रकृतियां
(गा० ३७-४२)

३७—चौथा घनघाती कर्म अन्तराय कर्म है। जिन भगवान ने इसकी पांच प्रकृतियां कही हैं। ये प्रकृतियां चतुःस्पर्शी पुद्गल हैं। इन प्रकृतियों के भिन्न-भिन्न नाम हैं।

दानांतराय कर्म
लाभांतराय कर्म

३८—दानांतराय प्रकृति दान में विघ्नकारी होती है। लाभांतराय कर्म के कारण वस्तु का लाभ नहीं हो सकता—मनोज्ञ शब्दादि रूप पौद्गलिक गुणों का लाभ नहीं हो सकता।

३६—भोगातराय ना करम उदे सूं, भोग मिलीया ते भोगवणी नावें।
उवभोगातराय करम उदे सू, उवभोग मिलीया तोही भोगवणी नहीं आवें॥

४०—वीर्य अतराय रा करम उदे थी, तीनू ई वीर्य गुण हीणा थावे।
उठाणादिक हीणा थावे पाचू ई, जीव तणी सक्त जावक घट जावे॥

४१—अनतो बल प्राक्रम जीव तणो छे, तिणने एक अतराय करम सू घटायो।
तिण करम नें जीव लगाया सू लागो, आप तणो कीयो आपरे उदे आयो।

४२—पाचू अन्तराय जीव तणा गुण दाब्या, जेहवा गुण दाब्या छे तेहवा करमा रा नाम।
ए तो जीव रे प्रसगे नाम करम रा, पिण सभाव दोया रो जूजूओ ताम।

४३—ए तो च्यार घनघातीया करम कह्या जिण, हिवे अघातीया करम छें च्यार
त्या मे पुन ने पाप दोनू कह्या जिण, हिवे पाप तणो कहू छू विस्तार

४४—जीव असाता पावे पाप करम उदे सू, तिण पाप रो असाता वेदनी नाम।
जीव रा सचीया जीव ने दु:ख देवै, असाता वेदनी पुदगल परिणाम।

४५—नारकी रो आउखो पाप री प्रकृत, केइ तिर्यंच रो आउखो पिण पाप
असनी मिनख ने केंई सनी मिनख रो, पाप री प्रकृत दीसे छे विशाप

३९—भोगान्तराय कर्म के उदय से भोग-वस्तुओं के मिलने पर भी उनका सेवन—उपभोग नहीं हो सकता तथा उपभोगांतराय कर्म के उदय से मिली हुई उपभोग-वस्तुओं का भी सेवन नहीं हो सकता। भोगांतराय कर्म उपभोगांतराय कर्म

४०—वीर्यान्तराय कर्म के उदय से तीनों ही वीर्य-गुण हीन पड़ जाते हैं। उत्थानादिक पाँचों ही हीन हो जाते हैं—जीव की शक्ति बिलकुल घट जाती है। वीर्यान्तराय कर्म

४१—जीव का बल—पराक्रम अनन्त है। जीव स्वोपार्जित एक अन्तराय कर्म से उसको घटा देता है। कर्म जीव के लगाने पर ही लगता है। खुद का किया हुआ खुद के ही उदय में आता है।

४२—पाँचों अन्तराय कर्मों ने जीव के भिन्न-भिन्न गुणों को आच्छादित कर रखा है। आच्छादित गुण के अनुसार ही कर्मों के नाम हैं। कर्मों के ये नाम जीव-प्रसंग से हैं। परन्तु जीव और कर्म दोनों के स्वभाव जुदे-जुदे हैं[८]।

४३—जिन भगवान ने ये चार घनघाति कर्म कहे हैं। अघाति कर्म भी चार हैं। जिन भगवान ने इनको पुण्य-पाप दोनों प्रकार का कहा है। अब मैं अघाति पाप कर्मों का विस्तार करता हूँ। चार अघाति कर्म

४४—जिस कर्म के उदय से जीव असाता—दुःख पाता है उस पापकर्म का नाम असातावेदनीय कर्म है। जीव के स्वयं के संचित कर्म ही उसे दुःख देते हैं। असातावेदनीय कर्म पुद्गलों का परिणाम विशेष है। असातावेदनीय कर्म

४५—नारक जीवों का आयुष्य पाप प्रकृति है, कई तिर्यंचों के आयुष्य भी पाप हैं। असंज्ञी मनुष्य और कई संज्ञी मनुष्यों की आयु भी पापरूप मालूम देती है[१०]। अशुभ आयुष्य कर्म (गा० ४५-४६)

४६—ज्यारो आउखो पाप कह्यो छें जिणेसर, त्यारी गति आणुपूर्वी पिण दीसे छे पाप।
गति आणुपूर्वी दीसे आउखा लारे, इणरो निर्णो तो जाणे जिणेसर आप॥

४७—च्यार संघेयण हाड पाडूआ छे, ते असुभ नाम करम उदे सूं जाणो।
च्यार संठाण में आकार भूंडा ते, असुभ नाम करम सूं मिलीया छे आणो॥

४८—वर्ण गंध रस फरस मांठा मिलीया, ते अणगमता ने अतंत अजोग।
ते पिण असुभ नाम करम उदे सूं, एहवा पुदगल दुःखकारी मिले छे संजोग॥

४९—सरीर उपंग बंधण ने संघातण, त्यांमें केकारे मांठा २ छै अतंत अजोग।
ते पिण असुभ नाम करम उदे सूं, अणगमता पुदगल रो मिले छे संजोग॥

५०—थावर नाम उदे छे थावर रो दसको, तिण दसका रा दस बोल पिछाणो।
नाम करम उदे छे जीव रा नाम, एहवा इज नाम करमां रा जाणो॥

५१—थावर नाम करम उदे जीव थावर हुओ, तिण सूं आघो पाछो सरकणी नावे।
सूक्ष्म नाम उदे जीव सूक्ष्म हुओ छै, सूक्ष्म सरीर सगला सूं नान्हो पावे॥

५२—साधारण नाम सूं जीव साधारण हुओ, एकण सरीर में अनंता रहे तांम।
अप्रज्यापता नाम सूं अप्रज्यापतो मरे छे, तिण सूं अप्रज्यापतो छे जीव रो नाम॥

५३—अथिर नाम सूं तो जीव अथिर कहाणो, सरीर अथिर जावक ढीला पावे।
असुभ नाम उदे जीव असुभ कहाणो, नाभ नीचलो सरीर पाडूओ थावे॥

४६—जिन भगवान ने जिनके आयुष्य को पाप कहा है उनकी गति और आनुपूर्वी भी पाप मालूम देती है। ऐसा मालूम देता है कि गति और आनुपूर्वी आयु के अनुरूप होती है। पर निश्चित रूप से तो जिनेश्वर भगवान ही जानते हैं।

अशुभ नामकर्म की प्रकृतियाँ
अशुभ गति नामकर्म अशुभ आनुपूर्वी नामकर्म

४७—चार संहननों में जो बुरे हाड हैं उन्हें अशुभ नामकर्म के उदय से जानो। इसी प्रकार चार संस्थानों में जो बुरे आकार हैं वे भी अशुभ नामकर्म के उदय से प्राप्त हैं।

संहनन नामकर्म
संस्थान नामकर्म

४८—अत्यन्त निकृष्ट—अमनोज्ञ वर्ण, गंध, रस, स्पर्श की प्राप्ति अशुभ नामकर्म के उदय से ही होती है। इस कर्म के संयोग से ही ऐसे दुःखकारी पुद्गल मिलते हैं।

वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श नामकर्म

४९—कइयों के शरीर, उपांग, बंधन और संघातन अत्यन्त निकृष्ट होते हैं। अशुभ नामकर्म के उदय से ही ऐसा होता है। इन अमनोज्ञ पुद्गलों का संयोग इसके उदय से है।

शरीर-अङ्गोपाङ्ग-बंधन-संघातन नामकर्म

५०—स्थावर नामकर्म के उदय से स्थावर-दशक होता है। इसके दस बोल हैं। नामकर्म के उदय से जीव के जैसे नाम होते हैं वैसे ही नाम कर्मों के होते हैं।

स्थावर नामकर्म

५१—स्थावर नामकर्म के उदय से जीव स्थावर होता है। उससे आगे-पीछे हटा नहीं जाता। सूक्ष्म नामकर्म के उदय से जीव सूक्ष्म होता है जिससे उसे सब शरीर सूक्ष्म प्राप्त होते हैं।

सूक्ष्म नामकर्म

५२—साधारण शरीर नामकर्म से जीव साधारण-शरीरी होता है। इससे एक शरीर में अनन्त जीव रहते हैं। अपर्याप्त नामकर्म से जीव अपर्याप्त अवस्था में ही मृत्यु प्राप्त करता है। इसी कारण वह जीव अपर्याप्त कहलाता है।

साधारण शरीर नामकर्म अपर्याप्त नामकर्म

५३- अस्थिर नामकर्म के उदय से जीव अस्थिर कहलाता है। इससे उसे बिल्कुल ढीला—अस्थिर शरीर प्राप्त होता है। अशुभ नामकर्म के उदय से जीव अशुभ कहलाता है। इस कर्म के कारण नाभि के नीचे का शरीर—भाग बुरा होता है।

अस्थिर नामकर्म
अशुभ नामकर्म

५४—दुभग नाम थकी जीव हुवै दोभागी, अणगमतो लागे न गमे लोका नें लिगार।
दुःस्वर नाम थकी जीव हुवे दुःस्वरीयो, तिणरो कठ अमुभ नहीं श्रीकार॥

५५—अणादेज नाम करम रा उदा थी, तिणरो वचन कोइ न करे अंगीकार।
अजस नाम थकी जीव हूओ अजसीयो, तिणरो अजस बोले लोक वारवार॥

५६—अपघात नाम करम रा उदे थी, पेलो जीते ने आप पामे घात।
दुभ गइ नाम करम सजोगे, तिणरी चाल किणही नें दीठी न सुहात॥

५७—नीच गोत उदे नीच हुवो लोका में, उच गोत तणा तिणरी गिणे छे छोत।
नीच गोत थकी जीव हर्ष न पामे, पोता रो सचीयो उदे आयो नीच गोत॥

५८—पाप तणी प्रकृत ओलखावण काजे, जोड कीधी श्री दुवारा सहर मझार।
सवत अठारे पचावनें वरसे, जेठ सुदी तीज ने वृहस्पतवार॥

५४—दुर्भग नामकर्म के उदय से जीव दुर्भागी होता है—वह दूसरों को अप्रिय लगता है। किसीको नही सुहाता। दु स्वर नामकर्म से जीव दु स्वर वाला होता है। उसका कठ उत्तम नहीं होता—अशुभ होता है।

दुर्भग नामकर्म
दु स्वर नामकर्म

५५—अनादेय नामकर्म के उदय से जीव के वचनों को कोई अगीकार नहीं करता। अयश नामकर्म के उदय से जीव अयशस्वी होता है—लोग बार-बार उसका अयश करते है।

अनादेय नामकर्म
अयशकीर्ति नामकर्म

५६—अपघात नामकर्म के उदय से दूसरे की जीत होती है और जीव स्वय घात को प्राप्त है। विहायोगति नामकर्म के सयोग से जीव की चाल किसी को भी देखी नहीं सुहाती[११]।

अपघात नामकर्म
अप्रशस्त विहायो-गति नामकर्म

५७—नीच गोत्रकर्म के उदय से जीव लोक में निम्न होता है। उच्च गोत्र वाले उससे छूत करते हैं। नीच गोत्र से जीव हर्षित नहीं होता। परन्तु नीच गोत्र भी अपना किया हुआ ही उदय में आता है[१२]।

नीच गोत्र कर्म

५८—पाप-प्रकृतियो की पहचान के लिये यह जोड श्रीजी द्वार में स० १८५५ वर्ष की जेठ सुदी ३ गुरुवार को की है।

रचना-स्थान और काल

टिप्पणियाँ

१—पाप पदार्थ का स्वरूप (दो० १-४)

इन प्रारम्भिक दोहो में निम्न बातो का प्रतिपादन है

(१) पाप चौथा पदार्थ है।

(२) जो कर्म विपाकावस्था मे अत्यन्त जघन्य, भयकर, रुद्र, भयभीत करनेवाला तथा दारुण दु ख को देनेवाला होता है उसे पाप कहते हैं।

(३) पाप पुद्गल है। वह चतु स्पर्शी रूपी पदार्थ है।

(४) पाप-कर्म स्वयकृत है। पापास्रव जीव के अशुभ कार्यों से होता है।

(५) पापोत्पन्न दु ख स्वयकृत है। दु ख के समय क्षोभ न कर समभाव रखना चाहिये।

अब हम नीचे इन पर क्रमश प्रकाश डालेंगे।

(१) पाप चौथा पदार्थ है

श्रमण भगवान महावीर ने पुण्य और पाप दोनो का स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में उल्लेख किया है। जो पुण्य और पाप को नही मानते, वे अन्यतीर्थी कहे गये हैं[1]। ऐसे मत को ध्यान में रखते हुए ही भगवान महावीर ने कहा है—"ऐसी सज्ञा मत रखो कि पुण्य और पाप नही हैं। ऐसी सज्ञा रखो कि पुण्य और पाप हैं[2]।" भगवान महावीर के श्रमणोपासक पुण्य और पाप दोनो तत्त्वो के गीतार्थ होते थे। ऐसा उल्लेख अनेक आगमो में है[3]।

पुण्य और पाप पदार्थों को लेकर जो अनेक विकल्प हो सकते हैं उनका निराकरण विशेषावश्यकभाष्य में देखा जाता है। वे विकल्प इस प्रकार हैं[4]

१—सूयगड १ १ १२

नत्थि पुण्णे व पावे वा, नत्थि लोए इतो वरे।
सरीरस्स विणासेण, विणासो होइ देहिणो ॥

२—देखिये पृष्ठ १५० टि० १(१)

३—सूयगड २ २ ३९ से जहाणामए समणोवासगा भवति अभिगयजीवाजीवा उवलद्धपुण्णपावा आसवसंवरवेयणाणिज्जराकिरियाहिगरणबधमोक्खकुसला।

४—विशेषावश्यकभाष्य गा० १९०८ .

मन्नसि पुण्णं पावं साहारणमहव दो वि भिन्नाइं।
होज्ज ण वा कम्मं चिय सभावतो भवपवचोऽयं ॥

(क) मात्र पुण्य ही है, पाप नही है।

(ख) मात्र पाप ही है, पुण्य नही है।

(ग) पुण्य और पाप एक ही साधारण वस्तु है।

(घ) पुण्य-पाप जैसी कोई वस्तु नही, स्वभाव से सर्व प्रपच हैं।

नीचे क्रमश इन वादो पर विचार किया जाता है :

(क) 'मात्र पुण्य ही है, पाप नही है'—इस मत को माननेवालो का कहना है कि जिस प्रकार पथ्याहार की क्रमिक वृद्धि से आरोग्य की क्रमश वृद्धि होती है, उसी प्रकार पुण्यकी वृद्धि से क्रमश सुख की वृद्धि होती है। जिस प्रकार पथ्याहारकी क्रमश हानि से आरोग्य की हानि होती है अर्थात् रोग बढता है उसी प्रकार पुण्य की हानि होने से दुःख बढता है। जिस प्रकार पथ्याहार का सर्वथा त्याग होने से मृत्यु होती है उसी प्रकार पुण्य के सर्वथा क्षय से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस प्रकार एक पुण्य से ही सुख-दुःख दोनो घटते हैं अत पाप को अलग मानने की आवश्यकता नही। पुण्य का क्रमश उत्कर्ष शुभ है। पुण्य का क्रमश अपकर्ष अशुभ है। उसका सम्पूर्ण क्षय मोक्ष है अत पाप कोई भिन्न पदार्थ नही[1]।

इसका उत्तर इस प्रकार प्राप्त है—दुःख की बहुलता तदनुरूप कर्म के प्रकर्ष से ही सम्भव है पुण्य के अपकर्ष से नही। जिस प्रकार सुख के प्रकृष्ट अनुभव का कारण उसके अनुरूप पुण्य का प्रकर्ष माना जाता है वैसे ही प्रकृष्ट दुःखानुभव का कारण भी तदनुरूप किसी कर्म का प्रकर्ष होना चाहिए, और वह पाप-कर्म का प्रकर्ष है। पुण्य शुभ है, अत बहुत अल्प होने पर भी उसका कार्य शुभ होना चाहिए। वह अशुभ तो हो ही नही सकता। जिस प्रकार अल्प सुवर्ण से छोटा सुवर्ण घट सम्भव है मिट्टी का नही उसी प्रकार कम अधिक पुण्य से जो कुछ होगा वह शुभ ही होगा अशुभ नही हो सकता। अत अशुभ का कारण पाप भी मानना होगा। यदि दुःख पुण्य के अपकर्ष से हो तो प्रकारान्तर से सुख के साधनो का अपकर्ष ही उसका कारण होगा परन्तु दुःख के लिए दुःख के साधनो के प्रकर्ष की भी अपेक्षा है। जिस प्रकार सुख के

१—(क) विशेषावश्यकभाष्य गा० १९०९

पुण्णुक्करिसे सुभता तरतमजोगावकरिसतो हाणी।

तस्सेव खये मोक्खो पत्थाहारोवमाणातो ॥

(ख) गणधरवाद पृ० १७५

सकता। इसी प्रकार पाप का अपकर्ष थोडा दुःख दे सकता है पर सुख का कारण अन्य तत्त्व ही हो सकता है और वह पुण्य है[1]।

(ग) जो पुण्य-पाप को संकीर्ण–मिश्रित मानते हैं उनका कहना है कि जिस प्रकार अनेक रंगो के मिलने से एक साधारण संकीर्ण वर्ण बनता है, जिस प्रकार विविध रंगी मेचकमणि एक ही होती है अथवा सिंह और नर के रूप को धारण करने वाला नरसिंह एक है उसी प्रकार पाप और पुण्य संज्ञा प्राप्त करने वाली एक ही साधारण वस्तु है। इस साधारण वस्तु मे जब एक मात्रा पुण्य बढ जाता है तब वह पुण्य और जब एक मात्रा पाप बढ जाता है तब वह पाप कहलाती है। पुण्यांश के अपकर्ष से वह पाप और पापांश के अपकर्ष से वह पुण्य कहलाता है[2]।

इसका उत्तर इस प्रकार है कोई कर्म पुण्य-पाप उभय रूप नही हो सकता क्योंकि ऐसे कर्म का कोई कारण नही। कर्म का कारण योग है। किसी एक समय मे योग शुभ होता है अथवा अशुभ परन्तु शुभाशुभ रूप नही होता। अतः उसका कार्य कर्म भी पुण्य रूप शुभ अथवा पापरूप अशुभ होता है, पुण्य-पाप उभय रूप नही। मन, वचन और काय इन तीन साधनो के भेद से योग के तीन भेद हैं। प्रत्येक योग के द्रव्य और भाव दो भेद हैं। मन, वचन और काययोग मे जो प्रवर्तक पुद्गल हैं वे द्रव्य योग कहलाते हैं और मन-वचन-काय का जो स्फुरण-परिस्पंद है वह भी द्रव्य योग है। इन दोनो प्रकार के द्रव्य योग का कारण अध्यवसाय है और वह भावयोग कहलाता है। इनमे से जो द्रव्ययोग हैं उनमे शुभाशुभता भले ही हो परन्तु उनका कारण अध्यवसाय रूप जो भावयोग है वह एक समय मे शुभ अथवा अशुभ होता है, उभयरूप संभव नही। द्रव्ययोग को भी जो उभयरूप कहा है वह भी व्यवहारनय की अपेक्षा से। वह भी निश्चयनय की अपेक्षा से एक समय मे शुभ या अशुभ ही होता है। तत्त्वचिंता के समय व्यवहार की अपेक्षा निश्चयनय

१—(क) विशेषावश्यकभाष्य गा० १९३४ :

एत्तं चिय विवरीतं जोएज्जा सव्वपावपक्खे वि।
ण य साधारणरूवं कम्मं तक्कारणाभावा॥

(ख) गणधरवाद पृ० १४८

२—(क) विशेषावश्यकभाष्य गा० १९११

साधारणवण्णादि व अध साधारणमधेगमत्ताए।
उक्करिसावकरिसतो तस्सेव य पुण्णपावक्खा॥

(ख) गणधरवाद पृ० १०५-६

पुण्यांश की वृद्धि से पापांश की हानि सभव नही होगी। और न पापांश की वृद्धि से पुण्यांश की हानि। जिस तरह देवदत्त की वृद्धि होने से यज्ञदत्त की वृद्धि नही होती अत वे भिन्न-भिन्न हैं उसी प्रकार पापांश की वृद्धि से पुण्यांश की वृद्धि नही होती और पुण्यांश की वृद्धि से पापांश की नही होती, अत पुण्य और पाप दोनो का स्वतत्र अस्तित्व है[1]।

(घ) 'पुण्य-पाप जैसी कोई वस्तु ही नही है, स्वभाव से ही ये सब भवप्रपच हैं'—यह सिद्धान्त युक्ति से बाधित है। ससार में जो सुख-दुःख की विचित्रता है वह स्वभाव से नहीं घट सकती। स्वभाव को वस्तु नही मान सकते कारण कि आकाशकुसुम की तरह वह अत्यन्त अनुपलब्ध है। अत्यन्त अनुपलब्ध होने पर भी यदि स्वभाव का अस्तित्व माना जाय तो फिर अत्यन्त अनुपलब्ध मान कर पुण्य-पाप रूप कर्म को क्यो अस्वीकार किया जाता है? अथवा कर्म का ही दूसरा नाम स्वभाव है ऐसा मानने में क्या दोष है? पुन स्वभाव से विविध प्रकार के प्रतिनियत आकार वाले शरीरादि कार्यों की उत्पत्ति सभव नही, कारण कि स्वभाव तो एक ही रूप है। नाना प्रकार के सुख-दुःख की उत्पत्ति विविध कर्म बिना सभव नही। स्वभाव एक रूप होने से उसे कारण नही माना जा सकता। यदि स्वभाव वस्तु हो तो प्रश्न उठता है वह मूर्त है या अमूर्त? यदि वह मूर्त है तो फिर नाममात्र का भेद हुआ। जिन जिसे पुण्य-पाप कर्म कहते हैं उसे ही स्वभाव-वादी स्वभाव कहते हैं। यदि स्वभाव अमूर्त है तो वह कुछ भी कार्य आकाश की तरह नहीं कर सकता, तो फिर देहादि अथवा सुख रूप कार्य करने की तो बात ही दूर। यदि स्वभाव को निष्कारणता माना जाय तो घटादि की तरह खरशृङ्ग की भी उत्पत्ति क्यो नही होगी?

पुन उत्पत्ति निष्कारण नही मानी जा सकती। स्वभाव को वस्तु का धर्म माना जाय तो वह जीव और कर्म का पुण्य और पापरूप परिणाम ही सिद्ध होगा। कारणा-नुमान और कार्यानुमान द्वारा इनकी सिद्धि होती है। जिस प्रकार कृषि-क्रिया का कार्य शालि-यव-गेहूं आदि सर्वमान्य हैं उसी प्रकार दानादि क्रिया का कार्य पुण्य और हिंसादि क्रिया का कार्य पाप स्वीकार करना होगा। क्रिया कारण होने से उसका कोई कार्य मानना होगा। वह कार्य और कुछ नही जीव और कर्म का पुण्य और पाप रूप परिणाम

१—गणधरवाद पृ० १५०-१

यद्यपि सोने या लोहे की वेडी की तरह दोनो ही आत्मा की परतन्त्रता के कारण हैं फिर भी इष्ट और अनिष्ट फल के भेद से पुण्य और पाप में भेद है । जो इष्ट गति, जाति, शरीर, इन्द्रिय-विषयादि का हेतु है वह पुण्य है तथा जो अनिष्ट गति, जाति, शरीर, इन्द्रिय-विषयादि का कारण है वह पाप है[1] ।

आचार्य जिनभद्र कहते हैं—"जो स्वय शोभन वर्ण, गध, रस और स्पर्शयुक्त होता है और जिसका विपाक भी शुभ होता है वह पुण्य है, और उससे जो विपरीत होता है वह पाप है। पुण्य और पाप दोनो पुद्‌गल हैं। वे न अति वादर हैं न अति सूक्ष्म[2] ।" "सुख और दु ख दोनो कार्य होने से दोनो के अनुरूप कारण होने चाहिए। जिस प्रकार घट का अनुरूप कारण मिट्टी के परमाणु हैं और पट का अनुरूप कारण तन्तु, उसी प्रकार सुख का अनुरूप कारण पुण्यकर्म और दु ख का अनुरूप कारण पापकर्म है[3] ।"

कहा है—

पुगद्‌लकर्म शुभ यत्तत्पुण्यमिति जिनशासने दृष्टम् ।
यदशुभमथ तत्पापमिति भवति सर्वज्ञनिर्दिष्टम् ॥

स्वामीजी ने पाप की अधमता को जघन्य, अति भयकर, घोर रुद्र आदि शब्दो द्वारा व्यक्त किया है। पाप पदार्थ उदय में आने पर अत्यन्त दारुण कष्ट देता है। यह सर्व मान्य है।

१—तत्त्वार्थवार्त्तिक ६ ३ ६ उभयमपि पारतन्त्र्यहेतुत्वात् अविशिष्टमिति चेत् , न , इष्टानिष्टनिमित्तभेदात्तद्‌भेदसिद्धे । स्यान्मतम्—यथा निगलस्य कनकमयस्यायसस्य चाऽत्रतन्त्रीवरणफल तुल्यमित्यविशेप , तथा पुण्य पाप चात्मन पारतन्त्र्यनिमित्तम-विशिष्टमिति यदिष्टगतिजातिशरीरेन्द्रियविषयादिनिर्वर्तक तत्पुण्यम् । अनिष्टगतिजातिशरीरेन्द्रियविषयादिनिर्वर्तक यत्तत्पापमित्यनयोरय भेद ।

२—विशेषावश्यकभाष्य १९४०
सोभणवण्णातिगुण सुभाणुभाव ज तय पुण्ण ।
विवरीतमतो पाव ण बादर णातिसहुमं च ॥

३—विशेषावश्यकभाष्य १९२१
सुह-दुक्खाण कारणमणुरूव कज्जभावतोऽवस्सं ।
परमाणवो घडस्सव व कारणमिह पुण्णपावाइ ॥

(२) पाप-कर्म पुद्गल, चतु:स्पर्शी, रूपी पदार्थ है

पुगद्ल की आठ मुख्य वर्गणाएँ हैं।

(१) औदारिक वर्गणा—औदारिक शरीर-निर्माण के योग्य पुद्गल-समूह।

(२) वैक्रिय वर्गणा—वैक्रिय शरीर-निर्माण के योग्य पुद्गल-समूह।

(३) आहारक वर्गणा—आहारक शरीर-निर्माण के योग्य पुद्गल-समूह।

(४) तैजस वर्गणा—तैजस शरीर-निर्माण के योग्य पुद्गल-समूह।

(५) कार्मण वर्गणा —कार्मण शरीर-निर्माण के योग्य पुद्गल समूह।

(६) श्वासोच्छ्वास वर्गणा—आन-प्राण योग्य पुद्गल-समूह।

(७) वचन वर्गणा—भाषा के योग्य पुद्गल-समूह।

(८) मन वर्गणा—मन के योग्य पुद्गल-समूह।

पाप और पुण्य दोनो कर्म-वर्गणा के पुदग्ल हैं। दोनो चतु स्पर्शी हैं। कर्कश, मृदु, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष इन आठ स्पर्शों मे से कर्म में अन्तिम चार स्पर्श होते हैं। इन स्पर्शों के साथ उनमें वर्ण, गंध, रस भी होते हैं। अत वे रूपी या मूर्त कहलाते हैं। पुण्य कर्म शोभन वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श युक्त होते हैं। पाप कर्म अशोभन वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श युक्त।

पुण्य को सुख और पाप को दु ख का कारण कहा है अत यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है। यह प्रसिद्ध नियम है कि कार्य के अनुरूप ही कारण होता है। सुख और दुःख आत्मा के परिणाम होने से अरूपी हैं अत कर्म भी अरूपी होना चाहिए। क्योंकि सुख और दु ख कार्य हैं तथा पुण्य और पाप-कर्म उनके कारण।

'कार्यानुरूप कारण होना चाहिए'—इसका अर्थ यह नहीं कि कारण सर्वथा अनुरूप हो। कार्य से कारण सर्वथा अनुरूप नहीं होता और उसी प्रकार सर्वथा अननुरूप—भिन्न भी नहीं होता। दोनो को सर्वथा अनुरूप मानने से दोनों के सर्व धर्मों को समान मानना होता है। वैसा होने से कार्य कारण का भेद नहीं रह पाता। दोनों कारण बन जाते हैं अथवा दोनो कार्य बन जाते हैं। यदि दोनों को सर्वथा भिन्न माना जाय तो कारण अथवा कार्य दोनों में से किसी को वस्तु मानने से दूसरे को अवस्तु मानना होगा। दोनो को वस्तु मानने से उनका कार्यकारण भेद सम्भव नहीं होगा। अतः कार्य कारण की सर्वथा अनुरूपता अथवा अननुरूपता नहीं परन्तु कुछ अंशों में समानता और कुछ अंश में असमानता होती है। अतः सुख दुःख का कारण [illegible]

सुख-दु ख की अमूर्तता के कारण, अमूर्त सिद्ध नही हो सकता।

कार्यानुरूप कारण के सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि यद्यपि ससार मे सब ही तुल्यातुल्य हैं फिर भी कारण का ही एक विशेष स्वपर्याय कार्य है अत उसे इस दृष्टि से अनुरूप कहा जाता है। कार्य सिवाय सारे पदार्थ उसके अकार्य हैं—परपर्याय हैं अत उस दृष्टि से उन सबको कारण से अननुरूप—असमान कहा गया है। तात्पर्य यह है कि कारण कार्य-वस्तुरूप में परिणत होता है परन्तु उससे भिन्न दूसरी वस्तुरूप मे परिणत नही होता। दूसरी सारी वस्तुओ के साथ कारण की अन्य प्रकार से समानता होने पर भी इस दृष्टि से अर्थात् परपर्याय की दृष्टि से कार्यभिन्न सारी वस्तुएँ कारण से असमान—अननुरूप हैं।

यहाँ प्रश्न होता है—सुख और दु ख ये अपने कारण पुण्य-पाप के स्वपर्याय कैसे हैं ? इसका उत्तर है—जीव और पुण्य का सयोग ही सुख का कारण है। उस सयोग का ही स्वपर्याय सुख है। जीव और पाप का सयोग दु ख का कारण है। उस सयोग का ही स्व-पर्याय दु ख है। पुन जैसे सुख को शुभ, कल्याण, शिव इत्यादि कहा जा सकता है उसी तरह उसके कारण पुण्य को भी उन शब्दो द्वारा कहा जा सकता है। पुन दु ख जैसे अशुभ, अकल्याण, अशिव इत्यादि सज्ञा को प्राप्त होता है उसी प्रकार उसका कारण पापद्रव्य भी इन्ही शब्दो से प्रतिपादित होता है, इसी से विशेष रूप से सुख-दुख के अनुरूप कारण के तौर पर पुण्य-पाप कहे गये हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे नीलादि पदार्थ मूर्त होने पर भी तत्प्रतिभासी अमूर्त ज्ञान को उत्पन्न करते हैं वैसे ही मूर्त कर्म भी अमूर्त सुखादि को उत्पन्न करता है। अथवा जैसे अन्नादि दृष्ट पदार्थ सुख के मूर्त कारण हैं उसी प्रकार कर्म भी मूर्त कारण है।

प्रश्न होता है—कर्म दिखाई नही देता, अदृष्ट है तो फिर उसे मूर्त कैसे माना जाय ? उसे अमूर्त क्यो न कहा जाय ? इसका उत्तर यह है कि देहादि मूर्त वस्तु मे निमित्त-मात्र पाकर कर्म घट की तरह बलाधायक होता है अत वह मूर्त है। अथवा जिस तरह घट को तेल आदि मूर्त वस्तुओ से बल मिलता है वैसे ही कर्म को भी विपाक देने में चद-नादि मूर्त वस्तुओ द्वारा बल मिलने से कर्म भी घट की तरह मूर्त है। कर्म के कारण देहादि रूप कार्य मूर्त हैं अत कर्म भी मूर्त होना चाहिए। जिस प्रकार परमाणु का कार्य घटादि मूर्त होने से परमाणु मूर्त अर्थात् रूपादि वाला होता है उसी प्रकार कर्म का कार्य शरीर मूर्त होने से कर्म भी मूर्त है।

यहाँ प्रश्न होता है—यदि देहादि कार्य मूर्त होने से कारण कर्म मूर्त है तो सुख दु खादि

अमूर्त होने से उनका कारण कर्म अमूर्त होना चाहिए ? इसका उत्तर यह है कि कार्य के मूर्त अथावा अमूर्त होने से उसके सब कारण मूर्त अथवा अमूर्त होंगे ऐसा नहीं। सुख आदि अमूर्त कार्य का केवल कर्म ही कारण नहीं, आत्मा भी उसका कारण है और कर्म भी कारण है। दोनो मे भेद यह है कि आत्मा समवायी कारण है और कर्म समवायी कारण नही है। अत सुख-दु खादि अमूर्त कार्य होने से उसके समवायी कारण आत्मा का अनुमान हो सकता है। और सुख-दु खादि की अमूर्तता के कारण कर्म में अमूर्तता का अनुमान करने का कोई प्रयोजन नही। अत देहादि कार्य के मूर्त होने से उनके कारण कर्म को भी मूर्त मानना चाहिए, इस कथन में दोप नही[1]।

(४) पाप-कर्म स्वयंकृत हैं। पापास्रव जीव के अशुभ कार्यों से होता है

इस सम्बन्ध में एक बडा ही सुन्दर वार्तालाप भगवती सूत्र (६ ३) में मिलता है। विस्तृत होने पर भी उस वार्तालाप का अनुवाद यहाँ दे रहे हैं।

"हे गौतम ! जिस तरह अक्षत—बिना पहना हुआ, पहन कर धोया हुआ, या बुनकर सीधा उतारा हुआ वस्त्र जैसे-जैसे काम में लाया जाता है उसके सब ओर से पुद्गल रज लगती रहती है, सर्व ओर से उसके पुद्गल रज का चय होता रहता है और कालांतर में वह वस्त्र मसौते की तरह मैला और दुर्गन्ध युक्त हो जाता है, उसी तरह हे गौतम ! यह निश्चित है कि महाकर्मवाले, महाक्रियावाले, महास्रववाले और महा वेदनावाले जीव के सब ओर से पुद्गलो का बंध होता है, सब ओर से कर्मों का चय—सचय—होता है, सब ओर से पुद्गलो का उपचय होता है, सदा—निरन्तर पुद्गलो का बंध होता है, सदा—निरन्तर पुद्गलो का चय—सचय होता है, सदा—निरन्तर पुद्गलो का उपचय होता है और उस जीव की आत्मा सदा—निरन्तर दुरूपभाव में, दुर्वर्णभाव में, दुर्गंधभाव में, दु रसभाव में, दु स्पर्शभाव मे, अनिष्टभाव मे, असुन्दरभाव में, अप्रिय भाव में, अशुभभाव में, अमनोज्ञभाव में, अमनोगम्यभाव मे, अनीप्सितभाव में, अभिध्यितभाव में, जघन्यभाव में, अनूर्ध्वभाव में, दु खभाव में और असुखभाव में बार बार परिणाम पाती रहती है।

"हे भगवन ! जिस तरह वस्त्र के मलोपचय-प्रयोग से भी होता है और अपने आप भी, उसी तरह क्या जीवो के भी कर्मोपचय, प्रयोग और अपने आप दोनो प्रकारसे होता है ?"

"हे गौतम ! जीवो के कर्मोपचय-प्रयोग से होता है—आत्मा के करने से होता है, अपने आप नही होता ।

"हे गौतम ! जीव के तीन प्रकार के प्रयोग कहे हैं—मन प्रयोग, वचन प्रयोग और काया प्रयोग । इन तीन प्रकार के प्रयोगो द्वारा जीवो के कर्मोपचय होता है । अत जीवो के कर्मोपचय प्रयोग से हैं विस्रसा से नही—अपने आप नही ।"

अन्य आगमो में भी कहा है—"सर्व जीव अपने आस-पास छहो दिशाओ मे रहे हुए कर्म-पुद्‌गलो को ग्रहण करते हैं और आत्मा के सर्व प्रदेशो के साथ सर्व कर्मों का सर्व प्रकार से बधन होता है[1] ।"

जिस तरह कोई पुरुष शरीर में तेल लगा कर खुले शरीर खुले स्थान में बैठे तो तेल के प्रमाण से उसके सारे शरीर से रज चिपकती है, उसी प्रकार रागद्वेष से स्निग्ध जीव कर्मवगणा मे रहे हुए कर्मयोग्य पुद्‌गलो को पाप-पुण्य रूप में ग्रहण करता है । कर्मवर्गणा के पुद्‌गलो से सूक्ष्म ऐसे परमाणु और स्थूल ऐसे औदारिक आदि शरीर योग्य पुद्‌गलो का कर्मरूप ग्रहण नही होता । पुन जीव स्वय आकाश के जितने प्रदेशो में होता है उतने ही प्रदेशो मे रहे हुए पुद्‌गलो का अपने सर्व प्रदेशो द्वारा ग्रहण करता है । कहा है "एक प्रदेश मे रहे हुए अर्थात् जिस प्रदेश मे जीव होता है उस प्रदेश में रहे हुए कर्म-योग्य पुद्‌गल का जीव अपने सर्व प्रदेश द्वारा बांधता है । उसमें हेतु जीव के मिथ्यात्वादि हैं । यह बध आदि अर्थात् नया और परपरा से अनादि भी होता है ।"

प्रश्न हो सकता है—समूचे लोक के प्रत्येक आकाश-प्रदेश में पुद्‌गल-परमाणु शुभाशुभ भेद के बिना भरे हुए हैं । जिस प्रकार पुरुष का तेल-स्निग्ध शरीर छोटे बडे रज-कणो का भेद करता है पर शुभाशुभ का भेद किये बिना ही जो पुद्‌गल उसके ससर्ग में आते हैं उन्हे ग्रहण करता है, उसी प्रकार जीव भी स्थूल और सूक्ष्म के विवेकपूर्वक कर्म-योग्य पुद्‌गलो का ही ग्रहण करे यह उचित है । पर ग्रहण-काल में ही वह उसमें शुभाशुभ का विभाग कर दो में से एक का ग्रहण करे और दूसरे का नही—यह कैसे होता है ?

१—उत्त० ३३ १८

सव्वजीवाण कम्म तु सगहे छद्दिसागय ।
सव्वेसु वि पएसेसु सव्व सव्वेण बद्धग ।

इसका उत्तर इस प्रकार है—जब तक जीव कर्म-पुद्गलो को ग्रहण नहीं करता त तक वे पुद्गल शुभ या अशुभ दोनो विशेषणो से विशिष्ट नही होते अर्थात् वे अविशिष्ट ही होते हैं, पर जीव जैसे ही उन कर्म-पुद्गलो को ग्रहण करता है अध्यवसाय रूप परिणाम और आश्रय की विशेषता के कारण उन कर्म-पुद्गलो को शुभ या अशुभ रूप परिणत कर देता है। जीव का जैसा शुभ या अशुभ अध्यवसायरूप परिणाम होता है उसके आधार से ग्रहण काल में ही कर्म में शुभत्व अथवा अशुभत्व उत्पन्न होता है और कर्म के आश्रयभूत जीव का ऐसा एक स्वभाव विशेष है कि जिसके कारण उस प्रकार कर्म का परिणमन करता हुआ ही वह उसे ग्रहण करता है। पुन कर्म का भी ऐसा स्वभाव विशेष है कि शुभ-अशुभ अध्यवसाय वाले जीव द्वारा शुभाशुभ परिणाम को प्राप्त होता हुआ ही गृहीत होता है।

आहार समान होने पर भी परिणाम और आश्रय की विशेषता के कारण उस विभिन्न परिणाम देखे जाते हैं, जैसे कि गाय और सर्प को एक ही आहार देने पर भी गाय जो कुछ खाती है वह दूध रूप में परिणमित होता है और सर्प जो कुछ खाता है उसे विष रूप में परिणमन करता है। जिस प्रकार खाद्य में उस उस आश्रय में जाकर उस उस रूप में परिणत होने का परिणाम—स्वभाव विशेष है उसी तरह खाद्य का उपयोग करने वाले आश्रय में भी उस उस वस्तु को उस उस रूप में परिणत करने का सामर्थ्य विशेष है। यही बात गृहीत कर्म और ग्रहण करने वाले जीव के विषय में समझनी चाहिए। पुन एक ही शरीर में अविशिष्ट अर्थात् एकरूप आहार लेने पर भी उसमें से सार और असार ऐसे दोनो परिणाम तत्काल हो जाते हैं। जिस प्रकार शरीर खाये हुए भोजन को रस, रक्त और मांस रूप सार तत्त्व में और मलमूत्र जैसे असार रूप में परिणत कर देता है उसी तरह एक ही जीव गृहीत साधारण कर्म को अपने शुभाशुभ परिणामो द्वारा पुण्य और पाप रूप परिणत कर देता है[1]।

१—विशेषावश्यकभाष्य गा० १६४१-४८

गेण्हति तज्जोगं चिय रेणुं पुरिसो जधा कतब्भंगो।
एगक्खेत्तोगाढं जीवो सव्वप्पदेसेहिं॥
अविसिट्ठपोग्गलघणे लोए थूलतणुकम्मपविभागो।
जुज्जेज्ज गहणकाले सुभासुभविवेचणं कत्तो॥
अविसिट्ठं चिय तं सो परिणामाऽऽसयसभावतो खिप्पं।
कुणइ सुभमसुभं वा गहणे जीवो जहाऽऽहारं॥
परिणामाऽऽसयवसतो धेणूये जधा पयो विसमहिस्स।
तुल्लो वि तदाहारो तध पुण्णापुण्णपरिणामो॥
जध वेगसरीरम्मि वि सारासारपरिणामतामेति।
अविसिट्ठो वाहारो तध कम्मसुभासुभविभागो॥

(५) पापोत्पन्न दुःख स्वयकृत हैं, दुःख के समय क्षोभ न कर समभाव रखना चाहिए।

श्रमण भगवान महावीर ने कर्म-बन्ध को ससार का कारण बतलाया है[१]। उन्होने कहा है—"इस जगत मे जो भी प्राणी हैं वे स्वयकृत कर्मों से ही ससार-भ्रमण करते हैं। फल भोगे विना सचित कर्मों से छुटकारा नही मिलता[२]।"

इसी तरह उन्होने कहा है "सुचीर्ण कर्मो का फल शुभ होता है और दुश्चीर्ण कर्मो का फल अशुभ। शुभ आचरण से पुण्य का बध होता है और उसका फल सुखरूप होता है। अशुभ आचरण से पाप का बध होता है और उसका फल दु ख रूप होता है। जैसे सदाचार सफल होता है वैसे ही दुराचार भी सफल होता है[३]।"

जिस तरह स्वयकृत पुण्य के फल से मनुष्य वचित नही रहता वैसे ही स्वयकृत पाप का फल भी उसे भोगना पडता है। कहा है—"जिस तरह पापी चोर सेंध के मुह मे पकडा जाकर अपने ही दुष्कृत्यो से दु ख पाता है वैसे ही जीव इस लोक अथवा परलोक मे पाप कर्मो के कारण दु ख पाता है। फल भोगे विना कृतकर्मो से मुक्ति नही[४]।" "सर्व प्राणी स्वकर्म कृत कर्मो से ही अव्यक्त दु ख से दु खी होते हैं[५]।"

जीव पूर्वकृत कर्मो के ही फल भोगते हैं—'वेदति कम्माइ पुरेकडाइ' (सुय० १.५.

१—उत्त० १४ १९ :

. . . . ससारहेउ च वयंति बन्धं ॥

२—सूयगड १ २ १ ४ .

जमिण जगती पुढो जगा, कम्मेहि लुप्पति पाणिणो ।
सयमेव कडेहि गाहइ, णो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठय ॥

३—ओववाइय ५६

सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवति, दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णफला भवति, फुसइ पुण्णपावे, पच्चायति जीवा, सफले कल्लाणपावए ।

४—(क) उत्त० १३ १०

सव्व सुचिण्ण सफल नराण कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि ।

(ख) उत्त० ४.३

तेणे जहा सन्धिमुहे गहीए सकम्मुणा किच्चइ पावकारी ।
एव पया पेच्च इह च लोए कडाण कम्माण न मुक्ख अत्थि ॥

५—सूयगड १ २ ३ ·१८

सव्वे सयकम्मकप्पिया, अवियत्तेण दुहेण पाणिणो ।
हिंडति भयाउला सढा, जाइजरामरणेहिऽभिद्दुता ॥

२१)। जो जीव दुःखी हैं वे यहां अपने किये हुए दुष्कृत्यों से दुःखी हैं—'दुक्खंति दुक्ख इह दुक्कडेण' (सुय० १ ५ १ १६)। जैसा दुष्कृत होता है, वैसा ही उसका भार होता है—'जहा कडं कम्म तहासि भारे' (सुय० १ ५ १ २६)।

स्वामीजी ने इन्हीं आगमिक वचनों के आधार पर कहा है कि दुःख स्वयं कमाये हुए होते हैं—'ते आप कमाया काम'। 'आप कीधां जिसा फल भोगवे, कोइ पुद्गल रो नहीं दोस'। जब जीव दुष्कृत्य करता है तब पापकर्म का बंध होता है। जब पाप का उदय होता है तब दुःख उत्पन्न होता है। यह 'जैसी करनी वैसी भरनी' है, इसमें दोष कर्म पुद्गलों का नहीं अपनी दुष्ट आत्मा का है। "आत्मा ही सुख-दुःख को उत्पन्न करने वाला और न करने वाला है। आत्मा ही सदाचार से मित्र और दुराचार से अमित्र—शत्रु है[1]।"

भगवान महावीर के समय में एक वाद था जो सुख-दुःख को सांगतिक मानता था। उस मत का कहना था—"दुःख स्वयंकृत नहीं है, फिर वह अन्यकृत तो हो ही कैसे सकता है? सैद्धिक हो अथवा असैद्धिक जो सुख दुःख है वह न स्वयंकृत है न परकृत, पर सांगतिक है[2]।" भगवान ने इस मत की आलोचना करते हुये कहा है—"ऐसा कहने वाले अपने को पंडित भले ही मानें, पर वे बाल हैं[3]।" वे पार्श्वस्थ हैं। 'न ते दुक्खविमोक्खया' (सुय० १ १ २ ५)—वे दुःख छुडाने में समर्थ नहीं हैं।

स्वामी जी कहते हैं—"जो दुःख स्वयंकृत है उसका फल भोगने समय [illegible]

१—उत्त० २० ३६ ३७

अप्पा नई वेयरणी अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू अप्पा मे नन्दणं वणं॥
अप्पा कत्ता विकत्ता य दुक्खाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्टियसुपट्टिओ॥

२—सूयगड १ १ २ २-३

न तं सयं कडं दुक्खं, कओ अन्नकडं च णं?
सुहं वा जइ वा दुक्खं, सेहियं वा असेहियं॥
सयं कडं न अन्नेहिं, वेदयंति पुढो जिया।
संगइअं तं तहा तेसिं, इहमेगेसि आहिअं॥

३—वही १ १ २ ४

एवमेयाणि जंपंता, बाला पंडिअमाणिणो।
निययानिययं संतं, अयाणंता अबुद्धिया॥

करना चाहिये। इस दुःख से मुक्त होने का रास्ता दुःख, शोक, संताप करना नही पर यह सोचना है कि मैंने जो किया यह उसीका फल है। मैं नही करूँगा तो आगे मुझे दुःख नही होगा। अतः मैं आज से दुष्कृत्य नही करूँगा।" "किये हुए कर्म से छुटकारा या तो उन्हें भोगने से होता है अथवा तप द्वारा उनका क्षय करने से[1]।"

आगम मे कहा है—"प्रत्येक मनुष्य सोचे—मैं ही दुःखी नही हूँ, संसार में प्राणी प्रायः दुःखी ही है। दुःखो से स्पृष्ट होने पर क्रोधादि रहित हो उन्हें समभाव पूर्वक सहन करे—मन में दुःख न माने[2]।"

जो मनुष्य दुःख उत्पन्न होने पर शोक-विह्वल होता है, वह मोह-ग्रस्त हो कामभोग की लालसा से पाप और आरम्भ मे प्रवृत्त होता है और अधिक दुःख का संचय करता है।

मनुष्य सुख के लिये व्याकुल न हो—'साय नो परिदेवए' (उत्त० २.८)। जो पाप-दृष्टि—सुख-पिपासु होता है वह आत्मार्थ का नाश करता है—'पावदिट्ठी विहम्मई' (उत्त० २.२२)। यदि कोई मनुष्य मारे तो मनुष्य सोचे—"मेरे जीव का कोई विनाश नही कर सकता[3]।" "मनुष्य अदीन-वृत्ति पूर्वक अपनी प्रज्ञा को स्थिर रखे। दुःख पड़ने पर उन्हें समभाव से सहन करे[4]।" "जो दुष्कर को करते हैं और दुःसह को सहते हैं, उनमे से कई देवलोक को जाते हैं और कई नीरज हो सिद्धि को प्राप्त करते हैं[5]।"

१—दशवैकालिक प्रथम चूलिका १८

पावाण च खलु भो कडाण कम्माण पुव्वि दुच्चिण्णाणं दुप्पडिक्कन्ताण वेयइत्ता मोक्खो, नत्थि अवेयइत्ता, तवसा वा झोसइत्ता।

२—सूय० १.२.१.१३

णवि ता अहमेव लुप्पये, लुप्पती लोअंसि पाणिणो।
एव सहिएहि पासए, अणिहे से पुट्ठे अहियासए॥

३—उत्त० २.२७

नत्थि जीवस्स नासु त्ति एव पेहेज्ज संजए॥

४—उत्त० २.३२

अदीणो थावए पन्न पुट्ठो तत्थहियासए॥

५—उत्त० ३.१४

दुक्कराइ करत्ताण दुस्सहाइ सहेत्तु य।
के एत्थ देवलोगेसु केई सिज्झन्ति नीरया॥

'सुख-दुःख स्वयकृत होते हैं या परकृत ?'—यह प्रश्न बुद्ध के सामने भी आया। नीचे पूरा प्रसग दिया जाता है। बुद्ध बोले

"भिक्षुओ ! कुछ श्रमण-ब्राह्मणो का यह मत है, यह दृष्टि है कि जो कुछ भी कोई आदमी सुख, दुःख वा अदुःख-असुख अनुभव करता है वह सब पूर्व-कर्मों के फलस्वरूप अनुभव करता है।"

"भिक्षुओ ! कुछ श्रमण-ब्राह्मणो का यह मत है, यह दृष्टि है कि जो कुछ भी कोई आदमी सुख, दुःख वा अदुःख-असुख अनुभव करता है वह सब ईश्वर-निर्माण के कारण अनुभव करता है।"

"भिक्षुओ ! कुछ श्रमण-ब्राह्मणो का यह मत है, यह दृष्टि है कि जो कुछ भी आदमी सुख, दुःख वा अदुःख-असुख अनुभव करता है वह सब बिना किसी हेतु के, बिना किसी कारण के।"

"भिक्षुओ ! जिन श्रमण-ब्राह्मणो का यह मत है, यह दृष्टि है कि जो कुछ भी कोई आदमी सुख, दुःख वा अदुःख-असुख अनुभव करता है, वह सब पूर्व कर्मो के फलस्वरूप अनुभव करता है, उनके पास जाकर मैं उनसे प्रश्न करता हूँ—आयुष्मानो ! क्या सचमुच तुम्हारा यह मत है कि जो कुछ भी कोई आदमी सुख, दुःख वा अदुःख असुख अनुभव करता है, वह सब पूर्व-कर्मो के फलस्वरूप अनुभव करता है ? मेरे ऐसा पूछने पर वे "हाँ" उत्तर देते हैं।

असयत लोगो का अपने आप को धार्मिक श्रमण कहना भी सहेतुक नही होता[1] ।"

ठीक इसी तर्क पर उन्होने उपर्युक्त अन्य दो वादो का खण्डन किया ।

पहली दृष्टि जैन-दृष्टि का एक अश है । बुद्ध का स्वय का मत इस प्रकार था : "जो मनुष्य मन, वचन और काय से सवृत होता है, उसके दु ख का कारण नही रहता, उसके दु ख आना सभव नही[2] ।" भगवान महावीर का कथन था "कोई मनुष्य सवृत हो जाय तो भी पूर्वकृत पाप-कर्म का विपाक बाकी हो तो उसे दु ख भोगना पडता है ।"

ठाणाङ्ग का निम्न सवाद भी भगवान महावीर के विचारो के अन्य पक्ष को प्रकट करता है ।

"हे भदन्त ! अन्यतीर्थिक कर्म कैसे भोगने पडते हैं इस विषय मे हमसे विवाद करते हैं । 'किये हुए कर्म भोगने पडते हैं'—इस विषय मे उनका प्रश्न नही है । 'किए हुए कर्म होने पर भी भोगने नही पडते'—इस विषय में भी उनका प्रश्न नही है । 'नही किया हुआ कर्म नही भोगना पडता'—ऐसा भी उनका विवाद नही है । परन्तु वे कहते हैं—'नही किये हुए भी कर्म भोगने पडते हैं—जीव ने दु खदायक कर्म न किया हो और नही करता हो तो भी दु ख भोगना पडता है ।' वे कहते हैं—इस बात को तुम लोग निर्ग्रंथ क्यो नही मानते ?"

भगवान बोले "हे श्रमण निर्ग्रंथो ! जो ऐसा कहते हैं वे मिथ्या कहते हैं । मेरी प्ररूपणा तो ऐसी है—दु खदायक कर्म जिन जीवो ने किया है या जो करते हैं, उन जीवो को ही दु ख की वेदना होती है, दूसरो को नही ।"[3]

२—पाप-कर्म और पाप की करनी (दो० ५) :

इस विषय मे दो बातें मुख्य रूप से चर्चनीय हैं

(१) पाप-कर्म और पाप की करनी भिन्न-भिन्न हैं ।

(२) आशय से ही योग शुभ नहीं होता ।

नीचे इन पहलुओ पर क्रमश विचार किया जा रहा है ।

१—अगुत्तरनिकाय ३ ६१

२—वही ४ १६५

३—(क) ठाणाङ्ग ३ २ १६७

अह पुण एव परूवेमि—किच्चं दुक्ख फुस्स दुक्खं कज्जमाणकड दुक्ख कट्टु २ पाणा भूया जीवा सत्ता वेयण वेयतित्ति

(ख) स्थानाग-समवायाग पृ० ६०-६१

(१) पाप-कर्म और पाप की करनी एक दूसरे से भिन्न है

'ठाणाङ्ग' मे अठारह पाप कहे हैं—(१) प्राणातिपात, (२) मृषावाद, (३) अदत्तादान, (४) मैथुन, (५) परिग्रह, (६) क्रोध, (७) मान, (८) माया, (९) लोभ, (१०) राग, (११) द्वेष, (१२) कलह, (१३) अभ्याख्यान, (१४) पैशुन्य, (१५) पर-परिवाद, (१६) रति-अरति, (१७) माया-मृषा और (१८) मिथ्यादर्शनशल्य।[1]

ये भेद वास्तव मे पाप-पदार्थ के नही हैं परन्तु पाप-पदार्थ के बन्ध-हेतुओ के हैं। प्राणातिपात आदि पाप-पदार्थ के निमित्त कारण हैं। अत उपचार से प्राणातिपात आदि क्रियाओ को पाप कहा है।

एक बार गौतम ने पूछा—"भगवन्! प्राणातिपात, मृषावाद यावत् मिथ्या-दर्शनशल्य कितने वर्ण, कितने गध, कितने रस और कितने स्पर्श वाले हैं?" भगवान ने उत्तर दिया—"वे पाँच वर्ण, दो गध, पाँच रस और चार स्पर्श वाले होते हैं[2]।"

उपर्युक्त वार्तालाप मे प्राणातिपात आदि पौद्गलिक मालूम देते हैं, अन्यथा उनमे वर्णादि होने का कथन नहीं मिलता।

प्रश्न उठता है—प्राणातिपात आदि एक ओर वर्णादि युक्त पुद्गल कहे गये हैं और दूसरी ओर क्रिया रूप बतलाये गये हैं, इसका क्या कारण है?

श्रीमद् जयाचार्य ने इस प्रश्न का उत्तर अपनी 'झीणी चर्चा' नामक कृति की बारहवी ढाल में दिया है। वे लिखते हैं—"भगवती सूत्र मे प्राणातिपात आदि के वर्णादि

१—ठाणाङ्ग १.४८

एगे पाणाइवाए जाव एगे परिग्गहे। एगे कोहे जाव लोभे। एगे पेज्जे एगे दोसे जाव एगे परपरिवाए। एगा अरतिरती। एगे मायामोसे एगे मिच्छादंसणसल्ले।

२—भग० १२.५

अह भंते! पाणाइवाए, मुसावाए, अदिन्नादाणे, मेहुणे, परिग्गहे—एस ण कतिवन्ने, कतिगंधे, कतिरसे, कतिफासे पन्नत्ते? गोयमा! पचवन्ने, दुगंधे, पचरसे, चउफासे, पन्नत्ते। अह भंते! कोहे [illegible] एस ण कतिवन्ने जाव—कतिफासे पन्नत्ते? गोयमा! पचवन्ने, दुगंधे, पचरसे, चउफासे पन्नत्ते। अह भंते! माणे [illegible] एस ण कतिवन्ने ? गोयमा! पचवन्ने, जहा कोहे तहा। अह भंते! माया [illegible] एस ण कतिवन्ने ४ पन्नत्ते? गोयमा! पचवन्ने, जाव कोहे। अह भंते! लोभे [illegible] एस ण कतिवन्ने ४? जहेव कोहे। अह भंते! पेज्जे, दोसे, कलहे जाव मिच्छादंसणसल्ले—एस ण कतिवन्ने ४? जहेव कोहे तहेव चउफासे।

कहे गए हैं उसका भेद यह है कि वहाँ प्राणातिपात आदि कर्मों का विवेचन है, प्राणातिपात आदि क्रियाओं का नहीं।" वे लिखते हैं—"जिस कर्म के उदय से जीव दूसरे के प्राणों का हनन करता है, उस कर्म को प्राणातिपात स्थानक कहते हैं। मन, वचन और काय से हिंसा करना प्राणातिपात आस्रव है। प्राणातिपात करने से जिनका वध होता है वे सात आठ अशुभ कर्म हैं। यही बात 'भगवती सूत्र' में वर्णित बाद के मिथ्यादर्शनशल्य तक के स्थानकों के विषय में समझनी चाहिए। जैसे—जिस कर्म के उदय से जीव झूठ बोलता है वह मृषावाद पाप-स्थानक है। झूठ बोलना मृषावाद आस्रव है। झूठ बोलने से जिनका वध होता है वे दुःखदायी सात आठ कर्म हैं। यावत् जिस कर्म के उदय से जीव मिथ्या-श्रद्धान करता है वह मिथ्यादर्शनशल्य कर्म-स्थानक है। मिथ्या-श्रद्धान करना मिथ्यात्व आस्रव है। इससे जिनका आस्रव होता है वे सात आठ कर्म हैं[1]।"

इस विवेचन से स्पष्ट है कि कर्म-हेतु और कर्म जुदे-जुदे हैं। हेतु या क्रिया वह है जिससे कर्म बंधते हैं। कर्म वह है जो क्रिया का फल हो अथवा जिसका उदय उस क्रिया का कारण हो।

१—झीणी चर्चा ढा० २२ १–४, २०, २१, २२, २४ :

जिण कर्म ने उदय करी जी, हणै कोई पर प्राण।
तिण कर्म ने कहिये सहीजी, प्राणातिपात पापठाण॥
हिंसा करै त्रिहुं योग सूं जी, आस्रव प्राणातिपात।
आय लागै तिके अशुभ कर्म छै जी, सात आठ साक्षात॥
जिण कर्म ने उदय करी जी, बोलै झूठ अयाण।
तिण कर्म ने कहिये सही जी, मृषावाद पापठाण॥
झूठ बोलै तिण ने कह्या जी, आस्रव मृषावाद ताहि।
आय लागै तिके अशुभ कर्म छै जी, सात आठ दुखदाय॥
मायादिक ठाणा तिके जी, इमहिज कहिये विचार।
ज्यारा उदय थी जे जे नीपजै जी, ते कहिये आस्रव द्वार॥
जिण कर्म ने उदय करी जी, ऊंधो श्रद्धै जाण।
तिण कर्म ने कह्यो अठारमो जी, मिथ्यादर्शण पापठाण॥
ऊंधो सरधै तिण ने कह्यो जी, आस्रव प्रथम मिथ्यात।
आय लागै तिके अशुभ कर्म छै जी, सात आठ साक्षात॥
भगवती शतक बारमें जी, पंचम उदेश मझार।
ते सह पापठाणा अठै जी तिणम्यूं वर्णादिक कह्या विचार॥

निम्न दो प्रसग इस विषय को और भी स्पष्ट कर देते हैं

एक बार गौतम ने पूछा—"भगवन्! जीव गुरुत्वभाव को शीघ्र कैसे प्राप्त करता है?" भगवान महावीर ने उत्तर दिया—"प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य से।" गौतम ने पूछा—"जीव शीघ्र लघुत्व (हल्कापन) कैसे पाता है?" भगवान ने उत्तर दिया "प्राणातिपात-विरमण यावत् मिथ्यादर्शनशल्य-विरमण से।" इसके बाद गौतम को सम्बोधन कर भगवान ने कहा—"गौतम! जीव-हिंसा आदि अठारह पापो से समार को बढाते, लम्बा करते और उसमे बार-बार भ्रमण करते हैं और इन अठारह पापो की निवृत्ति से जीव समार को घटाते हैं, उसे ह्रस्व करते हैं और उसे लाघ जाते हैं। हल्कापन, समार को घटाना, समार को सक्षिप्त करना, समार को लाघ जाना—ये चारो प्रशस्त हैं। भारीपन, समार को बढाना, लम्बा करना और उसमे भ्रमण करना ये चारो अप्रशस्त हैं[1]।"

यही बात भगवती सूत्र १२ २ मे भी कही गयी है। दूसरा प्रसग इस प्रकार है

"भगवन्! जीव शीघ्र भारी कैसे होता है और फिर हल्का कैसे होता है?"

"गौतम! यदि कोई मनुष्य एक बडे, सूखे, छिद्र-रहित सम्पूर्ण तूबे को दाभ से कसकर उस पर मिट्टी का लेप करे और फिर धूप मे सुखाकर दुबारा लेप करे और इस तरह आठ बार मिट्टी का लेप करके उसे गहरे पानी मे डाले तो वह तूबा डूबेगा या नहीं? इसी तरह हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह यावत् मिथ्यादर्शनशल्य से अपनी आत्मा को वेष्टित करता हुआ मनुष्य शीघ्र ही कर्म-रज से भारी हो जाता है और उसकी अधोगति होती है। गौतम! जल में डूबे हुए तूबे के ऊपर का तह जब गल कर अलग हो जाता है तो सदा ऊपर उठता है। इसी तरह एक-एक कर सारे तह गल जाते हैं तो हल्का होकर सदा पुन पानी पर तैरने लगता है। इसी तरह हिंसा यावत् मिथ्यादर्शनशल्य इन अठारह पापो के त्याग से जीव कर्म-रजो के सम्बन्ध से रहित होकर अपनी स्वाभाविकता को प्राप्त कर ऊर्ध्वगति पा अजरामर हो जाता है[2]।"

[illegible]र, कर्म-हेतु और कर्म के परस्पर सम्बन्ध को [illegible] कथना से समझा जा सकता है[3]।

१—[illegible]

२—नायाधम्मकहा [illegible] अ० ६

३—[illegible]

प्रथम कथन

(क) तालाव के नाला होता है, उसी तरह जीव के कर्म-हेतु होते हैं।

(ख) मकान के द्वार होता है, उसी तरह जीव के कर्म-हेतु होते हैं।

(ग) नाव के छिद्र होता है, उसी तरह जीव के कर्म-हेतु होते हैं।

द्वितीय कथन .

(क) तालाव और नाला एक होता है उसी तरह जीव और कर्म-हेतु एक हैं।

(ख) मकान और द्वार एक होता है उसी तरह जीव और कर्म-हेतु एक हैं।

(ग) नाव और छिद्र एक होता है उसी तरह जीव और कर्म-हेतु एक हैं।

तृतीय कथन

(क) जिससे जल आता है वह नाला होता है, उसी तरह जिससे कर्म आते हैं वे कर्म-हेतु हैं।

(ख) जिससे मनुष्य आता है वह द्वार है, उसी तरह जिससे कर्म आते हैं वे कर्म-हेतु हैं।

(ग) जिससे जल भरता है वह छिद्र कहलाता है, उसी तरह जिससे कर्म आते हैं वह कर्म-हेतु है।

चतुर्थ कथन .

(क) जल और नाला भिन्न हैं, उसी तरह कर्म और कर्म-हेतु भिन्न है।

(ख) मनुष्य और द्वार भिन्न हैं, उसी तरह कर्म और कर्म-हेतु भिन्न हैं।

(ग) जल और नौका के छिद्र भिन्न हैं, उसी तरह कर्म और कर्म-हेतु भिन्न हैं।

पंचम कथन

(क) जल जिससे आवे वह नाला है पर नाला जल नहीं, उसी तरह जिनसे कर्म आवें वे हेतु हैं पर कर्म हेतु नहीं।

(ख) मनुष्य जिससे आवे वह द्वार है पर मनुष्य द्वार नहीं, उसी तरह जिनसे कर्म आवें वे हेतु हैं पर कर्म हेतु नहीं।

(ग) जल जिससे आवे वह छिद्र है पर जल छिद्र नहीं, उसी तरह जिनसे कर्म आवें वे हेतु हैं पर कर्म हेतु नहीं।

प्राणातिपात आदि क्रियाएँ पाप रूप हैं—अशुभ योग के भेद हैं। पर पाप-कर्म केवल अशुभ योगो से ही नही बधते। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय—ये भी आस्रव हैं। इन हेतुओ से भी कर्मो का आस्रव होता है। मिथ्या श्रद्धान करना मिथ्यात्व है[1], हिंसा आदि पाप-कार्यों का प्रत्याख्यान न होना अविरति है[2], धर्म में अनुत्साह-भाव—अरुचि-भाव प्रमाद है[3], क्रोध-मान-माया-लोभ से आत्म-प्रदेशो का मलीन होना कषाय है[4]।

ये सभी कर्म-हेतु कर्मों से भिन्न हैं।

(२) आशय से ही योग शुभ नहीं होता :

एक विद्वान लिखते हैं "अप्रशस्त आशय से सेवन किये हुये प्राणातिपात आदि पापस्थानक पाप-कर्म के बन्ध हेतु होते हैं। प्रशस्त आशय से सेवन किये गये कई पाप स्थानक पुण्य के हेतु भी हैं। उदाहरण स्वरूप द्रव्यादि की आकांक्षा से दूसरे को वचना करना अप्रशस्त माया है। जैसे वणिको या इन्द्रजालिको की माया। व्याध से मृग को झूठ बोलकर छिपा देना प्रशस्त माया है। झूठ बोलकर रोगी को कड़वी दवा पिलाना भी इसी श्रेणी में आता है। कोई व्यक्ति दीक्षा के लिये उपस्थित है और उसके पिता आदि आत्मीय जन उसकी दीक्षा मे विघ्न डालने वाले हैं, ऐसे अवसर पर उन लोगो से यह कहना—'हे भाई! मैंने बड़ा ही खराब स्वप्न देखा है और उससे यह पता चलता है कि तुम्हारा लड़का अल्पायु है—थोड़े ही दिनो मे मर जायगा' प्रशस्त माया है। 'सम्यक् यति-आचार ग्रहण कर ले' इस हेतु से कहे गये ये वचन श्री आर्य रक्षित द्वारा समर्थित हैं

१—झीणी चर्चा ढा० २२ २२

उ धो मस्यै निगन कह्यो जी, आस्रव प्रथम मिथ्यात।

२—जे जे सावद्य काम त्याग्या नहीं छै, त्यारी आशा वांछा रही लागी।

तिण जीव रा परिणाम छै मैला, अत्याग भाव अव्रत छै सागी रे॥

३—झीणी चर्चा ढा० २२ ३०,२८

[illegible] जीव रा प्रदेश में, [illegible] [illegible]।

ते [illegible] जोगां स्यूं [illegible], प्रमाद आस्रव ताय॥

४—[illegible] ढा० [illegible]

क्रोध स्यूं [illegible] प्रदेश ने जी, ते आस्रव [illegible] कषाय।

[illegible] क्रोध को [illegible] अशुभ जोग [illegible]।

[illegible] प्रदेश ने जी, [illegible] आस्रव कषाय॥

अमाय्येव हि भावेन माय्येव नु भवेत् क्वचित् ।
पश्येत् स्वपरयोर्यत्र सानुबन्धं हितोदयम्[1] ॥

इस भावनावाद, परिणामवाद, हेतुवाद अथवा आशयवाद के विषय मे पूर्व में काफी प्रकाश डाला जा चुका है[2] । आगम मे भावनावाद का उल्लेख परवाद के रूप मे है । इसकी तीव्र आलोचना भी की गई है ।

भावनावादी मानते थे— "जो जानता हुआ मन से हिंसा करता है पर काया से हिंसा नही करता, अथवा नही जानता हुआ केवल काया से हिंसा करता है, वह स्पर्श मात्र कर्म-फल का अनुभव करता है क्योंकि यह सावद्य कर्म अव्यक्त है । तीन आदान हैं, जिनमे पाप किया जाता है—स्वय करना, नौकरादि अन्य से कराना और मन से भला जानना, परन्तु भाव विशुद्धि मे मनुष्य निर्वाण को प्राप्त करता है । जैसे विपत्ति के समय यदि असयमी पिता पुत्र को मारकर, उसका भोजन करे तो वह पाप का भागी नही होता वैसे ही विशुद्ध मेधावी भाव विशुद्धि के कारण पाप करते हुये भी कर्म से लिप्त नही होता[3] ।'

१—नवतत्त्वप्रकरणम् (सुमङ्गला टीका) पापतत्त्वम् पृ० ५५-५६ :

अप्रशस्ताशयेन सेव्यमाना पापस्थानका ज्ञानाऽऽवरणादिपापप्रकृतीनां बन्धहेतव उक्ता, कतिपयेषु रागादिषु पापस्थानकेषु सेव्यमानेषु प्रशस्ताशयेन पुन्यबन्धोऽपि भवति अप्रशस्ता माया यद्द्रव्यादिकाङ्क्षया परवञ्चना वणिजामिन्द्रजालिकादीना वा, प्रशस्ता तु व्याधाना मृगापलपने व्याधिमता कटुकौषधादिपाने दीक्षोपस्थितस्य विघ्नकर पित्रादीना पुर कुस्वप्नो मया दृष्टोऽल्पाऽऽयुष्क सूचक इत्यादिका स्वपरहितहेतु स्वपितु सम्यग् यत्याचारग्रहणार्थं श्रीआर्यरक्षितप्रयुक्तमायेव ।

२—पुण्य पदार्थ (ढाल २) टिप्पणी ३० पृ० २३९-२४६

३—सूयगड १ १ २ २५-२९

जाणं काएणऽणाउट्टी अबुहो जं च हिंसति ।
पुट्ठो संवेदइ परं, अवियत्तं खु सावज्जं ॥
संतिमे तउ आयाणा, जेहिं कीरइ पावगं ।
अभिकम्मा य पेसा य, मणसा अणुजाणिया ॥
एते उ तउ आयाणा, जेहिं कीरइ पावगं ।
एवं भावविसोहीए, निव्वाणमभिगच्छइ ॥
पुत्तं पिया समारब्भ आहारेज्ज असंजए ।
भुंजमाणो य मेहावी, कम्मणा नोवलिप्पइ ॥
मणसा जे पउस्सति, चित्तं तेसिं ण विज्जइ ।
अणवज्जमतहं तेसिं, ण ते संवुडचारिणो ॥
[illegible]

"कर्म की चिन्ता से रहित उन क्रियावादियों का दर्शन संसार को ही बढ़ाने वाला है। जो मन से प्रद्वेष करता है, उसका चित्त विशुद्ध नहीं कहा जा सकता। उसके कर्म का बंध नहीं होता—ऐसा कहना अतथ्य है, क्योंकि उसका आचरण संवृत नहीं है। पूर्वोक्त दृष्टि के कारण सुख और गौरव में आसक्त मनुष्य अपने दर्शन को शरणदाता मान पाप का सेवन करते हैं। जिस प्रकार जन्मांध पुरुष छिद्रवाली नौका पर चढ़कर पार जाने की इच्छा करता है परन्तु मध्य में ही डूब जाता है, उसी प्रकार मिथ्या दृष्टि अनार्य श्रमण संसार से पार जाना चाहते हैं परन्तु वे संसार में ही पर्यटन करते हैं[1]।"

३—घाति और अघाति कर्म (गा० १-५)

जीवों के कर्म अनादि काल से हैं। जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि कालीन है। पहले जीव और फिर कर्म अथवा पहले कर्म और फिर जीव ऐसा क्रम नहीं है। जीव ने कर्मों को उत्पन्न नहीं किया और न कर्मों ने जीव को उत्पन्न किया है क्योंकि जीव और कर्म इन दोनों का ही आदि नहीं है। अनादि जीव बद्ध कर्मों के हेतु को पाकर और प्रकार के भावों में परिणमन करता है। इस परिणमन से उसको पुण्य-पाप कर्मों का बंध होता रहता है। विषय-कषायों से रागी-मोही जीव के जीव प्रदेशों में जो परमाणु लगते हैं, बंधते हैं उन परमाणुओं के स्कंधों को कर्म कहते हैं[2]।

१—सूयगड १.१.२.२४, ३०-३२

अहावरं पुरक्खायं, किरियावाइदरिसणं।
कम्मचिंतापणट्ठाणं, संसारस्स पवड्ढणं ॥
इच्चेयाहि य दिट्ठीहिं, सातागारवणिस्सिया।
सरणं ति मन्नमाणा, सेवती पावगं जणा ॥
जहा अस्साविणिं णावं, जाइअंधो दुरूहिया ॥
इच्छई पारमागंतु, अंतरा य विसीयई ॥
एवं तु समणा एगे, मिच्छदिट्ठी अणारिया।
संसारपारकंखी ते, संसारं अणुपरियट्टंति ॥

आत्मा के साथ बंधे हुए ये कर्म सामान्य तौर पर सुख-दुःख के कारण हैं। संगति से कर्म ही संसार-बंधन उत्पन्न करते हैं। बिछुड़ने पर ये ही मुक्ति प्रदान करते हैं[1]। जिन कर्मों से बद्ध जीव संसार-भ्रमण करता है वे आठ हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय कर्म[2]। इन आठ कर्मों के दो वर्ग होते हैं—(१) घाति कर्म और (२) अघाति कर्म। घाति कर्म चार हैं और अघाति कर्म भी चार। घाति अघाति प्रकृति की अपेक्षा से आठ कर्मों का विभाजन इस प्रकार होता है

घाति कर्म	अघाति कर्म
१—ज्ञानावरणीय कर्म	
२—दर्शनावरणीय कर्म	
३—	वेदनीय कर्म
४—मोहनीय कर्म	
५—	आयुष्य कर्म
६—	नाम कर्म
७—	गोत्र कर्म
८—अन्तराय कर्म	

जो कर्म आत्मा से बंध कर उसके स्वाभाविक गुणों की घात करते हैं उन्हें घाति कर्म कहते हैं। जिस प्रकार बादल सूर्य और चन्द्रमा के प्रकाश को आच्छादित कर

१—परमात्मप्रकाश १ ६४-६५

दुक्खु वि सुक्खु वि बहु-विहउ जीवहँ कम्मु जणेइ।
अप्पा देक्खइ मुणइ पर णिच्छउ एउँ भणेइ॥
बंधु वि मोक्खु वि सयलु जिय जीवहँ कम्मु जणेइ।
अप्पा किंपि वि कुणइ णवि णिच्छउ एउँ भणेइ॥

२—(क) उत्त० ३३ १-३
(ख) ठाणाङ्ग ८ ३ ५९
(ग) प्रज्ञापना २३ १

उनकी रश्मियों को बाहर नहीं आने देते उसी प्रकार घाति कर्म आत्मा के स्वाभाविक गुणों को प्रकट नहीं होने देते।

अघाति कर्म वे हैं जो आत्मा के प्रधान गुणों को हानि नहीं पहुँचाते, परन्तु आत्मा के सुख-दुःख, आयुष्य आदि की स्थितियाँ उत्पन्न करते हैं।

प्रत्येक आत्मा में सत्तारूप से आठ मुख्य गुण वर्तमान हैं पर कर्मावरण से वे प्रकट नहीं हो पाते। वे आठ गुण इस प्रकार हैं

१—अनन्त ज्ञान

२—अनन्त दर्शन

३—क्षायक सम्यक्त्व

४—अनन्त वीर्य

५—आत्मिक सुख

६—अटल अवगाहन

७—अमूर्तिकत्व और

८—अगुरुलघुभाव

स्वामीजी ने गाथा १ से ४२ मे चार घनघाति कर्मों के स्वरूप पर प्रकाश डाला है और ४४ से ५७ तक की गाथाओ मे अघाति कर्मो के स्वरूप पर।

घाति-अघाति दोनो प्रकार के पाप-कर्मो के बंध-हेतु प्रधानत अशुभ योग हैं। उमास्वाति ने योगो के कार्य-भेद को बताते हुए तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय ६ में कहा है

शुभ पुण्यस्य । ३ ।

अशुभ पापस्य । ४ ।

इन दो सूत्रो के स्थान मे दिगम्बर परम्परा के पाठ मे एक ही सूत्र मिलता है

शुभ पुण्यस्याशुभ पापस्य ॥ ३ ॥

दोनो परम्पराओ के शाब्दिक अर्थ मे भेद नही। दोनो के अनुसार मन, वचन और काय के शुभ योग पुण्य के आस्रव हैं और अशुभ योग पाप के। पर व्याख्या मे विशेष अन्तर दृष्टिगोचर होता है।

अकलङ्कदेव तत्त्वार्थवार्तिक मे लिखते हैं "हिंसा, चोरी, मैथुन आदि अशुभ काय-योग हैं। असत्य बोलना, कठोर बोलना, आदि अशुभ वचनयोग हैं। हिंसक विचार, ईर्ष्या, असूया आदि अशुभ मनोयोग हैं। इत्यादि अनन्त प्रकार के अशुभ योग से भिन्न शुभ योग भी अनन्त प्रकार का है। अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य आदि शुभ काययोग हैं। सत्य, हित, मित बोलना शुभ वाग्योग है। अर्हन्त-भक्ति, तप की रुचि, श्रुत का विनय आदि शुभ मनोयोग हैं।

"शुभ परिणाम पूर्वक होने वाला योग शुभ योग है तथा अशुभ परिणाम से होने-वाला अशुभ योग है। शुभ अशुभ कर्म का कारण होने से योग मे शुभत्व या अशुभत्व नही है, क्योकि शुभ योग भी ज्ञानावरण आदि अशुभ कर्मो के बन्ध मे भी कारण होता है। 'शुभ पुण्यस्य' यह निर्देश अघातिया कर्मो मे जो पुण्य और पाप हैं, उनकी अपेक्षा से है। अथवा 'शुभ योग पुण्य का ही कारण है'—ऐसा अर्थ नही है पर 'शुभ योग ही पुण्य का कारण है'—ऐसा अर्थ है। अत शुभ योग पाप का भी हेतु हो सकता है। पुन सूत्रों को अनुभाग-बंध की अपेक्षा लगाना चाहिए अन्यथा वे दोनो निरर्थक हो जायेंगे क्योंकि कहा है—'आयु और गति को छोड कर शेष कर्मों की उत्कृष्ट स्थितियो का बन्ध उत्कृष्ट सक्लेश से होता है और जघन्य स्थितिबध मन्द सक्लेश से।' अनुभाग बन्ध प्रधान है। वही सुख-दुःख रूप फल का निमित्त होता है। उत्कृष्ट शुभ परिणाम अशुभ कर्मों के जघन्य अनुभाग के भी कारण होते हैं पर बहुत शुभ के कारण होने से 'शुभ पुण्यस्य' सार्थक है। जैसे थोड़ा अपकार करने पर भी बहुत उपकार करने वाला भी

उपकार करने वाला माना जाता है। कहा भी है—'विशुद्धि मे शुभ प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध होता है तथा सक्लेश मे अशुभ प्रकृतियो का। जघन्य अनुभाग बन्ध का क्रम इससे उलटा है, अर्थात् विशुद्धि से अशुभ का जघन्य और सक्लेश से शुभ का जघन्य बन्ध होता है'।"[1]

प्रस्तुत सूत्रो की मर्यादा पर विचार करते हुए प० सुखलालजी लिखते हैं—"सामान्य कषाय की मदता के समय होने वाला योग शुभ और सक्लेश की तीव्रता के समय होने वाला योग अशुभ कहलाता है। जिस प्रकार अशुभ योग के समय प्रथम आदि गुणस्थानो मे ज्ञानावरणीय आदि सारी पुण्य-पाप प्रकृतियो का यथासम्भव बन्ध होता है, वैसे ही छट्ठे आदि गुणस्थानो मे शुभ के समय भी सारी पुण्य पाप प्रकृतियो का यथासम्भव बध होता ही है। अत प्रस्तुत विधान को मुख्यतया अनुभागबन्ध की अपेक्षा से समझना चाहिए[2]।

हालाँकि यह दलील अकलकदेव की दलील से भिन्न है फिर भी निष्कर्ष एक है।

अकलङ्कदेव और सिद्धसेन के विचारो का पार्थक्य स्वय स्पष्ट है। शुभ योग मे ज्ञानावरणीय आदि घाति कर्मों का आस्रव मानना अथवा अशुभ कर्म का जघन्य अनुभाग बन्ध मानना श्वेताम्बर आगमिक विचारधारा से बहुत दूर पडता है। स्वामीजी ने आगमिक विचारधारा को अनुस्थान देते हुए पुण्य का बन्ध शुभ योग मे और पाप का बन्ध अशुभ योग से ही प्रतिपादित किया है।

४—ज्ञानावरणीय कर्म (गा० ७-८) :

जीव चेतन पदार्थ है। वह ज्ञान और दर्शन से जाना जाता है। ज्ञान और दर्शन दोनो का सग्राहक शब्द उपयोग है। इसीलिए आगम में कहा है—'जीवो उवओग लक्खणो'[1]। ज्ञान को साकार उपयोग कहते हैं और दर्शन को निराकार उपयोग। जो उपयोग पदार्थों के विशेष धर्मों का—जाति, गुण, क्रिया आदि का बोधक होता है वह ज्ञानोपयोग है, जो पदार्थों के सामान्य धर्म का अर्थात् सत्ता मात्र का बोधक होता है उसे दर्शनोपयोग कहते हैं।

ज्ञान वह है जिससे वस्तु विशेष धर्मों के साथ जानी जाती हो। ऐसा ज्ञान जिसके द्वारा आच्छादित हो उस कर्म को ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं। आत्मा के स्वाभाविक गुण ज्ञान को आवृत करने वाले इस कर्म की कपडे की पट्टी से तुलना की गयी है[2]। जिस प्रकार आँखो पर कपडे की पट्टी लगा लेने से चक्षु-ज्ञान रुक जाता है उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म के प्रभाव से आत्मा को पदार्थों के जानने मे रुकावट हो जाती है। ज्ञानावरणीय कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ—अवान्तर भेद पाँच हैं[3]

१—उत्त० २८.१०

वत्तणालक्खणो कालो जीवो उवओगलक्खणो।
नाणेण दसणेण च सुहेण य दुहेण य॥

२—(क) प्रथम कर्मग्रन्थ ९

सरिसं जं आवरणं पडुव्व चक्खुस्स तं तयावरणं।

(ख) गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) २१

पडपडिहारसिमज्जाहलिचित्तकुलालभंडयारीणं।
जह एदेसिं भावा तहवि य कम्मा मुणेयव्वा॥

(ग) ठाणाङ्ग २.४.१०५ मे उद्धृत

सरउग्गयससिनिम्मलयरस्स जीवस्स छायणं जमिह।
णाणावरणं कम्मं पडोवमं होइ एवं तु॥

३—(क) उत्त० ३३.४

नाणावरणं पंचविहं सुयं आभिणिबोहियं।
ओहिनाणं च तइयं मणनाणं च केवलं॥

(ख) प्रज्ञापना २३ .

(१) आभिनिबोधिक ज्ञानावरणीय कर्म। इन्द्रिय और मन के द्वारा जो ज्ञान होता है उसे आभिनिबोधिक या मतिज्ञान कहते हैं। यह परोक्ष ज्ञान है। जो ऐसे ज्ञान को नहीं होने देता उसे आभिनिबोधिक अथवा मतिज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं।

(२) श्रुतज्ञानावरणीय कर्म। शब्द और अर्थ की पर्यालोचना से जो ज्ञान होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। यह भी परोक्ष ज्ञान है। जो ऐसे ज्ञान को नहीं होने देता उस कर्म को श्रुतज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं।

(३) अवधिज्ञानावरणीय कर्म। इन्द्रिय तथा मन की सहायता के बिना, रूपी पदार्थों के मर्यादित प्रत्यक्ष ज्ञान को अवधिज्ञान कहते हैं। जो कर्म ऐसे ज्ञान को नहीं होने देता उसे अवधिज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं।

(४) मनःपर्यायज्ञानावरणीय कर्म। इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना, संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को मर्यादित रूप से जानना मनःपर्यायज्ञान है। यह भी प्रत्यक्ष ज्ञान है। जो कर्म ऐसे ज्ञान को न होने दे उसे मनःपर्यायज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं।

(५) केवलज्ञानावरणीय कर्म। सर्व द्रव्य और पर्यायों को युगपत् भाव से प्रत्यक्ष जानने वाले ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं। जो ऐसे ज्ञान को प्राप्त न होने दे उस कर्म को केवलज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं।

भी दिवस और रात्रि का विभाग हो सके उतना उनका प्रकाश तो अनावृत्त रहता ही है, उसी प्रकार केवलज्ञानावरणीय से आत्मा का केवलज्ञान गुण चाहे जितनी प्रवलता के साथ आवृत हो, तो भी केवलज्ञान का अनन्तवाँ भाग अनावृत रहता है। केवलज्ञानावरणीय कर्म से जितना अंश अनावृत रह जाता है—उस अंश को भी आवृत करनेवाले भिन्न-भिन्न शक्ति वाले मतिज्ञानावरणीय आदि चार दूसरे आवरण हैं। वे अंश को आवरण करने वाले होने से देशावरणीय कहलाते हैं[1]।

आगम में कहा है "ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से जीव जानने योग्य को भी नही जानता, जानने का कामी होने पर भी नही जानता, जान कर भी नहीं जानता। ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से जीव आच्छादितज्ञान वाला होता है। जीव द्वारा बांधे हुए ज्ञानावरणीय कर्म के दस प्रकार के अनुभाव हैं :

१—श्रोत्रावरण	२—श्रोत्र-विज्ञानावरण
३—नेत्रावरण	४—नेत्र-विज्ञानावरण
५—घ्राणावरण	६—घ्राण-विज्ञानावरण
७—रसावरण	८—रस-विज्ञानावरण
९—स्पर्शावरण	१०—स्पर्श-विज्ञानावरण[2]।"

१—(क) स्थानांग-समवायांग पृ० ९४-९५

(ख) ठाणाङ्ग २ ४ १०५ की टीका

देश-ज्ञानस्याऽऽभिनिबोधिकादिमावृणोतीति देशज्ञानावरणीयम्, सर्वं ज्ञानं—केवलाख्यमावृणोतीति सर्वज्ञानावरणीय, केवलावरणं हि आदित्यकल्पस्य केवलज्ञानरूपस्य जीवस्याच्छादकतया सान्द्रमेघवृन्दकल्पमिति तत्सर्वज्ञानावरण, मत्याद्यावरण तु घनातिच्छादितादित्येषत्प्रभाकल्पस्य केवलज्ञानदेशस्य कटकुड्यादिरूपावरणतुल्यमिति देशावरणमिति

२—प्रज्ञापना २३ १.

गोयमा ! णाणावरणिज्जस्स ण कम्मस्स जीवेण बद्धस्स जाव पोग्गलपरिणाम पप्प दसविधे अणुभावे पन्नत्ते, तंजहा—सोतावरणे, सोयविण्णाणावरणे, नेत्तावरणे, नेत्तविण्णाणावरणे, घाणावरणे, घाणविण्णाणावरणे, रसावरणे, रसविण्णाणावरणे, फासावरणे, फासविण्णाणावरणे, जं वेदेति पोग्गल वा पोग्गले वा पोग्गलपरिणाम वा वीससा वा पोग्गलाणं परिणाम, तेसिं वा उदएण जाणियव्वं ण जाणति, जाणिउकामेवि ण जाणति, जाणित्तावि न जाणति, उच्छन्नणाणी यावि भवति णाणावरणिज्जस्स कम्मस्स उदएण

जब ज्ञानवारणीय कर्म का सम्पूर्ण क्षय होता है तब केवलज्ञान प्रकट होता है। सम्पूर्ण क्षय न होकर क्षयोपशम होता है तब मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्यायज्ञान उत्पन्न होते हैं।

ज्ञानावरणीय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति तैतीस सागरोपम की होती है[१]।

इस कर्म के बंध-हेतुओ का उल्लेख पहले आ चुका है। (देखिए—पुण्य पदार्थ (ढा० २) टि० २३ पृ० २२६)

ज्ञानवरणीय कर्म के बंध-हेतुओ की व्याख्या इस प्रकार है

(१) ज्ञान-प्रत्यनीकता ज्ञान या ज्ञानी की प्रतिकूलता। इसके स्थान में तत्वार्थसूत्र मे ज्ञान-मात्सर्य है, जिसका अर्थ है दूसरा मेरे बराबर न हो जाय इस दृष्टि से ज्ञानदान न करना।

(२) ज्ञान-निह्नव अभय देव ने इसका अर्थ किया है—ज्ञान या ज्ञानियो का अपलपन। तत्वार्थसूत्र की टीकाओ में इसका अर्थ इस प्रकार मिलता है—ज्ञान को छिपाना। तत्व का स्वरूप मालूम होने पर भी पूछने पर न बताना।

(३) ज्ञानान्तराय किसी के ज्ञानाभ्यास मे विघ्न डालना।

(४) ज्ञान-प्रद्वेष ज्ञान या ज्ञानी के प्रति द्वेष-भाव—अप्रीति। तत्वार्थसूत्र में इसके स्थान पर 'तत्प्रदोष' है, जिसका अर्थ है—ज्ञान, ज्ञानी या ज्ञान के साधनो के प्रति जलन।

(५) ज्ञानाशातना ज्ञान या ज्ञानी की हीलना। तत्वार्थसूत्र मे इसके स्थान पर 'ज्ञानासादन' है। ज्ञान देनेवाले को रोकना ज्ञानासदन।

(६) ज्ञान-विसंवादन योग ज्ञान या ज्ञानी के विसवाद—व्यभिचार-दर्शन की प्रवृत्ति। इसके स्थान पर तत्वार्थसूत्र मे ज्ञानोपघात हेतु है। प्रशस्त ज्ञान अथवा ज्ञानी मे दोष निकालना।

१—उत्त० ३३ १९-२०

उदहीसरिसनामाण तीसई कोडिकोडीओ।
उक्कोसिया ठिई होइ अन्तोमुहुत्त जहन्निया॥
आवरणिज्जाण दुण्ह पि वेयणिज्जे तहेव य।
अन्तराए य कम्मम्मि ठिई एसा वियाहिया॥

५—दर्शनावरणीय कर्म (गा० ६-१५) :

पदार्थों के आकार के अतिरिक्त अर्थों की विशेषता को ग्रहण किये बिना केवल सामान्य का ग्रहण करना दर्शन है[1]। जो कर्म ऐसे दर्शन का आवरणभूत होता है, उसे दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं।

दर्शनावरणीय कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ—अवान्तरभेद नौ कहे गये हैं[2]

(१) चक्षुदर्शनावरणीय कर्म। चक्षु द्वारा होनेवाले सामान्य बोध को चक्षुदर्शन कहते हैं। उसको आवृत करनेवाला कर्म चक्षुदर्शनावरणीय कर्म कहलाता है। इस कर्म के उदय से जीव के आँखें नहीं होती अथवा आँखें होने पर भी ज्योति नष्ट हो जाती है।

(२) अचक्षुदर्शनावरणीय कर्म। नेत्रों को छोड़ कर अन्य इन्द्रियों और मन के द्वारा होनेवाला सामान्य बोध अचक्षुदर्शन है। उसको आवृत करनेवाला कर्म अचक्षुदर्शनावरणीय कर्म कहलाता है। इस कर्म के उदय से नेत्र से भिन्न अन्य इन्द्रियाँ—श्रोत्रेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय तथा मन नहीं होते अथवा होने पर भी अकार्यकारी होते हैं।

(३) अवधिदर्शनावरणीय कर्म। इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्मा को रूपी द्रव्यों का जो सामान्य बोध होता है उसे अवधिदर्शन कहते हैं। ऐसे दर्शन को आवृत करनेवाला कर्म अवधिदर्शनावरणीय कर्म कहलाता है।

(४) केवलदर्शनावरणीय कर्म। सर्व द्रव्य और पर्यायों का युगपत् साक्षात सामान्य अवबोध केवलदर्शन कहलाता है। उसे आवृत करनेवाला कर्म केवलदर्शनावरणीय कर्म कहलाता है।

(५) निद्रा। जिससे सुख से जाग सके ऐसी नींद उत्पन्न हो उसे निद्रा दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं।

(६) निद्रानिद्रा। जो कर्म ऐसी नींद उत्पन्न करे कि सोया हुआ व्यक्ति कठिनाई से जाग सके उसे निद्रानिद्रा दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं।

१—जं सामन्नग्गहणं भावाणं नेव कट्टु आगारं ।
अविसेसिऊण अत्थे दंसणमिइ वुच्चए समए ॥

२—(क) उत्त० ३३.५-६ :

निद्दा तहेव पयला निद्दानिद्दा पयलपयला य ।
तत्तो य थीणगिद्धी उ पंचमा होइ नायव्वा ॥
चक्खुमचक्खूओहिस्स दंसणे केवले य आवरणे ।
एवं तु नवविगप्पं नायव्वं दंसणावरणं ॥

(ख) समवायाङ्ग सू० ९, ठाणाङ्ग ९ : ६६८

(७) प्रचला। जिस कर्म से खड़े-खड़े या बैठे-बैठे भी नींद आये उसे प्रचला दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं।

(८) प्रचला-प्रचला। जिस कर्म से चलते-फिरते भी नींद आये उसे प्रचला-प्रचला दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं।

(९) स्त्यानर्धि (स्त्यानगृद्धि)। जिस कर्म से दिन मे सोचा हुआ काम निद्रा में किया जाय ऐसा बल आये, उसे स्त्यानर्धि दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं।

गोम्मटसार मे निद्रा-पचक के विषय मे निम्न विवेचन मिलता है :

१—'स्त्यानगृद्धि' के उदय से जगाने के बाद भी जीव सोता रहता है, यद्यपि वह काम करता व बोलता है।

२—'निद्रा निद्रा' के उदय से जीव आँखे नही खोल सकता।

३—'प्रचला प्रचला' के उदय से लार गिरती है और अग चलते—काँपते हैं।

४—'निद्रा' के उदय से चलता हुआ जीव ठहरता है, बैठता है और गिर जाता है।

५—'प्रचला' के उदय से जीव के नेत्र कुछ खुले रहते हैं और वह सोते हुए भी थोडा-थोडा जागता है और बार-बार मद-मद सोता है[1]।

निद्रा-पचक के क्रम मे श्वेताम्बरीय और दिगम्बरीय ग्रथो में जो भेद है वह उपर्युक्त दोनो वर्णनो से स्वय स्पष्ट है। 'प्रचला प्रचला', 'निद्रा' और 'प्रचला' इन भेदो के अर्थ मे भी विशेष अन्तर है।

तत्त्वार्थसूत्र के श्वेताम्बरीय पाठ और भाष्य मे 'निद्रा' आदि के बाद 'वेदनीय' शब्द रखा गया है[2]। दिगम्बरीय पाठ मे इनके बाद 'वेदनीय' शब्द नही है। सर्वार्थसिद्धि टीका

१—गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) २३-२५

थीणुदयेणुट्ठविदे सोवदि कम्मं करेदि जप्पदि य।
णिद्दाणिद्दुदयेण य ण दिट्ठिमुग्घादिदुं सक्को॥
पयलापयलुदयेण य वहेदि लाला चलंति अंगाइं।
णिद्दुदये गच्छंतो ठाइ पुणो वइसइ पडेई॥
पयलुदयेण य जीवो ईसुम्मीलिय सुवेइ सुत्तोवि।
ईसं ईसं जाणदि मुहुं मुहुं सोवदे मंदं॥

२—तत्त्वार्थसूत्र ८.८

निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धिवेदनीयानि च

में प्रत्येक के साथ 'दर्शनावरणीय कर्म' जोड़ लेने का कहा गया है[1]।

इस कर्म को 'वित्तिसम'—दरवान के सदृश कहा जाता है, जिस प्रकार दरवान राजा को नहीं देखने देता वैसे ही यह वस्तुओं के समान्य बोध को रोकता है[2]।

दर्शनावरणीय कर्म भी दो कोटि का होता है—(१) देश और (२) सर्व। चक्षु, अचक्षु और अवधि दर्शनावरणीय कर्म देश कोटि के हैं और शेष छह सर्व कोटि के[3]। सर्वघाती दर्शनावरणीय कर्मों में केवलदर्शनावरणीय कर्म प्रगाढ़तम है।

सर्वघाती दर्शनावरणीय कर्मों के उदय से जीव का दर्शन गुण प्रगाढ़ रूप से आच्छादित हो जाता है पर इस गुण का सर्वावरण तो केवलदर्शनावरणीय कर्म के उदय की किसी अवस्था में भी नहीं होता। नन्दीसूत्र में कहा है—"पूर्ण ज्ञान का अनन्तवाँ भाग तो जीव मात्र के अनावृत रहता है, यदि वह आवृत हो जाए तो जीव अजीव बन जाय। मेघ कितना ही गहरा हो, फिर भी चांद और सूर्य की प्रभा कुछ-न-कुछ रहती ही है। यदि ऐसा न हो तो रात-दिन का विभाग ही मिट जाय[4]।" सर्वज्ञानावरणीय कर्म के विषय में नंदी में जो बात कही गयी है वही सर्वदर्शनावरणीय कर्म के विषय में भी लागू पड़ती है।

१—तत्त्वार्थसूत्र ८.७ सर्वार्थसिद्धि

इह निद्रादिभिर्दर्शनावरणं सामानाधिकरण्येनाभिसम्बध्यते—निद्रादर्शनावरणं निद्रानिद्रादर्शनावरणमित्यादि।

२—(क) प्रथम कर्मग्रन्थ ९

दंसणचउ पणनिद्दा वित्तिसमं दंसणावरणं ॥

(ख) देखिए पृ० ३०२ पा० टि० २ (ख)

(ग) ठाणाङ्ग २.४.१०५ की टीका

दंसणसीले जीवे दंसणघायं करेइ जं कम्मं।
तं पडिहारसमाणं दंसणवरणं भवे जीवे ॥

३—ठाणाङ्ग २.४.१०५

दरिसणावरणिज्जे कम्मे एवं चेव

टीका—देशदर्शनावरणीयं चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणीयम्, सर्वदर्शनावरणीयं तु निद्रापञ्चकं केवलदर्शनावरणीयं चेत्यर्थः, भावना तु पूर्ववदिति

४—नंदी० सूत्र ४२

सव्वजीवाणंपि य णं अक्खरस्स अणंतभागो निच्चुग्घाडिओ, जइ पुण सोऽवि आवरिज्जा तेणं जीवो अजीवत्तं पाविज्जा,—'सुट्ठुवि मेहसमुदए होइ पभा चंदसूराणं।'

दर्शनावरणीय कर्म के उदय से जीव देखने योग्य वस्तु को भी नहीं देख पाता। देखने की इच्छा होने पर भी नही देख पाता। देख कर भी नहीं देख पाता। दर्शनावरणीय कर्म के उदय से जीव आच्छादितदर्शनवाला होता है।

दर्शनावरण कर्म के उक्त नौ भेदो के अनुसार नौ अनुभाव हैं

१—निद्रा
२—निद्रानिद्रा
३—प्रचला
४—प्रचला-प्रचला
५—स्त्यानर्द्धि
६—चक्षुदर्शनावरण
७—अचक्षुदर्शनावरण
८—अवधिदर्शनावरण
और
९—केवलदर्शनावरण[1]।

ज्ञानावरणीय कर्म की तरह इस दर्शनावरणीय कर्म की भी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति तैतीस कोटाकोटि सागरोपम की होती है[2]।

दर्शनावरणीय कर्म के बंध हेतुओ का नामोल्लेख पहले आ चुका है। देखिए—पुण्य पदार्थ (ढा० २) टि० २३ पृ० २२६। दर्शनावरणीय कर्म के बंध-हेतु वे ही हैं जो ज्ञानावरणीय कर्म के बंध-हेतु हैं। केवल ज्ञान के स्थान मे दर्शन शब्द ग्रहण करना चाहिए। अर्थ भी समान है।

दर्शनावरणीय कर्म के सम्पूर्ण क्षय से केवल दर्शन उत्पन्न होता है, जिससे जीव की अनन्त दर्शन शक्ति प्रकट होती है। जब क्षय न होकर केवल क्षयोपशम होता है तब चक्षु, अचक्षु और अवधि ये तीन दर्शन प्रगट होते हैं।

१—प्रज्ञापना २३ १

गोयमा ! दरिसणावरणिज्जस्स कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव पोग्गलपरिणामं पप्प णवविधे अणुभावे पन्नत्ते, तंजहा—णिद्दा, णिद्दाणिद्दा पयला, पयलापयला थीणद्धी चक्खुदंसणावरणे, अचक्खुदंसणावरणे, ओहिदंसणावरणे, केवलदंसणावरणे, जं वेदेति पोग्गलं वा पोग्गले वा पोग्गलपरिणामं वा वीससा वा पोग्गलाणं परिणामं तेसिं वा उदएणं पासियव्वं वा ण पासति, पासिउकामेवि ण पासति, पासित्ता वि ण पासति, उच्छन्नदंसणी यावि भवति दरिसणावरणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं।

२—उत्त० ३३ : १९-२०

पृ० ३०२ पा० टि० १ में उद्धृत

६-७—मोहनीय कर्म (गा० १६-३६) :

जो कर्म मूढ़ता उत्पन्न करे उसे मोहनीय कर्म कहते हैं। यह कर्म स्व-पर विवेक में तथा स्वरूप-रमण में बाधा पहुँचाता है। इस कर्म की तुलना मद्य के साथ की जाती है। 'मज्ज व मोहणीय' (प्रथम कर्मग्रन्थ १३)। जिस तरह मदिरा-पान से मनुष्य परवश हो जाता है और उसे अपने और पर के स्वरूप का भान नहीं रहता तथा अपने हिताहित का विवेक भूल जाता है वैसे ही इस कर्म के प्रभाव से जीव को तत्त्व-अतत्त्व का भेदज्ञान नहीं रहता और वह दुष्कृत्यों में फस जाता है[1]।

मोहनीय कर्म दो प्रकार का होता है—(१) दर्शन-मोहनीय और (२) चारित्र-मोहनीय[2]। यहाँ दर्शन का अर्थ है श्रद्धा, तत्त्वनिष्ठा, सम्यक् दृष्टि अथवा सम्यक्त्व। जो कर्म सम्यक् दृष्टि उत्पन्न न होने दे, तत्त्व-अतत्त्व का भेद-ज्ञान न होने दे उसे दर्शन-मोहनीय कर्म कहते हैं। जो सम्यक् चारित्र—आचरण को न होने दे उसे चारित्र मोहनीय कर्म कहते हैं।

दर्शन मोहनीय कर्म तीन प्रकार का होता है[3]—

(१) सम्यक्त्व-मोहनीय[4] जो कर्म सम्यक्त्व का प्रकट होना तो नहीं रोकता पर औपशमिक अथवा क्षायक सम्यक्त्व (निर्मल अथवा स्थिर सम्यक्त्व) को उत्पन्न नहीं होने देता उसे सम्यक्त्व-मोहनीय कर्म कहते हैं।

(२) मिथ्यात्व-मोहनीय जो कर्म तत्त्वों में श्रद्धा उत्पन्न नहीं होने देता और विपरीत श्रद्धा उत्पन्न करता है, उसे मिथ्यात्व मोहनीय कर्म कहते हैं।

(३) सम्यक्‌मिथ्यात्व-मोहनीय जो कर्म चित्त की स्थिति को चलायमान रखता है—

१—(क) ठाणाङ्ग २.४.१०५ की टीका

जह मज्जपाणमूढो लोए पुरिसो परव्वसो होइ।
तह मोहेणवि मूढो जीवो उ परव्वसो होइ॥

(ख) देखिए पृ० ३०८ पा० टि० २ (ख)

२—(क) उत्त० ३३.८

(ख) ठाणाङ्ग २.४.१०५

(ग) प्रज्ञापना २३.२

३—उत्त० ३३.९

४—प्रज्ञापना (२३.२) में सम्यक्त्व मोहनीय आदि को सम्यक्त्व वेदनीय आदि कहा है।

तत्त्वो मे श्रद्धा भी नही होने देता और अश्रद्धा भी नही होने देता उसे सम्यक्मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म कहते हैं।

इनमे मिथ्यात्व मोहनीय सर्वघाती कहलाता है और अन्य दो देशघाती।

चारित्र-मोहनीय कर्म दो प्रकार का होता है—(१) कषाय-मोहनीय और (२) नो-कषाय-मोहनीय।

कष अर्थात् संसार। आय अर्थात् प्राप्ति। जिससे संसार की प्राप्ति हो उसे कषाय कहते हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय हैं। श्री नेमिचन्द्र लिखते हैं—"जीव के कर्म-क्षेत्र का कर्षक होने से आचार्यों ने इसे कषाय कहा है। इससे सुख तथा दुःख रूपी प्रचुर सस्य उत्पन्न होता है तथा संसार की मर्यादा बढती है[1]।" जो कषाय के सहवर्ती सहचर होते हैं अथवा जो कषायो को उत्तेजित करते हैं उन हास्य, शोक, भय आदि को नो-कषाय कहते हैं[2]। इसके स्थान में दिगम्बर ग्रन्थो मे अकषाय का प्रयोग है। नो कषाय अथवा अकषाय का अर्थ कषाय का अभाव नही होता पर ईषत् कषाय है[3]। हास्य आदि स्वयं कषाय न होकर दूसरे के बल पर कषाय बन जाते हैं। जैसे कुत्ता स्वामी का इशारा पाकर काटने दौडता है और स्वामी के इशारे से ही वापस आ जाता है उसी तरह क्रोधादि कषायो के बल पर ही हास्यादि नो-कषायो की प्रवृत्ति होती है, क्रोधादि के अभाव मे ये निर्बल रहते हैं। इसलिए इन्हे ईषत्कषाय, अकषाय या नो-कषाय कहते हैं[4]।

कषाय-मोहनीय सोलह प्रकार का है और (२) नो-कषाय-मोहनीय सात अथवा नौ प्रकार का[5]।

१—गोम्मटसार (जीव-काण्ड) २८२

सुहदुक्खसुबहुसस्स कम्मक्खेत्त कसेदि जीवस्स।
ससारदूरमेर तेण कसाओत्ति ण बेंति॥

२—कषायसहवर्तित्वात्, कषायप्रेरणादपि।
हास्यादिनवकस्योक्ता, नोकषायकषायता॥

३—सर्वार्थसिद्धि ८.९

ईषदर्थे नञः प्रयोगादीषत्कषायोऽकषाय इति।

४—तत्त्वार्थवार्तिक ८.९.१०

५—(क) उत्त० ३३.१०-११

चरित्तमोहण कम्म दुविह तु वियाहियं।
कसाय मोहणिज्ज तु नोकसाय तहेव य॥
सोलसविहभेएण कम्म तु कसायज।
सत्तविह नवविह वा कम्म च नोकसायज॥

(ख) प्रज्ञापना २३.२

चारित्र मोहनीय के भेद इस प्रकार हैं :

१-४—अनन्तानुबंधी क्रोध-मान-माया-लोभ : जो कर्म ऐसे उत्कृष्ट क्रोध आदि उत्पन्न करते हैं कि जिनके प्रभाव से जीव को अनन्त काल तक संसार-भ्रमण करना पड़ता है क्रमशः अनन्तानुबंधी क्रोध, अ० मान, अ० माया और अ० लोभ कहलाते हैं[1] ।

५-८—अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध-मान-माया-लोभ : जो कर्म ऐसे क्रोध-मान-माया-लोभ को उत्पन्न करे कि जिनसे सम्यक्त्व तो न रुके पर प्रत्याख्यान—थोड़ी भी पाप-विरति न हो सके उन्हें क्रमशः अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, अ० मान, अ० माया और अ० लोभ कहते हैं[2] ।

९-१२—प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध-मान-माया-लोभ : जो कर्म ऐसे क्रोध-मान-माया-लोभ को उत्पन्न करे कि जिनसे सम्यक्त्व और देश प्रत्याख्यान तो न रुकें पर सर्व प्रत्याख्यान न हो सके—सर्व सावद्य विरति न हो सके उन्हें क्रमशः प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, प्र० मान, प्र० माया और प्र० लोभ कहते हैं[3] ।

१३-१६—संज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभ : जो कर्म ऐसे क्रोध आदि उत्पन्न करे कि जिनसे सर्वप्रत्याख्यान होने पर भी यथाख्यात चारित्र न हो पावे उन्हें क्रमशः संज्वलन-क्रोध, सं० मान, सं० माया और सं० लोभ कहते हैं।

दिगम्बर आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं—'सं' का प्रयोग एकीभाव अर्थ में है। संयम के साथ अवस्थान होने से एक होकर जो ज्वलित होते हैं या जिनके सद्भाव में भी संयम चमकता रहता है वे संज्वलन कषाय हैं[4] ।

१—(क) अनन्तान्यनुबध्नन्ति यतो जन्मानि भूतये ।
ततोऽनन्तानुबन्ध्याख्या क्रोधाद्येषु नियोजिता ॥
(ख) संयोजयन्ति यन्नरमनन्तसंख्यैर्भवैः कषायास्ते ।
संयोजनताऽनन्तानुबन्धिता वाप्यतस्तेषाम् ॥

२—स्वल्पमपि नोत्सहेद् येषां प्रत्याख्यानमिहोदयात् ।
अप्रत्याख्यानसंज्ञाऽतो द्वितीयेषु निवेशिता ॥

३—सर्वसावद्यविरतिः प्रत्याख्यानमुदाहृतम् ।
तदावरणसंज्ञाऽतस्तृतीयेषु निवेशिता ॥

४—सर्वार्थसिद्धि ८.९ :
समेकीभावे वर्तते । संयमेन सहावस्थानादेकीभूय ज्वलन्ति संयमो वा ज्वलत्येषु सत्स्वपीति संज्वलनाः क्रोधमानमायालोभाः ।

श्वेताम्बर विद्वानों ने इसके अर्थ का स्फोटन करते हुए लिखा है—"जो कर्म संविग्न और सर्व पाप की विरति से युक्त यति को भी क्रोधादि युक्त करता है—अप्रशमभाव युक्त करता है उसे संज्वलन कषाय कहते हैं। शब्दादि विषयों को प्राप्त कर जिससे जीव बार-बार कषाय युक्त होता है वह संज्वलन कषाय है[1]।"

अनन्तानुबंधी कषाय सम्यग्दर्शन का उपघात करनेवाला होता है। जिस जीव के अनन्तानुबंधी क्रोध आदि में से किसी का उदय होता है उसके सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं होता। यदि पहले सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो गया हो और पीछे अनन्तानुबंधी कषाय का उदय हो जाए तो वह उत्पन्न हुआ सम्यग्दर्शन भी नष्ट हो जाता है[2]।

अप्रत्याख्यान कषाय के उदय से किसी भी तरह की एकदेश या सर्वदेश विरति नहीं होती। इस कषाय के उदय से संयुक्त जीव महाव्रत या श्रावक के व्रतों को धारण नहीं कर सकता[3]।

प्रत्याख्यानावरणीय कषाय के उदय से विरताविरति—एकदेश रूप संयम होने पर भी सर्व चारित्र नहीं हो पाता[4]।

संज्वलन कषाय के उदय से यथाख्यात चारित्र का लाभ नहीं होता[5]।

यही बात दिगम्बर ग्रंथों में भी कही है[6]।

१—(क) संज्वलयन्ति यतिं यत्संविग्नं सर्वपापविरतमपि।
तस्मात् संज्वलना इत्यप्रशमकरा निरुच्यन्ते।

(ख) शब्दादीन् विषयान् प्राप्य संज्वलयन्ति यतो मुहुः।
ततः संज्वलनाह्वानं चतुर्णामिहोच्यते॥

२—तत्त्वा० ८.१० भाष्य : अनन्तानुबन्धी सम्यग्दर्शनोपघाती। तस्योदयाद्धि सम्यग्दर्शनं नोत्पद्यते। पूर्वोत्पन्नमपि च प्रतिपतति।

३—तत्त्वा० ८.१० भाष्य : अप्रत्याख्यानकषायोदयाद्विरतिर्न भवति।

४—तत्त्वा० ८.१० भाष्य : प्रत्याख्यानावरणकषायोदयाद्विरताविरतिर्भवत्युत्तमचारित्रलाभस्तु न भवति।

५—तत्त्वा० ८.१० : संज्वलनकषायोदयाद्यथाख्यातचारित्रलाभो न भवति।

६—गोम्मटसार (जीवकाण्ड) २८३ :
सम्मत्तदेससयलचरित्तजहक्खादचरणपरिणामे।
घादंति वा कसाया चउसोल असंखलोगमिदा॥

अनन्तानुबंधी कषाय की स्थिति यावज्जीवन की, अप्रत्याख्यानी कषाय की एक वर्ष की, प्रत्याख्यानी कषाय की चार मास की और सज्वलन कषाय की स्थिति एक पक्ष की होती है[1]। दिगम्बर ग्रंथो मे अनन्तानुबन्धी की स्थिति सख्यात-असख्यात-अनन्त भव, अप्रत्याख्यानी की ६ मास, प्रत्याख्यानी की एक पक्ष और सज्वलन की एक अन्तर्मुहूर्त की कही गयी है[2]।

श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनो ही के मत मे जीव अनन्तानुबंधी कषाय की अवस्था मे नरक गति, अप्रत्याख्यानी कषाय की अवस्था मे तिर्यञ्च गति, प्रत्याख्यानी कषाय की अवस्था मे मनुष्य गति और सज्वलन कषाय की अवस्था मे देव गति को प्राप्त करते हैं[3]।

क्रोध खरावर्त—जल के आवर्त—भ्रमर की तरह होता है। मान उन्नतावर्त—पर्वत् आदि जैसी ऊँची जगह के चक्राव की तरह होता है। माया गूढावर्त—वनस्पति की गाठ की तरह होती है और लोभ आमिषावर्त—मास के लिए पक्षी के चक्कर काटने की तरह होता है[4]।

अनन्तानुबंधी क्रोध पर्वत की रेखा—दरार की तरह अमिट होता है। अप्रत्याख्यानी क्रोध पृथ्वीतल की रेखा—दरार की तरह कठिनाई से शांत होनेवाला होता है। प्रत्याख्यानी क्रोध बालू की रेखा की तरह शीघ्र मिटनेवाला होता है। सज्वलन क्रोध जल की रेखा की तरह और भी शीघ्र मिटनेवाला होता है[5]। गोम्मटसार मे भी यही उदाहरण है[6]।

१—प्रथम कर्मग्रन्थ गा० १८

जाजीववरिसचउमासपक्खगा नरयतिरियनरअमरा ।
सम्माणुसव्वविरईअहखायचरित्तघायकरा ॥

२—गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) ४६

अंतोमुहुत्त पक्खं छम्मासं संखऽसंखणंतभवं ।
संजलणमादियाणं वासणकालो दु णियमेण ॥

३—(क) गोम्मटसार (जीवकाण्ड) २८४-२८७, (नीचे पा० टि० ६, तथा पृ० ३१६ पा० टि० २ ४ ६ मे उद्धृत)

(ख) उपर्युक्त पा० टि० १

४—ठाणाङ्ग ४ [illegible]

५—वही ४ [illegible]

६—गोम्मटसार (जीवकाण्ड) २८४

सिलपुढविभेदधूलीजलराइसमाणओ हवे कोहो ।
णारयतिरियणरामरगईसु उप्पायओ कमसो ॥

अनन्तानुबन्धी मान शैल स्तम्भ की तरह, अप्र० मान अस्थि-स्तम्भ की तरह, प्र० मान दारु-स्तम्भ की तरह तथा सं० मान तिनिशलता स्तम्भ जैसा होता है[1]। गोम्मटसार में तिनिशलता के स्थान में 'वेत्त'—वेत्र है[2]।

अनन्तानुबन्धी माया बांस की मूल की तरह, अप्र० माया मेष के सींग की तरह, प्र० माया गोमूत्र की धार की तरह और सं० माया बांस की ऊपरी छाल की तरह वक्र होती है[3]। तत्त्वार्थभाष्य में सं० माया को निर्लेखनसदृशी कहा है। गोम्मटसार में खुरपी के सदृश[4]।

अनन्तानुबन्धी लोभ किरमिच से रंगे वस्त्र की तरह, अप्र० लोभ कर्दम से रंगे वस्त्र की तरह, प्र० लोभ खंजन से रंगे हुए वस्त्र की तरह और सं० लोभ हल्दी से रंगे हुए वस्त्र की तरह होता है[5]। गोम्मटसार में खंजन के रंग के स्थान में 'तणुमल'—शरीर मल का उदाहरण है[6]। तत्त्वार्थभाष्य में किरमिच के रंग की जगह लाक्षाराग और खंजन के रंग के स्थान में कुसुम्भराग है[7]।

१७—हास्य मोहनीय : जो कर्म निमित्त से या अनिमित्त ही हास्य उत्पन्न करे उसे हास्य मोहनीय कर्म कहते हैं।

१८—रति मोहनीय : जो कर्म रति, प्रीति, राग उत्पन्न करे उसे रति मोहनीय कर्म कहते हैं।

१९—अरति मोहनीय : जो कर्म अरति, अप्रीति, द्वेष उत्पन्न करता है उसे अरति मोहनीय कर्म कहते हैं।

१—ठाणाङ्ग ४.२.२९३

२—गोम्मटसार (जीवकाण्ड) २८४

सेलट्ठिकट्ठवेत्ते णियभेएणणुहरंतओ माणो।
णारयतिरियणरामरगईसु उप्पायओ कमसो॥

३—ठाणाङ्ग ४.२.२९३

४—गोम्मटसार (जीवकाण्ड) २८६

वेणुवमूलोरब्भयसिंगे गोमुत्तए य खोरप्पे।
सरिसी माया णारयतिरियणरामरगईसु खिवदि जियं॥

५—ठाणाङ्ग ४.२.२९३

६—गोम्मटसार (जीवकाण्ड) २८७

किमिरायचक्कतणुमलहरिद्दराएण सरिसओ लोहो।
णारयतिरिक्खमाणुसदेवेसुप्पायओ कमसो॥

७—तत्त्वार्थ० ८.१० भाष्य

[illegible] । तद्यथा—लाक्षारागः,
[illegible], [illegible] इति।

२०—भय मोहनीय जो कर्म निमित्त से या अनिमित्त ही भय उत्पन्न करे उसे भय मोहनीय कर्म कहते हैं।

२१—शोक मोहनीय जो कर्म शोक उत्पन्न करे उसे शोक मोहनीय कर्म कहते हैं।

२२—जुगुप्सा मोहनीय जो कर्म घृणा उत्पन्न करे उसे जुगुप्सा मोहनीय कर्म कहते हैं[1]। आचार्य पूज्यपाद जुगुप्सा की परिभाषा इस प्रकार करते हैं ' यदुदयादात्मदोष-संवरण परदोषाविष्करण सा जुगुप्सा ।" अर्थात् जिसके उदय से आत्म-दोषो के संवरण—छिपाने की ओर पर-दोषो के आविष्करण—ढूढने की प्रवृत्ति होती है वह जुगुप्सा है।

२३—स्त्री-वेद जिस तरह पित्त के उदय से मधुर रस की अभिलाषा होती है वैसे ही जो कर्म पुरुष की अभिलाषा उत्पन्न करे उसे स्त्री-वेद कर्म कहते हैं। 'जिसके उदय से जीव स्त्री वेद सम्बन्धी भावो को प्राप्त होता है वह स्त्री-वेद है[2] ।"

स्त्री-वेद करीषाग्नि की तरह होता है। स्त्री की भोग इच्छा गोबर की आग की तरह धीरे धीरे प्रज्वलित होती है और चिर काल तक धधकती रहती है[3]।

(२४) पुरुष-वेद जिस तरह श्लेष्म के उदय से आम्ल रस की अभिलाषा होती है वैसे ही जो कर्म स्त्री की अभिलाषा उत्पन्न करे उसे पुरुष वेद कर्म कहते हैं। आचार्य पूज्यपाद पुरुषवेद की परिभाषा इस प्रकार करते है : "जिसके उदय से जीव पुरुष सबधी भावो को प्राप्त होता है वह पुवेद है[4] ।"

पुरुष वेद तृणाग्नि के सदृश होता है जैसे तृण की अग्नि शीघ्र जलती और बुझती है वैसे ही पुरुष शीघ्र उत्तेजित और शान्त होता है[5] ।

(२५) नपुसक-वेद जिस तरह पित्त और श्लेष्म दोनो के उदय से मज्जिका की अभिलाषा होती है वैसे ही जो कर्म स्त्री और पुरुष दोनो की अभिलाषा उत्पन्न करे उसे नपुसक वेद

१—प्रथम कर्मग्रन्थ २१ :

जं उदया होइ जिए हास रई अरइ सोग भय कुच्छा ।
सनिमित्तमन्नहा वा तं इह हासाइ मोहणियं ॥

२—तत्त्वा० ८.९ सर्वार्थसिद्धि :

यदुदयात्स्त्रैणान्भावान्प्रतिपद्यते स स्त्रीवेदः

३—प्रथम कर्मग्रन्थ २२ :

पुरिसित्थि तदुभयं पइ अहिलासो जव्वसा हवइ सो उ ।
थीनरनपुवेउदओ फुंफुमतणनगरदाहसमो ॥

४—तत्त्वा० ८.९ सर्वार्थसिद्धि :

यस्योदयात्पौंस्नान्भावानास्कन्दति स पुंवेदः

५—देखिए ऊपर पा० टि० ३

कर्म कहते हैं। "जिसके उदय से जीव नपुंसक सम्बन्धी भावों को प्राप्त होता है वह नपुंसक-वेद है[1]।"

नपुंसक वेद नगरदाह के समान है। जैसे नगरी की आग बहुत दिनों तक जलती रहती है और उसके बुझने में भी बहुत दिन लगते हैं उसी प्रकार नपुंसक की भोगेच्छा चिरकाल तक निवृत्त नहीं होती[2]।

तत्त्वार्थभाष्य में पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद की तुलना क्रमशः तृण, काष्ठ और करीषाग्नि के साथ की गई है[3]। श्री नेमिचन्द्र ने इनकी तुलना तृण, कारीष और इष्टपाक—भट्ठी की अग्नि के साथ की है[4]। नपुंसकवेद को लेकर वे लिखते हैं : "नपुंसक कलुषचित्त-वाला होता है। उसका वेदानुभव भट्ठी की अग्नि की तरह अत्यन्त तीव्र होता है[5]।"

कर्मग्रंथ, तत्त्वार्थसूत्र और गोम्मटसार की तुलनाओं में स्पष्टतः अन्तर है।

उपर्युक्त २५ प्रकृतियों में अनन्तानुबन्धी कषाय, अप्रत्याख्यानी कषाय और प्रत्याख्यानी कषाय ये बारह कषाय सर्वघाती हैं[6]।

मोह कर्म के उदय से जीव मिथ्यादृष्टि और चरित्रहीन बनता है। इसके अनुभाव

१—तत्त्वा० ८.९ सर्वार्थसिद्धि

यदुदयान्नपुंसकान्भावानुपव्रजति स नपुंसकवेदः

२—देखिए पृ० ३१७ पा० टि० ३

३—तत्त्वा० ८.१० भाष्य

तत्र पुरुषवेदादीनां तृणकाष्ठकरीषाग्नयो निदर्शनानि भवन्ति

४—गोम्मटसार (जीवकाण्ड) २७४

तिणकारिसिट्ठपागग्गिसरिसपरिणामवेयणुम्मुक्का।

अवगयवेदा जीवा सयसंभवणंतवरसोक्खा॥

५—वही २७५

णेवित्थी णेव पुमं णउंसओ उहयलिंगवदिरित्तो।

इट्टावग्गिसमाणगवेदणगरुओ कलुसचित्तो॥

६—(क) गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) ३९

केवलणाणावरणं दंसणछक्कं कसायबारसयं।

मिच्छं च सव्वघादी सम्मामिच्छं अबंधम्हि॥

(ख) [illegible]

केवलणाणावरणं दंसणछक्कं च मोहबारसगं।

ता सव्वघाइसन्ना भवंति मिच्छत्तवीसइमं॥

पाँच हैं सम्यक्त्व-वेदनीय, मिथ्यात्व-वेदनीय, सम्यग्मिथ्यात्व-वेदनीय, कषाय-वेदनीय और नो-कषाय-वेदनीय[1]।

मोहनीय कर्म के बंध-हेतुओं का उल्लेख करते हुए तत्त्वार्थसूत्र में कहा है "केवल-ज्ञानी, श्रुत, संघ, धर्म और देवों का अवर्णवाद दर्शनमोहनीय कर्म का बंध हेतु है और कषाय के उदय से होनेवाला तीव्र आत्म परिणाम चारित्रमोहनीय कर्म का[2]।"

निरावरण ज्ञानी को केवली कहते हैं[3]। केवली द्वारा प्ररूपित और गणधरों द्वारा रचित सांगोपांग ग्रंथ श्रुत हैं। रत्नत्रय से युक्त श्रमणों का गण संघ है अथवा रत्नत्रय से युक्त श्रमण-श्रमणी-श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विद गण संघ है। पंचमहाव्रत का जो साधन रूप है वह धर्म है अथवा अहिंसा लक्षण है जिसका वह धर्म है[4]। भवनवासी आदि देव हैं। केवली आदि का अवर्णवाद दर्शनमोहनीय कर्म का बंध-हेतु है। अवर्णवाद का अर्थ है 'असद्भूतदोषोद्भावनम्'—जो दोष नहीं है उसका उद्भावन करना—कथन करना।

आगम में कहा है—"अरिहन्तों का अवर्णवाद, धर्म का अवर्णवाद, आचार्य-उपाध्यायों का अवर्णवाद, संघ का अवर्णवाद और देवों का अवर्णवाद—इन पांच अवर्णवादों के होने से जीव धर्म की प्राप्ति नहीं कर सकता[5]।"

१—प्रज्ञापना २३.१

गोयमा ! मोहणिज्जस्स कम्मस्स जीवेण बद्धस्स जाव पंचविधे अणुभावे पन्नत्ते तंजहा—सम्मत्तवेयणिज्जे, मिच्छत्तवेयणिज्जे, सम्मामिच्छत्तवेयणिज्जे कसायवेयणिज्जे, नोकसायवेयणिज्जे।

२—तत्त्वा० ६.१४-१५

केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य।

कषायोदयात्तीव्रात्मपरिणामश्चारित्रमोहस्य।

३—सर्वार्थसिद्धि ६.१३ : निरावरणज्ञाना केवलिनः।

४—(क) तत्त्वा० भाष्य ६.१४ : चातुर्वर्ण्यस्य संघस्य पञ्चमहाव्रतसाधनस्य धर्मस्य

(ख) सर्वार्थसिद्धि ६.१३ : रत्नत्रयोपेतः श्रमणगणः संघः। अहिंसालक्षणस्तदागम-देशितो धर्मः।

५—ठाणाङ्ग ५.१

दर्शनमोहनीय कर्म कैसे बंधता है, इस विषय में आगम में निम्न वार्तालाप मिलता है[1]।

"हे भगवन् ! जीव कांक्षामोहनीय (दर्शनमोहनीय) कर्म किस प्रकार बांधते हैं ?"

"हे गौतम ! प्रमादरूप हेतु से और योग रूप निमित्त से जीव कांक्षामोहनीय कर्म का बंध करते हैं।"

"हे भगवन् ! वह प्रमाद कैसे होता है ?"

"हे गौतम ! वह प्रमाद योग से होता है।"

"हे भगवन् ! वह योग किस से होता है ?"

"हे गौतम ! वह योग वीर्य से उत्पन्न होता है।"

"हे भगवन् ! वह वीर्य किससे उत्पन्न होता है ?"

"हे गौतम ! वह वीर्य शरीर से उत्पन्न होता है।"

"हे भगवन् ! यह शरीर किस से उत्पन्न होता है ?"

"हे गौतम ! यह शरीर जीव से उत्पन्न होता है। जब ऐसा है तब उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम हैं।"

सर्वार्थसिद्धि में चारित्र-मोहनीय कर्म के बंध-हेतुओं का विस्तार इस रूप में मिलता है

स्वयं कषाय करना, दूसरों में कषाय उत्पन्न करना, तपस्वीजनों के चारित्र में दूषण लगाना, संक्लेश को पैदा करने वाले लिङ्ग (वेष) और व्रत को धारण करना आदि कषायवेदनीय के आस्रव हैं[2]।

सत्य धर्म का उपहास करना, दीन मनुष्य की दिल्लगी उड़ाना, कुत्सित राग को बढ़ाने वाला हँसी-मजाक करना, बहुत बकने व हँसने की आदत रखना आदि हास्य वेदनीय के आस्रव हैं[3]।

नाना प्रकार की क्रीडाओं में लगे रहना, व्रत और शील के पालन करने में रुचि न रखना आदि रतिवेदनीय के आस्रव हैं[1]।

दूसरों में अरति उत्पन्न हो और रति का विनाश हो ऐसी प्रवृत्ति करना और पापी लोगों की संगति करना आदि अरति वेदनीय के आस्रव हैं[2]।

स्वयं शोकातुर होना, दूसरों के शोक को बढ़ाना तथा ऐसे मनुष्य का अभिनन्दन करना आदि शोकवेदनीय के आस्रव हैं[3]।

भय रूप अपना परिणाम और दूसरे को भय पैदा करना आदि भयवेदनीय के आस्रव के कारण हैं[4]।

सुखकर क्रिया और सुखकर आचार से घृणा करना और अपवाद करने में रुचि रखना आदि जुगुप्सावेदनीय के आस्रव हैं[5]।

असत्य बोलने की आदत, अति सधानपरता, दूसरे के छिद्र ढूंढना और बढ़ा हुआ राग आदि स्त्रीवेद के आस्रव हैं[6]।

क्रोध का अल्प होना, ईर्ष्या नहीं करना, अपनी स्त्री में सतोष करना आदि पुरुषवेद के आस्रव हैं[7]।

प्रचुर मात्रा में कषाय करना, गुप्त इन्द्रियों का विनाश करना और परस्त्री से बलात्कार करना आदि नपुंसकवेदनीय के आस्रव हैं[8]।

मोहनीय कर्म के बंध-हेतुओं का नामोल्लेख भगवती में इस प्रकार मिलता है—(१) तीव्र क्रोध, (२) तीव्र मान, (३) तीव्र माया, (४) तीव्र लोभ, (५) तीव्र दर्शन-

---

१—सर्वार्थसिद्धि ६.१४ विचित्रक्रीडनपरताव्रतशीलारुच्यादि रतिवेदनीयस्य।

२—वही ६.१४ परारतिप्रादुर्भावनरतिविनाशनपापशीलसंसर्गादि अरतिवेदनीयस्य।

३—वही ६.१४ स्वशोकोत्पादनपरशोकप्लुताभिनन्दनादि शोकवेदनीयस्य।

४—वही ६.१४ स्वभयपरिणामपरभयोत्पादनादिर्भयवेदनीयस्य।

५—वही ६.१४ कुशलक्रियाचारजुगुप्सापरिवादशीलत्वादिर्जुगुप्सावेदनीयस्य।

६—वही ६.१४ अलीकाभिधायितातिसन्धानपरत्वपररन्ध्रप्रेक्षित्वप्रवृद्धरागादि स्त्री-वेदनीयस्य।

७—वही ६.१४ स्तोकक्रोधानुत्सुकत्वस्वदारसन्तोषादि पुंवेदनीयस्य।

८—वही ६.१४ प्रचुरकषायगुह्येन्द्रियव्यपरोपणपराङ्गनावस्कन्दनादिर्नपुंसकवेदनीयस्य।

मोहनीय और (६) तीव्र चारित्र मोहनीय[1] ।

अन्य आगमो मे मोहनीय कर्म के ३० बंध-हेतुओ का उल्लेख मिलता है[2] । [illegible] मे वे इस प्रकार है

(१) त्रस प्राणियो को जल मे डुबाकर जल के आक्रमण से उन्हें मारना ।

(२) किसी प्राणी के नाक, मुख आदि इन्द्रिय-द्वारो को हाथ से ढक अथवा अवरुद्ध कर मारना ।

(३) बहुत प्राणियो को किसी स्थान मे अवरुद्ध कर चारो ओर अग्नि प्रज्वलित कर धुएं मे दम घोटकर मारना ।

(४) दुष्ट चित्त से किसी प्राणी के उत्तमांग—सिर पर प्रहार करना है और मस्तक को फोडकर विदीर्ण करना ।

(५) किसी प्राणी के मस्तक को गीले चर्म से आवेष्टित करना ।

(६) छल पूर्वक बार बार भाले या डंडे से किसी को पीटकर अपने कार्य पर प्रसन्न होना या हँसना ।

(७) अपने दोषो को छिपाना, माया को माया मे आच्छादित करना, झूठ बोलना, [illegible] का गोपन करना ।

(८) किसी निर्दोष व्यक्ति पर मिथ्या आरोप कर अपने दुष्ट-कार्यो को उसके सिर मँढ़कर उसे कलंकित करना ।

(९) जानते हुए भी किसी परिषद में अर्द्ध सत्य (सच और झूठ मिश्रित) कहना ।

(१०) राजा का मंत्री होकर उसके प्रति जनता में विद्रोह कराना या [illegible] करना ।

(११) बाल ब्रह्मचारी नहीं होने पर भी अपने को बाल ब्रह्मचारी कहना या [illegible] में लिप्त रहना ।

(१२-१३) ब्रह्मचारी नहीं होने पर भी अपने को ब्रह्मचारी प्रसिद्ध--व्यक्त करना, तथा कपट रूप से विषय सुखों में आसक्त रहना।

(१४) गाँव की जनता अथवा स्वामी के द्वारा समर्थ और धनवान बन जाने पर, फिर उन्हीं लोगों के प्रति ईर्ष्या दोष या कलुषित मन से उनके सुखों में अन्तराय देने का सोचना या विघ्न उपस्थित करना।

(१५) अपने भर्ता—पालन करने वाले की हिंसा करना।

(१६) राष्ट्र-नायक, वणिक्-नायक अथवा किसी महा यशस्वी श्रेष्ठी को मारना।

(१७) नेता-स्वरूप अथवा अनेक प्राणियों के त्राता सदृश पुरुष को मारना।

(१८) दीक्षाभिलाषी, दीक्षित, संयत और सुतपस्वी पुरुष को धर्म से भ्रष्ट करना।

(१९) अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन युक्त जिनों की निन्दा करना।

(२०) सम्यग्ज्ञानदर्शन युक्त न्याय मार्ग की बुराई करना, धर्म के प्रति द्वेष और निन्दा के भावों का प्रचार करना।

(२१) जिस आचार्य या उपाध्याय की कृपा से श्रुत और विनय की शिक्षा प्राप्त हुई हो उसी की निन्दा करना।

(२२) आचार्य और उपाध्याय की सुमन से सेवा न करना।

(२३) अबहुश्रुत होते हुए भी अपने को बहुश्रुत व्यक्त करना और स्वाध्यायी न होने पर भी अपने को स्वाध्यायी व्यक्त करना।

(२४) तपस्वी न होते हुए भी अपने को तपस्वी घोषित करना।

(२५) सशक्त होते हुए भी अस्वस्थ अन्य साधु साध्वियों की सेवा इस भाव से न करना कि वे उसकी सेवा नहीं करते।

(२६) सर्वतीर्थों का भेद तथा धर्म-विमुख करने वाली हिंसात्मक और कामोत्तेजक कथाओं का बार-बार कहना।

(२७) आत्म-श्लाघा या मित्रता प्राप्ति के लिए अधार्मिक वशीकरण आदि योगों का बार-बार प्रयोग करना।

(२८) मानुषिक या दैविक भोगों की अतृप्ति पूर्वक अभिलाषा करना।

(२९) देवों की ऋद्धि, द्युति, यश, वर्ण, बल और वीर्य की निन्दा करना।

(३०) 'जिन' के समान पूजा की इच्छा से नहीं देखते हुए भी मैं देव, [illegible] को देखता हूँ ऐसा कहना।

[illegible]

१—दसा [illegible]

[illegible]

[illegible]

८—अन्तराय कर्म (गा० ३७-४२) :

अन्तराय का अर्थ है बीच में उपस्थित होना—विघ्न करना—व्याघात करना। जो कर्म क्रिया, लब्धि, भोग और बल स्फोटन करने में अवरोध उपस्थित करे उसे अन्तराय कर्म कहते हैं। इसकी तुलना राजा के भण्डारी के साथ की जाती है। राजा की दान देने की इच्छा होने पर भी यदि भण्डारी कहे कि खजाने में कुछ नहीं है तो राजा दान नहीं दे पाता वैसे ही अन्तराय कर्म के उदय से जीव की स्वाभाविक अनन्त कार्य शक्ति कुण्ठित हो जाती है[1]।

अन्तराय कर्म की पाँच प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं

(१) दान अन्तराय कर्म : इसका उदय दान देने में विघ्नकारी होता है। जो कर्म दान नहीं देने देता वह दानान्तराय कर्म है। मनुष्य सत्पात्र दान में पुण्य जानता है, प्रासुक एषणीय वस्तु भी पास में होती है, सुपात्र संयमी-साधु भी उपस्थित होता है इस तरह सारे संयोग होने पर इस कर्म के उदय से जीव दान नहीं दे पाता।

(२) लाभ अन्तराय कर्म : यह वस्तुओं की प्राप्ति में बाधक होता है। जो कर्म उदित होने पर शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श के लाभ अथवा ज्ञान-दर्शन-चारित्र तप आदि के लाभ नहीं होने देता वह लाभान्तराय कर्म कहलाता है। द्वारका जैसी नगरी में घूमते रहने पर

(५) वीर्य-अन्तराय कर्म वीर्य एक प्रकार की शक्ति विशेष[1] है। बौद्ध ग्रंथो मे भी इसी अर्थ मे वीर्य शब्द का प्रयोग मिलता है[2]। योग—मन-वचन-काय के व्यापार—वीर्य से उत्पन्न होते है[3]। संसारी जीव मे सत्तारूप मे अनन्त वीर्य होता है[4]। जो कर्म आत्मा के वीर्य-गुण का अवरोधक होता है—उसे वीर्यान्तराय कर्म कहते है। निर्बलता इसी कर्म का फल होता है[5]। कहा है "वीर्य, उत्साह, चेष्टा, शक्ति पर्यायवाची शब्द है। जिस कर्म के उदय से कल्यायुष्यवाला युवा भी अल्प प्राणतावाला होता है उसे वीर्यान्तराय कर्म कहते है[6]।"

वीर्य तीन है (१) बाल-वीर्य जिसके थोडे भी त्याग-प्रत्याख्यान नही होते, जो अविरत होता है उस बाल का वीर्य बाल वीर्य कहलाता है। (२) पण्डित-वीर्य जो सर्वविरत होता है उस पण्डित का वीर्य पण्डित वीर्य है। (३) बाल-पण्डित वीर्य जो कुछ अंश मे त्यागी है और कुछ अंश मे अविरत, उस बाल-पण्डित का वीर्य बाल-पण्डित वीर्य है। वीर्यान्तराय कर्म इन तीनो प्रकार के वीर्यो का अवरोध करता है। इस कर्म के प्रभाव से जीव के उत्थान[7], कर्म[8], बल[9], वीर्य[10], और पुरुषकार-पराक्रम[11] क्षीण—हीन होते हैं।

१—ठाणाङ्ग १०.१.७४०

२—अगुत्तरनिकाय ५.१

३—भगवती १.३

४—भगवती १.८

५—यदुत्थाने नीरोगस्य तरुणस्य बलवतोऽपि निर्वीर्यता स्यात् स वीर्यन्तराय

६—तत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् ८.१४ सिद्धसेन

सत्र यस्योपचित यत्परस्याप्युपचितवपुषोऽपि यूनोऽप्यल्पप्राणता यस्य कर्मण उदयात् स वीर्यान्तराय इति।

७—उत्थान—चेष्टाविशेष (ठा० १.१.४० टीका)

८—कर्म—भ्रमणादि क्रिया (वही)

९—बल—शरीर-सामर्थ्य (वही)

१०—वीर्य—जीव से प्रभव शक्तिविशेष (वही)

११—पुरुषकार—अभिमान विशेष। पराक्रम—अभिमान विशेष को पूरा करने का प्रयत्न विशेष (वही पुरुषकारश्च—अभिमानविशेषः पराक्रमश्च—पुरुषकार एव निष्पादितस्वविषयः इति द्विगौ द्वन्द्व [illegible])

अन्तराय कर्म के दो भेद कहे गये हैं—

(१) प्रत्युत्पन्नविनाशी अ० कर्म—जिसके उदय से लब्ध वस्तुओं का विनाश हो और (२) पिहित आगामी-पथ अ० कर्म—लभ्य वस्तु के आगामी पथ का—लाभ-मार्ग का अवरोध[1]।

इस कर्म के पाँच अनुभाव हैं—दानान्तराय, लाभान्तराय भोगान्तराय और वीर्यान्तराय[2]।

श्री नेमिचन्द्र लिखते हैं—"घनघाति होने पर भी अन्तराय कर्म को जो अघाति कर्मों के बाद रखा है उसका कारण यह है कि वह अघाति कर्मों के समान ही है क्योंकि वह कितना ही गाढ़ क्यों न हो जीव के वीर्य गुण को सर्वथा सम्पूर्णत आच्छादित नहीं कर सकता[3]।"

उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार-पराक्रम ये जीव के परिणाम विशेष हैं। ये वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से होते हैं।

केवलज्ञानावरणीय आदि पूर्व वर्णित घाति कर्मों के क्षय के साथ ही सर्व वीर्य अन्तराय कर्म का क्षय हो जाता है। इसके क्षय से निरतिशय—अनन्त वीर्य उत्पन्न होता है।

अन्तराय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति ३० कोटाकोटी सागरोपम की होती है[4]।

१—ठाणाङ्ग २ ४ १०५

अंतराइए कम्मे दुविहे प० त०-पडुप्पन्नविणासिए चेव पिहितआगामिपह।

२—प्रज्ञापना २३ १ १२

गोयमा! अंतराइयस्स कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव पचविहे अणुभावे पन्नत्ते, तंजहा दाणंतराए लाभंतराए, भोगंतराए, उवभोगंतराए, वीरियंतराए, जं वेदेति पोग्गलं वा जाव वीससा वा पोग्गलाण परिणामं वा तेसिं वा उदएणं अंतराइं कम्मं वेदेति

३—गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) १७

घादीवि अघादिं वा णिस्सेसं घादणे असक्कादो।
णामतियणिमित्तादो विग्घं पडिदं अघादिचरिमम्हि॥

४—उत्त० ३३ १६

अन्तराय कर्म के बंध-हेतुओं का नामोल्लेख पहले आ चुका है[1]। हेमचन्द्रसूरि कहते हैं "दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य—इनमें कारण या बिना कारण विघ्न करना अन्तराय कर्म के आस्रव हैं[2]।"

अन्तराय कर्म के विवेचन के साथ घनघाती कर्मों का विवेचन सम्पूर्ण होता है। इन चार घनघाती-कर्मों में ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय ये दो आवरण-स्वरूप हैं। मोहनीय-कर्म विवेक को विकृत करता है। अन्तराय-कर्म विघ्न रूप है।

प्रथम दो आवरणीय कर्मों के क्षय से जीव को निर्वाण रूप, सम्पूर्ण प्रतिपूर्ण अव्याहत, निरावरण, अनन्त और सर्वोत्तम केवल-ज्ञान-दर्शन उत्पन्न होता है। जीव अर्हत्, जिन, केवली, सर्वज्ञ तथा सर्वभावदर्शी होता है। विवेक को दूषित करने वाले मोहनीयकर्म के क्षय से शुद्ध अनन्त चारित्र उत्पन्न होता है। अन्तराय कर्म के क्षय से अनन्त-वीर्य प्रकट होता है। इस तरह घनघाती कर्मों का क्षय अनन्त-चतुष्टय की प्राप्ति का कारण होता है।

६—असाता वेदनीय कर्म (गा० ४३-४४)

जिस कर्म से सुख दुःख का वेदन—अनुभव हो उसे वेदनीय कर्म कहते हैं। वेदनीय कर्म दो प्रकार का है—(१) साता वेदनीय और (२) असाता वेदनीय। इस कर्म की तुलना मधु-लिप्त तलवार की धार से की गई है[3]। तलवार की धार से लगे हुए मधु को जीभ से चाटने के समान साता वेदनीय और तलवार की धार से जीभ के कटने की तरह असाता वेदनीय कर्म है[3]। जिस कर्म के उदय से सुख का अनुभव हो वह

१—देखिए पुण्य पदार्थ (ढाल २) टिप्पणी २३ पृ० २३०

२—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : सप्ततत्त्वप्रकरणम् गा० ११०

दाने लाभे च वीर्ये च, तथा भोगोपभोगयोः ।
सव्याजाव्याज विघ्नोऽन्तरायकर्मण आस्रवाः ॥

३—(क) ठाणाङ्ग २.४.१०५ टीका : तत्र वेद्यते—अनुभूयत इति वेदनीयं, सातम्—सुखं तद्रूपतया वेद्यते यत्तत्तथा, दीर्घत्वं प्राकृतत्वात्, इतरत्—एतद्विपरीतम्, आह च—

महुलित्तनिसियकरवालधारजीहाए जारिसं लिहणं ।
तारिसयं वेयणियं सुहदुहउप्पायगं मुणह ॥

(ख) प्रथम कर्मग्रन्थ १२ :

महुलित्तखग्गधारालिहणं व सुहदुहाउ वेयणियं ।

साता वेदनीय है। जिस कर्म के उदय से जीव को दुःख रूप अनुभव हो वह असाता वेदनीय है।

पदार्थ इष्ट या अनिष्ट नही होते। इष्ट अनिष्ट का भाव अज्ञान और मोह से उत्पन्न होता है—राग द्वेष से उत्पन्न होता है। अनुकूल विषयो के न मिलने से तथा प्रतिकूल विषयो के सयोग से जो दुःख होता है वह असाता वेदनीय कर्म के उदय का परिणाम है। उसके फल स्वरूप अनेक प्रकार के—शारीरिक और मानसिक दुःखो का अनुभव होता है[1]।

असाता वेदनीय कर्म आठ प्रकार के है। (१) अमनोज्ञ शब्द (२) अमनोज्ञ रूप (३) अमनोज्ञ स्पर्श (४) अमनोज्ञ गध, (५) अमनोज्ञ रस, (६) मन दुःखता, (७) वाग् दुःखता और (८) काय दुःखता[2]।

असाता वेदनीय के अनुभाव इन्ही आठ भेदो के अनुसार तद्रूप आठ है[3]।

अमनोज्ञ शब्द, रूप, गध, स्पर्श और इनसे होनेवाला दुःख तथा मानसिक, वाचिक, और कायिक दुःखता असाता वेदनीय कर्म के उदय का परिणाम है।

असाता वेदनीय कर्म के बध-हेतुओ का उल्लेख पूर्व मे किया जा चुका है[4]।

एक बार श्रमण भगवान महावीर ने गौतमादि श्रमणो को बुलाकर पूछा "श्रमणो! जीव को किसका भय है?"

श्रमण बोले "भगवन्! हम नही जानते। आप ही हमे बतावें?"

भगवान ने उत्तर दिया "श्रमणो! जीवो को दुःख का भय है।"

१—तत्त्वा० ८ ८. सर्वार्थसिद्धि यदुदयाद्देवादिगतिषु शरीरमानससुखप्राप्तिस्तत्सवद्येम्। प्रशस्त वेद्य सद्वेद्यमिति। यत्फल दुःखमनेकविध तदसवद्येम्। अप्रशस्तं वेद्यमसद्वेद्यमिति।

२—प्रज्ञापना २३.३.१५
असायावेदणिज्जे ण भते! कम्मे कतिविधे पन्नत्ते? गोयमा! अट्ठविधे पन्नत्ते, तजहा-अमणुण्णा सद्दा, जाव कायदुहया।

३—प्रज्ञपना २३ ३ ८
असातावेयणिज्जस्स ण भते! कम्मस्स जीवेण तहेव पुच्छा उत्तर च, नवर अमणुण्णा सद्दा जाव कायदुहया, एस ण गोयमा! असायावेयणिज्जे कम्मे, एस ण गोयमा! असातावेदणिज्जस्स जाव अट्ठविधे अणुभावे पन्नत्ते॥

४—देखिए पुण्य पदार्थ (ढाल १) टि० १३-१४,१६ (पृ० २२०-२२२,२२४)

श्रमण बोले "भगवन् ! यह दुःख किसने किया ?"

भगवान बोले "जीव ने ही यह दुःख अपने प्रमाद से उत्पन्न किया है।"

श्रमण बोले—"भगवन् ! इस दुःख को कैसे भोगना चाहिए ?"

भगवान बोले—"अप्रमत्त हो इस दुःख को भोगना चाहिए[1]"। "अनगार विचारे—इस सुन्दर शरीरवाले अरिहंत भगवान तक जब कर्मों को क्षय करनेवाले तप कर्म को ग्रहण करते हैं तो मैं भी वैसा क्यों न करूँ ? यदि मैं ऐसे कष्टों को सहन नहीं करूँगा, तो मेरे कर्मों का नाश कैसे होगा ? उनके नाश करने का तो यही उपाय है कि कष्टों को सहन किया जाय। यह चौथी सुखशय्या है[2]।"

१०—अशुभ आयुष्य-कर्म (गा० ४५-४६)

नाना गति के जीवों की जीवन-अवधि का निर्यामक कर्म आयुष्य-कर्म कहलाता है। इस कर्म की तुलना कारागृह से की जाती है[3]। जिस प्रकार अपराधी को न्यायाधीश कारागृह की सजा दे दे तो इच्छा करने पर भी अपराधी उससे मुक्त नहीं हो सकता, उसी प्रकार जब तक आयु-कर्म रहता है तब तक आत्मा देह का त्याग नहीं कर सकता। इसी प्रकार आयु शेष होने पर जीव देह-स्थित नहीं रह सकता। आयुष्य-कर्म न सुख का कर्त्ता है और न दुःख का। आयुष्य-कर्म देह-स्थित जीव को केवल अमुक काल मर्यादा तक धारण कर रखता है[4]। कहा है—"जीवस्स अवट्ठाणं करेदि आऊ हलिव्व णरं" (गो० कर्म० ११)

श्री अकलङ्कदेव ने आयुष्य की परिभाषा इस प्रकार की है "जिसके होने पर जीव जीवित और जिसके अभाव में वह मृत कहलाता है वह आयु है। आयु भवधारण का हेतु है[5]"

१—ठाणाङ्ग ३.२.१६६

२—ठाणाङ्ग ४.३.३२५

३—प्रथम कर्मग्रन्थ २३

सुरनरतिरिनिरयाउ हडिसरिसं ।

४—ठाणाङ्ग २.४.१०५ टीका

दुक्खं न देइ आउं नवि य सुहं देइ चउसुवि गईसु ।
दुक्खसुहाणाधारं धरेइ देहट्ठियं जीवं ॥

५—तत्त्वार्थवार्तिक ८.१०.२

यस्य भावाभावयोर्जीवितमरणं तदायुः ।१। यस्य भावात् आत्मनः जीवितं भवति यस्य चाभावात् मृत इत्युच्यते तद्भवधारणमायुरित्युच्यते ।

जिस कर्म के उदय से जीव को अमुक गति—भव का जीवन बिताना पड़े उसे आयुष्य-कर्म कहते हैं। इसके अनुभाव चार हैं—नरकायुष्य, तिर्यञ्चायुष्य, मनुष्यायुष्य और देवायुष्य[१]।

गतियों की अपेक्षा से आयुष्य-कर्म चार प्रकार के हैं

(१) नरकायुष्य कर्म जिसका उदय तीव्र शीत और तीव्र उष्ण वेदनावाले नरकों में दीर्घजीवन का निमित्त होता है वह नरकायुष्य कर्म कहलाता है[२]।

(२) तिर्यञ्चायुष्य कर्म जिसके उदय से क्षुधा, तृष्णा, शीत, उष्ण आदि अनेक उपद्रवों के स्थानभूत तिर्यञ्च-भव में वास हो उसे तिर्यञ्चायुष्य कर्म कहते हैं[३]।

(३) मनुष्यायुष्य कर्म जिसके उदय से शारीरिक और मानसिक सुख-दुःख से समाकुल मनुष्य-भव में जन्म हो उसे मनुष्यायुष्य कर्म कहते हैं[४]।

(४) देवायुष्य कर्म जिसके उदय से शारीरिक और मानसिक अनेक सुखों से प्रायः युक्त देवों में जन्म हो उसे देवायुष्य कर्म कहते हैं[५]।

नरकायुष्य कर्म निश्चय ही अशुभ है और पाप-कर्म की कोटि का है। स्वामीजी के मत से कुदेव, कुनर और कई तिर्यञ्चों का आयुष्य भी अशुभ है और पाप-कर्म की कोटि का है (देखिए टि० ७ पृ० १६०-६२)।

अशुभ आयुष्य कर्म के बंध-हेतुओं का विवेचन पहले आ चुका है (देखिए टि० ५ पृ० २०६, टि० ६ पृ० २१०, टि० ७ पृ० २११, टि० १७ पृ० २२४, टि० १८ पृ० २२५)।

१—प्रज्ञापना २३ १

गोयमा ! आउयस्स ण कम्मस्स जीवेण बद्धस्स जाव चउविहे अणुभावे पन्नत्ते, तंजहा—नेरइयाउते, तिरियाउते, मणुयाउए, देवाउए।

२—तत्त्वार्थवार्तिक ८ १० ५

नरकेषु तीव्रशीतोष्णवेदनेषु यन्निमित्तं दीर्घजीवन तन्नारकायुः

३—वही ८ १० ६

क्षुत्पिपासाशीतोष्णादिकृतोपद्रवप्रचुरेषु तिर्यक्षु यस्योदयाद्वसन तत्तैर्यग्योनम्

४—वही ८ १० ७

शारीरमानससुखदुःखभूयिष्ठेषु मनुष्येषु जन्मोदयात् मनुष्यायुषः

५—वही ८ १०-८

शारीरमानससुखप्रायेषु देवेषु जन्मोदयात् देवायुषः

११—अशुभ नाम कर्म (गा० ४६-५६) :

नाम कर्म का अर्थ करते हुए कहा गया है—"जो कर्म जीव को गत्यादि पर्यायों को अनुभव करने के लिए बाध्य करे वह नाम कर्म है[1] ।"

श्री नेमिचन्द्र लिखते हैं "जो कर्म जीवों में गति आदि के भेद उत्पन्न करता है, जो देहादि की भिन्नता का कारण है तथा जिससे गत्यंतर जैसे परिणमन होते हैं वह नाम कर्म है[2] ।"

इस कर्म की तुलना चित्रकार से की गई है। जिस प्रकार चतुर चित्रकार विचित्र वर्णों से शोभन-अशोभन, अच्छे-बुरे, रूपों को करता है उसी प्रकार नाम कर्म इस संसार में जीव के शोभन-अशोभन, इष्ट-अनिष्ट अनेक रूप करता है। जो कर्म विचित्र पर्यायों में परिणमन का हेतु होता है वह नामकर्म है[3] ।

नाम कर्म दो प्रकार के होते हैं (१) शुभ और (२) अशुभ। जो शुभ हैं वे पुण्य रूप हैं और जो अशुभ हैं वे पाप रूप[4] ।

शुभ नाम कर्म के कुल भेद साधारणतः ३७ माने जाते हैं[5] और अशुभ नाम कर्म के कुल ३४[6] ।

नाम कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ और उनके उपभेद का पुण्य पाप रूप वर्गीकरण निम्न प्रकार है

१—प्रज्ञापना २३ १ २८८ टीका

नामयति—गत्यादि पर्यायानुभवनं प्रति प्रवणयति जीवमिति नाम

२—गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) १२

गदिआदि जीवभेदं देहादी पोग्गलाण भेदं च ।

गदियंतरपरिणमनं करेदि णामं अणेयविहं ॥

३—ठाणाङ्ग २-४ १०५ टीका

विचित्रपर्यायैर्नमयति—परिणमयति यज्जीवं तन्नाम, एतत्स्वरूपं च—

जह चित्तयरो निउणो अणेगरूवाइं कुणइ रूवाइं ।

सोहणमसोहणाइं चोक्खमचोक्खेहिं वण्णेहिं ॥

तह नामंपि हु कम्मं अणेगरूवाइं कुणइ जीवस्स ।

सोहणमसोहणाइं इट्ठाणिट्ठाइं लोयस्स ॥

४—उत्त० ३३ १३

नामं कम्मं तु दुविहं सुहमसुहं च आहियं ।

सुहस्स उ बहू भेया एमेव असुहस्स वि ॥

५—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह नवतत्त्वप्रकरणम् ७ भाष्य ..

सत्तत्तीसं नामस्स, पयईओ पुन्नमाहु (हु) ता य इमो ।

६—वही ८ भाष्य ४६

[illegible] ।

उत्तर प्रकृतियाँ		उपभेद	
		पुण्यरूप	पापरूप
१—गतिनाम	१		नरकगतिनाम (१)
	२		तिर्यञ्चगतिनाम (२)
	३	मनुष्यगतिनाम (१)	
	४	देवगतिनाम (२)	
२—जातिनाम	५		एकेन्द्रियजातिनाम (३)
	६		द्वीन्द्रियजातिनाम (४)
	७		त्रीन्द्रियजातिनाम (५)
	८		चतुरिन्द्रियजातिनाम (६)
	९	पञ्चेन्द्रियजातिनाम (३)	
३—शरीरनाम	१०	औदारिकशरीरनाम (४)	
	११	वैक्रियशरीरनाम (५)	
	१२	आहारकशरीरनाम (६)	
	१३	तेजसशरीरनाम (७)	
	१४	कामर्णशरीरनाम (८)	
४—शरीर-अङ्गो-पांगनाम	१५	औदारिकशरीर-अङ्गोपांग नाम (९)	
	१६	वैक्रियशरीर-अङ्गोपागनाम (१०)	
	१७	आहारकशरीर-अगोपाङ्गनाम (११)	
५—सहनननाम	१८	वज्रऋषभनाराचसहनननाम (१२)	
	१९		ऋषभनाराचसहनननाम (७)
	२०		नाराचसंहनननाम (८)
	२१		अर्द्धनाराचसहनननाम (९)
	२२		कीलिकासहनननाम (१०)
	२३		सेवार्त्तसहनननाम (११)

६—संस्थाननाम	२४	समचतुरस्रसंस्थाननाम (१३)	
	२५		न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थाननाम (१२)
	२६		सादिसंस्थाननाम (१३)
	२७		वामनसंस्थाननाम (१४)
	२८		कुब्जसंस्थाननाम (१५)
	२९		हुंडसंस्थाननाम (१६)
७—वर्णनाम	३०	शुभवर्णनाम (१४)	
	३१		अशुभवर्णनाम (१७)
८—गन्धनाम	३२	सुरभिगंधनाम (१५)	
	३३		दुरभिगंधनाम (१८)
९—रसनाम	३४	शुभरसनाम (१६)	
	३५		अशुभरसनाम (१९)
१०—स्पर्शनाम	३६	शुभस्पर्शनाम (१७)	
	३७		अशुभस्पर्शनाम (२०)
११—अगुरुलघुनाम	३८	अगुरुलघुनाम (१८)	
१२—उपघातनाम	३९		उपघातनाम (२१)
१३—पराघातनाम	४०	पराघातनाम (१९)	
१४—आनुपूर्वीनाम	४१		नरकानुपूर्वीनाम (२२)
	४२		तिर्यञ्चानुपूर्वीनाम (२३)
	४३	मनुष्यानुपूर्वीनाम (२०)	
	४४	देवानुपूर्वीनाम (२१)	
१५—उच्छ्वासनाम	४५	उच्छ्वासनाम (२२)	
१६—आतपनाम	४६	आतपनाम (२३)	
१७—उद्योतनाम	४७	उद्योतनाम (२४)	
१८—विहायोगतिनाम	४८	प्रशस्तविहायोगतिनाम (२५)	
	४९		अप्रशस्तविहायोगतिनाम (२४)
१९—त्रसनाम	५०	त्रसनाम (२६)	

जो कर्म पहले बंधे हुए तथा वर्तमान में बंधनेवाले औदारिक आदि शरीर के पुद्गलों का आपस में लाख के समान सम्बन्ध करता है उस कर्म को बन्धननामकर्म कहते हैं।

जैसे दताली तृण-समूह को इकट्ठा करती है वैसे ही जो कर्म गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलों को इकट्ठा करता है—उनका सानिध्य करता है उसे संघातनामकर्म कहते हैं।

शरीर के पाँच भेदों के अनुसार इन दोनों उत्तर प्रकृतियों के अवान्तर भेद निम्न प्रकार पाँच-पाँच हैं

शरीरबंधननाम (१) औदारिकशरीरबंधननाम
(२) वैक्रियशरीरबंधननाम
(३) आहारकशरीरबंधननाम
(४) तैजसशरीरबंधननाम
(५) कार्मणशरीरबंधननाम

शरीरसंघातनाम (१) औदारिकशरीरसंघातनाम
(२) वैक्रियशरीरसंघातनाम
(३) आहारकशरीरसंघातनाम
(४) तैजसशरीरसंघातनाम
(५) कार्मणशरीरसंघातनाम

इसी तरह वर्णनाम (क्र० ७), रसनाम (क्र० ९) और स्पर्शनाम (क्र० १०) के वर्णित दो दो कुल ६ उपभेदों के स्थान में उनके उपभेद आगम में इस प्रकार उपलब्ध हैं

वर्णनाम—कृष्णवर्णनाम, नीलवर्णनाम, लोहितवर्णनाम, हारिद्रवर्णनाम, श्वेतवर्णनाम।

रसनाम—तिक्तरसनाम, कटुरसनाम, कषायरसनाम, आम्लरसनाम, मधुररसनाम।

स्पर्शनाम—कर्कशस्पर्शनाम, मृदुस्पर्शनाम, गुरुस्पर्शनाम, लघुस्पर्शनाम, स्निग्धस्पर्शनाम, रूक्षस्पर्शनाम, शीतस्पर्शनाम, उष्णस्पर्शनाम।

यहाँ उक्त उत्तर प्रकृतियों को गिनने से नामकर्म के कुल भेद ९३ (७१–६)+५+५+५+५+८=९३ होते हैं। यही संख्या श्वेताम्बर दिगम्बर सर्वमान्य है[1]।

१—(क) प्रज्ञापना २३.२.२९३
(ख) गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) २८

नाम कर्म की पुण्य-प्रकृतियो का विवेचन पुण्य पदार्थ की ढाल में किया जा चुका है। पाप-प्रकृतियो का विवेचन यहाँ गा० ४६ से ५६ में है। यहाँ उनपर कुछ प्रकाश डाला जा रहा है

(१) नरकगतिनाम नारकत्व आदि पर्याय-परिणति को गति कहते हैं। जिस कर्म का उदय नरक-भव की प्राप्ति का कारण हो उसे 'नरकगतिनाम कर्म' कहते हैं।

(२) तिर्यञ्चगतिनाम जिस कर्म के उदय से तिर्यञ्च-भव की प्राप्ति हो उसे 'तिर्यञ्च गतिनाम कर्म' कहते हैं। पशु, पक्षी तथा वृक्ष आदि एकेन्द्रिय जीव इसी कर्म के उदय वाले हैं।

(३) एकेन्द्रियजातिनाम : जो कर्म जीव की जाति—सामान्यकोटि का नियामक हो उसे जातिनाम कर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव केवल स्पर्शनेन्द्रिय का धारक एकेन्द्रिय पृथ्वी, अप्, वायु, तेजस और वनस्पतिकाय जाति का जीव हो उसे 'एकेन्द्रियजाति नामकर्म' कहते हैं

(४) द्वीन्द्रियजातिनाम जिस कर्म के उदय से जीव द्वीन्द्रिय—स्पर्श और जिह्वा मात्र धारण करने वाली जीव-जाति में जन्म ग्रहण करे उसे 'द्वीन्द्रियजाति नाम कर्म' कहते हैं। कृमी, सीप, शख आदि द्वीन्द्रिय जाति के जीव हैं।

(५) त्रीन्द्रियजातिनाम : जिस कर्म के उदय से जीव त्रीन्द्रिय—स्पर्श, जिह्वा और घ्राण मात्र धारण करनेवाली जीव-जाति में जन्म ग्रहण करे उसे 'त्रीन्द्रियजातिनामकर्म' कहते हैं। कुन्थु, पिपीलिका आदि इस कर्म के उदयवाले जीव हैं।

(६) चतुरिन्द्रियजातिनाम . जिस कर्म के उदय से जीव चतुरिन्द्रिय—स्पर्श, जिह्वा, घ्राण और चक्षु मात्र धारण करनेवाली जीव-जाति में जन्म ग्रहण करे उसे 'चतुरिन्द्रिय-जातिनामकर्म' कहते हैं। मक्षिका, मशक, कीट, पतग आदि इसी कर्म के उदयवाले हैं।

(७) ऋषभनाराचसहनननाम हाडवध की विशिष्ट रचना का निमित्त कर्म सहनननाम कर्म कहलाता है। जिस कर्म के उदय से ऋषभनाराचसहनन प्राप्त हो वह 'ऋषभनाराच-सहनननामकर्म' है। दोनो ओर अस्थियाँ मर्कट-बन्ध से बधी हो और उनके ऊपर पट्ट की तरह अन्य अस्थि का वेष्टन हो वैसे अस्थिबध को 'ऋषभनाराचसहनन' कहते हैं।

(८) नाराचसहनननाम जिस कर्म के उदय से नाराचसहनन प्राप्त हो उसे 'नाराचसहनन-नामकर्म' कहते हैं। ऊपर ऋषभ=पट्ट का वेष्टन न हो केवल दोनो ओर मर्कट-बध हो उस अस्थिबध को नाराचसहनन कहते हैं।

(९) अर्द्धनाराचसंहनननाम : जिस कर्म के उदय से अर्द्धनाराचसंहनन प्राप्त हो उसे 'अर्द्धनाराचसंहनननामकर्म' कहते हैं। जिस अस्थि-बंध में एक ओर मर्कट-बंध हो और दूसरी ओर अस्थि-कीलिका का बंध उसे अर्द्धनाराचसंहनन कहते हैं।

(१०) कीलिकासंहनननाम : जिस कर्म के उदय से कीलिकासंहनन प्राप्त हो उसे 'कीलिकासंहनननामकर्म' कहते हैं। जिस बंध में दोनों ओर अस्थियाँ अस्थि-कीलिकाओं से बंधी हो उसे कीलिकासंहनन कहते हैं।

(११) सेवार्तसंहनननाम : जिस कर्म के उदय से सेवार्तसंहनन प्राप्त हो उसे 'सेवार्तसंहनननामकर्म' कहते हैं। इस बंध में अस्थियों के किनारे परस्पर मिले होते हैं, उनमें कीलिका-बंध भी नहीं होता।

(१२) न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थाननाम : शरीर की विविध आकृतियों के निमित्त कर्म को संस्थाननाम कहते हैं। जिस कर्म के उदय से न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान प्राप्त हो वह 'न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थाननामकर्म' कहलाता है। न्यग्रोध=वट। वटवृक्ष की तरह नाभि से ऊपर का भाग प्रमाणानुसार और लक्षणयुक्त हो और नीचे का भाग वैसा न हो उसे न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान कहते हैं।

(१३) सादिसंस्थाननाम : जो कर्म सादिसंस्थान का निमित्त हो उसे 'सादिसंस्थाननामकर्म' कहते हैं। नाभि के नीचे के अंग प्रमाणानुसार और लक्षणयुक्त हों और नाभि के ऊपर के अंग वैसे न हों उसे सादिसंस्थान कहते हैं।

(१४) वामनसंस्थाननाम : जो कर्म वामनसंस्थान का हेतु हो उसे 'वामनसंस्थाननामकर्म' कहते हैं। हाथ, पैर, मस्तक और ग्रीवा प्रमाणानुसार और लक्षणयुक्त हों परन्तु छाती, उदर आदि अवयव वैसे न हों वह वामनसंस्थान है।

(१५) कुब्जसंस्थाननाम : जो कर्म कुब्जसंस्थान का हेतु हो उसे 'कुब्जसंस्थाननामकर्म' कहते हैं। हाथ, पैर, मस्तक और ग्रीवा प्रमाणानुसार और लक्षणयुक्त न हों बाकी अवयव वैसे हों वह कुब्जसंस्थान है।

(१६) हुण्डसंस्थाननाम : जो कर्म हुण्डसंस्थान का निमित्त हो उसे 'हुण्डसंस्थाननामकर्म' कहते हैं। इस संस्थान में सब अवयव प्रमाणरहित और लक्षणहीन होते हैं।

(१७) अशुभवर्णनाम : जिस कर्म के उदय से शरीर [illegible] हो उसे '[illegible]नामकर्म' कहते हैं।

(१८) दुरभिगंधनाम जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर अशुभ गंधवाला होता है उसे 'दुरभिगंधनामकर्म' कहते हैं।

(१९) अशुभरसनाम : जिस कर्म के उदय से शरीर तिक्त आदि अशुभ रसवाला होता है उसे 'अशुभरसनामकर्म' कहते हैं।

(२०) अशुभस्पर्शनाम जो कर्म कर्कश आदि अशुभ स्पर्श का निमित्त होता है उसे 'अशुभस्पर्शनामकर्म' कहते हैं।

(२१) उपघातनाम जिस कर्म के उदय से जीव अपने अधिक या विकृत अवयवों द्वारा दुःख पावे अथवा जो कर्म जीव के उपघात—वेमौत मरण का कारण हो उसे 'उपघातनामकर्म' कहते हैं।

(२२) नरकानुपूर्वीनाम विग्रहगति से जन्मान्तर मे जाते हुए जीव को आकाश प्रदेश की श्रेणि के अनुसार गमन कराने वाले कर्म को आनुपूर्वीनाम कहते हैं। जो कर्म नरक गति के सम्मुख गमन कराता है उसे 'नरकानुपूर्वीनामकर्म' कहते हैं।

(२३) तिर्यञ्चानुपूर्वीनाम जो कर्म जीव को तिर्यञ्च गति के सम्मुख गमन करावे उसे 'तिर्यञ्चानुपूर्वीनामकर्म' कहते हैं।

(२४) अप्रशस्तविहायोगतिनाम जो कर्म गति का नियामक हो उसे विहायोगति नामकर्म कहते हैं। जो कर्म अशुभ गति उत्पन्न करे उसे 'अप्रशस्तविहायोगतिनामकर्म' कहते हैं। हाथी, वृषभ आदि की गति प्रशस्त और ऊँट, गधे आदि की गति अप्रशस्त कहलाती है।

(२५) स्थावरनाम . जिस कर्म के उदय से जीव स्वतंत्र रूप से गमनागमन न कर सके उसे 'स्थावरनामकर्म' कहते हैं। पृथ्वी, अप्, वायु, तैजस और वनस्पतिकाय जीव इसी कर्म के उदयवाले होते हैं। उनमें स्वतंत्र रूप से गमन करने की शक्ति नहीं है।

(२६) सूक्ष्मनाम जिस कर्म के उदय से ऐसा सूक्ष्म शरीर प्राप्त हो कि जो चर्मचक्षु से देखा न जा सके 'सूक्ष्मनामकर्म' कहलाता है। कितने ही बादर पृथ्वीकायिक आदि जीव अदृष्टिगोचर होते हैं पर असंख्य शरीरों के मिलने पर वे दिखाई देने लगते हैं। सूक्ष्म जीवों के असंख्य शरीर इकट्ठे हो जाय तो भी वे दिखाई नहीं देते।

(२७) अपर्याप्तनाम जिस कर्म के उदय से जीव स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण न कर सके और पहले ही मरण को प्राप्त हो उसे 'अपर्याप्तनामकर्म' कहते हैं।

(२८) साधारणशरीरनाम जिस कर्म के उदय से अनन्त जीवों का साधारण—एक

शरीर हो उसे 'साधारणशरीरनामकर्म' कहते हैं। आलू, अदरक आदि इसी कर्म के उदय वाले जीव हैं।

(१६) अस्थिरनाम—जिसके उदय से जिह्वा, कान, भौंह आदि अस्थिर अवयव हो उसे 'अस्थिरनामकर्म' कहते हैं।

(२०) अशुभनाम—जिस कर्म के उदय से नाभि के नीचे के अवयव अशुभ—अप्रशस्त होते हैं उसे 'अशुभनामकर्म' कहते हैं।

(२१) दुर्भगनाम—जिस कर्म के उदय से उपकार करने पर भी मनुष्य अप्रिय हो उसे 'दुर्भगनामकर्म' कहते हैं।

(२२) दुःस्वरनाम—जिस कर्म के उदय से अप्रिय लगे ऐसा खराब स्वर हो उसे 'दुःस्वरनामकर्म' कहते हैं।

(२३) अनादेयनाम—जिस कर्म के उदय से वचन लोकमान्य न हो उसे 'अनादेयनामकर्म' कहते हैं।

(२४) अयशःकीर्तिनाम—जिस कर्म के उदय से अपयश या अपकीर्ति हो उसे 'अयशःकीर्तिनामकर्म' कहते हैं।

अशुभ नामकर्म के १४ अनुभाव—विपाक शुभनामकर्म के अनुभावो मे ठीक उलटे हैं। वे इस प्रकार हैं—(१)अनिष्ट शब्द, (२) अनिष्ट रूप, (३) अनिष्ट गध, (४) अनिष्ट रस, (५) अनिष्ट स्पर्श, (६) अनिष्ट गति, (७) अनिष्ट स्थिति, (८) अनिष्ट लावण्य, (९) अनिष्ट यशकीर्ति, (१०) अनिष्ट बल, वीर्य, पुरुषकार-पराक्रम (११) अनिष्ट स्वरता (१२) हीनस्वरता, (१३) दीनस्वरता और (१४) अकान्तस्वरता[1]।

अशुभनामकर्म के बध-हेतु शुभनामकर्म के बध हेतुओ के ठीक विपरीत हैं। इनका विवेचन पहले किया जा चुका है (देखिए पृ० २२७ टि० २१)। प्रथम कर्मग्रन्थ में लिखा है—"सरल और गौरव-रहित जीव शुभनामकर्म का बध करता है और अन्यथा अशुभनामकर्म का[2]।" गौरव तीन प्रकार का है (१) ऋद्धि-गौरव (२) रस-गौरव और (३) सात-गौरव। धन सम्पत्ति से अपने को बडा समझना ऋद्धि-गौरव है। रसों से अपना गौरव समझना रस गौरव है। आरोग्य, सुख आदि का गर्व सात-गौरव है। इस तरह यहाँ कपट भाव और तीन गौरव से अशुभनामकर्म का बध बतलाया है।

तत्त्वार्थसूत्र में अशुभ नामकर्म के बध हेतुओ के विषय मे निम्न सूत्र प्राप्त है—'योग-वक्रता विसवादन चाशुभस्य नाम्न'। योगवक्रता का अर्थ है—'कायवाङ्मनोयोगवक्रता' (भाष्य)। यहाँ गौरव के स्थान मे 'विसवादन' है। श्री हेमचन्द्र सूरि कहते हैं "योग-वक्रता, ठगना, माया-प्रयोग, मिथ्यात्व, पैशुन्य, चलचित्तता, नकली सुवर्णादि का बनाना, झूठी साक्षी, वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श को अन्यथा करना, अगोपाग को गलवाना, यत्रकर्म, पिंजर-कर्म, कूट मान-तौल, कूटकर्म, अन्यनिन्दा, आत्मप्रशसा, हिंसा आदि पाँच पाप, कठोर असभ्य वचन, मद, वाचालता, आक्रोश, सौभाग्य—उपघात, कामणक्रिया, परकौतूहल, परिहास, वेश्यादि को अलङ्कार-दान, दावाग्निदीपन, देवपूजादि के बहाने गधादि को चुराना, तीव्र कषाय, चैत्य-आराम और प्रतिमाओ का विनाश और अङ्गरादि व्यापार—ये सब अशुभ नामकर्म के आश्रव हैं[3]।" अशुभ नामकर्म के बध-हेतुओ का यह प्रतिपादन निश्चय ही बाद का परिवर्धित रूप है।

आगमिक और इन बध-हेतुओ में जो अन्तर है वह तुलना से स्वय स्पष्ट होगा।

१—प्रज्ञापना २३ १

२—प्रथम कर्मग्रन्थ ५९

सरलो अगारविल्लो सुहनाम अन्नहा असुह ॥

३—नवतत्त्वसाहित्यसग्रह सप्ततत्त्वप्रकरणम् ९४–१००

१२—नीचगोत्रकर्म (गा० ५७)

पूज्यता, अपूज्यता आदि भावों को उत्पन्न करनेवाले कर्म को गोत्रकर्म कहते हैं। इसकी तुलना कुम्हार से की गई है। जैसे कुम्हार लोक-पूज्य कलश और लोक-निन्द्य मद्य-घट का निर्माण करता है वैसे ही यह कर्म जीव के व्यक्तित्व को श्लाघ्य-अश्लाघ्य बनाता है[1]। जिस कर्म के उदय से जीव उच्चावच कहलाता है वह गोत्रकर्म है[2]।

दिगम्बर आचार्य पूज्यपाद ने इसकी परिभाषा इस रूप में दी है—"जिसके उदय से गर्हित कुलों में जन्म होता है वह नीचगोत्रकर्म है[3]।"

गोत्रकर्म की यह परिभाषा ऐकांतिक है। तत्त्वार्थकार के स्वोपज्ञ भाष्य में इसका स्वरूप इस प्रकार मिलता है: "उच्चगोत्रकर्म देश, जाति, कुल, स्थान, मान, सत्कार, ऐश्वर्य आदि विषयक उत्कर्ष का निर्वर्तक होता है। इसके विपरीत नीचगोत्र कर्म चाण्डाल, नट, व्याध, पारिधि, मत्स्यबन्ध—धीवर, दास्यादि भावों का निर्वर्तक है[4]।

उच्च और नीचगोत्रकर्म के उपभेद और उनके अनुभावों का आगम में इस प्रकार उल्लेख है :

१—(क) ठाणाङ्ग २.४.१०५ टीका

जह कुंभारो भंडाइं कुणइ पुज्जेयराइं लोयस्स ।
इय गोयं कुणइ जियं लोए पुज्जेयरावत्थं ॥

(ख) प्रथम कर्मग्रन्थ ५२

गोयं दुहुच्चनीयं कुलाल इव सुघडभुंभलाईयं ।

२—प्रज्ञापना २३.१.२८८ टीका

यद्वा कर्मणोऽपादानविवक्षा गूयते—शब्द्यते उच्चावचैः शब्दैरात्मा यस्मात् कर्मणः उदयात् गोत्रं ।

तत्त्वा० ८.१२ सर्वार्थसिद्धि

यस्योदयाल्लोकपूजितेषु कुलेषु जन्म तदुच्चैर्गोत्रम् । यदुदयाद् गर्हितेषु कुलेषु जन्म तन्नीचैर्गोत्रम्

४—तत्त्वा० ८.१३ भाष्य

उच्चैर्गोत्रं देशजातिकुलस्थानमानसत्कारैश्वर्याद्युत्कर्षनिर्वर्तकम् । विपरीतं नीचैर्गोत्रं चण्डालमुष्टिकव्याधमत्स्यबन्धदास्यादिभावनिर्वर्तकम् ।

५—प्रज्ञापना [illegible]

१—जाति-उच्चगोत्र जाति—मातृपक्षीय विशिष्टता	१—जाति-नीचगोत्र जातिविहीनता—मातृपक्षीय-विशिष्टता का अभाव
२—कुल-उच्चगोत्र कुल—पितृपक्षीय विशिष्टता	२—कुल-नीचगोत्र कुलविहीनता—पितृपक्षीय-विशिष्टता का अभाव
३—बल-उच्चगोत्र बल-विषयक विशिष्टता	३—बल-नीचगोत्र बलविहीनता
४—रूप उच्चगोत्र रूप विषयक विशिष्टता	४—रूप नीचगोत्र रूपविहीनता
५—तप उच्चगोत्र तप-विषयक विशिष्टता	५—तप-नीचगोत्र तपविहीनता
६—श्रुत-उच्चगोत्र श्रुत-विषयक विशिष्टता	६—श्रुत-नीचगोत्र श्रुतविहीनता
७—लाभ उच्चगोत्र लाभ-विषयक विशिष्टता	७—लाभ-नीचगोत्र लाभविहीनता
८—ऐश्वर्य-उच्चगोत्र ऐश्वर्य-विषयक विशिष्टता	८—ऐश्वर्य-नीचगोत्र ऐश्वर्यविहीनता

इससे यह स्पष्ट है कि जीव की व्यक्तित्व-विषयक विशिष्टता अथवा अविशिष्टता का निमित्त कर्म गोत्रकर्म है।

उच्चगोत्रकर्म पुण्य रूप है और नीचगोत्रकर्म पाप रूप।

जाति-विशिष्टता, कुल-विशिष्टता यावत् ऐश्वर्य-विशिष्टता उच्चगोत्रकर्म के विपाक हैं। ये आठ मद स्थान हैं[1]। अहंभाव के कारण हैं[2]। जो इनको पाकर अभिमान करता है उसके नीचगोत्रकर्म का बंध होता है। जो अभिमान नहीं करता उसको पुनः ये ही विशिष्टताएँ प्राप्त होती हैं[3]। जो अनात्मवादी होता है उसके लिए जाति आदि की विशिष्टताएँ अहित की कर्त्ता हैं। जो आत्मार्थी होता है उसके लिए ये ही हितकर्त्ता के रूप में परिणत हो जाती हैं[4]।

१—ठाणाङ्ग ८ ३ ६०६

२—वही ६ ३ ७०१

३—भगवती ८ ६

मूल पाठ पृ० २२८ पर उद्धृत है

४—ठाणाङ्ग ३ ३ ४९६

जातिविहीनता, कुलविहीनता यावत् ऐश्वर्यविहीनता नीचगोत्रकर्म के विपाक हैं। नीचगोत्रकर्म के उदय से मनुष्य को अपमान, दीनता, अवहेलना आदि का अनुभव होता है। इससे मनुष्य मन में दुःख करने लगता है। स्वामीजी कहते हैं—ये हीनताएँ भी स्वयंकृत हैं। निश्चय रूप से परकृत नहीं। ऐसी स्थिति में दूसरों को उनका कारण समझ अपना आपा नहीं खोना चाहिए, समभाव रखना चाहिए। जो अपनी अविशिष्टताओं को समभावपूर्वक सहन करता है उसके विशिष्ट तप होता है और निर्जरा के साथ-साथ पुण्यकर्म का बंध होता है। आगम में कहा है : "मनुष्य सोचे यदि मैं इन दुःखों को सम्यक् रूप से सहन नहीं करता, क्षमा नहीं करता तो मुझे ही नये कर्मों का बंधन होगा। और यदि मैं उन्हें सम्यक् रूप से सहन करूँगा तो इससे मेरे कर्मों की सहज ही निर्जरा होगी[1]।'

नीचगोत्रकर्म के बंध-हेतुओं का विवेचन पहले किया जा चुका है[2]।

श्री हेमचन्द्र सूरि ने इनका वर्णन इस रूप में किया है :

परस्य निन्दावज्ञोपहासाः सद्गुणलोपनम् ।
सदसद्दोषकथनमात्मनस्तु प्रशंसनम् ॥
स्वस्वगुणश्लाघा च, स्वदोषाच्छादनं तथा ।
जात्यादिभिर्मदश्चेति, नीचैर्गोत्राश्रवा अमी ॥
नीचैर्गोत्राश्रवविपर्यासो विगतगर्वता ।
वाक्कायचित्तैर्विनय उच्चैर्गोत्राश्रवा अमी ॥[3]

गोत्रकर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ाकोड़ि सागरोपम की है[4]।

चार अघाति कर्मों का विवेचन यहाँ सम्पूर्ण होता है।

पुण्य और पाप पदार्थ के विवेचन में कर्मों की मूल प्रकृतियो, उनकी उत्तरप्रकृतियो और उपभेदो का वर्णन आ चुका है। पाठकों की सुविधा के लिए नीचे उन्हें चुम्बक रूप मे दिया जा रहा है

मूल प्रकृतियाँ	उत्तर प्रकृतियाँ	पाप प्रकृतिया (साधारणत मान्य)	पुण्य प्रकृतियाँ (साधारणत मान्य)
१—ज्ञानावरणीय	५	५	×
२—दर्शनावरणीय	६	६	×
३—वेदनीय	२	१ (सात)	१ (असात)
४—मोहनीय	२८	२६	×
५—आयुष्य	४	१ (नरकायुष्य)	३ (देव, मनुष्य, तिर्यञ्च०[1])
६—नाम	४२	३४	३७
७—गोत्र	२	१ (नीच)	१ (उच्च)
८—अन्तराय[2]	५	५	×
	९७[3]	८२[4]	४२[5]

मोहनीय कर्म की २८ प्रकृतियो में से सम्यक्‌मिथ्यात्व और सम्यक्त्वमोहनीय को पाप प्रकृतियो में नही लिया है। इसका कारण यह है कि जीव इनका स्वतन्त्र रूप से बंध नहीं करता। मिथ्यात्वमोहनीय की क्षीणता से ये उत्पन्न होती हैं। ये प्रकृतियां जीव के सत्ता रूप से विद्यमान रहती हैं पर उनका स्वतंत्र बंध न होने से इनको पाप प्रकृतियो में नहीं गिना है।

१—तत्त्वार्थसूत्र का मतभेद बताया जा चुका है पृ० ३३६

२—प्रज्ञापना २३ १

कत्तिण भंते ! कम्मपगडीओ पगणत्ताओ ? गोयमा अट्ठ कम्मपगडीओ पगणत्ताओ

३—समवायाङ्ग सम० ९७

अट्ठगह कम्मपगडीण सत्ताणउइ उत्तरपगडीओ पन्नत्ताओ

४—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह देवगुप्तसूरिप्रणीत नवतत्त्वप्रकरण गा० ८

नाणंतरायदसग दसणनव मोहपयइछव्वीस।

नामस्स चउत्तीस, तिहन एक्केक पावाओ ॥

५—वही ७

साय उच्चागोयं, सत्तत्तीस तु नामपगईओ।

तिन्नि य आऊणि तहा, बायाला पुन्नपगईओ ॥

: ५ :

आश्रव पदारथ

दुहा

१—आश्रव पदारथ पाचमो, तिणने कहीजे आश्रव दुवार।
ते करम आवरा छे बारणा, ते बारणा ने करम न्यार॥

२—आश्रव दुवार तो जीव छे, जीव रा भला भूडा परिणाम।
भला परिणाम पुन रा बारणा, भूडा पाप तणा छे ताम॥

३—केइ मूढ मिथ्यानी जीवडा, आश्रव ने कहे छे अजीव।
त्या जीव अजीव न ओलख्या, त्यारे मोटी मिथ्यात री नीव॥

४—आश्रव तो निश्चेइ जीव छे, श्री वीर गया छे भाख।
ठाम २ सिद्धात मे भाषीयो, ते सुणजो सूतर नी साप॥

५—हिवे पाप आवा ना बारणा, पेहली कहू छू ताम।
ते जथातथ परगट करू, ते सुणो राखे चित ठाम॥ पा०॥

ढाल : १

(विना रा भाव सुण सुण गुजे)

१—ठाणा अग सूतर रे मभार, कह्या छे पाच आश्रव दुवार।
ते दुवार छे माठा विकराल, त्या मे पाप आवे दगचाल॥

: ५ :

आस्रव पदार्थ

दोहा

१—पाँचवाँ पदार्थ आस्रव है। इसको आस्रव-द्वार भी कहा जाता है। आस्रव कर्म आने के द्वार हैं। ये द्वार और कर्म भिन्न-भिन्न हैं[1]।

आस्रव की परिभाषा

आस्रव और कर्म भिन्न हैं।

२—आस्रव-द्वार जीव है क्योंकि जीव के भले-बुरे परिणाम ही आस्रव हैं। भले परिणाम पुण्य के और बुरे परिणाम पाप के द्वार हैं[2]।

पाप और पुण्य के आस्रव भले-बुरे परिणाम

३—कई एक मिथ्यात्वी जीव आस्रव को अजीव कहते हैं। उन्हें जीव-अजीव की पहचान नहीं। उनके मिथ्यात्व की गहरी नींद है।

आस्रव जीव है (गा० ३-४)

४—आस्रव [illegible] ही जीव है। श्री वीर ने ऐसा कहा है। सूत्रों में जगह-जगह इसकी प्ररूपणा है। अब उन सूत्र-साखों को सुनो।

५—अब मैं पहिले आस्रवों का पाप आने के द्वारों का यथातथ्य वर्णन करता हूँ। एकाग्र चित्त से सुनो।

ढाल : १

२—मिथ्यात इविरत नें कषाय, परमाद जोग छे ताय।
ए पाचूंई आश्रव दुवार छे ताम, निश्चें जीव तणा परिणाम॥

३—उंधो सरधे ते आश्रव मिथ्यात, उंधो सरधे जीव साख्यात।
तिण आश्रव नो रूंधण हारो, ते समकत संवर दुवारो॥

४—अत्याग भाव इविरत छे ताम, जीव तणा माठा परिणाम।
तिण इविरत ने देव निवार, ते व्रत छै संवर दुवार॥

५—नही त्याग्या छे ज्या दरबा री, आसा वाछा लगे रही ज्यारी।
ते इविरत जीव रा परिणाम, तिणने त्याग्या हुवे संवर आम॥

६—परमाद आश्रव छे ताम, ए पिण जीव रा मेला परिणाम।
परमाद आश्रव रूंधाय, जब अपरमाद संवर थाय॥

७—कषाय आश्रव छे आम, जीव रा कषाय परिणाम।
तिण सूं पाप लागे छे आय, ते अकषाय सूं मिट जाय॥

८—सावद्य निरवद जोग व्यापार, ए पाचूंई आश्रव दुवार।
रूंधे भला भूंडा परिणाम, अजोग संवर तिणरो नाम॥

९—ए पाचूंइ आश्रव उघाडा दुवार, करम आवे या दुवार मझार।
दुवार तो जीव ना परिणाम, त्या सूं करम लागे छे ताम॥

२—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पांच आस्रव-द्वार हैं। ये पाँचों निश्चय ही जीव के परिणाम हैं¹। — आस्रव-द्वारों के नाम

३—पदार्थों की अयथार्थ प्रतीति करना मिथ्यात्व आस्रव है। अयथार्थ प्रतीति साक्षात् जीव के ही होती है। मिथ्यात्व आस्रव का अवरोध करने वाला सम्यक्त्व संवर-द्वार है। — मिथ्यात्व आस्रव

४—अत्याग भाव अविरति आस्रव है। अत्याग-भाव जीव के अशुभ परिणाम हैं। इस अविरति को निवारण करने वाली विरति संवर-द्वार है। — अविरति आस्रव (गा० ४-५)

५—जिन द्रव्यों का त्याग नहीं किया जाता है उनकी आशा-वांछा बनी रहती है। यह अविरति जीव का परिणाम है। इसके त्याग से संवर होता है।

६—प्रमाद आस्रव भी जीव का अशुभ परिणाम है। प्रमाद आस्रव के निरोध से अप्रमाद संवर होता है। — प्रमाद आस्रव

७—इसी तरह कषाय आस्रव जीव का कषाय रूप परिणाम है। कषाय आस्रव से पाप लगते हैं। अकषाय से मिट जाते हैं। — कषाय आस्रव

८—सावद्य निरवद्य योगों—व्यापारों को योग-आस्रव कहते हैं। शुभाशुभ परिणामों का अवरोध करना अयोग संवर है। इस प्रकार पांच आस्रव-द्वार हैं¹। — योग आस्रव

१. उपर्युक्त पांचों आस्रव उन्मुक्त द्वार हैं, जिनसे कर्मों का आगमन होता है। ये पांचों आस्रव-द्वार जीव के परिणाम हैं और इन परिणामों के कारण कर्म लगते हैं। — आस्रव-द्वारों का सामान्य स्वभाव

१०—यारा ढाकणा संवर दुवार, आश्रव दुवार ना रूंधणहार।
नवा करम ना रोकणहार, ए पिण जीव रा गुण श्रीकार॥

११—इम हिज कह्यो चोथा अंग मझारो, पांच आश्रव ने संवर दुवारो।
आश्रव करमा रो करता उपाय, करम आश्रव सूं लागे छे आय॥

१२—उतराधेन गुणतीसमा माह्यो, पडिकमणा रो फल बतायो।
व्रता रा छिद्र ढकायो, वले आश्रव दुवार रूंधायो॥

१३—उतराधेन गुणतीसमा माह्यो, पचक्खाण रो फल बतायो।
पचखाण सं आश्रव रूंधायो, आवता करम ते मिट जायो॥

१४—उतराधेन तीसमा रे माह्यो, जल ना आगम रूंधायो।
जब पाणी आवतो मिट जावे, ज्यूं आश्रव रूंध्या करम नावे।

१५—उतराधेन उगणीसमा माह्यो, माठा दुवार ढांक्या कह्या ताह्यो।
करम आवा ना ठाम मिटायो, जब पाप न लागे आयो॥

१६—ढांकीया कह्या आश्रव दुवार, जब पाप न ग्रवे लिगार।
कह्यो छे दशवीकालिक मझार, तीजा अधेन में आश्रव दुवार॥

१७—रूंधे पांचूंई आश्रव दुवार, ते भीषू मोटा अणगार।
ते तो दसवीकालिक मझार, निहा जोय करो निस्तार॥

१८—पेहला मनोजोग रुंधे ते सुध, पछे वचन काय जोग रुंध।
उतराधेन गुणतीसमा माहि, आश्रव रुंधणा चाल्या छे ताहि॥

१९—पाच कह्या छे अधर्म दुवार, ते तो प्रश्नव्याकरण मभार।
वले पाच कह्या सवर दुवार, या दोया रो घणो विसतार॥

२०—ठाणा अग पाचमा ठाणा माहि, आश्रव दुवार पडिकमणो ताहि।
पडिकम्या पाछो रुंधाए दुवार, फेर पाप न लागे लिगार॥

२१—फूटी नाव रो दिष्टत, आश्रव ओलखायो भगवन।
भगोती तीजा सतक मभार, तीजे उदेसे छे विसतार॥

२२—वले फूटी नावा रे दिष्टत, आश्रव ओलखायो भगवन।
भगोती पेहला सतक मभार, छट्ठे उदेसे छे विसतार॥

२३—ए तो कह्या छे आश्रव दुवार, वले अनेक छे सूतर मभार।
ते पूरा केम कहिवाय, सगला रो एकज न्याय॥

२४—आश्रव दुवार कह्या ठाम ठाम, ते तो जीव तणा परिणाम।
त्यानें अजीव कहे मिथ्याती, खोटी सरधा तणा पखपाती॥

२५—करमा ने ग्रहे ते जीव दरब, ग्रहे तेहीज छे आश्रव।
ते जीव तणा परिणाम, त्या सूं करम लागे छे ताम॥

१८—उत्तराध्ययन सूत्र के २९ वे अध्ययन में क्रमशः मनोयोग, वचनयोग और काययोग आस्रव के रूंधने की बात आई है। वहाँ मन, वचन और काय के शुद्ध योगों के संवरण की बात है[18]। — उत्त० २९ ३७ ५३-५५ ७२

१९—प्रश्नव्याकरण सूत्र में पांच आस्रव-द्वार और पांच संवर-द्वार कहे गये हैं और इन दोनों का वहा बहुत विस्तार से वर्णन है[19]। — प्रश्नव्याकरण

२०—स्थानाङ्ग के ५वे स्थानक में आस्रव-द्वार-प्रतिक्रमण का उल्लेख है। प्रतिक्रमण कर लेने पर आस्रव-द्वार बन्द हो जाते हैं, जिससे फिर पाप-कर्म नहीं लगते[20]। — स्थानाङ्ग ५ ३ ४६७

२१-२२-भगवान ने आस्रव को फूटी नौका का उदाहरण देकर समझाया है। इसका विस्तार भगवती सूत्र के तृतीय शतक के तृतीय उद्देशक तथा उसी सूत्र के पहिले शतक के छट्ठे उद्देशक में है[21]। — भगवती ३ ३, १ ६

—और भी बहुत से सूत्रों में आस्रव-द्वार का वर्णन आया है। सबका एक ही न्याय है। यहां पूरा कैसे कहा जा सकता है।

४ आस्रव-द्वार का वर्णन जगह-जगह आया है। आस्रव जीव के परिणाम हैं। उनको जो अजीव कहते हैं वे मिथ्यात्वी हैं और खोटी श्रद्धा के पक्षपाती हैं।

—जो कर्मों को ग्रहण करता है वह जीव द्रव्य है। कर्म आस्रव के द्वारा ग्रहण होते हैं। ये आस्रव जीव के परिणाम हैं। जीव के परिणामों से कर्म ग्रहण होते हैं।

३४—जोग छै ते जीव व्यापार, जोग छै तेहिज आश्रव दुवार।
आश्रव तेहिज जीव निसंक, तिण मे मूल म जाणों संक॥

३५—लेस्या भली ने भूंडी चाली, त्याने पिण जीव दरब मे घाली।
लेस्या उदे भाव जीव छै ताम, लेस्या ते जीव परिणाम॥

३६—लेस्या करमा सूं आसंस लेस, ते तो जीव तणा परदेस।
ते पिण आश्रव जीव निसंक त्यांरा थानक कह्या असंक।

३७—मिथ्यात इविरत ने कषाय, उदे भाव छै जीव रा ताय।
कषाय आतमा कही छै ताम, याने कह्या छै जीव परिणाम॥

३८—ए पांचूंई छे आश्रव दुवार, करम तणा करता।
ए पांचूं छै जीव साख्यात, तिण मे संका नहीं तिलमात॥

३९—आश्रव जीव तणा परिणाम, नवमे ठाणे कह्यो छे आम।
जीवरा परिणाम छै जीव त्याने विकल कहे छै अजीव॥

४०—नवमे ठाणे ठाणा अंग माहि, आश्रव करम ग्रहे छे ताहि।
करम ग्रहे ते आश्रव जीव, ग्राहीया आवे ते पुदगल अजीव॥

४१—ठाणा अंग दसमे ठाणे, दस बोल उंधा कुण जाणे।
उंधा जाणे तेहिज मिथ्यात, तेहिज आश्रव जीव साख्यात॥

४२—पाच आश्रव ने उदिरत ताम, माठी लेस्या तणा परिणाम।
माठी लेस्या तो जीव छे ताय, तिणरा लषण अजीव किम थाय॥

४३—जीव न लषणा सू पिछाणो, जीव रा लषण जीव जाणों।
जीव रा लषण ने अजीव थापे, ते तो वीर ना वचन उथापे॥

४४—च्यार सगन्या कही जिणराय, ते पिण पाप तणा छे उपाय।
पाप रो उपाय ते आश्रव, ते आश्रव जीव दरव॥

४५—भला ने भूडा अध्यवसाय, त्या ने आश्रव कह्या जिणराय।
भला स तो लागे छे पुन, भूडा सू लागे पाप जबून॥

४६—आरत ने रुद्र ध्यान, त्याने आश्रव कह्या भगवान।
आश्रव पाप तणा छे दुवार, दुवार तेहिज जीव व्यापार॥

४७—पुन ने पाप आवाना दुवार, ते करम तणा करतार।
करमा रो करता आश्रव जीव, तिण ने कहे अग्यानी अजीव॥

४८—जे आश्रव ने अजीव जाणे, ते पीपल बाधी मूरख ज्यू ताणे।
करम लगावे ते आश्रव, ते निश्चेई जीव दरव॥

४९—आश्रव ने कह्यो रुपाणो, आ जिन जी रा मुख री वाणो।
ओ कीसो दरव रुपाणो, कीसो दरव थिर थपाणो॥

४२—पाँच आस्रव और अविरति अशुभ लेश्या के परिणाम हैं। अशुभ लेश्या जीव है। इसके लक्षण अजीव कैसे हो सकते हैं?[20]

आस्रव अशुभ लेश्या के परिणाम हैं

४३—जीव की पहचान उसके लक्षणों से करो। जीव के लक्षणों को जीव समझो। जो जीव के लक्षणों को अजीव स्थापित करता है वह वीर के वचनों का उत्थापन करता है[21]।

जीव के लक्षण अजीव नहीं होते

४४—जिन भगवान ने चार संज्ञाएँ कही हैं। वे भी पाप आने की हेतु—उपाय हैं। पाप का उपाय आस्रव है और जो आस्रव है वह जीव द्रव्य है[22]।

संज्ञाएँ जीव हैं

४५—जिन भगवान ने शुभ और अशुभ इन दोनों अध्यवसायों को आस्रव कहा है। भले अध्यवसाय से पुण्य और बुरे अध्यवसाय से जघन्य पाप लगता है[23]।

अध्यवसाय आस्रव हैं

५०—विपरीत तत्व कुण जाणे, कुण माडे उलटी ताणे।
कुण हिंसादिक रो अत्यागी, कुण री वछा रहे लागी॥

५१—सवदादिक कुण अभिलाखे, कपाय भाव कुण राखे।
कुण मन जोग रो व्यापारो, कुण चिन्तवे म्हारो थारो॥

५२—इद्रया ने कुण मोकली मेले, सब्दादिक न कुण भेले।
इणने मोकली मेले ते आश्रव, तेहिज छें जीव दरव॥

५३—मुख सू कुण भूडो बोले, काया सू कुण माठो डोले।
ए जीव दरव नो व्यापार, पुदगल पिण वरते छे लार॥

५४—जीव रा चलाचल परदेस, त्यानें थिर थापे दिढ करेस।
जब आश्रव दरव रुधाणो, तब तेहिज सवर थपाणो॥

५५—चलाचल जीव परदेस, सारा परदेसा करम प्रवेस।
सारा परदेसा करम ग्रहता, सारा परदेसा करमा रा करता॥

५६—त्या परदेसा रो थिर करणहार, तेहिज सवर दुवार।
अथिर परदेस ते आश्रव, ते निश्चेई जीव दरव॥

५७—जोग परिणामीक ने उदे भाव, त्याने जीव कह्या इण न्याव।
अजीव तो उदे भाव नाही, ते देखलो सूतर माही॥

५८—पुन निरवद जोगा सू लागे छे आय, ते करणी निरजरा री छें ताय।
पुन सहजां लागे छे आय, तिण सू जोग छे आश्रव माय॥

५९—जे जे ससार ना छे काम, त्याग किण २ रा कहू नाम।
ते सगला छें आश्रव ताम, ते सगला छे जीव परिणाम॥

६०—करमा ने लगावे ते आश्रव, तेहिज छे आश्रव जीव दरव।
लागे ते पुदगल अजीव, लगावे ते निश्चेई जीव॥

६१—करमा रो करता जीव दग्व, करतापणो तेहिज आश्रव।
कीधा हूआ ते करम कहिवाय, ते तो पुदगल लागे छे आय॥

६२—ज्यारे गूढ मिथ्यात अधारो, ते नही पिछाणे आश्रव दुवारो।
त्यानें सवली तो मूल न सूझे, दिन २ इधक अलूझे॥

६३—जीव रे करम आडा छे आठ, ते लग रह्या पाटानुपाट।
ज्यामे घातीया करम छे च्यार, मोप मारग रोकणहार॥

६४—ओर करमा सू जीव ढकाय, मोह करम थकी विगडाय।
विगड्यो करें सावद्य व्यापार, तेहिज आश्रव दुवार॥

६५—चारित मोह उदे मतवालो, तिण सू सावद्य रो न हुवे टालो।
सावद्य रो सेवणहारो, तेहिज आश्रव दुवारो॥

६६—दसण मोह उदे सरधे उंधो, हाथे मारग न आवे सुधो।
उंधी सरधा रो सरदणहारो, ते मिथ्यात आश्रव दुवारो॥

६७—मूढ कहे आश्रव ने रूपी, वीर कह्यो आश्रव ने अरूपी।
सूतरा मे कह्यो ठाम ठाम, आश्रव ने अरूपी ताम॥

६८—पाच आश्रव ने इविरत ताम, माठी लेस्या तणा परिणाम।
माठी लेस्या अरूपी छे ताय, तिणरा लपण रूपी किम थाय॥

६९—उजला ने मेला कह्या जोग, मोह करम सजोग विजोग।
उजला जोग मेला थाय, करम झरीया उजल होय जाय॥

७०—उत्तराधेन गुणतीसमा माय, जोगसच्चे कह्यो जिणराय।
जोगसच्चे निरदोप मे चाल्या, त्या ने साधा रा गुण माहे घाल्या॥

७१—साधा रा गुण छे सुध मान, त्याने अरूपी कह्या भगवान।
त्या जोग आश्रव ने रूपी थाप्या, त्या वीर ना वचन उथाप्या॥

७२—ठाणा अग तीजा ठाणा मझार, जोग वीर्य रो व्यापार।
तिण सू अरूपी छे भाव जोग, रूपी सरधे ते सरधा अजोग॥

७३—जोग आतमा जीव अरूपी, त्या जोगा ने मूढ कहे रूपी।
जोग जीव तणा परिणाम, ते निश्चे अरूपी छे ताम॥

७४—आश्रव जीव सरधावण ताय, जोड कीधी छे पाली माय
सवत अठारे पचावना मभार, आसोज सुद वारस रिववार ॥

७४—आस्रव को जीव श्रद्धाने के लिये यह जोड़ पाली शहर में रचना-संवत् सं० १८५५ की आश्विन सुदी द्वादशी रविवार को की है।

टिप्पणियाँ

१—आस्रव पदार्थ और उसका स्वभाव (दो० १)

इस दोहे मे चार बातें कही गयी हैं

(१) पांचवां पदार्थ आस्रव है।

(२) आस्रव पदार्थ को आस्रव द्वार कहते हैं।

(३) आस्रव कर्म आने का द्वार है।

(४) आस्रव और कर्म भिन्न-भिन्न हैं—एक नहीं।

नीचे इन बातो पर क्रमश प्रकाश डाला जाता है

(१) **पांचवां पदार्थ आस्रव है** श्वेताम्बर आगमो मे नौ सद्भाव पदार्थों को गिनाते समय पांचवें स्थान पर आस्रव का नामोल्लेख है[1]। दिगम्बर आचार्यों ने भी नौ पदार्थों में पांचवें स्थान पर इस पदार्थ का उल्लेख किया है[2]। इस तरह श्वेताम्बर दिगम्बर दोनो इस पदार्थ को स्वीकार करते हैं। जिस तरह तालाब में जल होने से यह सहज ही सिद्ध होता है कि उसके जल आने का मार्ग भी है वैसे ही ससारी जीव के साथ कर्मो का सम्बन्ध मानने लगने के बाद उन कर्मो के आने का मार्ग भी होना ही चाहिए, यह स्वयसिद्ध है। कर्मो के आने का हेतु-मार्ग आस्रव पदार्थ है। इसीलिए आगम में कहा है "मत विश्वास करो कि आस्रव नही है पर विश्वास करो कि आस्रव है[3]।"

(२) **आस्रव पदार्थ को आस्रव-द्वार कहते हैं** स्थानाङ्ग तथा समवायाङ्ग मे आस्रव-द्वार

१—(क) उत्त० २८ १४

(ख) ठाणाङ्ग ६ ३ ६६५

२—(क) पञ्चास्तिकाय १०८

(ख) द्रव्यसग्रह २ २८

३—सुयगड २ ५ १७

णत्थि आसवे सवरे वा णेव सन्न निवेसए।

अत्थि आसवे सवरे वा एव सन्न निवेसए॥

शब्द मिलता है[1]। अन्य आगमों में भी यह शब्द पाया जाता है[2]। स्वामीजी कहते हैं—"आस्रव-द्वार शब्द आस्रव पदार्थ का ही द्योतक और उसका पर्यायवाची है। आस्रव पदार्थ अर्थात् वह पदार्थ जो आत्म-प्रदेशों में कर्मों के आने का द्वार हो—प्रवेश-मार्ग हो।"

(३) आस्रव कर्म आने का द्वार है : जिस तरह कूप में जल आने का मार्ग उसके अन्तःस्रोत होते हैं, नौका में जल-प्रवेश के निमित्त उसके छिद्र होते हैं और मकान में प्रवेश करने का साधन उसका द्वार होता है उसी तरह जीव के प्रदेशों में कर्म के आगमन का मार्ग आस्रव पदार्थ है। कर्मों के प्रवेश का हेतु—उपाय—साधन—निमित्त होने से आस्रव पदार्थ को आस्रव-द्वार कहा जाता है[3]।

(४) आस्रव और कर्म भिन्न-भिन्न हैं—एक नहीं : जिस तरह छिद्र और उससे प्रविष्ट होनेवाला जल एक नहीं होता, जिस तरह द्वार और उससे प्रविष्ट होनेवाले प्राणी पृथक् होते हैं वैसे ही आस्रव और कर्म एक नहीं पृथक् पृथक् हैं। आस्रव कर्मागमन का हेतु है। और जो आगमन करते—आते हैं वे जड़ कर्म हैं। कर्म इसलिए कर्म है कि वह जीव द्वारा मिथ्यात्वादि हेतुओं से किया जाता है। हेतु इसलिए हेतु है कि उनसे जीव कर्मों को करता है—उन्हें आत्म-प्रदेशों में ग्रहण करता है[4]। आस्रव कारण है और कर्म कार्य। आस्रव जीव के परिणाम या उसकी क्रियाएँ हैं और कर्म उनके फल। श्री हेमचन्द्र सूरि लिखते हैं : "जो कर्म-पुद्गलों के ग्रहण का हेतु है वह आस्रव कहा जाता है। जो ग्रहण होते हैं वे ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्म हैं[5]।" (इस विषय के विस्तृत विवेचन के लिए देखिए पृ० [illegible])

१—(क) ठाणाङ्ग ५.२.४१८
(ख) समवायाङ्ग सम० ५
२—(क) प्रश्नव्याकरण प्र० [illegible]
(ख) उत्त० [illegible]
३—समवायाङ्ग सम० ५ टीका
आस्रवद्वाराणि—कर्मोपादानोपायाः [illegible]
[illegible]द्वाराणि
४—प्रथम कर्मग्रन्थ १
कीरइ जिएण हेऊहिं, जेणं तो भण्णए कम्मं
५—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : सप्ततत्त्वप्रकरणम् गा० ६०
यः कर्मपुद्गलादानहेतुः प्रोक्तः स आस्रवः ।
कर्माणि [illegible] ज्ञानावरणीयादीन्यष्ट ॥

२—आस्रव शुभ-अशुभ परिणामानुसार पुण्य अथवा पाप का द्वार है (दो०२)

इस दोहे में दो बातें कही गई हैं

(१) जीव के परिणाम आस्रव हैं।

(२) भले परिणाम पुण्य के आस्रव हैं और बुरे परिणाम पाप के।

नीचे क्रमश इन सिद्धान्तों पर विचार किया जाता है

(१) जीव के परिणाम आस्रव हैं जिस तरह नौका में जल भरता है उसका कारण नौका का छिद्र है और मकान में मनुष्य प्रविष्ट होता है उसका कारण मकान का द्वार है वैसे ही जीव के प्रदेशों में कर्म के आगमन हेतु उसके परिणाम हैं। जीव के परिणाम ही आस्रव-द्वार हैं। परिणाम का अर्थ है मिथ्यात्व, प्रमाद आदि भाव जिनमें जीव परिणमन करता है।

(२) भले परिणाम पुण्य के आस्रव हैं और बुरे परिणाम पाप के जीव जिन भावों में परिणमन करता है वे शुभ या अशुभ होते हैं। शुभ भाव पुण्य के आस्रव हैं और अशुभ परिणाम पाप के। जिस तरह सर्प द्वारा ग्रहण किया हुआ दूध विष रूप में परिणत होता है और मनुष्य द्वारा ग्रहण किया हुआ दूध पौष्टिक तत्त्व के रूप में, उसी तरह बुरे परिणामों से आत्मा में स्रवित कर्मवर्गणा के पुद्गल पाप रूप में परिणमन करते हैं और भले परिणामों से आत्मा में स्रवित कर्मवर्गणा के पुद्गल पुण्य रूप में।

श्री हेमचन्द्रसूरि ने इस विषय का बड़ा ही सुन्दर विवेचन किया है। वे लिखते हैं "मन-वचन-काय की क्रिया को आस्रव कहते हैं। शुभ आस्रव शुभ—पुण्य का हेतु है और अशुभ आस्रव अशुभ—पाप का हेतु। चूंकि जीव के मन वचन-काय के क्रिया-रूप योग शुभाशुभ कर्म का स्राव करते हैं अत वे आस्रव कहलाते हैं। मैत्र्यादि भावनाओं से वासित चित्त शुभ कर्म उत्पन्न करता है और कषाय तथा विषय से वासित चित्त अशुभ कर्म। श्रुतज्ञानाश्रित सत्यवचन शुभ कर्म उत्पन्न करता है और उससे विपरीत वचन अशुभ कर्म। इसी तरह सुगुप्त शरीर से जीव शुभ कर्म ग्रहण करता है और निरन्तर आरंभवाला जीव-हिंसक काया के द्वारा अशुभ कर्म[१]।"

१—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह सप्ततत्त्वप्रकरणम् ५६—६०

मनोवचनकायाना, यत्स्यात् कर्म स आश्रव ।
शुभ शुभस्य हेतु स्यादशुभस्त्वशुभस्य स ॥
मनोवाक्कायकर्माणि, योगा कर्म शुभाशुभम् ।
यदाश्रवन्ति जन्तूनामाश्रवास्तेन कीर्तिता ॥
मैत्र्यादिवासित चेत , कर्म सूते शुभात्मकम् ।
कषायविषयाक्रान्त, वितनोत्यशुभ पुन ॥
शुभार्जनाय निर्मिथ्य, श्रुतज्ञानाश्रित वच ।
विपरीत पुनर्ज्ञेयमशुभार्जनहेतवे ॥
शरीरेण सुगुप्तेन, शरीरी चिनुते शुभम् ।
सततारम्भिणा जन्तुघातकेनाशुभ पुन ॥

३—आस्रव जीव है (दो० २-४)

इन दोहों में दो बातें कही गयी हैं :

(१) आस्रव जीव है, अजीव नहीं।

(२) आस्रव को अजीव मानना मिथ्यात्व है।

इन दोनों पर नीचे क्रमशः प्रकाश डाला जाता है :

(१) आस्रव जीव है : पहले बताया जा चुका है कि आस्रव जीव-परिणाम है। जीव-परिणाम जीव से भिन्न नहीं, जीव ही है अतः आस्रव जीव है। जिस तरह नौका का छिद्र नौका से और मकान का द्वार मकान से पृथक् नहीं होता वैसे ही आस्रव जीव से भिन्न नहीं। आस्रव जीव है यह एक शाश्वत सत्य है। इसे निम्न रूप में रखा जा सकता है :

आस्रव = जीव-परिणाम

जीव-परिणाम = जीव

आस्रव = जीव

५—आस्रवों की संख्या (गा० १-२) :

आस्रव कितने हैं इस विषय में भिन्न-भिन्न प्रतिपादन मिलते हैं

१—आचार्य कुन्दकुन्द के मत से आस्रव ४ हैं—(१) मिथ्यात्व आस्रव (२) अविरति आस्रव (३) कषाय आस्रव और (४) योग आस्रव[1]। श्री विनयविजयजी ने भी आचार्य कुन्दकुन्द का अनुसरण करते हुए इन चार को ही आस्रव कहा है[2]।

२—वाचक उमास्वाति के मत से आस्रव ४२ हैं—(१) पाँच इन्द्रियां, (२) चार कषाय (३) पाँच अव्रत (४) पचीस क्रियाएँ और (५) तीन योग[3]। अनेक श्वेताम्बर आचार्यों ने इसी पद्धति से आस्रव का निरूपण किया है[4]।

३—आस्रव के भेद २० भी प्रसिद्ध हैं[5] (१) मिथ्यात्व आस्रव (२) अविरति आस्रव (३) प्रमाद आस्रव (४) कषाय आस्रव (५) योग आस्रव (६) प्राणातिपात आस्रव (७) मृषावाद आस्रव (८) अदत्तादान आस्रव (९) मैथुन आस्रव (१०) परिग्रह आस्रव (११) श्रोत्रेन्द्रिय आस्रव (१२) चक्षुरिन्द्रिय आस्रव (१३) घ्राणेन्द्रिय आस्रव (१४) रसने-

१—समयसार ४ १६४-६५

मिच्छत्त अविरमण कसायजोगा य सण्णसण्णा दु।
बहुविहभेया जीवे तस्सेव अणण्णपरिणामा ॥
णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारण होंति।
तेसिपि होदि जीवो य रागदोसादिभावकरो ॥

२—शान्तसुधारस आश्रव भावना ३

मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगसञ्ज्ञा- ।
श्चत्वार सुकृतिभिराश्रवा प्रदिष्टा ॥

३—तत्त्वा० ६ १,२,६

कायवाङ्मन कर्म योग । स आस्रव
अव्रतकषायेन्द्रियक्रिया पञ्चचतु पञ्च पञ्चविंशतिसंख्या पूर्वस्य भेदा

४—शान्तसुधारस आस्रव भावना ४

इन्द्रियाव्रतकषाययोगजा । पच पचचतुरन्वितास्त्रय ॥
पञ्चविंशतिरसत्क्रिया इति । नेत्रवेदपरिसंख्ययाऽप्यमी ॥

५—पचीस बोल बोल १४। इन २० आस्रवों का एक स्थल पर उल्लेख किसी आगम में देखने में नहीं आया। उनका आधार इस प्रकार दिया जा सकता है

१-५ ठाणाङ्ग ५ २ ४१८, समवायाङ्ग सम० ५
६-१० प्रश्नव्याकरण प्रथम श्रुतस्कध अ० १-५
११-२० ठाणाङ्ग १० १ ७०६

न्द्रिय आस्रव (१५) स्पर्शनेन्द्रिय आस्रव (१६) मन आस्रव (१७) वचन आस्रव (१८) काय आस्रव (१९) भण्डोपकरण आस्रव और (२०) सुचिकुशाग्र मात्र का सेवनास्रव।

४—स्वामीजी कहते हैं आस्रव पांच हैं

(१) मिथ्यात्व आस्रव

(२) अविरति आस्रव

(३) प्रमाद आस्रव

(४) कषाय आस्रव और

(५) योग आस्रव

इस कथन के लिए स्वामीजी ठाणाङ्ग का प्रमाण देते हैं। ठाणाङ्ग का पाठ इस प्रकार है : "पंच आसवदारा प० तं मिच्छत्तं अविरई पमाओ कसाया जोगा।" स्वामीजी का कथन समवायांग से भी समर्थित है। वहाँ भी ऐसा ही पाठ है—"पंच आसवदारा पन्नत्ता, तंजहा—मिच्छत्तं अविरई पमाया कसाया जोगा।"

आगम के अनुसार स्वामीजी ने जिन मिथ्यात्व आदि को आस्रव कहा है, उन्हीं को उमास्वाति ने बंध-हेतु कहा है "मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः (८.१)।

६—आस्रवों की परिभाषा (गा० ३-८)

माया-लोभ, राग-द्वेष, चतुरन्त ससार, देव-देवी, सिद्धि-असिद्धि, सिद्धि का निज-स्थान, साधु-असाधु और कल्याण-पाप नहीं हैं, पर सज्ञा करो कि लोक-अलोक, जीव अजीव आदि सब हैं[२]।" इस उपदेश से भिन्न दृष्टि का रखना मिथ्यात्व आश्रव है।

मिथ्यात्व पांच प्रकार का कहा गया है। उनका सक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है

(१) आभिग्रहिक मिथ्यात्व : तत्त्व की परीक्षा किये बिना किसी सिद्धान्त को ग्रहण कर दूसरे का खण्डन करना,

(२) अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व : गुणदोष की परीक्षा किये बिना सब मतव्यों को समान समझना,

(३) सशयित मिथ्यात्व : देव, गुरु और धर्म के स्वरूप में सदेह बुद्धि रखना,

(४) आभिनिवेशिक मिथ्यात्व : अपनी मान्यता को असत्य समझ लेने पर भी उसे पकड़े रहना और

(५) अनाभोगिक मिथ्यात्व : विचार और विशेष ज्ञान के अभाव में अर्थात् मोह की प्रबलतम अवस्था मे रही हुई मूढता।

आचार्य पूज्यपाद ने मिथ्यात्व के भेदो के सम्बन्ध में निम्न विचार दिये हैं—मिथ्यादर्शन दो प्रकार का है :

(१) नैसर्गिक : दूसरे के उपदेश बिना मिथ्यादर्शन कर्म के उदय से जीवादि पदार्थों का अश्रद्धान रूप भाव नैसर्गिक मिथ्यादर्शन है।

(२) परोपदेशपूर्वक : अन्य दर्शनी के निमित्त से होनेवाला मिथ्यादर्शन परोपदेशपूर्वक कहलाता है। यह क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानी और वैनयिक चार प्रकार का होता है[१]।

उमास्वाति ने इनको क्रमश अनभिगृहीत और अभिगृहीत मिथ्यात्व कहा है[२]। इनका उल्लेख आगम मे भी है[३]।

१—तत्त्वा० ८ १ सर्वार्थसिद्धि

मिथ्यादर्शन द्विविधम्, नैसर्गिक परोपदेशपूर्वक च। तत्र परोपदेशमन्तरेण मिथ्यात्वकर्मोदयवशाद् यदाविर्भवति तत्त्वार्थाश्रद्धानलक्षण तन्नैसर्गिकम्। परोपदेशनिमित्त चतुर्विधम्, क्रियाक्रियावाद्यज्ञानिकवैनयिकविकल्पात्।

२—तत्त्वा० ८ १ भाष्य

तत्राभ्युपेत्यासम्यग्दर्शनपरिग्रहोऽभिगृहीतमज्ञानिकादीना त्रयाणा त्रिषष्ठाना कुवादिशतानाम्। शेषमनभिगृहीतम्।

३—ठाणाङ्ग २ ७०

आचार्य पूज्यपाद ने मिथ्यात्व के अन्य पाँच भेद भी बतलाये हैं। वे इस प्रकार हैं

(१) यही है, इसी प्रकार का है इस प्रकार धर्म और धर्मी मे एकान्तरूप अभिप्राय रखना 'एकान्त मिथ्यादर्शन' है। जैसे यह सब जगत परब्रह्म रूप ही है, या सब पदार्थ अनित्य ही हैं या नित्य ही हैं[1]।

(२) सग्रन्थ को निर्ग्रन्थ मानना, केवली को कवलाहार मानना और स्त्री सिद्ध होती है इत्यादि मानना 'विपर्यय मिथ्यादर्शन' है[2]।

यहाँ जो उदाहरण दिये हैं वे श्वेताम्बर-दिगम्बरो के मतभेद के सूचक हैं। श्वेताम्बरो की इन मान्यताओं को दिगम्बरो ने मिथ्यात्व रूप से प्रतिपादित किया है। इस मिथ्यात्व के सार्वभौम उदाहरण हैं जीव को अजीव समझना, अजीव को जीव समझना आदि (देखिए पृ० ३७३ टि० ६ १)।

(३) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनो मिल कर मोक्षमार्ग हैं या नही इस प्रकार सशय रखना 'संशय मिथ्यादर्शन' है[3]।

(४) सब देवता और सब मतो को एक समान मानना 'वैनयिक मिथ्यादर्शन' है[4]।

(५) हिताहित की परीक्षा रहित होना 'अज्ञानिक मिथ्यादर्शन' है[5]।

मिथ्यात्व का अवरोध सम्यक्त्व से होता है। सम्यक्त्व का अर्थ है—सही दृष्टि, सम्यक् श्रद्धान। मिथ्यात्व आस्रव है। सम्यक्त्व सवर है। मिथ्यात्व से कर्म आते हैं। सम्यक्त्व से रुकते हैं।

मिथ्या श्रद्धान जीव करता है। अजीव नही कर सकता। मिथ्या श्रद्धा जीव का भाव—परिणाम है।

१—तत्त्वा० ८.१ सर्वार्थसिद्धि

तत्र इदमेव इत्थमेवेति धर्मिधर्मयोरभिनिवेश एकान्त "पुरुष एवेद सर्वम्" इति वा नित्य एव वा अनित्य एवेति

२—वही

सग्रन्थो निर्ग्रन्थ, केवली कवलाहारी, स्त्री सिध्यतीत्येवमादि विपर्यय।

३—वही

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि किं मोक्षमार्ग स्याद्वा न वेत्यन्यतरपक्षापरिग्रह सशय।

४—वही

सर्वदेवतानां सर्वसमयानां च समदर्शन वैनयिकम्

५—वही

हिताहितपरीक्षाविरहोऽज्ञानिकत्वम्

२—अविरति आस्रव अविरति अर्थात् अत्याग भाव। हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह आदि अठारह पाप, भोग-उपभोग वस्तुएँ तथा सावद्य कार्यों से विरत न होना—प्रत्याख्यानपूर्वक उनका त्याग करना अविरति है[1]।

आचार्य पूज्यपाद ने षट् जीवनिकाय और षट् इन्द्रियों की अपेक्षा से अविरति बारह प्रकार की कही है[2]।

अविरति जीव का अशुभ परिणाम है। अविरति का विरोधी तत्त्व विरति है। अविरति आस्रव है। विरति सवर है। विरति अविरति को दूर करती है।

जिन पाप पदार्थ अथवा सावद्य कार्यों का मनुष्य त्याग नहीं करता उनके प्रति उसकी इच्छाएँ खुली रहती हैं। उसकी भोगवृत्ति उनमुक्त रहती है। यह उनमुक्तता ही अविरति आस्रव है। त्याग द्वारा इच्छाओं का सवरण करना—उनकी उनमुक्तता को सयमित करना सवर है।

अविरति अत्यागभाव है और प्रमाद अनुत्साह भाव। अत्यागभाव और अनुत्साहभाव को एक ही मान कोई कह सकता है कि दोनों में कोई अन्तर नहीं। इसका उत्तर देते हुए अकलङ्कदेव कहते हैं—"नहीं। ऐसा नहीं। दोनों एक नहीं है। अविरति के अभाव में भी प्रमाद रह सकता है। विरत भी प्रमादी देखा जाता है। इससे दोनों आस्रव अपने स्वभाव से भिन्न हैं[3]।"

३—प्रमाद आस्रव : स्वामीजी ने इस आस्रव की परिभाषा आलस्यभाव—धर्म के प्रति अनुत्साह का भाव किया है। आचार्य पूज्यपाद ने भी ऐसी ही परिभाषा दी है—"स च प्रमाद कुशलेष्वनादर" कुशल में अनादरभाव प्रमाद है।

१—तत्त्व० ७ १, ८ १ सर्वार्थसिद्धि :

तेभ्यो विरमण विरतिर्व्रतमित्युच्यते। व्रतमभिसन्धिकृतो नियम इदं कर्त्तव्यमिद न कर्त्तव्यमिति वा। तत्प्रतिपक्षभूता अविरतिर्ग्राह्या।

२—(क)तत्त्वा० ८ १ सर्वार्थसिद्धि

अविरतिर्द्वादशविधा, षट्कायषट्करणविषयभेदात्।

(ख)तत्त्वार्थवार्तिक ८ १ २६ :

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायचक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनस्पर्शननोइन्द्रियेषु हननासयमाविरतिभेदात् द्वादशविधा अविरति

३—तत्त्वार्थवार्तिक १ ८ ३१

अविरते प्रमादस्य चाऽविशेष इति चेन्, न, विरतस्यापि प्रमाददर्शनात्।

प्रमाद के भेदो पर विचार करते हुए उन्होने लिखा है "शुद्धयष्टक और उत्तम क्षमा आदि विषयक भेदसे प्रमाद अनेक प्रकार का है[1]।" श्री अकलङ्कदेव ने इसी बात को पल्लवित करते हुए लिखा है : "भाव, काय, विनय, ईर्यापथ, भैक्ष्य, शयन, आसन, प्रतिष्ठापन और वाक्यशुद्धि आत्मक आठ सयम तथा उत्तम क्षमा, मार्दव, शौच, सत्य, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य आदि इन दस धर्मो मे अनुत्साह या अनादर का भाव प्रमाद है। इस तरह यह प्रमाद अनेक प्रकार का है[2]।'

आचार्य उमास्वाति ने कुशल मे अनादर के साथ-साथ 'स्मृति-अनवस्थान' और 'योग-दुष्प्रणिधान' को भी प्रमाद का अङ्ग माना है[3]। योगो की दुष्प्रवृत्ति क्रिया रूप होने से प्रमादास्रव में उसका समावेश उचित नही लगता, क्योकि इससे प्रमादास्रव और योगास्रव मे भेद नही रह पाता।

मद, निद्रा, विषय, कषाय, विकथादि को भी प्रमाद कहा जाता है। पर यहाँ प्रमाद का अर्थ आत्म-प्रदेशवर्ती अनुत्साह है, मद, निद्रा, आदि नही। क्योकि क्रिया रूप मद आदि मन-वचन-काय योग के व्यापार रूप हैं। योगजनित कार्यो का समावेश योग आस्रव में होता है, प्रमाद आस्रव में नही। श्री जयाचार्य लिखते हैं

अप्रमाद सवर आवा न दे, जे कर्म उदय थी ताय।
अणउछाह आलस भाव ने जी, ते तीजो आस्रव जणाय॥
मन वचन काया रा व्यापार स्यू जी, तीजो आस्रव जूदो जणाय।
जोग आस्रव छै पांचमो जी, प्रमाद तीजो ताहि॥
असख्याता जीवरा प्रदेश में अणउछापणो अधिकाय।
ते दीसे तीनू जोगा स्यू जुदोजी, प्रमाद आस्रव ताय॥
मद विषय कषाय उदीरने जी, भाव नींद ने विकथा ताय।
ए पांचू जोग रूप प्रमाद छे जी, तिण स्यू जोग आस्रव में जणाय[4]॥

१—तत्त्वा० ८ १ सर्वार्थसिद्धि

प्रमादोऽनेकविध, शुद्ध्यष्टकोत्तमक्षमादिविषयभेदात्

२—तत्त्वार्थवार्तिक ८ १.३०

भावकाय .वाक्यशुद्धिलक्षणाष्टविधसयम—उत्तमक्षमा... ब्रह्मचर्यादिविषयानुत्साह-भेदादनेकविध प्रमादोऽवसेय

३—तत्त्वा० ८ १

प्रमाद स्मृत्यनवस्थान कुशलेष्वनादरो योगदुष्प्रणिधान चैष प्रमाद ।

४—भीणीचर्चा ढा० २२.१८-२०,२२

प्रमाद जीव का परिणाम है। प्रमाद का रुंधन करने से अप्रमाद होता है। प्रमाद आस्रव है। अप्रमाद संवर। अप्रमाद-संवर प्रमाद-आस्रव को अवरुद्ध करता है।

४—कषाय आस्रव : जीव के क्रोधादि रूप परिणाम को कषाय आस्रव कहते हैं। क्रोधादि करना कषाय आस्रव नहीं है। क्रोधादि करना योगों की प्रवृत्ति रूप होने से योग आस्रव में आता है। इस विषय में श्री जयाचार्य का निम्न विवेचन द्रष्टव्य है :

> क्रोध स्यूं विगड्या प्रदेश ने जी, ते आस्रव कहिये कषाय।
> आय लागे तिके अशुभ कर्म छे जी, बुद्धिवंत जाणे न्याय॥
> उदेरी क्रोध करे तमुजी, अशुभ योग कहिवाय।
> निरंतर विगड्या प्रदेश ने जी, कहिये आस्रव कषाय॥
> नवमे अष्टम गुणठाण छे जी, शुभ लेश्या शुभ जोग।
> पिण क्रोधादिक स्यूं विगड्या प्रदेश ने जी, कषाय आस्रव प्रयोग॥
> लाल लोह तप्त अगनी थकी जी, काढ्या सडासा स्यूं वार।
> थोडी वेल्यां स्यूं लालपणो मिट्योजी, तातपणो रह्यो लार॥
> ते लोह श्याम वर्ण थयो जी, पिण ते तप्तपणा ने प्रभाव।
> रूइरो फूवो म्हेले ऊपरे जी, ते भस्म होवे ते प्रस्ताव॥
> तिम लालपणो अशुभ योग नो, नहीं सातमा थी आगे ताहि।
> ते पिण क्रोधादिक ना उदय थकी जी, तप्त रूप ज्यूं आस्रव कषाय॥
> क्रोध मान माया लोभ सर्वथा जी, उपशमाया इग्यारमे गुण ठाण।
> उदय नो किरतब मिट गयो जी, जब अकषाय संवर जाण[1]॥

इसका भावार्थ है—"जो उदीर कर क्रोध करता है उसके अशुभ योग होता है। प्रदेशों का निरंतर कषाय-कलुषित होना कषाय आस्रव है। नवें, आठवें गुणस्थान में शुभ लेश्या और शुभ योग होते हैं पर वहाँ अकषाय आस्रव कहा गया है। इसका कारण क्रोधादि से कलुषित आत्म-प्रदेश हैं। अग्नि में तपते हुए लाल लोहे को यदि सडासे से बाहर निकाल लिया जाता है तो कुछ समय बाद उसकी ललाई तो दूर हो जाती है पर उष्णता बनी ही रहती है। लोहे के पुनः श्याम वर्ण हो जाने पर भी उस पर रखा हुआ रूई का फूहा उष्णता के कारण तुरन्त भस्म हो जाता है। उसी तरह क्रोधादि योगों का रक्तभाव सातवें गुणस्थान से आगे नहीं जाता पर क्रोधादि के उदय से आत्म-प्रदेशों

१—झीणीचर्चा ढा० २२ ११-१७,२७

मे जो उष्णता का भाव विद्यमान रहता है वह कषाय आस्रव है। ग्यारहवें गुणस्थान मे क्रोधादि का उपशम हो जाने से जब उदय का कर्त्तव्य दूर हो जाता है तब अकषाय सवर होता है।"

यदि कोई कहे कि कषाय और अविरति मे कोई अन्तर नही क्योकि दोनो ही हिंसादि के परिणाम रूप हैं तो यह कहना अनुचित होगा। श्री अकलङ्कदेव कहते हैं "दोनो को एक मानना ठीक नही क्योकि दोनो मे कार्य-कारण का भेद है। कषाय कारण है और प्राणातिपात आदि अविरति कार्य है[१]।"

कषाय आस्रव का प्रतिपक्षी अकषाय सवर है। कषाय से कर्म आते हैं। सवर से रुकते हैं।

५—योग आस्रव मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति को योग कहते हैं। मन, वचन और काय से कृत, कारित और अनुमति रूप प्रवृत्ति योग है।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय आस्रव प्रवृत्ति रूप नही भाव रूप हैं, योग प्रवृत्ति रूप है। योग मे आत्म-प्रदेशो मे स्पन्दन होता है, मिथ्यात्व आदि मे वैसी बात नही।

मन-वचन-काय के कर्म शुभ और अशुभ दो तरह के होते हैं। अशुभ कर्म योगास्रव के अन्तर्गत आते हैं और उनसे पाप का आस्रव होता है। शुभयोग निर्जरा के हेतु हैं। उनसे कर्मा की निर्जरा होती है। निर्जरा के साथ-साथ पुण्य का आस्रव होता है। इस दृष्टि से निर्जरा के हेतु शुभ योगो को भी योगास्रव मे समझा जाता है। श्री जयाचार्य लिखते हैं

शुभ योगा ने सोय रे, कहिये आश्रव निर्जरा।
तास न्याय अवलोय रे, चित्त लगाई साभलो॥
शुभ जोगा करी तास रे, कर्म कटे तिण कारणे।
कही निर्जरा जास रे, करणी लेखे जाणवी॥
ते शुभ जोग करीज रे, पुण्य बधे तिण कारण॥
आश्रव जास कहीज रे, वार न्याय विचारिये॥

१—तत्त्वार्थवार्तिक ८ १ २३ कषायाऽविरत्योरभेद इति चेत्, न, कार्यकारणभेदोपपत्ते। कारणभूता हि कषाया कार्यात्मिकाया हिंसाद्यविरतेरर्थान्तरभूता इति।

उपर्युक्त आस्रवो का गुणस्थानो के साथ जो सम्बन्ध है उसको आचार्य पूज्यपाद ने इस प्रकार प्रतिपादित किया है

"मिथ्यादृष्टि जीव के एक साथ पाँचो, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और अविरतसम्यग्दृष्टि के अविरति आदि चार, सयतासयत के विरति-अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, प्रमत्त सयत के प्रमाद कषाय और योग, अप्रमत्त सयत आदि चार के योग और कषाय, तथा उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगीकेवली के एक योग बन्ध-हेतु होता है। अयोगीकेवली के कोई बन्ध-हेतु नही होता[1]।"

श्री जयाचार्य ने इस विषय मे निम्न प्रकाश डाला है[2]

पहिले तीजे मिथ्यात निरतरै, चौथा लग सर्व इव्रत व्याप।
निरतर देश अव्रत पञ्चमे, तिण सू समय २ लागै पाप॥
छठे प्रमाद आस्रव निरन्तरे, दशमा लग निरन्तर कषाय॥
निरन्तर पाप लागे तेह ने, तीनू जोगां स्यू जुदो कहाय॥
जद आवे गुणठाणे सातवें, प्रमाद रो मही बधै पाप।
अकषाई हुवां स्यू कषाय रो, नही लागे पाप सताप॥

पहले और तीसरे गुणस्थान में निरन्तर मिथ्यात्व रहता है। अविरति पहले से चौथे गुणस्थान तक व्याप्त है। पाँचवे गुणस्थान मे निरन्तर देश अविरति रहती है, जिससे समय-समय पाप लगता रहता है। छठे गुणस्थान मे निरन्तर प्रमाद आस्रव होता है। दसवें गुणस्थान तक निरन्तर कषाय होता है, जिससे निरतर पाप लगता है। यह कषाय आस्रव योग आस्रव से भिन्न है। सातवे गुणस्थान मे आने पर प्रमाद का पाप नही बढता। अकषायी होने पर कषाय का पाप नही लगता।

इन आस्रव भेदो की युगपतता के विषय में उमास्वाति लिखते हैं

"मिथ्यादर्शन आदि पांच हेतुओ मे पूर्व पूर्व के हेतु होने पर आगे-आगे के हेतुओ का सद्भाव नियत है परन्तु उत्तरोत्तर हेतु के होने पर पूर्व पूर्व के हेतुओ का होना नियत नही है[3]।"

१—तत्त्वा० ८ १ सर्वार्थसिद्धि

२—झीणीचर्चा ढा० २२ ४४-४६

३—तत्त्वा० ८ १ भाष्य

एषा मिथ्यादर्शनादीना बन्धहेतूना पूर्वस्मिन्पूर्वस्मिन्सति नियतमुत्तरेषा भाव। उत्तरोत्तरभावे तु पूर्वेषामनियम इति।

आस्रव के २० भेद :

आस्रव के २० वीस भेदो को मानने वाली परम्परा का उल्लेख पहले आया है। उन वीस भेदो में आरम्भ के पाँच भेद तो वही उक्त मिथ्यात्वादि हैं। अवशेष १५ योग आस्रव के भेदमात्र हैं। इन भेदो को भी उदाहरण-स्वरूप ही कहा जा सकता है क्योकि मन, वचन और काय की असख्य, अनन्त प्रवृत्तियाँ हो सकती हैं। २० भेदो का सक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है :

१—पूर्ववत्

२— ,,

३— ,,

४— ,,

५— ,,

६—प्राणातिपात आस्रव : मन, वचन, काय और करने, कराने, अनुमोदन के विविध भङ्गो से जीव हिंसा करना।

७—मृषावाद आस्रव उपर्युक्त तीन करण एव तीन योग के विविध भङ्गो से झूठ बोलना।

८—अदत्तादान आस्रव उपर्युक्त तीन करण एव तीन योग के विविध भङ्गो से चोरी करना।

९—मैथुन आस्रव उपर्युक्त तीन करण एव तीन योग के विविध भङ्गो से मैथुन का सेवन करना।

१०—परिग्रह आस्रव उपर्युक्त तीन करण एव तीन योग के विविध भङ्गो से परिग्रह रखना।

११—श्रोत्रेन्द्रिय आस्रव कान को शब्द सुनने में प्रवृत्त करना।

१२—चक्षुरिन्द्रिय आस्रव आँखो को रूप देखने मे प्रवृत्त करना।

१३—घ्राणेन्द्रिय आस्रव . नाक को गध सूघने मे प्रवृत्त करना।

१४—रसनेन्द्रिय आस्रव जिह्वा को रस-ग्रहण करने मे प्रवृत्त करना।

१५—स्पर्शनेन्द्रिय आस्रव शरीर को स्पर्श करने मे प्रवृत्त करना।

१६—मन आस्रव मन से नाना प्रकार की प्रवृत्ति करना।

१७—वचन आस्रव वचन से नाना प्रकार की प्रवृत्ति करना।

१८—काय आस्रव काया से नाना प्रकार की प्रवृत्ति करना।

१९—भण्डोपकरण आस्रव वस्तुओ को यतनापूर्वक रखना उठाना।

२०—शुचिकुशाग्रमात्र आस्रव शुचि, कुशाग्र आदि के सेवन जितनी भी प्रवृत्ति।

आस्रव के ४२ भेद '

आस्रव के ४२ भेदो का विवरण इस प्रकार है

> इंदियकसायअव्वयकिरिया पणचउपचपणवीसा।
> जोगा तिण्णेव भवे, बायाल आसवो होई[1] ॥ ६ ॥

१-५—इन्द्रिय आस्रव आस्रव के २० भेदो के विवेचन में वर्णित श्रोत्रेन्द्रिय से स्पर्शनेन्द्रिय तक के पांच आस्रव (क्रम ११-१५)।

६—क्रोध आस्रव अप्रीति करना।

७—मान आस्रव गर्व करना।

८—माया आस्रव परवञ्चना करना।

९—लोभ आस्रव मूर्च्छा भाव करना।

१०-१४—अविरति आस्रव आस्रव के २० भेदो मे वर्णित प्राणातिपात से मैथुन तक के पाँच आस्रव (क्रम ६-१०)।

१५-१७—योग आस्रव आस्रव के २० भेदो मे वर्णित मन आस्रव, वचन आस्रव और काय आस्रव (क्रम १६-१८)।

१८—[2]सम्यक्त्वक्रिया आस्रव सम्यक्त्व वर्द्धिनी क्रिया। जीवादि पदार्थो मे श्रद्धारूप लक्षण वाले सम्यक्त्व को उत्पन्न करने और बढाने वाली क्रिया।

१९—मिथ्यात्वक्रिया आस्रव मिथ्यात्व की हेतु प्रवृत्ति। जीवादि तत्त्वो मे अश्रद्धा रूप लक्षण वाले मिथ्यात्व को उत्पन्न करने और बढाने वाली कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र की उपासना, स्तवन आदि रूप क्रिया[3]।

२०—प्रयोगक्रिया आस्रव कायादि द्वारा गमनागमन आदि रूप प्रवृत्ति।

१—नवतत्त्वसाहित्यसग्रह नवतत्त्वप्रकरण (श्री देवगुप्त सूरि प्रणीत)

२—यहाँ से क्रियाओ की व्याख्या आरम्भ होती है।

आगमों के स्थलो को देखने से क्रियाओ की सख्या २७ आती है (ठाणाङ्ग २ ६०,५,२ ४१९, भगवती ३ ३)। आस्रव के ४२ भेदों की गणना मे सभी आचार्यों ने क्रियाएँ २५ ही मानी है। २७ क्रियाओ मे से एक परम्परा प्रेमक्रिया और द्वेषक्रिया को छोड देती है। दूसरी परम्परा इन्हे ग्रहण कर सम्यक्त्वक्रिया और मिथ्यात्वक्रिया को छोड देती है।

क्रियाओ के अर्थ की दृष्टि से भी दो परम्पराएँ स्पष्टत दृष्टिगोचर होती है। श्री सिद्धसेन गणि और आ० पूज्यपाद की व्याख्याएँ कुछ स्थलो को छोड कर प्राय मिलती-जुलती है। यहाँ मूल मे इन्ही को दिया है। इन दोनो की कई व्याख्याएँ आगम टीकाकारों से विशिष्ट रूप से भिन्न है। अन्तर पाद-टिप्पणियों मे प्रदर्शित है।

३—ठाणाङ्ग २ ६० की टीका के अनुसार जीव का सम्यग्दर्शन रूप व्यापार अथवा सम्यग्दर्शनयुक्त जीव का व्यापार सम्यक्त्वक्रिया है और जीव का मिथ्यात्व रूप व्यापार अथवा मिथ्यादृष्टि जीव का व्यापार मिथ्यात्वक्रिया है।

२१—समादानक्रिया आस्रव संयत का अविरति या असंयम के सन्मुख होना। अपूर्व-अपूर्व विरति को छोड़ कर तपस्वी का सावद्य कार्य मे प्रवृत्त होना[1]।

२२—ईर्यापथक्रिया आस्रव ईर्यापथ कर्मबन्ध की कारणभूत क्रिया।

२३—प्रादोपिकीक्रिया आस्रव क्रोध के आवेश से होनेवाली क्रिया[2]।

२४—कायिकीक्रिया आस्रव दुष्टभाव से युक्त होकर उद्यम करना[3]।

२५—आधिकरणिकीक्रिया आस्रव हिंसा के उपकरणो को ग्रहण करना[4]।

२६—पारितापिकीक्रिया आस्रव दु खोत्पन्न कारी क्रिया[5]।

२७—प्राणातिपातिकीक्रिया आस्रव आयु, इन्द्रिय, बल और श्वासोच्छ्वास रूप प्राणो का वियोग करने वाली क्रिया।

२८—दर्शनक्रिया आस्रव रागार्द्र हो प्रमाद-वश रमणीय रूप देखने की इच्छा[6]।

२९—स्पर्शनक्रिया आस्रव स्पर्श करने योग्य सचेतन-अचेतन वस्तु के स्पर्श का अनुबन्ध—अभिलाषा[7]।

१—ठाणाङ्ग ५ २ ४१९ मे इसके स्थान पर 'समुदाणकिरिया'—समुदानक्रिया का उल्लेख है। टीका में इसका अर्थ किया है 'कर्म्मोपादानम्' अर्थात् तीन प्रकार के योग द्वारा आठ प्रकार के कर्मपुद्गलों को ग्रहण करने रूप क्रिया।

२—ठाणाङ्ग २ ६० में इसके स्थान मे 'प्राद्वेषिकीक्रिया' है। टीका—प्रद्वेषो-मत्सरत्वेन निर्वृत्ता प्राद्वेषिकी। जीव अथवा ठोकर आदि लगने से अजीव पाषाणादि के प्रति क्रोध का होना।

३—ठाणाङ्ग मे इस क्रिया के दो भेद मिलते है (१) अनुपरतकायक्रिया—सावद्य से अविरत मिथ्यादृष्टि व सम्यग्दृष्टि की कायक्रिया। (२) दुष्प्रयुक्तकायक्रिया—दुष्प्रयुक्त मन, वचन, काय की क्रिया (ठा० २ ६० और टीका)

४—अधिकरण का अर्थ है अनुष्ठान अथवा बाह्यवस्तु खड्ग आदि। तत्सम्बन्धी क्रिया आधिकरणिकीक्रिया। आगम में इसके दो भेद मिलते है—निवर्त्तना—नये अस्त्र-शस्त्रों का बनाना और सयोजना—शस्त्रों के अङ्गों की सयोजना करना (ठाणाङ्ग ५ २ ४१९ और टीका)

५—आगम मे इसके दो भेद बताये गये है—(१) स्वहस्तपारितापनिकी—अपने हाथ से अपने या दूसरे को परिताप देना। और (२) परहस्तपारितापनिकी—दूसरे से परिताप पहुँचाना (ठाणाङ्ग २ ६० और टीका)।

६—आगम मे इसका नाम 'दिट्ठिया'—दृष्टिकी मिलता है। अश्व आदि सजीव और चित्रकर्म आदि निर्जीव वस्तु देखने के लिए गमन आदि रूप क्रिया (ठाणाङ्ग ५ २ ४१९ और टीका)।

७—आगम मे 'पुट्ठिया'—पृष्टिका, स्पृष्टिका नाम मिलता है। अर्थ है रागादि से स्पर्श या प्रश्न करने रूप क्रिया (ठाणाङ्ग २ ६०, ५ २ ४१९)।

३०—प्रात्ययिकीक्रिया आस्रव प्राणातिपात के अपूर्व—नये अधिकरणो का उत्पादन[1]।

३१—समन्तानुपातक्रिया आस्रव मनुष्य, पशु आदि के जाने-आने, उठने-बैठने के स्थानो मे मल का त्याग[2]।

३२—अनाभोगक्रिया आस्रव अप्रमार्जित और अशोधी हुई भूमि पर काय आदि का निक्षेप[3]।

३३—स्वहस्तक्रिया आस्रव जो क्रिया दूसरो द्वारा करने की हो उसे अभिमान या रोषवश स्वय कर लेना[4]।

३४—निसर्गक्रिया आस्रव पापादान आदि रूप प्रवृत्ति विशेष की अनुमति अथवा पापार्थ में प्रवृत्त का भावत अनुमोदन[5]।

३५—विदारण क्रिया आस्रव अन्य द्वारा आचरित अप्रकाशनीय सावद्य आदि कार्यो का प्रकाशन[6]।

१—इसका अर्थ इस प्रकार भी मिलता है—'बाह्य वस्तु प्रतीत्य—आश्रित्य भवा प्रातीत्यिकी'। बाह्य वस्तु का आश्रय लेकर जो क्रिया होती है। (ठाणाङ्ग २.६० टीका)।

२—इसके स्थान मे आगम में 'सामन्तोवणिवाइया'—सामन्तोपनिपातिकीक्रिया का उल्लेख है। अपने रूपवान् घोडे आदि और निर्जीव रथ आदि की प्रशसा सुन कर हर्षित होने रूप क्रिया। (ठाणाङ्ग २.६०, ५ २.४१९ और टीका)

३—अनाभोगप्रत्यया। उपयोग रहित होकर वस्तुओं का ग्रहण करना अथवा उपयोग रहित होकर प्रमार्जन करना। ठा० २ ६० मे कहा है—अणाभोगवत्तिया किरिया दुविहा प० त० अणाउत्तआइयणता चेव अणाउत्तपमज्जणता चेव।

४—इसके आगम मे दो भेद कहे गये है—जीव स्वाहस्तिकी क्रिया—अपने हाथ से गृहीत तीतर आदि द्वारा दूसरे जीव को मारना। अथवा अपने हाथ से जीव का ताडन। अजीवस्वाहस्तिकी क्रिया—अपने हाथ से गृहीत खड्ग आदि निर्जीव वस्तु द्वारा जीव को मारना अथवा अजीव का ताडन करना (ठाणाङ्ग २ ६० टीका)।

५—'नेसत्थिया' निसर्जन निसृष्ट, क्षेपणमित्यर्थ तत्र भवा तदेव वा। अर्थात् यन्त्र द्वारा जीव और अजीव को दूर करने रूप क्रिया। जैसे कुएँ से जल निकालना अथवा धनुष, बन्दूक आदि से गोली व बाण फेकना। (ठाणाङ्ग २.६० और ५ २ ४१९ टीका)।

६—ठाणाङ्ग २ ६० टीका मे विदारिणी अथवा वैतारिणी ऐसे नाम दिये है। जीव-अजीव को विदीर्ण करना विदारिणी क्रिया है। वह जीव को ठगता है ऐसा कहना अथवा गुण न होने पर भी ठगने की दृष्टि से ऐसा कहना कि तू गुण में अमुक के समान है जीववैतारिणी क्रिया है। गुण न होने पर भी एक अचेतन वस्तु को दूसरी अचेतन वस्तु के समान कहना अजीव वैतारिणी क्रिया है।

३६—आज्ञाव्यापादिकीक्रिया आस्रव चारित्रमोहनीय के उदय से आवश्यक आदि के विषय में शास्त्रोक्त आज्ञा को न पाल सकने के कारण अन्यथा प्ररूपणा करना[1]।

३७—अनाकांक्षाक्रिया आस्रव धूर्तता और आलस्य के कारण प्रवचन मे उपदिष्ट कर्त्तव्य विधि मे प्रमादजनित अनादर[2]।

३८—प्रारम्भक्रिया आस्रव . छेदन, भेदन, विसर्जन आदि क्रिया मे स्वय तत्पर रहना और दूसरे के आरम्भ करने पर हर्षित होना[3]।

३६—पारिग्राहिकीक्रिया आस्रव परिग्रह का विनाश न हो इस हेतु से की गई क्रिया[4]।

४०—मायाक्रिया आस्रव ज्ञान, दर्शन आदि के विषय में निकृति—वन्चन—छल करना[5]।

४१—मिथ्यादर्शनक्रिया आस्रव मिथ्यादृष्टि से क्रिया करने-कराने मे लगे हुए पुरुष को प्रशसा आदि द्वारा दृढ करना[6]।

१—आगम में इसका नाम 'आज्ञापनी' है। आज्ञा करने से होने वाली क्रिया। 'आणवणिया' आज्ञापनस्य—आदेशनस्येयमाज्ञापनमेव वा। आदेशनरूप क्रिया (ठाणाङ्ग २ ६० टीका)। उमास्वाति ने इसका नाम आनयनक्रिया दिया है (तत्त्वा० ६ ६ भाष्य)।

२—ठाणाङ्ग २ ६० में इसका नाम अनवकांक्षाप्रत्यया दिया है। अपने अथवा दूसरे के शरीर की अनवकांक्षा—अनपेक्षा। अणवकखवत्तिया किरिया दुविहा पं० त० आयशरीर अणवकखवत्तिया चेव परसरीरअणवकखवत्तिया चेव।

३—आगम में इसका नाम आरभिया 'आरंभिकीक्रिया' दिया है। आरम्भणमारम्भ तत्र भवा। आगम में इसके दो भेद कहे गये हैं। जिससे जीवों का उपमर्दन हो उसे जीवारम्भक्रिया और जिससे अजीव वस्तुओं का आरम्भ हो उसे अजीवारम्भक्रिया कहते हैं (ठाणाङ्ग २ ६० टीका)।

४—'परिग्गहिया'—परिग्रहे भवा परिग्रहिकी—परिग्रह में होने वाली। आगम में जीव और अजीव सम्बन्ध से इसके भी दो भेद बतलाये गये हैं (ठाणाङ्ग २ ६० तथा टीका)।

५—'मायावत्तिया चेव' माया—शाठ्य प्रत्ययो-निमित्त यस्या कर्मबन्धक्रियाया व्यापारस्य वा सा। छल या कपट रूप क्रिया (ठाणाङ्ग २ ६० टीका)।

६—आगम में इसका नाम 'मिच्छादसणवत्तिया'—मिथ्यादर्शनप्रत्यया मिलता है। मिथ्यादर्शन—मिथ्यात्व प्रत्ययो यस्या सा। आगम में इसके दो भेद बताये हैं। अप्रशस्त आत्मभाव को प्रशस्त देखना—आत्मभाववंकनता है और कूटलेख आदि से दूसरे को ठगना—परभाववकनता है (ठाणाङ्ग २ ६० टीका)।

४२—[1]अप्रत्याख्यानक्रिया आस्रव संयमघाति कर्म की पराधीनता से पाप से अनिवृत्ति।

जिस तरह आस्रव के २० भेदों में से अन्तिम पन्द्रह का योगास्रव में समावेश होता है उसी तरह ४२ भेदों में सब के सब योगास्रव में समाहित होते हैं। मन-वचन-काय के सर्व कार्य सावद्य योगास्रव हैं। जिन अठारह पापों का पूर्व में उल्लेख आया है वे भी योग रूप ही हैं। विविध कर्मों के बन्ध-हेतुओं में जो भी क्रिया रूप व्यापार हैं उन सब को योगास्रव का भेद समझना चाहिए।

७—आस्रव और संवर का सामान्य स्वरूप (गा० ९-१०)

गा० ३-८ में स्वामीजी ने पाँच आस्रव और साथ ही पाँच संवर की परिभाषाएँ दी हैं। यहाँ पाँच आस्रव और पाँच संवर के सामान्य स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। आस्रव और संवर दोनों जीव-परिणाम हैं। जीव का मिथ्या श्रद्धारूप परिणाम मिथ्यात्व, अत्याग-भावरूप परिणाम अविरति, अनुत्साहरूप परिणाम प्रमाद, क्रोधादिरूप परिणाम कषाय और मन-वचन-काय के व्यापाररूप परिणाम योग हैं। इस तरह पाँचों आस्रव जीव के परिणाम हैं। इसी तरह सम्यक् श्रद्धारूप परिणाम सम्यक्त्व, देश सर्व त्यागरूप परिणाम विरति, प्रमादरहिततारूप परिणाम अप्रमाद, कषायरहिततारूप परिणाम अकषाय और अव्यापाररूप परिणाम अयोग संवर है।

आस्रव और संवर दोनों जीव-परिणाम होने पर भी स्वभाव से एक दूसरे से भिन्न हैं। आस्रव जीव की उन्मुक्तता है। संवर उसकी गुप्ति। आस्रव कर्मों को आने देते हैं। संवर उनको रोकते हैं। आस्रव कर्मों के आने के द्वार—उपाय हैं। संवर उनको रोकने के द्वार—उपाय हैं। श्री अभयदेव लिखते हैं—"जीव रूपी तालाब में कर्म रूपी जल के आने के लिए जो द्वार की तरह द्वार—उपाय हैं वे आस्रव-द्वार हैं। जीव रूपी तालाब में कर्म रूपी जल के आगमन के निरोध के लिए जो द्वार—उपाय हैं वे संवर द्वार हैं। मिथ्यात्व आदि आस्रवों के क्रमशः विपर्यय रूप सम्यक्त्व आदि संवर हैं[2]।"

१—तत्त्वा० ६.६ भाष्य में क्रियाओं के नाम इस प्रकार हैं

तद्यथा—सम्यक्त्वमिथ्यात्वप्रयोगसमादानेर्यापथा, कायाधिकरणप्रदोषपरितापनप्राणातिपाताः, दर्शनस्पर्शनप्रत्ययसमन्तानुपातानाभोगाः, स्वहस्तनिसर्गविदारणानयनानवकाङ्क्षा आरम्भपरिग्रहमायामिथ्यादर्शनाप्रत्याख्यानक्रिया इति॥

२—ठाणाङ्ग ५.२.४१८

आश्रवण—जीवतडागे कर्म्मजलस्य सङ्गलनमाश्रव, कर्म्मनिबन्धनमित्यर्थः, तस्य द्वाराणीव द्वाराणि—उपाया आश्रवद्वाराणीति। तथा संवरण—जीवतडागे कर्म्मजलस्य निरोधनं संवरस्तस्य द्वाराणि—उपायाः संवरद्वाराणि—मिथ्यात्वादीनामाश्रवाणां क्रमेण विपर्ययाः सम्यक्त्वविरत्यप्रमादाकषायित्वायोगित्वलक्षणाः

८—आस्रव कर्मों का कर्त्ता, हेतु, उपाय है (गा० ११)

स्वामीजी ने ढाल की पहली गाथा मे "स्थानाङ्ग मे पांच आसवद्वार कहे हैं"—ऐसा उल्लेख करते हुए गा० २ से ८ मे इन पाँचो द्वारो के नाम और उनके स्वरूप पर प्रकाश डाला है। वहाँ आस्रव के प्रतिपक्षी सवर पदार्थ के स्वरूप पर भी कुछ विवेचन है जिससे कि आस्रव पदार्थ का स्वभाव स्पष्ट रूप से हृदयांकित हो सके। फिर गा० ९-१० मे पांच आस्रव और सवर के सामान्य स्वरूप का बोध दिया है। स्वामीजी कहते हैं "ठाणाङ्ग की तरह चौथे अङ्ग समवायाङ्ग मे भी पांच आस्रव द्वार और पांच सवर कहे गये हैं।" वह पाठ इस प्रकार है

"पच आसवदारा पन्नत्ता, तजहा—मिच्छत्त अविरई पमाया कसाया जोगा पच सवरदारा पन्नत्ता, तजहा—सम्मत्त विरई अप्पमत्तया अकसाया अजोगया (सम० ५)।"

स्वामीजी कहते हैं—"आस्रव का जहाँ भी विवेचन है उस स्थल को देखने से यह स्पष्ट होता है कि वह कर्मो के आने का द्वार, हेतु, उपाय, निमित्त है। आस्रव महा विकराल द्वार है क्योकि कर्म जैसा कोई रिपु नही। आस्रव उसके लिए सदा उन्मुक्त द्वार है।

९—प्रतिक्रमण विषयक प्रश्न और आस्रव (गा० १२)

स्वामीजी ने गा० ११ मे आस्रव को कर्मों का कर्त्ता, हेतु, उपाय कहा है। आस्रव का स्वरूप ऐसा ही है अन्यथा नही इस तथ्य को हृदयङ्गम कराने के लिए स्वामीजी ने गा० १२ से २२ मे आगमो के कई स्थलो का सदर्भ दिया है। आस्रव द्वार रूप, छिद्र रूप है यह आगम के उल्लिखित सदर्भो से भली भाति स्पष्ट होता है।

पहला सदर्भ उत्तराध्ययन के २९ वे अध्ययन का है। मूल पाठ इस प्रकार है

"पडिक्कमणेण भन्ते जीवे किं जणयइ ॥ प० वयछिद्दाणि पिहेइ। पिहियवयछिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे असबलचरित्ते अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते अपुहत्ते सुप्पणिहिए विहरइ ॥११॥'

"हे भंते! प्रतिक्रमण से जीव किस फल को उत्पन्न करता है?'

"हे शिष्य! प्रतिक्रमण से जीव व्रतों के छिद्रों को ढकता है। जिस जीव के व्रतों के छिद्र ढक जाते हैं वह निरुद्धास्रव होता है, असबलचारित्र होता है, आठ प्रवचन-

माताओ मे सावधान होता है, संयम योग से अपृथक् होता है और समाधिपूर्वक संयम में विचरता है।"

सार है व्रतो के छिद्र—दोष आस्रव रूप हैं। प्रतिक्रमण से व्रतो के छिद्र—दोष रुकते हैं अत फल स्वरूप जीव 'निरुद्धासवे'—आस्रव-रहित होता है।

१०—प्रत्याख्यान विषयक प्रश्न और आस्रव (गा० १३)

इस गाथा मे स्वामीजी ने आस्रव के स्वरूप को बतलाने के लिए उत्तराध्ययन (२९ १३) के ही एक अन्य पाठ की ओर संकेत किया है। वह पाठ इस प्रकार है

> "पच्चक्खाणेण भन्ते जीवे किं जणयइ॥ प० आसवदाराइ निरुम्भइ। पच्चक्खाणेण इच्छानिरोह जणयइ। इच्छानिरोह गए य ण जीवे सव्वदव्वेसु विणीयतण्हे सीइभूए विहरइ॥"

"भंते! प्रत्याख्यान से जीव को क्या फल होता है?"

"हे शिष्य! प्रत्याख्यान से जीव आस्रव-द्वारो को रोकता है। प्रत्याख्यान से इच्छा निरोध करता है। इच्छानिरोध से जीव सर्व द्रव्यो के प्रति वीततृष्ण हो शांत होकर विचरण करता है।"

इस वार्तालाप का सार भी यही है कि अप्रत्याख्यान आस्रव है। उससे कर्मो का आगमन होता है। जो प्रत्याख्यान करता है उसके आस्रव-निरोध होता है और नये कर्मो का प्रवेश नही होता।

११—तालाब का दृष्टान्त और आस्रव (गा० १४)

यहाँ संकेतित उत्तराध्ययन के ३० वें अध्ययन का पाठ इस प्रकार है

> जहा महातळायस्स सन्निरुद्धे जलागमे।
> उस्सिचणाए तवणाए कमेण सोसणा भवे॥ ५॥
> एवं तु संजयस्सावि पावकम्मनिरासवे।
> भवकोडीसंचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ॥ ६॥

शिष्य पूछता है—"करोड़ो भवो से सञ्चित कर्मों से मुक्ति कैसे हो?"

गुरु कहते हैं—"जिस प्रकार किसी महा तालाब का पानी जलागमन के मार्ग को रोक देने पर उत्सिञ्चन और सूर्यताप से क्रमशः सूख जाता है वैसे ही पाप कर्म के आस्रवों को रोक देने पर—निरास्रवी हो जाने पर संयमी के कोटि भवो से सञ्चित कर्म तप के द्वारा निर्जरा को प्राप्त होते हैं।"

शिष्य—'भंते ! जीव निरास्रवी कैसे होता है ?'

गुरु—"हे शिष्य ! प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह तथा रात्रि-भोजन के विरमण से जीव निरास्रवी होता है। जो पांच समिति से युक्त, तीन गुप्ति से गुप्त, कषायरहित, जितेन्द्रिय, गौरव-रहित और निःशल्य होता है वह जीव निरास्रवी होता है।"

इस पाठ से यह अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है कि कर्मों से मुक्त होने की पहली प्रक्रिया है नये-कर्मों के आगमन का निरोध करना, आस्रव को रोकना। जो आस्रवरहित होता है उसके भारी से भारी कर्म तप से निर्जरित होते हैं। जीव तालाव तुल्य है, आस्रव जल-मार्ग के सदृश और कर्म जल तुल्य। जीव रूपी तालाव को कर्म रूपी जल से विरहित करना हो तो आस्रव रूपी स्रोत—विवर—नाले को पहले रोकना होगा।

१२—मृगापुत्र और आस्रव-निरोध (गा० १५) :

उत्तराध्ययन (अ० १९.९३) के जिस पाठ की ओर यहाँ इंगित किया गया है उसका सम्बन्ध मृगापुत्र के साथ है। मृगापुत्र सुग्रीवनगर के राजा बलभद्र के पुत्र थे। उन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण की। प्रव्रज्या के बाद वे बड़े ही तपस्वी और समभावी साधु हुए। उनके गुणों का वर्णन करते हुए कहा गया है :

अप्पसत्थेहि दारेहि सव्वओ पिहियासवे।
अज्झप्पज्झाणजोगेहि पसत्थदमसासणे॥

"वे सभी अप्रशस्त द्वारों और सभी आस्रवों का निरोध कर आध्यात्मिक शुभ ध्यान के योग से प्रशस्त संयम वाले हुए।"

स्वामीजी के कथन का सार है—आस्रव-द्वार के निरोध का उल्लेख अनेक स्थलों पर है इसका कारण यही है कि आस्रव पाप-कर्मों के आने का हेतु है। पहले उसे रोकना आवश्यक होता है जिससे कि नया भार न हो। जिस प्रकार कर्ज से मुक्त होने के लिए नये कर्ज से परहेज करना आवश्यक है वैसे ही पूर्व सचित कर्मों से मुक्त होने के लिए निरास्रवी होना आवश्यक है।

१३—पिहितास्रव के पाप का बंध नहीं होता (गा० १६) :

दशवैकालिक (अ० ४.९) की जिस गाथा का यहाँ सदर्भ है वह इस प्रकार है :

सव्वभूयप्पभूयस्स सम्मं भूयाइ पासओ।
पिहियासवस्स दन्तस्स पावं कम्मं न बन्धई॥

जो सर्व भूतो को अपनी आत्मा के समान समझता है, जो सर्व जीव को समभाव से देखता है, जो आस्रवो को रोक चुका और जो दान्त है उसके पाप-कर्मों का बन्ध नहीं होता।

दशवैकालिक सूत्र के तीसरे अध्ययन की सकेतित गाथा इस (११) प्रकार है

पचासवपरिन्नाया तिगुत्ता छसु सजया।
पचनिग्गहणाधीरा निग्गन्था उज्जुदसिणो॥

जो पञ्चास्रव को जानकर त्याग करने वाले होते हैं, जो त्रिगुप्त हैं, षट्काय के जीवो के प्रति सयत हैं, पांच इन्द्रिय का निग्रह करने वाले हैं, जो धीर हैं और ऋजुदर्शि हैं वे निर्ग्रन्थ हैं।

यहाँ पर आसव-रहित श्रमणो को निर्ग्रन्थ कहा है।

१४—पचास्रवसवृत भिक्षु महा अनगार (गा० १७)

स्वामीजी ने यहाँ दशवैकालिक अ० १० गा० ५ की ओर सकेत किया है। वह गाथा इस प्रकार है

रोइयनायपुत्तवयणे
अप्पसमे मन्नेज्ज छप्पि काए।
पञ्च य फासे महव्वयाइ
पञ्चासवसवरए जे स भिक्खू॥

जो ज्ञातृपुत्र महावीर के वचन मे रुचि कर छ ही काय के जीव को आत्मसम मानता है, पच महाव्रतो का सम्यक् रूप से पालन करता है तथा पञ्चास्रवो को सवृत करता है वह भिक्षु है।

यहाँ पञ्चास्रवो को निरोध करने वाला महा भिक्षु कहा गया है। आस्रवो का सवरण भिक्षु का महान गुण है।

१५—मुक्ति के पहले योगो का निरोध (गा० १८)

उत्तराध्ययन अ० २६ ७२ मे कहा है—

है। इसके बाद वचनयोग, फिर काययोग और फिर श्वासोच्छ्वास का निरोध करता है। इसके बाद पाँच ह्रस्वाक्षर के उच्चार करने जितने समय मे वह अनगार समुच्छिन्न क्रिया अनिवृत्ति नामक शुक्ल ध्यान को ध्याते हुए वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र—इन चार कर्मों को एक साथ क्षय कर बाद मे शुद्ध-बुद्ध होकर समस्त दु ख का अन्त करता है।"

स्वामीजी ने प्रस्तुत गाथा मे सिद्ध-बुद्ध होने की उपर्युक्त प्रक्रिया मे योग-निरोध के क्रम का जो उल्लेख है उसी की ओर सकेत किया है। आगम का मूल पाठ इस प्रकार है

अह आउय पालइत्ता अन्तोमुहुत्तद्धावसेसाए जोगनिरोह करेमाणे सहुमकिरिय अप्पडिवाइ सुक्कज्झाण झायमाणे तप्पढमयाए मणजोग निरुम्भइ वइजोग निरुम्भइ कायजोग निरुम्भइ आणपाणुनिरोह करेइ ईसि पचरहस्सक्खरुच्चारणद्धाए य ण अणगारे समुच्छिन्नकिरिय अनियट्टिसुक्कज्झाण झियायमाणे वेयणिज्ज आउय नामं गोत्तं च एए चत्तारि कम्मसे जुगव खवेइ ॥

स्वामीजी के कहने का तात्पर्य है कि सयोगी केवली के योग शुद्ध होते हैं। पर मुक्त होने के पूर्व केवली को भी इन शुद्ध योगो का निरोध करना पडता है तब कही वह सिद्ध-बुद्ध होता है। इस तरह योगास्रव भी सवरणीय है।

१६—प्रश्नव्याकरण और आस्रवद्वार (गा० १६) :

प्रश्नव्याकरण दसवाँ अङ्ग माना जाता है। इस आगम मे दो श्रुतस्कध हैं—एक आस्रवद्वारश्रुतस्कध और दूसरा सवरद्वारश्रुतस्कध[1]। प्रथम श्रुतस्कध मे आस्रव पञ्चक और द्वितीय श्रुतस्कध में सवर पञ्चक का वर्णन है। इसी सूत्र मे एक स्थान पर कहा है—"पाँच का परित्याग करके और पाँच का भावपूर्वक रक्षण करके जीव कर्म-रज से मुक्त होते हैं और सर्वश्रेष्ठ सिद्धि को प्राप्त करते हैं[2]।"

सवरो के विषय मे कहा गया है—"ये अनास्रव रूप हैं, छिद्र रहित हैं, अपरिस्रावी हैं, सक्लेश से रहित हैं, समस्त तीर्थंकरो द्वारा उपदिष्ट हैं[3]" आस्रव ठीक इनसे उल्टे हैं।

१—जबू दसमस्स अगस्स समणेण जाव सपत्तेण दो सुयखधा पण्णत्ता—आसवदारा य सवरदारा य

२—पचेव य उज्झिऊण पचेव य रक्खिऊण भावेण।
कम्मरयविप्पमुक्का सिद्धिवरमणुत्तर जति ॥

३—अणासवो अकलुसो अच्छिद्दो अपरिस्सावी असकिलिट्ठो सुद्धो सव्वजिणमणुन्नातो।

१७—आस्रव-प्रतिक्रमण (गा० २०) :

यहाँ ठाणाङ्ग के जिस पाठ का सदर्भ है वह इस प्रकार है

"पचविहे पडिक्कमणे प० त०—आसवदारपडिक्कमणे मिच्छत्तपडिक्कमणे कसायपडिक्कमणे जोगपडिक्कमणे भावपडिक्कमणे[1] ।" (५ ३ ४६७)

प्रतिक्रमण पांच प्रकार के कहे हैं—(१) आस्रवद्वार प्रतिक्रमण, (२) मिथ्यात्व प्रतिक्रमण, (३) कषाय प्रतिक्रमण (४) योग प्रतिक्रमण और (५) भाव प्रतिक्रमण। प्रमादवश स्वस्थान से परस्थान चले जाने पर पुन स्वस्थान को आना प्रतिक्रमण कहलाता है। शुभ योग से अशुभ योग में चले जाने पर पुन शुभ में जाना प्रतिक्रमण है[2]। प्राणातिपातादि आस्रवद्वारो से निवर्तन को आस्रवद्वार प्रतिक्रमण कहते हैं[3]। इसका मर्म है—असयम से प्रतिक्रमण। इसी प्रकार मिथ्यात्वगमन से निवृत्ति को मिथ्यात्व प्रतिक्रमण कहते हैं[4]। इसी तरह कषाय प्रतिक्रमण है। मन-वचन-काय के अशोभन व्यापारो का व्यावर्त्तन योग प्रतिक्रमण है[5]। आस्रवादि प्रतिक्रमण ही अविशेष विवक्षा से भाव प्रतिक्रमण है। मन-वचन-काय से मिथ्यात्वादि में गमन न करना, दूसरे को गमन न कराना, गमन करते हुए का अनुमोदन न करना भाव प्रतिक्रमण है[6]।

स्वामीजी कहते हैं "भगवान ने यहाँ आस्रवो का प्रतिक्रमण कहा है इसका कारण यही है कि आस्रव पाप-प्रवेश के द्वार हैं"।

१—मिलावे

मिच्छत्तपडिक्कमण तहेव अस्सजमे पडिक्कमण ।
कसायाण पडिक्कमण जोगाण य अपप्पसत्थाण ॥

२—(क) ठाणाङ्ग ५-३ ४६७ टीका

स्वस्थानाद्यत्परस्थान, प्रमादस्य वशाद्गत ।
तत्रैव क्रमण भूय , प्रतिक्रमणमुच्यते ॥

(ख) ठाणाङ्ग ५ ३ ४६७ टीका

क्षायोपशमिकाद्भावादौदयिकस्य वश गत ।
तत्रापि च स एवार्थ, प्रतिकूलगमात् स्मृत ॥

३—वही आश्रवद्वाराणि—प्राणातिपातादीनि तेभ्य प्रतिक्रमण—निवर्त्तन पुनरकरण- मित्यर्थ आश्रवद्वारप्रतिक्रमण, असयमप्रतिक्रमणमिति हृदय

४—वही मिथ्यात्वप्रतिक्रमण यदाभोगानाभोगसहसाकारैर्मिथ्यात्वगमन तन्निवृत्ति

५—वही योगप्रतिक्रमणं तु यत् मनोवचनकायव्यापाराणामशोभनानां व्यावर्त्तनमिति

६—वही आश्रवद्वारादिप्रतिक्रमणमेवाविवक्षितविशेष भावप्रतिक्रमणमिति, आह च

मिच्छत्ताइ न गच्छइ न य गच्छावेइ नाणुजाणाइ ।
ज मणवइकाएहिं त भणिय भावपडिक्कमण ॥

१८—आस्रव और नौका का दृष्टान्त (गा० २१-२२) :

एक वार्तालाप के प्रसग मे भगवान महावीर ने मडितपुत्र से पूछा "एक हृद हो, वह जलसे पूर्ण हो, जल से छलाछल भरा हो, जल से छलकता हो, जल से बढता हो और भरे हुए घडे की तरह सब जगह जल मे व्याप्त हो, उस हृद मे कोई एक मनुष्य सैकडो सूक्ष्म छिद्र और सैकडो बडे छिद्रो वाली एक बडी नाव को प्रविष्ट करे तो हे मण्डितपुत्र ! वह नाव छिद्र द्वारा जलसे भराती-भराती जल मे भरी हुई, जल से छलाछल भरी हुई, जल से छलकती हुई, जल से बढती हुई अन्त मे भरे हुए घडे की तरह सब जगह जल से व्याप्त होती है यह ठीक है या नही ?" मण्डितपुत्र बोले भन्ते ! होती है।" भगवान बोले "अब यदि कोई पुरुष उस नाव के सारे छिद्रो को ढक दे और उलीच कर उसके सारे जल को बाहर निकाल दे तो हे मण्डितपुत्र ! वह नौका सारे पानी को उलीच देने पर शीघ्र ही जल के ऊपर आती है क्या यह ठीक है ?" मण्डितपुत्र बोले : "यह सच है भन्ते ! वह ऊपर आती है।"

स्वामीजी के कथनानुसार यह वार्तालाप आस्रव और सवर के स्वरूप पर प्रकाश डालता है। आत्मा मिथ्यात्व आदि आस्रवो—छिद्रो द्वारा कर्म रूपी जल मे खचाखच भर जाती है। सवर द्वारा आस्रव रूपी छिद्रो को रुध देने पर पुन नये कर्मरूपी जल का प्रवेश रुक जाता है। सचित कर्म-जल को तप द्वारा उलीच देने पर आत्मा पुन कर्म-जल से रिक्त होती है। ऊपर जो वार्तालाप दिया गया है उसका मूल पाठ (भगवती ३ ३) इस प्रकार है—

से जहा नाम ए हरए सिया, पुण्णे, पुण्णप्पमाणे, वोलट्टमाणे, वोसट्टमाणे समभर घटत्ताए चिट्टइ। अहे ण केइ पुरिसे तसि हरयसि एग मह णाव सयासवं, सयच्छिद्द ओगाहेज्जा, से णूण मडिअपुत्ता ! सा नावा तेहिं आसवदारेहिं आपूरेमाणी आपूरेमाणी, पुण्णा, पुण्णप्पमाणा, वोलट्टमाणा, वोसट्टमाणा समभरघटत्ताए चिट्ठति। अहे ण केइ पुरिसे तीसे नावाए सव्वओ समता आसवदाराइ पिहेइ, पिहित्ता णावा उस्सिचणएण उदय उस्सिचिज्जा, से णूणं मडिअपुत्ता ! सा नावा तसि उदयसि उस्सित्तसि समाणसि खिप्पामेव उड्ढ उद्दाइ ? हता, उद्दाइ।

भगवती सूत्र का दूसरा वार्तालाप इस प्रकार है

"भन्ते ! जीव और पुद्गल अन्योन्य बद्ध, अन्योन्य स्पृष्ट, अन्योन्य स्नेह से प्रतिबद्ध, अन्योन्य अवगाढ, अन्योन्य घट होकर रहते है ?" "हा गौतम ! रहते है।" "भन्ते !

ऐसा किस हेतु से कहते हैं ?" "गौतम ! एक ह्रद हो, वह जल से भरा हो, छलाछल भरा हो, जल से छलकता हो, जल से बढता हो और भरे हुए घडे की तरह स्थित हो अब यदि कोई एक बडी सौ छोटे छिद्रोवाली और सौ बडे छिद्रोवाली नाव उसमें प्रविष्ट करे तो हे गौतम ! वह नाव उन आस्रवद्वारो से—छिद्रो से भराती, अधिक भराती, जल से भरी हुई, जल से छलाछल भरी हुई, जल से छलकती हुई, जल से बढती हुई और अन्त में भरे घडे की तरह स्थित होकर रहती है या नही ।" "भन्ते ! रहती है ।" "हे गौतम ! मैं इसी हेतु से कहता हूँ कि जीव और पुद्गल अन्योन्य बद्ध यावत् अन्योन्य घट होकर स्थित हैं ।"

स्वामीजी के कथनानुसार यह वार्तालाप भी आस्रव के स्वरूप पर सुन्दर प्रकाश डालता है । मिथ्यात्वादि आस्रव विकराल छिद्र हैं जिनसे जीव-रूपी नौका पाप-रूपी जल से छलाछल भर जाती है । भगवती सूत्र (१ ६) का मूल पाठ इस प्रकार है

> अत्थि ण भते ! जीवा य, पोग्गला य अन्नमन्नबद्धा, अन्नमन्नपुट्ठा, अन्नमन्न-ओगाढा, अन्नमन्नसिणेहपडिबद्धा अन्नमन्नघडत्ताए चिट्ठति ? हता, अत्थि । से केणट्ठेण भते ! जाव—चिट्ठति ? गोयमा ? से जहानामाए हरदे सिया, पुन्ने, पुण्णप्पमाणे, वोलट्टमाणे, वोसट्टमाणे समभरघडत्ताए चिट्ठइ । अहे ण केई पुरिसे तसि हरदसि एग मह नाव सयासव, सयछिद्दं ओगाहेज्जा । से णूण गोयमा ! सा णावा तेहिं आसवदारेहिं आपूरमाणी, आपूरमाणी पुन्ना, पुन्नप्पमाणा, वोलट्टमाणा, वोसट्टमाणा, समभरघडत्ताए चिट्ठइ ? हता, चिट्ठइ । से तेणट्ठेण गोयमा ? अत्थि ण जीवा य जाव-चिट्ठति ।

१६—आस्रव विषयक कुछ अन्य सदर्भ (गा० २३) :

आस्रव के स्वरूप को हृदयङ्गम कराने के लिए स्वामीजी ने आगम के कुछ ऐसे सदर्भ गा० १२ से २२ में सकलित किये हैं जहां आस्रवद्वार का उल्लेख है। विषय को सक्षिप्त करने के लिए अन्य अनेक सदर्भों का उल्लेख उन्होने वहाँ नही किया। उनकी अन्य गद्यात्मक कृति मे अन्य स्थलो के सदर्भ भी हैं। हम यहाँ कुछ दे रहे हैं।

१—स्थानाङ्ग (१ १३ १४) मे 'एगे आसवे' 'एगे संवरे' ऐसे पाठ हैं। टीका में विवेचन करते हुए लिखा है—"जिससे कर्म आत्मा मे आस्रवित होते हैं—प्रवेश करते हैं उसे आस्रव कहते हैं। आस्रव अर्थात् कर्म-बन्ध का हेतु। जिस परिणाम से कर्मों के ग्रहण

प्राणातिपातादि का संवरण—निरुंधन होता है वह संवर है। संवर अर्थात् आस्रव-निरोध[1]।

टीका में आस्रव का वही स्वरूप प्रतिपादित है जो स्वामीजी ने बताया है। टीकाकार ने संवर की जो परिभाषा दी है वह इसे और भी स्पष्ट कर देता है।

२—उत्तराध्ययन सूत्र के २९ वें अध्ययन का ३७ वाँ प्रश्नोत्तर योगप्रत्याख्यान सम्बन्धी है। वहाँ कहा है—"योगप्रत्याख्यान से जीव अयोगीपन प्राप्त करता है। अयोगी जीव नये कर्मों का बंध नहीं करता और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है।"

बाद के ५३,५४ और ५५ वें बोलों में मनोगुप्ति आदि के फल इस प्रकार बतलाये हैं

"मनोगुप्ति से जीव एकाग्रता उत्पन्न करता है। मनोगुप्त जीव एकाग्रचित्त से संयम का आराधक होता है। वचनगुप्ति से जीव निर्विकारिता को उत्पन्न करता है। वचन-गुप्त जीव निर्विकारिता से अध्यात्मयोग की साधना वाला होता है। कायगुप्ति से जीव संवर उत्पन्न करता है। कायगुप्त जीव संवर से पापास्रवों का निरोध करता है।"

इस वार्तालाप में प्रकारान्तर से मन, वचन और काय के निरोध का ही उपदेश है। मन, वचन और काय—ये तीनों योग आस्रव रूप हैं। उनसे कर्म आते हैं। कर्मों का आगमन आत्मा के हित के लिए नहीं होता, इसीलिए योग-निरोध का उपदेश है।

३—उत्तराध्ययन अ० २३ में केशी और गौतम का एक सुन्दर वार्तालाप मिलता है

केशी बोले "गौतम! महाप्रवाह वाले समुद्र में विपरीत जाने वाली नौका में आप आरूढ़ हैं। इससे आप कैसे उस पार पहुँच सकेंगे?"

गौतम बोले "जो नौका आस्रवणी होती है वही पार नहीं पहुँचाती। जो नौका निरास्रवणी होती है—छिद्र रहित होती है अर्थात् जल का संग्रह करने वाली नहीं होती वह पार पहुँचा सकती है।"

१- ठाणाङ्ग १.१४ टीका

आस्रवति—प्रविशति येन कर्म्मात्मनीत्यास्रवः, कर्म्मबन्धहेतुरिति भावः, संवियते—कर्मकारणं प्राणातिपातादि निरुध्यते येन परिणामेन स संवरः, आस्रवनिरोध इत्यर्थः

जा उ अस्साविणी नावा, न सा पारस्स गामिणी।

जा निरस्साविणी नावा, सा उ पारस्स गामिणी ॥७१॥

केशी बोले "वह नौका कौन सी है ?"

गौतम बोले "यह शरीर नौका रूप है। जीव नाविक है। ससार समुद्र है। महर्षि ससार-समुद्र को तैर जाते हैं।"

सरीरमाहु नाव त्ति, जीवे वुच्चइ नाविओ।

ससारो अण्णवो वुत्तो, ज तरंति महेसिणो ॥७३॥

इस प्रसग का सार है—जिस तरह आस्रवणी नौका समुद्र के उस पार नहीं पहुँचाती वैसे ही आस्रवणी आत्मा जीव को ससार-समुद्र के उस पार नहीं पहुँचाती। अत आत्मा को निरास्रव करना चाहिए।

४—उत्तराध्ययन अ० ३५ मे एक गाथा इस प्रकार है

निम्ममे निरहकारे, वीयरागो अणासवो।

सपत्तो केवल नाण सासय परिणिव्वुए ॥२१॥

जो ममत्वरहित होता है, निरहकार होता है, वीतराग होता है, आस्रवरहित होता है वह केवलज्ञान को पाकर शाश्वत रूप से परिनिवृत्त होता है।

इस गाथा मे आसन्नमुक्त आत्मा का एक प्रधान गुण आस्रवरहितता कहा गया है।

२०--आस्रव जीव या अजीव (गा० २८)

नौ पदार्थों मे जीव कितने हैं, अजीव कितने हैं, यह एक बहुत पुराना प्रश्न है। जीव जीव है, अजीव अजीव है, अवशेष सात पदार्थों मे कौन जीव कोटि का है कौन अजीव कोटि का ?

श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनो ही मानते हैं कि मूल पदार्थ जीव और अजीव दो ही हैं। अन्य पदार्थ उन्हीं के भेद या परिणाम हैं[1]। अमृतचन्द्राचार्य लिखते हैं "जीव अजीव दोनो पदार्थ अपने भिन्न स्वरूप के अस्तित्व से मूल पदार्थ हैं, अवशेष सात पदार्थ

१—(क) द्रव्यसग्रह २८

आसवबधणसवरणिज्जरमोक्खा सपुण्णपावा जे।

जीवाजीवविसेसा ते वि समासेण पभणामो ॥

(ख) ठाणाङ्ग ९.३.६६५ टीका

एतेव जीवाजीवपदार्थौ सामान्येनोक्तौ तावेह विशेषतो नवधोक्तौ।

जीव और पुद्गल के संयोग से उत्पन्न हैं[1] ।" ऐसा मानने से उपर्युक्त प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है ।

श्री सिद्धसेन गणि लिखते हैं : "सात पदार्थों में प्रकृतत जीव और अजीव द्रव्य और भाव से स्थिति-उत्पत्ति-प्रलय स्वभाववाले कहे गये हैं । वस्तुत चेतन अचेतन लक्षणयुक्त जीव और अजीव ये दो ही सद्भाव पदार्थ हैं । आस्रव यदि जीव अथवा जीव पर्याय है तो वह सर्वथा जीव ही है । यदि वह अजीव अथवा अजीव पर्याय है तो सर्वथा अजीव ही है । चेतन अचेतन को छोड़कर अन्य पदार्थ नहीं है । अत आस्रव क्या है ? यह प्रश्न है । आस्रव क्रिया विशेष है । वह आत्मा और शरीर आदि के आश्रित है अत केवल जीव अथवा जीव-पर्याय नहीं है । वह केवल अजीव अथवा अजीव-पर्याय भी नहीं कारण कि वह आत्मा और शरीर दोनों के आश्रित है[2] ।"

दिगम्बर आचार्यों ने पुण्य आदि पदार्थों के द्रव्य और भाव इस तरह से दो-दो भेद किये हैं । संक्षेप में उनका कथन है "जीव का शुभ परिणाम भावपुण्य है, उसके निमित्त से उत्पन्न सद्वेदनीय आदि शुभ प्रकृतिरूप पुद्गलपरमाणुपिण्ड द्रव्यपुण्य है । मिथ्यात्वरागादिरूप जीव का अशुभ परिणाम भावपाप है, उसके निमित्त से उत्पन्न असद्वेदनीय आदि अशुभ प्रकृति रूप पुद्गलपिण्ड द्रव्यपाप है । रागद्वेष मोहरूप जीव-परिणाम भावास्रव है, भावास्रव के निमित्त से कर्मवर्गणा के योग्य पुद्गलों का योग-द्वार से आगमन द्रव्यास्रव है । कर्म-निरोध में समर्थ निर्विकल्पक आत्मनदिर रूप परि-णाम भावसंवर है, उस भावसंवर के निमित्त से नये द्रव्य कर्मों के आगमन का निरोध द्रव्यसंवर है । कर्मशक्ति को दूर करने में समर्थ बारह प्रकार के तप से वृद्धिगत संवर युक्त शुद्धोपयोग भाव निर्जरा है, उस शुद्धोपयोग से नीरस हुए चिरतन कर्मों का एक देश गलन—अंशत दूर होना द्रव्यनिर्जरा है । प्रकृति आदि बंध से शून्य परमात्मपदार्थ से प्रतिकूल मिथ्यात्वरागादि से स्निग्ध परिणाम भावबन्ध है, भावबन्ध के निमित्त से तैल लगे हुए शरीर के धूलि-लेप की तरह जीव और कर्म प्रदेशों का परस्पर संश्लेष द्रव्यबन्ध है । कर्म

१—पञ्चास्तिकाय २.१०८ अमृतचन्द्रीय टीका

द्वौ हि जीवाजीवौ पृथग्भूतास्तित्वनिर्वृत्तत्वेन भिन्नस्वभावभूतौ मूलपदार्थौ ।
जीवपुद्गलसंयोगपरिणामनिर्वृत्ताः सप्तान्ये च पदार्थाः ।

२—तत्त्वा० अ० ६ उपोद्घात-भाष्य की सिद्धसेन टीका

का निर्मूलन करने में समर्थ शुद्ध आत्मलब्धिरूप जीव परिणाम भावमोक्ष है, भावमोक्ष के निमित्त से जीव और कर्म-प्रदेशों का निरवशेष पृथक्भाव द्रव्य मोक्ष है[1]।"

उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए कई श्वेताम्बर आचार्यों ने कहा है "संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये जीव और अरूपी हैं तथा बंध, आश्रव, पुण्य, पाप, अजीव और रूपी हैं[2]।"

अभयदेव सूरि ने इस प्रश्न का उत्तर विस्तार से देते हुए लिखा है "पुण्य आदि पदार्थ जीव अजीव व्यतिरिक्त नहीं हैं। पुण्य पाप दोनों कर्म हैं। बन्ध पुण्य-पापात्मक है। कर्म पुद्गल का परिणाम है। पुद्गल अजीव है। आश्रव मिथ्यादर्शनादि रूप जीव के परिणाम हैं। आत्मा और पुद्गल के अमिलन का कारण संवर आश्रव-निरोध लक्षण वाला है। वह देश सर्व निवृत्ति रूप आत्म-परिणाम है। निर्जरा कर्म परिशाट रूप है। जीव स्वशक्ति से कर्मों को पृथक् करता है वह निर्जरा है। आत्मा का सर्व कर्मों से विरहित होना मोक्ष है। (अन्य पदार्थों का जीव अजीव पदार्थों में समावेश हो जाने से ही कहा है कि) जीव अजीव सद्भाव पदार्थ हैं। इसीलिए कहा कि लोक में जो हैं वे सर्व दो प्रकार के हैं—या तो जीव अथवा अजीव। सामान्य रूप से जीव अजीव दो पदार्थ कहे हैं उन्हें ही विशेष रूप से नौ प्रकार से कहा है[3]।"

१—(क) पञ्चास्तिकाय २.१०८ अमृतचन्द्रीय टीका

(ख) वही २.१०८ जयसेनाचार्यकृत टीका

(ग) द्रव्यसंग्रह २.२६,३२,३४,३६,३८

२—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह: श्री नवतत्त्वप्रकरणम् १०५।१३३

जीवो संवर निज्जर मुक्खो चत्तारि हुंति अरूवी।
रूवी बंधासवपुन्नपावा मिस्सो अजीवो य॥

३—ठाणाङ्ग ९.३.६६५ टीका :

ननु जीवाजीवव्यतिरिक्ता पुण्यादयो न सन्ति, तथाऽयुज्यमानत्वात् तथाहि—पुण्यपापे कर्मणी बन्धोऽपि तदात्मक एव कर्म्म च पुद्गलपरिणामः पुद्गलाश्चाजीवा इति आश्रवस्तु मिथ्यादर्शनादिरूपः परिणामो जीवस्य, स चात्मानं पुद्गलांश्च विरहय्य कोऽन्यः? संवरोऽप्याश्रवनिरोधलक्षणो देशसर्वभेद आत्मनः परिणामो निवृत्तिरूपो, निर्जरा तु कर्मपरिशाटो जीवः कर्मणां यत् पार्थक्यमापादयति स्वशक्त्या, मोक्षोऽप्यात्मा समस्तकर्मविरहित इति तस्माज्जीवाजीवौ सद्भावपदार्थाविति वक्तव्यं, अत एवोक्तमिह "जदत्थि च णं लोए तं सव्वं दुपओयारं, तंजहा—जीवच्चेव अजीवच्चेव" अत्रोच्यते, सत्यमेतत्, किन्तु यावेव जीवाजीवपदार्थौ सामान्येनोक्तौ तावेवेह विशेषतो नवधोक्तौ।

यहाँ अभयदेव सूरि ने आस्रव को मिथ्यादर्शनादि रूप जीव-परिणाम, संवर को निवृत्तिरूप आत्म-परिणाम, देश रूप से कर्मों का दूर होना निर्जरा और सर्व कर्मराहित्य को मोक्ष कहा है।

इस तरह अभयदेव सूरि ने आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष को जीव पदार्थ में डाला है। पुण्य और पाप को कर्म कहा है। बंध को पुण्य-पाप कर्मात्मक कहा है। कर्म पुद्गल हैं। पुद्गल अजीव है। इस तरह उन्होंने पुण्य, पाप और बन्ध को अजीव पदार्थ में डाला है।

उन्होंने नव सद्भाव पदार्थों में से प्रत्येक की जो परिभाषा दी है उससे उनका मन्तव्य और भी स्पष्ट हो जाता है। "जीव सुख-दुःख ज्ञानोपयोग लक्षण वाला है। अजीव उससे विपरीत है। पुण्य—शुभ प्रकृति रूप कर्म है। पाप—अशुभ प्रकृति रूप कर्म है। जिससे कर्म ग्रहण हो उसे आस्रव कहते हैं। आस्रव शुभाशुभ कर्म के आने का हेतु है। संवर-गुप्ति आदि से आस्रव का निरोध संवर है। विपाक अथवा तप से कर्म का देशतः क्षपण निर्जरा है। आस्रव द्वारा गृहीत कर्मों का आत्मा के साथ संयोग बंध है। सम्पूर्ण कर्मों के क्षय से आत्मा का आत्म-भाव में अवस्थान मोक्ष है[1]।"

जीव जीव है इसमें सन्देह की बात ही नहीं। अजीव अजीव है इसमें भी सन्देह की बात नहीं। पुण्य और पाप कर्म हैं अतः अजीव हैं। आस्रव को कर्म का हेतु कहा गया है। वह कर्म नहीं उससे भिन्न है, अतः अजीव नहीं जीव है। संवर कर्मों को दूर रखने वाला आत्म परिणाम है अतः जीव है। निर्जरा देशशुद्धि कारक आत्म-परिणाम है अतः जीव है। मोक्ष विशुद्ध आत्म-स्वरूप है। इस तरह जीव, आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष जीव-कोटि के हैं तथा अजीव, पुण्य, पाप और बंध अजीव कोटि के।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आस्रव के विषय में तीन मान्यताएँ हैं:

१—आस्रव अजीव है।

२—आस्रव जीव अजीव का परिणाम है।

३—आस्रव जीव है।

१—ठाणाङ्ग ९ ३ ६६५ टीका :

जीवा सुखदुःखज्ञानोपयोगलक्षणा, अजीवास्तद्विपरीताः, पुण्यं—शुभप्रकृतिरूपं कर्म पापं—तद्विपरीतं तदेव साध्यते—गृह्यते कर्मानेनेत्यास्रवः शुभाशुभकर्मादानहेतुरिति भावः, संवरः—आस्रवनिरोधो गुप्त्यादिभिः, निर्जरा विपाकात् तपसा वा कर्मणां देशतः क्षपणा, बन्धः आस्रवैरात्तस्य कर्मण आत्मना संयोगः मोक्षः कृत्स्नकर्मक्षयादात्मनः स्वात्मन्यवस्थानमिति।

भिन्न-भिन्न मान्यता के अनुसार आस्रव की परिभाषाएँ भी भिन्नता को लिए हुए हैं।

जो आस्रव को अजीव मानते हैं उनकी परिभाषा है "द्रव्याश्रवो यज्जलान्तर्गत-नावादौ तथाविधच्छिद्रैर्जलप्रवेशन भावाश्रवस्तु यज्जीवनावीन्द्रियादिच्छिद्रत ,कर्मजल सञ्चय[1]"—जलान्तर्गत नौका मे तथा विध छिद्रो द्वारा जल का प्रवेश द्रव्यास्रव है। जीव रूपी नौका मे इन्द्रियादि छिद्रो द्वारा कर्म-जल का सञ्चय भावास्रव है।

इस परिभाषा के अनुसार कर्मादान आस्रव है।

जो आस्रव को जीव अजीव का परिणाम मानते हैं उनकी परिभाषा है "मोह रागद्वेषपरिणामो जीवस्य, तन्निमित्त कर्मपरिणामो योगद्वारेण प्रविशतां पुद्गलाना-स्रास्रव[2]"—मोह-राग-द्वेष रूप जीव के परिणामो के निमित्त से मन-वचन-काय रूप योगो द्वारा पुद्गल कर्म वर्गणाओ का जो आगमन है वह आस्रव है।

इस परिभाषा के अनुसार मोह-राग द्वेष परिणाम भावास्रव हैं और उनसे होनेवाला कर्मादान द्रव्यास्रव।

जो आस्रव को जीव मानते हैं उनकी परिभाषा है

भवभमणहेउ कम्म, जीवो अणुसमयमासवइ जत्तो।
सो आसवो त्ति तस्स उ, बायालीस भवे भेया॥[3]

—जिसके द्वारा जीव भव-भ्रमण के हेतु कर्म का प्रति समय आस्रवण करता है वह आस्रव है।

इस परिभाषा से कर्मादान के हेतु आस्रव हैं।

स्वामीजी आस्रव को जीव मानते है। उनकी दृष्टि से तीसरी परिभाषा ही आगमिक है।

स्वामीजी आगे चल कर इसी ढाल मे सिद्ध करेगे कि आस्रव जीव कैसे है।

१—ठाणाङ्ग १ १३ टीका

२—पञ्चास्तिकाय २ १०८ अमृतचन्द्र टीका

३—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह नवतत्त्वप्रकरण गा० ४२

२१—आस्रव जीव-परिणाम है अतः जीव है (गा० २५)

स्वामीजी ने गा० १ में आस्रव के सामान्य स्वरूप, गा० २ मे आस्रव के पाँच भेद, गा० ३ से ८ में पाँचो आस्रवो की विलक्षणता तथा गा० ९ से २३ में आस्रव पदार्थ सम्बन्धी आगम-सदर्भो पर प्रकाश डाला है। इस प्रतिपादन के बाद अब यहाँ स्वामीजी ढाल के मूल प्रतिपाद्य विषय—आस्रव जीव है या अजीव ?—का विवेचन करना चाहते हैं। उनका कथन है—"आस्रव पदार्थ जीव है। उसको अजीव मानना विपरीत श्रद्धान है" (दो० २,३, गा० २४)।

स्वामीजी ने दो० ४ में कहा है—"आस्रव निश्चय ही जीव है। सिद्धान्त में आस्रव को जगह-जगह जीव कहा है।"

अब स्वामीजी इसी बात को प्रमाणित करने के लिए अग्रसर होते हैं।

स्वामीजी गा० २४ तक के विवेचन में स्थान-स्थान पर यह कहते हुए आये हैं कि आस्रव जीव का परिणाम है अतः वह जीव है, अजीव नही हो सकता। प्रस्तुत गाथा मे जीव, आस्रव और कर्म का परस्पर सम्बन्ध बतलाते हुए इसी दलील से आस्रव को जीव सिद्ध करते हैं। जीव चेतन-पदार्थ है। कर्म जड-पुद्गल। आत्म-प्रदेशो मे कर्म को ग्रहण करने वाला पदार्थ जीव-द्रव्य है। कर्म जिस निमित्त से आत्म-प्रदेशों में प्रवेश करते हैं वह आस्रव-पदार्थ है। आस्रव के पाँच भेद हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। ये क्रमशः जीव के मिथ्यात्वरूप, अविरतिरूप, प्रमादरूप, कषायरूप और योगरूप परिणाम हैं। कर्म जीव के इन परिणामो से आते हैं। इस तरह जीव के मिथ्यात्व आदि परिणाम ही आस्रव हैं। जीव के परिणाम जीव से भिन्न स्वरूप वाले नहीं हो सकते हैं अतः आस्रव पदार्थ जीव है।

२२—जीव अपने परिणामो से कर्मो का कर्त्ता है अतः जीव-परिणाम स्वरूप आस्रव जीव है (गा० २६-२७)

लोक मे छः द्रव्य हैं—धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव। धर्म, अधर्म और आकाश समस्त लोक मे व्याप्त होने से वे जीव मे भी व्याप्त हैं पर उनका जीव के साथ वैसा सयोग नही जैसा पुद्गल का है। धर्म आदि का सम्बन्ध स्पर्श रूप है जब कि पुद्गल का सम्बन्ध बधन रूप। इस तरह जीव और पुद्गल दो ही पदार्थ ऐसे हैं जो परस्पर मे आबद्ध हो सकते हैं। पुद्गल के अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ नही जो जीव के साथ आबद्ध हो सके।

प्रश्न है चेतन-जीव और जड-पुद्गल का परस्पर सम्बन्ध कैसे होता है ? इसका उत्तर आचार्य कुन्दकुन्द ने वडे सुन्दर ढग से दिया है । वे कहते हैं

"उदय मे आए हुए कर्मो का अनुभव करता हुआ जीव जैसे भाव—परिणाम करता है उन भावो का वह कर्त्ता है। कर्म बिना जीव के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमिक भाव नही हो सकते क्योकि कर्म ही न हो तो उदय आदि किस के हो ? अत उदय आदि चारो भाव कर्मकृत हैं। प्रश्न हो सकता है यदि ये भाव कर्मकृत हैं तो जीव उनका कर्त्ता कैसे है ? इसका उत्तर यह है कि भाव, कर्म के निमित्त से उत्पन्न हैं और कर्म, भावो के निमित्त से। जीव के भाव कर्मो के उपादान कारण नहीं और न कर्म भावों के उपादान कारण हैं। स्वभाव को करता हुआ आत्मा अपने ही भावो का कर्त्ता है, निश्चय ही पुद्गल कर्मो का नही। कर्म भी स्व भाव से स्वभाव का ही कर्त्ता है आत्मा का नही। प्रश्न हो सकता है यदि कर्म कर्म-भाव को करता है और आत्मा आत्म भाव को तब आत्मा कर्म-फल को कैसे भोगता है और कर्म अपना फल कैसे देते हैं ? इसका उत्तर इस प्रकार है—सारा लोक सब जगह अनन्तानन्त सूक्ष्म-बादर विविध पुद्गलकायो द्वारा खचाखच भरा हुआ है। जब आत्मा स्व भाव को करता है तब वहाँ रहे हुए अन्योन्यावगाढ पुद्गल स्वभाव से कर्मभाव को प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार पुद्गलद्रव्यो की अन्य द्वारा अकृत बहु प्रकार की स्कंध-परिणति देखी जाती है उसी प्रकार कर्मो की विचित्रता भी जानो। जीव और पुद्गलकाय अन्योन्य अवगाढ मिलाप से बंधते हैं। बंधे हुए पुद्गल उदय काल मे अपना रस देकर बिखरते हैं तथा साता-असाता देते हैं और जीव उन्हें भोगता है। इस तरह जीव के भावो से संयुक्त होकर कर्म अपने परिणामो का कर्त्ता है। और जीव अपने चेतनात्मक भावो से कर्मफल का भोक्ता है[1] ।"

इसी बात को उन्होंने अन्यत्र इस प्रकार समझाया है—"आत्मा उपयोगमय है। उपयोग ज्ञान और दर्शन रूप है। ज्ञान-दर्शनरूप आत्म-उपयोग ही शुभ अथवा अशुभ होता है। जब जीव का उपयोग शुभ होता है तब पुण्य का संचय होता है और अशुभ होता है तब पाप का। दोनों के अभाव मे परद्रव्य का संचय नहीं होता[2] ।" "लोक सब जगह सूक्ष्म और बादर आत्मा के ग्रहण योग्य अथवा अग्रहण योग्य ऐसे पुद्गलकायो से अगाढ

१—पञ्चास्तिकाय १ ५७-६८

२—प्रवचनसार २ ६३-६४

अवगाढ रूप से भरा हुआ है। जीव की भाव-परिणति को पाकर कर्मरूप होने योग्य पुद्गल-स्कंध आठ कर्मरूप भाव—परिणाम को प्राप्त होते हैं[1] ।"

संसारी जीव अनन्त काल से कर्म-बद्ध है। उन कर्मों की उदय, उपशम आदि अवस्थाएँ होती हैं जिससे जीव में नाना प्रकार के भाव—परिणाम उत्पन्न होते हैं। जैसे मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद आदि। जब जीव कर्मों के उदय से उत्पन्न मिथ्यात्वादि भावों में प्रवर्तन करता है तब पुनः नये कर्मों का बंध होता है। जब इनमें प्रवर्तन नहीं करता तब कर्म नहीं होते। अर्थात् आत्मा कर्म करता है तभी कर्म होते हैं, नहीं करता तब कर्म नहीं होते। इससे आत्मा कर्मों का कर्त्ता सिद्ध होता है[2] ।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि—

(१) जीव कर्मों को ग्रहण करता है, इसलिए वह कर्मों का कर्त्ता है। जीव कर्मों का उपादान कारण नहीं प्रेरक कारण है और

(२) जीव कर्मों को ग्रहण अपने भावों के निमित्त से करता है। जीव के शुभ-अशुभ भाव ही कर्मग्रहण के हेतु हैं।

स्वामीजी कहते हैं—"वे ही भाव जिनसे जीव कर्मों का कर्त्ता कहलाता है आस्रव हैं। जिस तरह आस्रवणी नौका का छिद्र नौका से भिन्न नहीं और मकान का द्वार मकान से भिन्न नहीं वैसे ही मिथ्यात्व आदि आस्रव जीव से भिन्न नहीं, जीव स्वरूप हैं—जीव हैं। जिस तरह नालिनवाही-द्वार द्वारा तालाब में जल आता है उसी तरह मिथ्यात्व आदि आस्रवों द्वारा जीव से कर्मों का संचय होता है। तालाब के स्रोत तालाब से भिन्न नहीं वैसे ही आस्रव जीव से भिन्न नहीं, जीवरूप हैं।'

जीव जब इन परिणामों में वर्तन करता है तब उनके प्रभाव से [illegible] कर्म-वर्गणा के परमाणु आत्मा के प्रदेशों में प्रवेश करते हैं। जीव के मिथ्यात्व, अविरति आदि भावों को ही आस्रव कहते हैं। जीव के इन भावों द्वारा जो अजीव पुद्गल द्रव्य आत्मा के साथ संसर्ग में आ उसे बंधनबद्ध करते हैं, वे कर्म कहलाते हैं। जीव के मिथ्यात्व, कषाय आदि भाव, आस्रव हैं। कर्म उनके फल। आस्रव कारण हैं और कर्म कार्य। जीव ही अपने भावों से कर्मों को ग्रहण करता है। उसके भाव ही आस्रव हैं। जीव के भाव उसके स्वरूप से भिन्न नहीं हो सकते अतः आस्रव जीव हैं।

१—प्रवचनसार : ७६-७७

२—इस सम्बन्ध में विशेष विवेचन के लिए देखिए पृ० ३३ टि० ७ (१५)

२३—आचाराङ्ग में अपनी ही क्रियाओं से जीव कर्मों का कर्त्ता कहा गया है (गा० २८-३१) :

स्वामीजी ने गाथा २८-२९ मे प्रथम अङ्ग आचाराङ्ग के जिस संदर्भ का उल्लेख किया है उसका मूल पाठ इस प्रकार है .

अकरिस्सं चऽहं, कारवेसुं चऽहं, करओ आवि समणुन्ने भविस्सामि।
एयावंति सव्वावंति लोगंसि कम्मसमारम्भा परिजाणियव्वा भवंति[1] ॥

इसका शब्दार्थ है—"मैंने किया, मैंने करवाया, करते हुए का अनुमोदन करूँगा। सब इतनी ही लोक मे कर्मबन्ध की हेतुरूप क्रियाएँ समझनी चाहिए।"

इसका तात्पर्यार्थ है—मैंने किया, मैंने कराया, मैंने करते हुए का अनुमोदन किया मैं करता हूँ, मैं कराता हूँ, करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, मैं करूँगा, मैं कराऊँगा, मैं करते हुए का अनुमोदन करूँगा—ये क्रियाओ के विविध रूप हैं। ये कर्म के हेतु हैं।

यहाँ 'मैं' आत्मा का बोधक है। मनोकर्म, वचन-कर्म और काय-कर्म—ये तीन योग हैं। करना कराना और अनुमोदन करना—ये तीन करण हैं। प्रकारान्तर से कहा गया है कि आत्मा तीन करण एव तीन योग से—मन, वचन, काय और कृत, कार्य, अनुमोदन रूप से भूत, वर्तमान, भविष्य काल मे क्रियाओ का करने वाला है। ये क्रियाएँ कर्मबन्ध की हेतु हैं[2]।

स्वामीजी कहते हैं—"यहाँ जीव को स्पष्टत क्रियाओ का कर्त्ता कहा है और क्रियाओ को कर्मो का कर्त्ता अर्थात् आस्रव।"

जिन क्रियाओ से जीव त्रिकाल मे कर्मो का कर्त्ता होता है, वे योग आस्रव हैं। ये क्रियाएँ जीव के ही होती हैं। वे जीव से पृथक् नही, जीवस्वरूप हैं, जीव-परिणाम हैं अतः जीव हैं।

१—आचा० १ १ ६

२—आचाराग दीपिका १ १ ६

इह त्रिकालापेक्षया कृतकारितानुमतिभिर्नव विकल्पा सम्भवन्ति, ते चामी—अहमकार्षं अचीकरमहं कुर्वन्तमन्यमन्वज्ञासिषमहं करोमि कारयामि अनुजानाम्यहं करिष्याम्यहं कारयिष्याम्यहं कुर्वन्तमन्यमनुज्ञास्याम्यहं, एते नव मनोवाक्कायैश्चिन्त्यमाना भेदा भवन्ति। अकार्षमहमित्यनेन त्रिविधक्रियापरिणतिरूप आत्मा निर्दिष्टः तत्र ज्ञपरिज्ञया सर्वेऽपि कर्मसमारम्भा ज्ञातव्या, प्रत्याख्यानपरिज्ञया सर्वेऽपि पापोपादानहेतवः कर्मसमारम्भा प्रत्याख्यातव्या।

२३—आचाराङ्ग मे अपनी ही क्रियाओ से जीव कर्मों का कर्त्ता कहा गया है (गा० २८-३१) :

स्वामीजी ने गाथा २८-२९ मे प्रथम अङ्ग आचाराङ्ग के जिस सदर्भ का उल्लेख किया है उसका मूल पाठ इस प्रकार है

अकरिस्स चऽहं, कारवेसु चऽहं, करओ आवि समणुन्ने भविस्सामि।
एयावंति सव्वावंति लोगंसि कम्मसमारम्भा परिजाणियव्वा भवंति[1] ॥

इसका शब्दार्थ है—"मैंने किया, मैंने करवाया, करते हुए का अनुमोदन करूँगा। सब इतनी ही लोक में कर्मबन्ध की हेतुरूप क्रियाएँ समझनी चाहिए।"

इसका तात्पर्यार्थ है—मैंने किया, मैंने कराया, मैंने करते हुए का अनुमोदन किया, मैं करता हूँ, मैं कराता हूँ, करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, मैं करूँगा, मैं कराऊँगा, मैं करते हुए का अनुमोदन करूँगा—ये क्रियाओ के विविध रूप हैं। ये कर्म के हेतु हैं।

यहाँ 'मैं' आत्मा का बोधक है। मनोकर्म, वचन-कर्म और काय-कर्म—ये तीन योग हैं। करना कराना और अनुमोदन करना—ये तीन करण हैं। प्रकारान्तर से कहा गया है कि आत्मा तीन करण एवं तीन योग से—मन, वचन, काय और कृत, कार्य, अनुमोदन रूप से भूत, वर्तमान, भविष्य काल मे क्रियाओ का करने वाला है। ये क्रियाएं कर्मबन्ध की हेतु हैं[2]।

स्वामीजी कहते हैं—"यहाँ जीव को स्पष्टतः क्रियाओ का कर्त्ता कहा है और क्रियाओ को कर्मों का कर्त्ता अर्थात् आस्रव।"

जिन क्रियाओ से जीव त्रिकाल मे कर्मों का कर्त्ता होता है, वे योग आस्रव हैं। ये क्रियाएँ जीव के होती हैं। ये जीव से पृथक् नहीं, जीवस्वरूप हैं, जीव-परिणाम हैं अतः जीव हैं।

१—आचा० १।१।[illegible]

२—आचाराङ्ग दीपिका १।१।१

३१ त्रिकालविषयाः कृतकारितानुमतिभिर्नव विकल्पाः सम्भवन्ति, ते चामी—अहम् कार्षम् अचीकरम् कुर्वन्तमन्यमन्वज्ञासिषम् करोमि कारयामि अनुजानामि करिष्यामि कारयिष्यामि कुर्वन्तमन्यमनुज्ञास्यामि, एते नव मनोवाक्कायैस्त्रिगुणिताः सप्तविंशतिर्भवन्ति। [illegible] [illegible] एतावन्त एव सर्वेऽपि कर्मसमारम्भा ज्ञातव्या, प्रत्याख्यान-[illegible] [illegible] कर्मसमारम्भा प्रत्याख्यातव्या।

श्री अकलङ्कदेव लिखते हैं—"आस्रव के प्रसग में योग का अर्थ है त्रिविध क्रिया। तीनो योग आत्म-परिणामरूप ही है[1]।" स्वामीजी कहते हैं—जो आत्मपरिणामरूप है वे योग आत्मरूप ही हो सकते हैं अत जीव हैं—अरूपी हैं।

२४—योगास्रव जीव कहा गया है (गाथा ३२-३४)

यहाँ स्वामीजी ने योग किस तरह जीव है, यह सिद्ध किया है। भगवती १२ १० में आठ आत्माएँ कही गई हैं। उनमे योगात्मा का भी उल्लेख है।

"गोयमा ! अट्ठविहा आया पण्णत्ता, तजहा—दवियाया, कसायाया, योगाया, उवओगाया, णाणाया, दसणाया, चरित्ताया, वीरियाया।"

"योगा मन प्रभृतिव्यापारास्तत्प्रधानात्मा योगात्मा, योगवतामेव" (भगवती १२. १० टीका)। मन आदि के व्यापार को योग कहते हैं। योगप्रधान—योगयुक्त आत्मा को योगात्मा कहते हैं। इससे प्रमाणित होता है कि योग-आस्रव आत्मा है।

आगम मे दस जीव-परिणाम कहे हैं। स्थानाङ्ग (१० १ ७१३) मे इस सम्बन्ध मे निम्न पाठ मिलता है

"दसविधे जीवपरिणामे प० त०—गतिपरिणामे इंदितपरिणामे कसायपरिणामे लेसा० जोग० उवओग० णाण० दसण० चरित्त० वेनपरिणामे।

उनमे योग-परिणाम का भी उल्लेख है। इससे योग-आस्रव जीव-परिणाम ठहरता है।

इस तरह आगमो के उल्लेख से योग-आस्रव स्पष्टत जीव सिद्ध होता है।

योग का अर्थ है—मन, वचन और काय की प्रवृत्ति। यह प्रवृत्ति सावद्य और निरवद्य दो प्रकार की होती है। सावद्य अर्थात् पापपूर्ण, निरवद्य अर्थात् पाप रहित। सावद्य योग पाप का आस्रव है, निरवद्य योग निर्जरा का हेतु होने से पुण्य का आस्रव है। सावद्य करनी से विपाकावस्था में दुःख भोगना पड़ता है और निरवद्य करनी से सुखानुभूति होती है। सावद्य-निरवद्य करनी अजीव नहीं हो सकती। योगास्रव क्रियात्मक है। अत वह जीव है इसमें कोई सन्देह नहीं।

१—तत्त्वार्थवार्तिक ६ १ १०, ६ १ ९

इहास्रवप्रतिपादनार्थत्वात् त्रिविधक्रिया योग इत्युच्यते।

आत्मा हि निरवयवद्रव्यम्, तत्परिणामो योग ।

२५—भावलेश्या आस्रव है, जीव है अतः सब आस्रव जीव हैं (गा० ३५-३६)

भगवती श० १२ उ० ५ मे निम्न पाठ मिलता है -

"कण्हलेसा ण भंते ! कइवन्ना—पुच्छा। गोयमा ! दव्वलेस पडुच्च पचवन्ना, जाव—अट्ठफासा पण्णत्ता, भावलेस पडुच्च अवन्ना ४, एव जाव सुक्कलेस्सा।"

"हे भन्ते ! कृष्णा लेश्या के कितने वर्ण हैं ?"

"हे गौतम ! द्रव्य लेश्या को प्रत्याश्रित कर पांच वर्ण यावत् आठ स्पर्श कहे हैं। भाव लेश्या को प्रत्याश्रित कर उसे अवर्ण, अगध, अरस, अस्पर्श—अरूपी कहा है। यही बात नील लेश्या, कापोत लेश्या, तेजो लेश्या, पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या तक जाननी चाहिए।'

लेश्या का अर्थ है जो आत्मा को—आत्मा के प्रदेशो को कर्मों से लिप्त करे। भाव लेश्या—जीव का अन्तरङ्ग परिणाम है। उपर्युक्त पाठ मे जीव के अन्तरङ्ग परिणाम-रूप भावलेश्या को अरूपी कहा है। स्वामीजी कहते हैं—"भावलेश्या आस्रव है, अरूपी है अत अन्य आस्रव भी जीव और अरूपी हैं।"

२६—मिथ्यात्वादि जीव के उदयनिष्पन्न भाव हैं (गा० ३७)

कर्मों के उदय मे जीव मे जो भाव—परिणाम निष्पन्न होते हैं उनमे छ लेश्या, मिथ्यात्व, अविरति और चार कषाय का नामोल्लेख है।

वेयए णपुंसगवेदए कण्हलेसे जाव सुक्कलेसे मिच्छादिट्ठी ३ अविरए असण्णी अण्णाणी आहारए छउमत्थे सजोगी संसारत्थे असिद्धे, से तं जीवोदयनिप्फन्ने"।

यहाँ जीव उदयनिष्पन्न के जो ३३ बोल कहे हैं, उनमें छः भाव लेश्याएँ, चार भाव कषाय, मिथ्यादृष्टि, अव्रती, सयोगी भी अन्तर्निहित हैं। अतः ये सब जीव हैं। चार भाव कषाय अर्थात् कषाय आस्रव, मिथ्यादृष्टि अर्थात् मिथ्यात्व आस्रव, अव्रती अर्थात् अविरति आस्रव, सयोगी अर्थात् योग आस्रव। इस तरह ये आस्रव जीव सिद्ध होते हैं।

भगवती १२.१० के पाठ में आठ आत्माएँ इस प्रकार कही गयी हैं : द्रव्यात्मा, कषायात्मा, योगात्मा, उपयोगात्मा, ज्ञानात्मा, दर्शनात्मा, चारित्रात्मा और वीर्यात्मा।

इन आठ आत्माओं में कषाय आत्मा और योग आत्मा का उल्लेख भी है। कषाय-आत्मा कषाय-आस्रव है। योग-आत्मा योग-आस्रव है। जो कषाय-आस्रव और योग-आस्रव को अजीव मानते हैं उनके मत से कषाय-आत्मा और योग-आत्मा भी अजीव होना चाहिए। पर वे उपयोग-आत्मा, ज्ञान-आत्मा आदि की तरह ही जीव हैं, अजीव नहीं अतः कषाय-आस्रव और योग-आस्रव भी जीव हैं।

मिथ्यात्व, अविरति और कषाय को आगम में जीव-परिणाम कहा है।

मिथ्यात्व के सम्बन्ध में देखिए—भगवती २०-३, अनुयोगद्वार सू० १२६।

अविरति के सम्बन्ध में देखिए—अनुयोगद्वार १२६।

कषाय के विषय में देखिए—स्थानाङ्ग १०.१.७१३।

इससे मिथ्यात्व, अविरति और कषाय आस्रव—ये तीनों जीव सिद्ध होते हैं।

२७—योग, लेश्यादि जीव-परिणाम हैं अतः योगास्रव आदि जीव हैं (गा० ३८)

योग, लेश्या, मिथ्यात्व, अविरति और कषाय इनके सम्बन्ध में पूर्व (टि० २४-२५-२६) में जो विवेचन है उससे स्पष्ट है कि योग आदि पांचों कर्मों के आने के हेतु होने से आस्रव हैं। वे कर्मों के कर्त्ता-उपाय हैं। उन्हें आगमों में आत्मा, जीव-परिणाम आदि संज्ञाओं से बाधित किया है। अतः यह निसंकोच कहा जा सकता है कि आस्रव भाव—जीव-परिणाम, जीव-स्वरूप हैं अतः जीव हैं।

२८—आस्रव जीव अजीव दोनों का परिणाम नहीं (गा० ३९-४०)

यहाँ स्वामीजी ने स्थानाङ्ग (ठाणाङ्ग) का उल्लेख किया है पर वास्तव में स्थानाङ्ग की टीका से अभिप्राय है[1]।

स्थानाङ्ग के नव स्थानक सूत्र ६६५ में नौ सद्भाव पदार्थों का उल्लेख है—'नव सब्भावपयत्था प० तं० जीवा अजीवा पुण्णं पावो आसवो संवरो निज्जरा बंधो मोक्खो।"

१—भ्रमविध्वंसनम् पृ० ४०८ "केतला एक अजाण जीव आस्रव ने अजीव कहै छै। तेने रूपी पिण कहै छै। तेहनों उत्तर—ठाणाङ्ग ठा ९ टीका में आस्रव ने जीव ना परिणाम कह्या छै।

टीका करते हुए श्री अभयदेव ने आस्रव की व्याख्या इस रूप में की है

आस्रूयते गृह्यते कर्माऽनेन इत्यास्रव

शुभाशुभ कर्मादान हेतुरिति भाव

आस्रवस्तु मिथ्यादर्शनादिरूप परिणामो जीवस्य।

स चात्मान पुद्गलांश्च विरहय्य कोऽन्य ।

जिससे कर्मों का ग्रहण हो उसे आस्रव कहते हैं।

आस्रव शुभाशुभ कर्मों के आदान का हेतु है।

आस्रव मिथ्यादर्शन आदि रूप जीव-परिणाम हैं।

वह आत्मा या पुद्गल को छोड कर अन्य हो ही क्या सकता है ?

स्वामीजी कहते हैं—"जो आस्रव जीव-परिणाम है वह अजीव अथवा रूपी कैसे होगा ?"

टीकाकार के "सचात्मान पुद्गलांश्च विरहय्य कोऽन्य , अर्थात् वह आस्रव आत्मा और पुद्गलों को छोड कर अन्य क्या है ?" शब्दों को लेकर कहा गया है—'आस्रव, आत्मा और पुद्गल इन दोनों का परिणाम स्वरूप ही है यह टीकाकार का आशय है। इसलिए आस्रव को एकान्त जीव मानना इस टीका से विरुद्ध समझना चाहिए।

२९—मिथ्यात्व आश्रव (गा० ४१)

स्थानाङ्ग (स्था० १० उ० १ सू० ७३४) मे दस मिथ्यात्व सम्बन्धी पाठ इस प्रकार है

दसविधे मिच्छत्ते प० त० अधम्मे धम्मसन्ना धम्मे अधम्मसन्ना अमग्गे मग्गसन्ना मग्गे उम्मग्गसन्ना अजीवेसु जीवसन्ना जीवेसु अजीवसन्ना असाहुसु साहुसन्ना साहुसु असाहुसन्ना अमुत्तेसु मुत्तसन्ना मुत्तेसु अमुत्तसन्ना

अधर्म में धर्म की सज्ञा आदि को मिथ्यात्व कहा है। मिथ्यात्व अर्थात् विपरीत बुद्धि अथवा श्रद्धा। यह विपरीत बुद्धि अथवा असम्यक् श्रद्धा रूप व्यापार जीव के ही होता है। जीव का व्यापार जीव रूप है, अरूपी है—अजीव अथवा रूपी नही हो सकता। मिथ्यात्व ही मिथ्यात्व आस्रव है अत वह अरूपी जीव है।

भगवती श० १२ उ० ५ मे निम्न पाठ मिलता है

सम्मद्दिट्ठि ३ चक्खुदसणे ४ आभिणिबोहियणाणे ५ जाव—विभंगणाणे आहार-सन्ना, जाव—परिग्गहसन्ना— एयाणि अवन्नाणि।

यहाँ सम्यक्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि, सम्यक्मिथ्यादृष्टि—इन तीन दृष्टियो में मिथ्या-दृष्टि को भी अवर्ण-अरूपी कहा है। विपरीत श्रद्धारूप उदयभाव मिथ्यादृष्टि को ही मिथ्यात्व आस्रव कहा जाता है। इस न्याय से मिथ्यात्व आस्रव भी जीव और अरूपी है।

३०—आस्रव और अविरति अशुभ लेश्या के परिणाम (गा० ४२)

उत्तराध्ययन (३४ २१-२२) मे आस्रवप्रवृत्त दुराचारी को कृष्णलेश्या के परिणाम वाला कहा है

पचासवप्पवत्तो तीहि अगुत्तो छसु अविरओ य।
तिव्वारम्भपरिणओ खुद्दो साहसिओ नरो॥
निद्धन्धसपरिणामो निस्ससो अजिइन्दिओ।
एयजोगसमाउत्तो किण्हलेस तु परिणमे॥

पाच आस्रवो मे प्रवृत्त, तीन गुप्तियो से अगुप्त, षट्काय की हिंसा से अविरत, तीव्र आरभ मे परिणमन करने वाला, क्षुद्र, साहसिक, निर्दय परिणाम वाला, नृशस, अजितेन्द्रिय—इन योगो से युक्त पुरुष कृष्णलेश्या के परिणाम वाला होता है।

यहाँ पाच आस्रवो को कृष्णलेश्या का लक्षण कहा है। भाव कृष्णलेश्या अरूपी है, यह सिद्ध किया जा चुका है अत उसके परिणाम या लक्षण रूप आस्रव भी अरूपी है।

यहाँ 'छसु अविरओ'—कहते हुए छः काय की हिंसा की अविरति को भी कृष्णलेश्या का परिणाम कहा है। चूँकि भाव कृष्णलेश्या अरूपी है अतः अविरति आस्रव भी अरूपी है।

अवचूरिकार कहते हैं—"एतेन पञ्चाश्रव प्रवृत्तत्वादीनां भावकृष्ण लेश्यायाः सद्भावोपदर्शनादात्मा लक्षणयुक्त यादि यत्सद्भाव एव स्यात् स तस्य लक्षणम्।"

'पञ्चास्रवप्रवृत्त' आदि द्वारा सद्भाव भावलेश्या के लक्षण कहे हैं। जिसमें जिसका सद्भाव है वह उसका लक्षण होता है। भगवती के उपर्युक्त पाठ में छः भावलेश्याओं को अरूपी कहा है और यहाँ पञ्चास्रवों को कृष्ण भावलेश्या का लक्षण कहा है। इससे पांच आस्रव भी अरूपी हैं। यदि भावलेश्या अरूपी है तो उसके लक्षण रूपी कैसे होंगे?

३१—जीव के लक्षण अजीव नहीं हो सकते (गा० ४३)

वस्तु लक्षणों से पहचानी जाती है। लक्षण वस्तु के तदनुरूप होते हैं। जीव के लक्षण जीव रूप होते हैं और अजीव के लक्षण अजीव रूप।

लेश्या को जीव-परिणाम कहा है। आस्रव को लेश्या का लक्षण—परिणाम कहा है। लेश्या जीव-परिणाम है, जीव है अतः आस्रव भी जीव है।

३२—संज्ञाएँ अरूपी हैं अतः आस्रव अरूपी हैं (गा० ४४) :

[illegible] (१२ ५) में कहा है—" आहारसन्ना जाव—परिग्गहसन्ना—एयाणि [illegible]।" संज्ञाएँ चार हैं—आहार, भय, मैथुन और परिग्रह। ये चारों अरूपी हैं। [illegible] कर्म-बंध की हेतु हैं। कर्म-बंध की हेतु संज्ञाएँ अरूपी हैं अतः कर्म-बंध के हेतु [illegible] आदि अन्य आस्रव भी अरूपी हैं।

३३—[illegible] आस्रव रूप हैं (गा० ४५) :

प्रशस्त अध्यवसाय शुभ कर्मों के निमित्त हैं और अप्रशस्त अशुभ कर्मों के। इस तरह अध्यवसाय कर्मों के हेतु—आस्रव हैं।

अध्यवसाय का अर्थ अन्त करण, मनसंकल्प[1] आदि मिलते हैं। इससे अध्यवसाय जीव-परिणाम ठहरते हैं। जैसे अध्यवसाय-आस्रव जीव-परिणाम है वैसे ही अन्य आस्रव भी जीव-परिणाम हैं अत जीव हैं।

३४—ध्यान जीव के परिणाम हैं (गा० ४६) :

ध्यान चार हैं—आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान[2]। इनमें आर्त और रौद्र ये दो ध्यान वर्ज्य हैं और धर्म और शुक्ल ध्यान आदरणीय[3]। आर्त और रौद्र ध्यान से पापों का आगमन होता है। कहा है—"चार ध्यानों में धर्म और शुक्ल ये दो ध्यान मोक्ष के हेतु हैं और आर्त और रौद्र ये दो ध्यान संसार के[4]।"

किसी प्रकार के अनिष्ट संयोग या अनिष्ट वेदना के उपस्थित होने पर उसका शीघ्र वियोग हो इस प्रकार का पुन -पुन चिन्तन, इष्ट संयोग के न होने पर अथवा उसके वियोग होने पर उसकी बार-बार कामना रूप चिन्तन और निदान—विषय सुखों की कामना आर्तध्यान है।

हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-संरक्षण आदि का ध्यान रौद्रध्यान कहलाता है।

स्वामीजी कहते हैं : "आर्त और रौद्र ध्यान पाप कर्म के हेतु हैं। ध्यान जीव के ही होता है। अत आर्त और रौद्र ध्यान रूप आस्रव जीव के होते हैं और जीव हैं।'

१—(क) प्रज्ञा० २८ टीका

(ख) नि० चू० १० मणसंकप्पेत्ति वा अज्झवसाणं ति वा एगट्ठा

२—(क) ठाणाङ्ग सू० २४७

(ख) समवायाङ्ग सम० ४

३—उत्त० ३० ३५

अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता झाएज्जा सुसमाहिए।
धम्मसुक्काइं झाणाइं झाणं तं तु बुहा वए॥

४—तत्त्वा० ९ ३० भाष्य

तथा चतुर्णां ध्यानानां परे धर्म्यशुक्ले मोक्षहेतू भवतः। पूर्वे त्वार्तरौद्रे संसारहेतू इति।

जो मिथ्यात्वी आदि होते हैं उनके ही मिथ्यात्व आदि छिद्र हैं। जैसे नौका का छिद्र नौका से भिन्न नहीं होता वैसे ही मिथ्यात्व आदि मिथ्यात्वी से भिन्न नहीं होते, तद्रूप होते हैं।

मिथ्यात्व मिथ्यात्वी जीव के होता है, वह उसका भाव है। अविरति अविरत जीव के होती है, वह उसका भाव है। कषाय कषायीजीव के होता है, वह उसका भाव है। योग योगीजीव के होता है, वह उसका भाव है। ये भाव उस-उस जीव के हैं और उससे अलग अपना अस्तित्व नहीं रखते, अत जीव-परिणाम हैं, जीव हैं।

३७—आस्रव और जीव-प्रदेशों की चंचलता (गा० ५४-५६)

यहाँ तीन बातें सामने रखी गयी हैं

(१) जीव के प्रदेश चचल होते हैं।

(२) जीव सर्व प्रदेशों से कर्म ग्रहण करता है।

(३) अस्थिर प्रदेश आस्रव हैं और स्थिर प्रदेश सवर।

नीचे इन तीनों बातों पर क्रमश प्रकाश डाला जाता है।

(१) जीव के प्रदेश चचल होते हैं

छट्ठे गणधर मडिक ने प्रव्रज्या लेने के पूर्व अपनी शकाएँ रखते हुए भगवान महावीर से पूछा

"आकाशादि अरूपी पदार्थ निष्क्रिय होते हैं फिर आत्मा को सक्रिय कैसे कहते हैं ?"

"मडिक ! आकाशादि और आत्मा अरूपी होने पर भी आकाशादि अचेतन और आत्मा चेतन क्यों ? जिस तरह आत्मा में चैतन्य एक विशेष धर्म है उसी तरह सक्रियत्व भी उसका विशेष धर्म है। आत्मा कुभार की तरह कर्मों का कर्त्ता है अत सक्रिय है, अथवा आत्मा भोक्ता है इससे वह सक्रिय है, अथवा देह-परिस्पन्द प्रत्यक्ष होने से आत्मा सक्रिय है। जिस प्रकार यन्त्रपुरुष में परिस्पन्द देखा जाता है जिससे वह सक्रिय है उसी प्रकार आत्मा में देह-परिस्पन्द प्रत्यक्ष होने से वह भी सक्रिय है।"

"देह-परिस्पन्द से देह सक्रिय होता है आत्मा नहीं।"

"मडिक ! देह-परिस्पन्द में आत्मा का प्रयत्न कारण होता है अत आत्मा को सक्रिय मानना चाहिए।"

"प्रयत्न क्रिया नहीं होती अत प्रयत्न के कारण आत्मा को सक्रिय नहीं माना जा सकता।"

"भन्ते ! जीव सकंप होता है या निष्कंप ?"

"गौतम ! जीव सकंप भी हैं और निष्कंप भी। जीव दो प्रकार के हैं—(१) संसार-समापन्न और (२) असंसारसमापन्न—मुक्त। मुक्त जीव दो प्रकार के होते हैं—(१) अनन्तर सिद्ध[1] और (२) परंपर सिद्ध[2]। इनमें जो परंपर सिद्ध होते हैं वे निष्कंप होते हैं और जो जीव अनन्तर सिद्ध हैं वे सकंप होते हैं[3]। जो संसारी जीव हैं वे भी दो प्रकार के होते हैं—(१) शैलेशी[4] और (२) अशैलेशी। शैलेशी जीव निष्कंप होते हैं और अशैलेशी सकंप।"

"भन्ते ! जो जीव शैलेशी अवस्था को प्राप्त नहीं हैं वे अंशत सकंप हैं या सर्वांगत सकंप ?"

"हे गौतम ! वे अंशत सकंप हैं और सर्वांगत भी सकंप हैं।"

आत्मा की इस सकम्प अवस्था को ही योग कहते हैं और यही योग आस्रव है।

आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं—"आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्द—हलन-चलन योग है। वह निमित्तों के भेद से तीन प्रकार का है—काययोग, वचनयोग और मनोयोग। खुलासा इस प्रकार है—वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम के होने पर औदारिक आदि सात प्रकार की काय-वर्गणाओं में से किसी एक प्रकार की वर्गणाओं के आलम्बन से होने वाला आत्म-प्रदेश परिस्पन्द काययोग कहलाता है। शरीर नामकर्म के उदय से प्राप्त हुई वचन-वर्गणाओं का आलम्बन होने पर तथा वीर्यान्तराय और मत्यक्षरादि आवरण के क्षयोपशम से प्राप्त हुई भीतरी वचनलब्धि के मिलने पर वचनरूप पर्याय के सम्मुख हुए आत्मा के होने वाला प्रदेश-परिस्पन्द वचनयोग कहलाता है। वीर्यान्तराय और नो-इन्द्रियावरण के क्षयोपशमरूप आन्तरिक मनोलब्धि के होने पर तथा बाहरी निमित्त भूत मनोवर्गणाओं का आलम्बन मिलने पर मनरूप पर्याय के सम्मुख हुए आत्मा के होने वाला प्रदेश-परिस्पन्द मनोयोग कहलाता है। वीर्यान्तराय और ज्ञानावरण कर्म के क्षय हो जाने पर भी सयोग केवली के जो तीन प्रकार की वर्गणाओं की अपेक्षा आत्म-प्रदेश परिस्पन्द होता है वह भी योग है, ऐसा जानना चाहिए[5]।"

स्वामीजी ने अन्यत्र लिखा है

"अन्तराय कर्म के क्षयोपशम होने से क्षयोपशम वीर्य उत्पन्न होता है और अन्तराय कर्म के क्षय होने से क्षायक वीर्य उत्पन्न होता है। इन वीर्य के प्रदेश तो चलाचल हैं।

१—सिद्धत्व-प्राप्ति के प्रथम समय में स्थित।

२—सिद्धत्व-प्राप्ति के प्रथम समय के बाद के समयों में स्थित।

३—सिद्धिगमन-समय और सिद्धत्व-प्राप्ति का समय एक ही होने से और सिद्धिगमन के समय गमनक्रिया होने से ये सकंप कहे गये हैं।

४—ध्यान द्वारा शैल जैसी निष्कंप अवस्था को प्राप्त।

५—तत्त्वा० ६.१ सर्वार्थसिद्धि

(२) जीव सर्व प्रदेशों से कर्म ग्रहण करता है

पंचसंग्रह में कहा है "एक प्रदेश में रहे हुए अर्थात् जिस प्रदेशमें जीव रहता है उस प्रदेश में रहे हुए कर्म-योग्य पुद्गलों का जीव अपने सर्व प्रदेशों द्वारा बन्धन करता है। उनमें हेतु जीव के मिथ्यात्वादि हैं। ऐसा बंधन सादि और अनादि दोनों प्रकार का होता है[1]।" विशेषावश्यकभाष्य में कहा है "जीव स्वयं आकाश के जितने प्रदेशों में होता है उतने ही प्रदेशों में रहे हुए पुद्गलों को अपने सर्व प्रदेशों से ग्रहण करता है[2]।"

स्वामीजी ने यही बात गा० ५५ में आगमों के आधार पर कही है।

भगवती में कहा है "एकेन्द्रिय व्याघात न होने पर छहों दिशाओं से कर्म ग्रहण करते हैं। व्याघात होने पर कदाच तीन, कदाच चार और कदाच पाँच दिशाओं से आए हुए कर्मों को ग्रहण करते हैं[3]। शेष सर्व जीव नियम से छहों दिशाओं से आए हुए कर्मों को ग्रहण करते हैं[4]।"

यही बात उत्तराध्ययन (३३.१८) में कही गई है

सव्वजीवाण कम्मं तु संगहे छद्दिसागयं ।
सव्वेसु वि पएसेसु सव्वं सव्वेण बद्धगं ॥

(३) अस्थिर प्रदेश आस्रव हैं और स्थिर प्रदेश संवर

भगवती सूत्र में भगवान महावीर और मण्डितपुत्र के बीच हुआ निम्न वार्तालाप-प्रसंग मिलता है

"हे भगवन् ! क्या जीव सदा प्रमाणपूर्वक कम्पन करता, विविध रूप से कम्पन करता, गमन करता, स्पन्दन करता, स्पर्श करता, [illegible], और [illegible] और उन-उन भावों में परिणमन करता रहता है ?"

"हे मण्डितपुत्र ! जीव सयोगी होता है तो सदा प्रमाणपूर्वक कम्पन आदि करता और उन-उन भावों में परिणमन करता रहता है। जब जीव अयोगी होता है तब सदा प्रमाण-

---

१—एगपएसोगाढं सव्वपएसेहिं कम्मुणो जोग्गं ।
बंधइ जहुत्तहेउं साइयमणाइयं वावि ॥ २८४ ॥

२—गेण्हति तज्जोगं चिय रेणुं पुरिसो जधा कतब्भंगो ।
एगपदेसोगाढं जीवो सव्वप्पदेसेहिं ॥ १९४१ ॥

३—जो एकेन्द्रिय जीव लोकान्त में होते हैं उनके ऊपर और अगल-बगल की दिशाओं से कर्म का आना संभव न होने से वे विकल्प करते हैं।

४—भगवती १७.४

स्वामीजी के कहने का तात्पर्य है—आत्म की चंचलता—आत्म-प्रदेशों का कंपन ही आस्रव है अतः आस्रव आत्म-परिणाम है। संवर आत्म-प्रदेशों की स्थिरता है अतः वह आत्म-परिणाम है। ऐसी स्थिति में आस्रव को अजीव अथवा जीव-अजीव परिणाम नहीं कहा जा सकता।

८—योग पारिणामिक और उदय भाव है अतः जीव है (गा० ५७)

योग के दो भेद हैं—(१) द्रव्ययोग और (२) भावयोग। द्रव्ययोग कर्मागमन के हेतु नहीं होते। भावयोग ही कर्मागमन के हेतु होते हैं।

कर्मबद्ध सांसारिक प्राणी एक स्थिति में नहीं रहता। वह एक स्थिति से दूसरी स्थिति में गमन करता रहता है। इसे परिणमन कहते हैं। भावयोग इस परिणमन से उत्पन्न जीव की एक अवस्था विशेष है अतः वह जीव-पर्याय है।

आगम में जीव के परिणामों का उल्लेख करते हुए उनमें योग-परिणाम का भी नाम निर्दिष्ट हुआ है (देखिए टि० २८ पृ० ४०५)। यह भावयोग है।

द्रव्ययोग पौद्गलिक है अतः अजीव हैं। भावयोग जीव-परिणाम हैं अतः जीव हैं। भावयोग ही आस्रव हैं अतः वे जीव पर्याय हैं।

बंधे हुए कर्म जीव के उदय में आते हैं। कर्मों के उदय में आने पर जीव में जो भाव—परिणाम उत्पन्न होते हैं उनमें सयोगीत्व भी है। (देखिए टि० २८ पृ० ४०२-३)। कर्म के उदय से जीव में जो भाव—परिणाम—अवस्थाएँ होती हैं वे अजीव नहीं होतीं। जीव के सारे भाव—परिणाम चेतन ही होते हैं। अतः सयोगीपन भी [illegible]। सयोगीपन ही योग आस्रव है अतः वह जीव है।

अनुयोगद्वार में 'सावज्ज जोग विरइ' को सामायिक कहा है। [illegible] कहा है। अजीव को सावद्य-निरवद्य नहीं कहा जा सकता। सावद्य-निरवद्य तो [illegible] का ही कहा जाता है। योग को सावद्य कहा है—[illegible]। भावयोग ही योग आस्रव है। [illegible] योग आस्रव जीव है।

औपपातिक सूत्र में निम्न पाठ है

से किं तं मणजोगपडिसंलीणया, मणजोगपडिसंलीणया अकुसलमणनिरोहो वा कुसलमण उदीरणं वा से तं मणजोगपडिसंलीणया।

'मनयोग प्रतिसंलीनता किसे कहते हैं?'

अकुशल मन का निरोध और कुशल मन की उदीरणा—इसे [illegible] कहा जाता है।"

यहाँ अकुशल मन के निरोध और कुशल मन के प्रवर्तन का कहा गया है। अकुशल मन का अर्थ है बुरा भावमन। कुशल मन का अर्थ है भला भावमन। अच्छा या बुरा भावमन जीव-परिणाम है। यदि भावमन अजीव हो तो उसके निरोध या प्रवर्तन का कोई अर्थ ही नहीं निकलेगा।

मन की प्रवृत्ति ही भावयोग है और यही योग आस्रव है। अत योग आस्रव जीव परिणाम सिद्ध होता है। अनुयोगद्वार सामाइक अधिकार मे निम्न पाठ मिलता है

तो समणो जइ सुमणो,
भावेण य जइ ण होइ पावमणो।
सयणो य जणे य समो
समो य माणावमाणेसु ॥

इस पाठ से मन के दो प्रकार होते हैं—द्रव्यमन और भावमन। द्रव्यमन रूपी है। पौद्गलिक है। भावमन जीव-परिणाम है। अरूपी है। वचन और काय योग के विषय में भी यही बात लागू होती है। भावमन-वचन-काय योग ही योगास्रव है अत जीव और अरूपी हैं।

३६—निरवद्य योग को आस्रव क्यों माना जाता है ? (गा० ५८)

आस्रव के भेदो की विवेचना करनेवाली किसी भी परम्परा को लें[1] उसमें योग आस्रव का उल्लेख अवश्य है। योग आस्रव का उल्लेख सब परम्पराओ मे समान रूप से होने पर भी उसकी व्याख्या की दृष्टि से दो परम्पराएँ उपलब्ध हैं। एक परम्परा योग आस्रव मे शुभ-अशुभ दोनो प्रकार के योगो का समावेश करती है। दूसरी परम्परा केवल अशुभ योगो का ही ग्रहण करती है।

स्वरचित 'नवतत्त्वप्रकरण' में देवेन्द्रसूरि ने आस्रव के ४२ भेदो को गिनाते हुए 'तीन योग' की व्याख्या इस प्रकार की—

"मणवयतणुजोगतिय, अपसत्थ तह कसाय चत्तारि[2]।"

अपनी अन्य कृति नवतत्त्वप्रकरण की वृहत् वृत्ति में मूल कृति के 'तीन योग' की व्याख्या देते हुए वे लिखते हैं—

"अशुभमनोवचनकाययोगा इति योगत्रिकम्।"

इससे स्पष्ट है कि योग आस्रव मे उन्होने अप्रशस्त या अशुभ मन-वचन-काययोगों को ही ग्रहण किया है, शुभ योगो को नहीं। उमास्वाति तथा अन्य अनेक आचार्यो ने

१—इन परम्पराओं के लिए देखिए टिप्पणी ५ पृ० ३७२। इनके अतिरिक्त एक अन्य परम्परा भी है जिसमे कषाय और योग इन दो को ही बध-हेतु कहा है।

२—नवतत्त्वसाहित्यसग्रह श्रीनवतत्त्वप्रकरणम् गा० ३६

३—वही अव० वृत्यादिसमेत नवतत्त्वप्रकरणम् गा० ॥१२॥२७ की वृत्ति

योगास्रव मे शुभ-अशुभ दोनो प्रकार के योगो का ग्रहण किया है[१]।

स्वामीजी का कथन है—वास्तव मे शुभयोग निर्जरा के हेतु हैं। अत उनका समावेश योग आस्रव मे नही होना परन्तु निर्जरा के साथ पुण्य का बंध अपने आप सहज भाव से होता है इस अपेक्षा से शुभ योगो को भी योग आस्रव मे ग्रहण कर लिया जाता है।

स्वामीजी अन्यत्र लिखते हैं—

"शातावेदनीय शुभायुष्य शुभनाम कर्म उच्चगोत्र ए च्यारू कर्म पुन्य छै। ए च्यारा ही नी करणी सूत्र मैं निरवद्य कही छै अनै आज्ञा माहिनी करणी करता लागै छै। शुभ जोग प्रवर्त्तायां लागै छै। ते तो करणी निर्जरा नी छै। तिण करणी करता पाप कटै। तिण करणी ने तो शुभ जोग निर्जरा कहीजे। ते शुभ जोग प्रवर्त्तावतां नाम कर्म ना उदय सू सहजे जोरी दावै पुन्य बंधे छै। जिम गहु निपजतां खाखलो सहजे नीपजै छै तिम दयादिक भली करणी करता शुभ जोग प्रवर्त्तावता पुन्य सहजेइ लागै छै। इम निर्जरा नी करणी करता कर्म कटै अनै पुन्य बंधे। ठाम २ सूत्र मैं निरवद्य करणी ते संवर निर्जरा नी कही छै। पुन्य तो जोरी दावै विना बांछ्या लागै छै। शुद्ध साधु ने अन्न दीधो तिवारे अव्रतमा सू काढै नै व्रत मै घाल्या ते तो व्रत नीपना अनै शुभ जोग प्रवर्त्या सू निर्जरा हुई। शुभ जोग प्रवर्त्ते तठै पुन्य साहाणी बंधे[२]।" (देखिए टि० १५ पृ० १७३-५, टि० ४ (२) पृ० २०४ तथा टि० ६ ५ पृ० ३७६)

४०—सर्व सांसारिक कार्य जीव-परिणाम है (गा० ५६)

योग शब्द अत्यन्त व्यापक है। उसके अन्तर्गत मन-वचन-काय [illegible] सारे, क्रिया, कर्म और व्यवहारो का समावेश हो जाता है। प्रवृत्ति मात्र [illegible] कहते है "प्रवृत्तियों—कार्यो—क्रियाओ की संख्या गिनाना [illegible] प्रवृत्तियो का सामान्य लक्षण यह है कि वे कर्म की हेतु हैं [illegible]। स्वामीजी कहते हैं "क्रिया मात्र जीव के ही होती है—जीव-परिणाम है। [illegible] आस्रव जीव ठहरता है।"

१—(क) तत्त्वा० ६ १-४

(ख) अभयदेव—समवायांगटीका, [illegible]

२—३०६ बोल की हुण्डी बोल ६५

भगवती १७ २ मे निम्न पाठ है

एव खलु पाणातिवाए ..जाव—मिच्छादसणसल्ले वट्टमाणस्स सच्चेव जीवे, सच्चेव जीवाया।

—जो प्राणातिपातादिक १८ पापो मे वर्तता है वही जीव है और वही जीवात्मा है।

जीव का अठारह पापो मे वर्तन अमुक-अमुक आस्रव है। मिथ्यादर्शन में वर्तना मिथ्यात्व आस्रव है। दूसरे पापो में वर्तना दूसरे-दूसरे आस्रव हैं। यथा प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह मे वर्तन क्रमश प्राणातिपात आदि आस्रव हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ मे वर्तना क्रोधादि-आस्रव हैं।

प्राणातिपात आदि ये सर्व व्यापार योग आस्रव के भेद हैं। ये सर्व व्यापार जीव के हैं अत जीव-परिणाम हैं।

इसी तरह अन्य कार्यों के सम्बन्ध मे समझना चाहिए। जीव की कोई भी प्रवृत्ति अजीव नही हो सकती। जीव की भिन्न २ प्रवृत्तियाँ ही योगास्रव हैं अत वह अजीव नहीं। जैसे योगास्रव अजीव नही वैसे ही अन्य आस्रव अजीव नही।

४१—जीव, आस्रव और कर्म (गा० ६०-६१)

यहाँ स्वामीजी ने निम्न बातें कही हैं

(१) जीव कर्मों का कर्त्ता है।

(२) जीव मिथ्यात्वादि आस्रवो से कर्मो का कर्त्ता है।

(३) आस्रव जीव-परिणाम हैं। जो किये जाते हैं वे कर्म पौद्गलिक और आस्रव से भिन्न हैं।

आगमो मे 'सयमेव कडेहि गाहइ' (सूय० १, २ १ ४)—अपने किये हुए कर्मो से जीव ससार-भ्रमण करता है, 'कडाण कम्माण न मुक्खुअत्थि' (उत्त० ४ ३)—किए हुए कर्मो के भोगे विना छुटकारा नही, 'कत्तारमेव अणुजाणइ कम्म' (उत्त०१३ २३)—कर्म कर्त्ता का ही अनुसरण करता है आदि अनेक वाक्य मिलते हैं। ऐसे ही वाक्यो के आधार पर स्वामीजी ने कहा है—जीव कर्मों का कर्त्ता है।

आचार्य जवाहरलालजी ने लिखा है—"भगवती सूत्र शतक ७ उद्देसा १ मे पाठ आया है कि—'दुक्खी दुक्खेण फुडे, नो अदुक्खी दुक्खेण फुडे' अर्थात् 'कर्मो से युक्त पुरुष ही कर्म का स्पर्श करता है परन्तु अकर्मा पुरुष, कर्म का स्पर्श नही करता'। यदि अकर्मा (कर्म रहित) पुरुष को भी कर्म का स्पर्श हो तो सिद्धात्मा पुरुषो में भी कर्म का स्पर्श मानना पडेगा। परन्तु यह बात नही होती अत निश्चित होता है कि कर्म भी कर्म के

ग्रहण करने में कारण होने से आस्रव हैं। तथा भगवती में इस पाठ के आगे यह पाठ आया है कि—'दुक्खी दुक्ख परियायइ' अर्थात् 'कर्म से युक्त मनुष्य कर्म का ग्रहण करता है'। इस पाठ से कर्म का आस्रव होना सिद्ध होता है। कर्म पौद्गलिक अजीव है इसलिए आस्रव पौद्गलिक अजीव भी सिद्ध होता है। उसे एकान्त जीव मानने वाले अज्ञानी हैं[1]।"

उक्त मन्तव्य में कर्म को आस्रव कह कर आस्रव को अजीव भी प्रतिपादित किया गया है।

कर्म आस्रव हो सकता है या नहीं? इस प्रश्न पर श्रीमद् राजचन्द्र ने बड़ा अच्छा विवेचन किया है। वे लिखते हैं "चैतन्य की प्रेरणा न हो तो कर्मों का ग्रहण कौन करेगा? प्रेरणा करके ग्रहण कराने का स्वभाव जड़ वस्तु का है ही नहीं। और यदि ऐसा हो तो घट-पट आदि वस्तुओं में भी क्रोधादि भाव तथा कर्मों का ग्रहण करना होना चाहिए। किन्तु ऐसा अनुभव तो आज तक किसी को नहीं हुआ। इससे यह अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है कि चैतन्य जीव ही कर्मों का ग्रहण करता है। इस प्रकार जीव कर्मों का कर्त्ता सिद्ध होता है।

"कर्मों का कर्त्ता कर्म को कहना चाहिए"—इस शंका का समाधान इस उत्तर से हो जायेगा कि जड़ कर्मों में प्रेरणारूप धर्म के न होने से उनमें चैतन्य की भाँति कर्मों को ग्रहण करने का सामर्थ्य नहीं है और कर्मों का कर्त्ता जीव इस तरह है कि उसमें प्रेरणा-शक्ति है।" इस तरह सिद्ध होता है कि जीव ही कर्मों का कर्त्ता है।

भगवती सूत्र के उक्त वार्तालाप का अभिप्राय है—

"अकर्मा के कर्म का ग्रहण और बन्ध नहीं होता। पूर्व कर्म [illegible]
[illegible] कर्मों का ग्रहण और बन्ध करता है। अगर ऐसा न हो तो [illegible]
[illegible] बिना न रहे।" इससे संसारी जीव ही कर्मों का कर्त्ता ठहरता है [illegible]
[illegible] बन्ध हुए कर्म। 'कर्म से युक्त मनुष्य कर्म का ग्रहण करता है' [illegible]
[illegible] कर्त्ता सिद्ध होता है। (विस्तृत विवेचन के लिए देखिए टि० २२ पृ० [illegible]
[illegible] (१५) पृ० ३३)

'[illegible] नियमस्स बंधो' (उत्त० १४.१९) [illegible]
[illegible] है। 'पंच आसवदारा पन्नत्ता' (स्था० [illegible])—[illegible]
[illegible] आस्रवाधिकार बोल [illegible]

ही आगमिक वाक्यो के आधार पर स्वामीजी ने कहा है—जीव अपने मिथ्यात्वादि भावो से कर्मों का कर्त्ता है।

स्वामीजी कहते हैं—आगमो के अनुसार आस्रव का अर्थ है—कर्म आने के द्वार। मिथ्यात्व—अच्छे को बुरा जानना, बुरे को अच्छा जानना—पहला द्वार है। इसी तरह अविरति आदि अन्य द्वार हैं। ये द्वार जीव के होते हैं। जीव के मिथ्यात्वादि पांच द्वारो को ही आस्रव कहा है। कर्मों को आस्रव नहीं कहा है। अत आस्रव और कर्म भिन्न हैं[1]।

आस्रव जीव-द्वार हैं, कर्म उनसे प्रविष्ट होने वाली वस्तु। द्वारो से जो आते हैं वे कर्म हैं और द्वार जीव के अध्यवसाय। द्वार और कर्म भिन्न-भिन्न हैं। जीव के अध्यवसाय—परिणाम आस्रव चेतन और अरूपी हैं। आने वाले पुण्य-पाप पौद्गलिक और रूपी हैं।

जीव रूपी तालाव के आस्रव रूपी नाले हैं। जल रूप पुण्य-पाप हैं। आस्रव जल रूप नही, पुण्य-पाप जल रूप हैं। नावो के छिद्र की तरह जीव के मिथ्यात्वादि आस्रव हैं। आस्रव जल रूप नही, कर्म जल रूप हैं। जीव रूपी नाव है, आस्रव रूपी छिद्र है और कर्म रूपी जल है। इस तरह कर्म और आस्रव भिन्न हैं[2]।

४२—मोहकर्म के उदय से होनेवाले सावद्य कार्य योगास्रव हैं (गा०६२-६५):

स्वामीजी अन्यत्र लिखते हैं—"नवो पाप तो मिथ्यात्व अव्रत प्रमाद कपाय माठा जोग विना न वधे। ए सर्व मोहनीय कर्म ना उदै सू नीपजै छै और कर्म ना उदय सू नीपजे नही। सावद्य कार्य करे ते मोहना उदै स्। भाव निद्रा सूतां कर्म वधे छै ते तो अत्याग भाव छै। मोहनी ना उदय सू छै। ज्ञानावर्णीय थी ज्ञान दवै। दर्शनावर्णी थी दर्शन दवै। वेदनीय थी शाता अशाता भोगवै। आयु थी आयुष्य भोगवै। गोत्र कर्म थी गोत्र भोगवै। अतराय थी चावै ते वस्तु न मिलै। इम छव कर्म ना उदै स् न वा कर्म न वधे। अने नाम कर्म ना उदै थी सुभ योग स् पुन्य वधै छै पिण पाप न वधे। पाप तो एक मोहनीय कर्म ना उदै स् वधे छै[3]।"

मोहनीय कर्म के दो भेद हैं जिन मे एक चारित्रमोहनीय है। चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से जीव सावद्य कार्यों से अपना वचाव नही कर सकता और उन में प्रवृत्ति करते

१—३०६ बोल की हुण्डी बोल १४६–१५०

२—वही · बोल १५२, १५३, १५४

३—वही : बोल ६६

लगता है। सावद्य कार्यों का सेवन जीव करता है। सावद्य कार्य योगास्रव हैं। इस तरह योगास्रव जीव-परिणाम सिद्ध होता है।

४३—दर्शनमोहनीय कर्म और मिथ्यात्व आस्रव (गा० ६६):

मोहनीयकर्म का दूसरा भेद दर्शनमोहनीय है। इस कर्म के उदय से जीव सम्यक् श्रद्धा प्राप्त नहीं कर सकता और प्राप्त हुई सम्यक् श्रद्धा को खो देता है। मिथ्या श्रद्धा दर्शन-मोहनीय कर्म के उदय से होने वाला जीव-परिणाम है। मिथ्या श्रद्धा ही मिथ्यात्व आस्रव है अतः मिथ्यात्व आस्रव जीव-परिणाम है।

एक बार गौतम ने भगवान महावीर से पूछा—"भगवन्! जीव कर्म-बन्ध कैसे करता है?"

भगवान ने उत्तर दिया—"गौतम! ज्ञानावरणीय के तीव्र उदय से दर्शनावरणीय का तीव्र उदय होता है। दर्शनावरणीय के तीव्र उदय से दर्शन-मोह का तीव्र उदय होता है। दर्शन-मोह के तीव्र उदय से मिथ्यात्व का उदय होता है। मिथ्यात्व के उदय से आठ प्रकार के कर्मों का बंध होता है[1]।"

इस तरह मिथ्यात्व दर्शन-मोहनीय कर्म के उदय से निष्पन्न जीव-परिणाम है, यह सिद्ध है।

४४—आस्रव रूपी नहीं अरूपी है (गा० ६७-७२)

आगम-प्रमाणों द्वारा स्वामीजी ने आस्रव पदार्थ को जीव सिद्ध किया है। अब वह अरूपी है यह सिद्ध कर रहे हैं। जिन प्रमाणों से आस्रव जीव सिद्ध होता है उन्हीं प्रमाणों से वह अरूपी सिद्ध होता है। जीव अरूपी है। आस्रव पदार्थ भाव-जीव है अतः वह अरूपी भी है। आस्रव अरूपी है इसकी सिद्धि में स्वामीजी निम्न प्रमाण देते हैं:

(१) पाँच आस्रव और अविरति भावलेश्या के लक्षण—परिणाम हैं, यह बताया जा चुका है (देखिए टि० ३० पृ० ४०९)। भावलेश्या किस तरह अरूपी है यह भी बताया जा चुका है (देखिए टि० २५ पृ० ४०६)। यदि लेश्या अरूपी है तो उसके लक्षण—पाँच आस्रव और अविरति—रूपी नहीं हो सकते (गा० ६८)।

(२) उत्त० २९.५२ में निम्न पाठ है:

जोगसच्चेणं भन्ते जीवे किं जणयइ ॥
जोगसच्चेणं जोगं विसोहेइ ॥

१—प्रज्ञापना २३.१.२८९

"हे भन्ते ! योगसत्य का क्या फल होता है ?"

"योगसत्य से जीव योगों की विशुद्धि करता है।"

इसका भावार्थ है— मन, वचन और काय के सत्य से क्लिष्टबन्धन का अभाव कर जीव योगो को निर्दोष करता है[1] ।

यहाँ योगसत्य को गुणरूप माना है। जीव का गुण अजीव या रूपी नहीं हो सकता। योगसत्य—शुभ योग रूप है। इस तरह शुभ योग अरूपी ठहरता है।

स्थानाङ्ग सूत्र ५९४ में श्रद्धा, सत्य, मेधा, बहुश्रुतता, शक्ति, अल्पाधिकरणता, कलह-रहितता, धृति और वीर्य—इन्हें अनगार के गुण कहे हैं[2] । ये गुण रूपी नहीं हो सकते वैसे ही योगसत्य गुण भी रूपी नहीं।

(३) वीर्य जीव का गुण है यह ऊपर बताया जा चुका है (देखिए टि० ३)। अत वीर्य रूपी नहीं हो सकता।

गौतम ने पूछा योग किस से होता है तब भगवान ने उत्तर दिया वीर्य से। वीर्य जीव गुण है। अरूपी है। उससे उत्पन्न योग रूपी कैसे होगा ?

स्वामीजी अन्यत्र लिखते हैं "स्थानाङ्ग (३ १) मे तीन योग कहे हैं —तिविहे जोगे पण्णत्ता तजहा मणजोगे१ वयजोगे२ काय जोगे३ । यहाँ टीका में योगों को क्षयो-पशम भाव कहा है। आत्म-वीर्य कहा है। आत्म-वीर्य अरूपी है। यह भावयोग है। द्रव्ययोग तो पुद्गल है। वे भावयोग के साथ चलते हैं। भावयोग आस्रव है[3] ।"

(४) आठ आत्मा में योग आत्मा का भी उल्लेख है यह पहले बताया जा चुका है (देखिए टि० २४, पृ० ४०५)। योग आत्मा जीव है अत रूपी नहीं हो सकता।

योग जीव-परिणाम है, यह भी पहले बताया जा चुका है (देखिए टि० २४ पृ० ४०५) अत वह रूपी नहीं अरूपी है।

१—उत्त० २९ ५२ की टीका 'योगसत्येन'—मनोवाक्कायसत्येन योगान् 'विशोधयति' क्लिष्टकर्माबन्धकत्वाऽभावतो निर्दोषान् करोति।

२—अट्ठहिं ठाणेहिं सपन्ने अणगारे अरिहति एगल्लविहारपडिम उवसपजित्ताण विहरि-त्तते, त०—सड्ढी पुरिसजाते सच्चे पुरिसजाए मेहावी पुरिसजाते बहुस्सुते पुरिसजाते सत्तिम अप्पाहिकरणे धितिम वीरितसपन्ने।

३—३०६ बोल की हुडी बोल १५७

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद,कषाय और अशुभ योग—ये सब मोहनीयकर्म के उदय से होने वाले भाव हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—"उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम और पारिणामिक भावों से युक्त भाव जीव-गुण हैं[1]।" जीव-गुण का अर्थ है जीव-भाव, जीव-परिणाम[2]। इससे मिथ्यात्वादि जीव-परिणाम सिद्ध होते हैं। जीव-परिणाम अरूपी नहीं होवे।

स्वामीजी ने अन्यत्र कहा है—"उत्तराध्ययन में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य, उपयोग, सुख और दुःख—ये आठ लक्षण द्रव्य-जीव के कहे गये हैं पर द्रव्य-जीव के इनके सिवाय भी अनेक लक्षण हैं। सावद्य-निरवद्य गुण, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग, आस्रव, संवर, निर्जरा, उदयनिष्पन्न सर्व भाव, उपशमनिष्पन्न सर्व भाव, क्षायक-निष्पन्न सर्व भाव और क्षयोपशमनिष्पन्न सर्व भाव—इन सबको द्रव्य-जीव के लक्षण समझना चाहिए[3]।"

जीव के लक्षण रूपी नहीं हो सकते।

आश्रव पदारथ (ढाल : २)

दुहा

१—आश्रव करम आवाना वारणा, त्यानें विकल कहे छे करम।
करम दुवार ने करम एकहिज कहे, ते भूला अग्यानी भर्म॥

२—करम ने आश्रव छे जूजूआ, जूओजूओ छे त्यारो सभाव।
करम ने आश्रव एकहिज कहे, तिणरो मूढ न जाणे न्याव॥

३—वले आश्रव ने रूपी कहे, आश्रव नें कहे करम दुवार।
दुवार ने दुवार मे आवे तेहनें, एक कहे छे मूढ गिंवार॥

४—तीन जोगा नें रूपी कहे, त्याने इज कहे आश्रव दुवार।
वले तीन जोगा ने कहे करम छे, ओ पिण विकला रे नही छें विचार॥

५—आश्रव ना वीस भेद छें, ते जीव तणी पर्याय।
करम तणा कारण कह्या, ते सुण जो चित्त ल्याय॥

ढाल : २

(चतुर विचार करीने देखो—ए देशी)

१—मिथ्यात आश्रव तो उंधो सरधे ते, उंधो सरधे ते जीव साख्यातो रे।
तिण मिथ्यात आश्रव ने अजीव सरधे छे, त्यारा घट माहे घोर मिथ्यातो रे॥
आश्रव ने अजीव कहे ते अग्यानी* ॥

* यह आंकडी ढाल की प्रत्येक गाथा के अन्त मे आती है।

आस्रव पदार्थ (ढाल : २)

दोहा

१—आस्रव कर्म आने के द्वार हैं, परन्तु मूर्ख आस्रव को कर्म बतलाते हैं। जो कर्म-द्वार और कर्म को एक बतलाते हैं, वे अज्ञानी भ्रम में भूले हुए हैं।

आस्रव कर्म-द्वार हैं, कर्म नहीं (दो० १-२)

२—कर्म और आस्रव अलग-अलग हैं। उनके स्वभाव भिन्न-भिन्न हैं। मूर्ख इसका न्याय नहीं जानते हुए कर्म और आस्रव को एक बतलाते हैं।

३—एक ओर तो वे आस्रव को रूपी बतलाते हैं और दूसरी ओर उसे कर्म आने का द्वार कहते हैं। द्वार और द्वार होकर आने वाले को एक बतलाना निरी मूर्खता है।

कर्म रूपी है कर्म-द्वार नहीं (दो० ३-४)

४—वे तीनों योगों को रूपी कहते हैं और फिर उन्हीं को आस्रवद्वार कहते हैं। जो कर्मास्रव के कारण योग हैं उनको ही वे कर्म कह रहे हैं उनको इतना भी विचार नहीं है।

५—आस्रव के बीस भेद हैं। ये आस्रव-भेद जीव-पर्याय हैं। इनको कर्म आने का कारण कहा है[1]। इसका खुलासा करता हूँ, ध्यान लगा कर सुनना।

[illegible]

ढाल : २

१—(पहिला आस्रव मिथ्यात्व है।) तत्त्वों की अयथार्थ प्रतीति—उल्टी श्रद्धा मिथ्यात्व आस्रव है। तत्त्वों की अयथार्थ प्रतीति जीव ही करता है (अतः मिथ्यात्व आस्रव जीव है)। जो मिथ्यात्व आस्रव को अजीव समझते हैं उनके घट में घोर मिथ्यात्व है।

२—जे जे सावद्य कामा नही त्याग्या छे, त्यारी आसा वछा रही लागी रे।
ते जीव तणा परिणाम छे मेला, अत्याग भाव छे इविरत सागी रे॥

३—परमाद आश्रव जीव ना परिणाम मेला, तिण सू लागे निरतर पापो रे।
तिणने अजीव कहे छे मूढ मिथ्याती, तिणरे खोटी सरधा री थापो रे॥

४—कपाय आश्रव ने जीव कह्यो जिणेसर, कपाय आतमा कही छे तामो रे।
कपाय करवारो सभाव जीव तणो छे, कपाय छे जीव परिणामो रे॥

५—जोग आश्रव ने जीव कह्यो जिणेसर, जोग आतमा कही छे तामो रे।
तीन जोगा रो व्यापार जीव तणो छे, जोग छे जीव रा परिणामो रे॥

६—जीव री हिसा करे ते आश्रव, हिंसा करे ते जीव साख्यातो रे।
हिंसा करे ते परिणाम जीव तणा छे, तिण मे सका नही तिलमातो रे॥

७—झूठ बोले ते आश्रव कह्यो छे, झूठ बोले ते जीव साख्यातो रे।
झूठ बोलण रा परिणाम जीव तणा छे, तिण मे सका नही तिलमातो रे।

८—चोरी करे ते आश्रव कह्यो जिणेसर, चोरी करे ते जीव साख्यातो रे।
चोरी करवा रा परिणाम जीव तणा छे, तिणमे सका नही तिलमातो रे॥

९—मैथुन सेवे ते आश्रव चोथो, मैथुन सेवे ते जीवो रे।
मैथुन परिणाम तो जीव तणा छे, तिण स् लागे छे पाप अतीवो रे॥

२—जिन सावद्य कामों का त्याग नहीं होता उनकी जीव के आशा-वाछा लगी रहती है। आशा-वाछा जीव के मलीन परिणाम है। यह अत्याग भाव ही अविरति आस्रव है।

(२) अविरति आस्रव

३—जीव के प्रमादरूप मलीन (अशुभ) परिणाम प्रमाद-आस्रव हैं। इनसे निरतर पाप लगता रहता है। जीव के परिणामों को अजीव कहने वाला घोर मिथ्यात्वी है। उसको झूठी श्रद्धा की पकड़ है।

(३) प्रमाद आस्रव

४—जिन भगवान ने कषाय आस्रव को जीव बतलाया है, सूत्रों में कषाय आत्मा कही है। कषाय करने का स्वभाव जीव का ही है। कषाय जीव-परिणाम है।

(४) कषाय आस्रव

५—योग आस्रव को जिन भगवान ने जीव कहा है। भगवान ने योग आत्मा कही है। तीनों ही योगों के व्यापार जीव के हैं। योग जीव के परिणाम हैं[2]।

(५) योग आस्रव

६—जीव की हिंसा करना प्राणातिपात आस्रव है[3]। हिंसा साक्षात् जीव ही करता है, हिंसा करना जीव-परिणाम है[4]। इसमें तिलमात्र भी शका नहीं।

(६) प्राणातिपात आस्रव

७—झूठ बोलने को जिनेश्वर भगवान ने मृषावाद आस्रव कहा है[5]। झूठ साक्षात् जीव ही बोलता है, झूठ बोलना जीव परिणाम है। इसमें जरा भी शका नहीं।

(७) मृषावाद आस्रव

१०—परिग्रह राखे ते पाचमो आश्रव, परिग्रह राखे ते पिण जीवो रे।
जीव रा परिणाम छे मूर्छा परिग्रह, तिण सूं लागे छें पाप अतीवो रे॥

११—पाच इद्रया ने मोकली मेले ते आश्रव, मोकली मेले ते जीव जाणो रे।
राग धेप आवे सब्दादिक उपर, याने जीव रा भाव पिछाणो रे॥

१२—सुरत इद्री तो सब्द सुणे छें, चपु इद्री रूप ले देखो रे।
घ्राण इद्री गन्ध नें भोगवे छे, रस इद्री रस स्वादे वशेपो रे॥

१३—फरस इद्री तो फरस भोगवे छे, पाचू इद्रया नो एह सभावो रे।
या सू राग नें धेप करें ते आश्रव, तिणनें जीव कहीजे इण न्यावो रे॥

१४—तीन जोगा नें मोकला मेले ते आश्रव, मोकला मेले ते जीवो रे।
त्याने अजीव कहे ते मूढ मिथ्याती, त्यारा घट मे नही ग्यान रो दीवो रे॥

१५—तीन जोगा रो व्यापार जीव तणो छें, ते जोग छे जीव परिणामो रे।
माठा जोग छें माठी लेस्या रा लषण, जोग आतमा कही छें तामो रे॥

१६—भड उपगरण सू कोई करें अजेंणा, तेहिज आश्रव जाणो रे।
ते आश्रव सभाव तो जीव तणो छे, रूडी रीत पिछाणो रे॥

१७—सुचीकुसग सेवे ते आश्रव, सुचीकुसग सेवे ते जीवो रे।
सुचीकुसग सेवे तिणनें अजीव कहे, त्यारे उडी मिथ्यात री नीवो रे॥

१०—परिग्रह रखना पांचवां परिग्रह आस्रव कहा है[७]। जो परिग्रह रखता है वह जीव है। मूर्च्छा परिग्रह है और वह जीव-परिणाम है। इससे अजीव पापकर्म लगते हैं।

(१०) परिग्रह आस्रव

११—पांचों इन्द्रियों को प्रवृत्त करना क्रमशः श्रोत्रादि आस्रव हैं। इन्द्रियों को जीव ही प्रवृत्त करता है। शब्दादिक विषयों पर राग-द्वेष का होना जीव-परिणाम है।

(११-१५) पञ्च-इन्द्रिय आस्रव

१२-१३-श्रोत्रेन्द्रिय का विषय शब्द है, वह शब्द को ग्रहण करती है। चक्षु इन्द्रिय का विषय रूप है, वह रूप को ग्रहण करती है। घ्राणेन्द्रिय गंध का भोग करती है। रसनेन्द्रिय रसास्वादन करती है। स्पर्शनेन्द्रिय स्पर्श का भोग करती है। पांचों इन्द्रियों के ये स्वभाव हैं। इन इन्द्रियों के विषयों में राग-द्वेष करना क्रमशः श्रोत्रादि इन्द्रिय आस्रव है[८]। (राग-द्वेष करना जीव के भाव हैं) अतः श्रोत्रादि इन्द्रिय आस्रव जीव हैं।

१४—तीनों योगों का व्यापार योग आस्रव है[९]। योग—व्यापार जीव ही करता है। योग आस्रव को अजीव कहने वाले मूढ़ और मिथ्यात्वी हैं। उनके घट में ज्ञान-दीपक नहीं है।

(१६-१८) मन-वचन-काय योग आस्रव

१५—तीनों योगों का व्यापार जीव का ही है। ये योग जीव-परिणाम हैं। अशुभ-योग अशुभ लेश्या के लक्षण हैं। सूत्रों में योगात्मा कही गयी है।

१६—भंड-उपकरण आदि रखने-उठाने में अयतना करना भंडोपकरण आस्रव है[१०]। यह अच्छी तरह समझ लो कि आस्रव जीव स्वभाव—परिणाम है।

(१[illegible]) भंडोपकरण आस्रव

१८—दरब जोगा ने रूपी कह्या छें, ते तो भाव जोग रे छे लारो रे।
दरब जोगा सू तो करम न लागे, भाव जोग छे आश्रव दुवारो रे॥

१६—आस्रव नें करम कहे छे अग्यानी, तिण लेखें पिण उवी दरसी रे।
आठ करमा ने तो चोफरसी कहे छे, काया जोग तो छे अठफरसी रे॥

२०—आश्रव ने करम कहे त्यारी सरधा, उठी जठा थी झूठी रे।
त्यारा बोल्या री ठीक पिण त्यानें नाहीं, त्यारी हीया निलाड री फूटी रे॥

२१—बीस आश्रव मे सोले एकत सावद्य, ते पाप तणा छे दुवारो रे।
ते जीव रा किरतब माठा ने खोटा, पाप तणा करतारो रे॥

२२—मन वचन काया रा जोग व्यापार, वले समचे जोग व्यापारो रे।
ए च्यारुइ आश्रव सावद्य निरवद, पुन पाप तणा छें दुवारो रे॥

२३—मिथ्यात इविरत ने परमाद कषाय ने जोग व्यापारो रे।
ए करम तणा करता जीव रे छे, ए पाचूइ आश्रव दुवारो रे।

२४—यामे च्यार आश्रव सभावीक उदारा, जोग मे पनरे आश्रव समाया रे।
जोग किरतब नें सभावीक पिण छे, तिण सू जोग मे पनरेइ आया रे॥

२५—हिंसा करे ते जोग आश्रव छे, झूठ बोले ते जोग छे ताह्यो रे।
चोरी स् लेइ सुचीकुसग मेवे ते, पनरेइ आया जोग माह्या रे॥

१८—द्रव्य योगों को रूपी कहा गया है। वे भाव योगों के पीछे हैं। द्रव्य योगों से कर्मों का आस्रव नहीं होता, भाव योग ही आस्रव-द्वार है[12]।

भावयोग आस्रव है, द्रव्ययोग नहीं

१९—अज्ञानी आस्रव को कर्म कहते हैं। उस अपेक्षा से भी वे मिथ्यादृष्टि हैं। आठ कर्मों को तो चतुस्पर्शी कहते हैं, पर द्रव्य काय योग तो अष्टस्पर्शी है। (अतः आस्रव और कर्म एक नहीं)।

कर्म चतुस्पर्शी हैं और योग अष्टस्पर्शी अतः कर्म और योग एक नहीं

२०—आस्रव को कर्म कहने वालों की श्रद्धा मूल में ही मिथ्या है। वे अपनी ही भाषा से अनजान हैं। उनके बाह्य और आभ्यन्तर दोनों नेत्र फूट चुके हैं[13]।

(गा० १९-२०)

२१—बीस आस्रवों में से सोलह एकांत सावद्य हैं और केवल पाप आने के मार्ग हैं। ये जीव के अशुभ और बुरे कर्त्तव्य हैं जो पाप के कर्त्ता हैं।

१६ आस्रव एकांत सावद्य

२२—मन, वचन और काया के योग—व्यापार और समुच्चय योग—व्यापार—ये चारों आस्रव सावद्य-निरवद्य दोनों हैं एवं पुण्य-पाप के द्वार हैं[14]।

योग-आस्रव और योग-व्यापार सावद्य-निरवद्य [illegible]

२३—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग—ये पाँचों ही जीव के कर्मों के कर्त्ता हैं अतः पाँचों ही आस्रव द्वार हैं।

[illegible]

२६—करमा रो करता तो जीव दरव छे, कीधा हुवा ते करमो रे।
करम ने करता एक सरधे ते, भूला अग्यानी भर्मो रे॥

२७—अठारे पाप ठाणा अजीव चोफरसी, ते उदे आवे तिण वारो रे।
जब जूजूआ किरतव करे अठारो, ते अठारेइ आश्रव दुवारो रे॥

२८—उदे आया ते तो मोह करम छे, ते तो पाप रा ठाणा अठारो रे।
त्यारा उदा सू अठारेइ किरतव करे छे, ते जीव तणो छें व्यापारो रे॥

२९—उदे ने किरतव जूआजूआ छे, आ तो सरधा सूधी रे।
उदे ने किरतव एकज सरधे, अकल तिणारी उंधी रे॥

३०—परणातपात जीव री हिंसा करे ते, परणातपात आश्रव जाणो रे।
उदे हुवो ते परणातपात ठाणो छे, त्याने रूडी रीत पिछाणो रे॥

३१—भूठ बोले ते मिरषावाद आश्रव छे, उदे छे ते मिरषावाद ठाणो रे।
भूठ बोले ते जीव उदे हुवा करम, या दोया ने जूआजूआ जाणो रे॥

३२—चोरी करे ते अदत्तादान आश्रव छे, उदे ते अदत्तादान ठाणो रे।
ते उदे आया जीव चोरी करें छे, ते तो जीव रा लपण जाणो रे॥

२६—कर्मों का कर्त्ता जीव द्रव्य है और किए जाते हैं, वे कर्म हैं। जो कर्म और कर्त्ता को एक समझते हैं, वे अज्ञानी भ्रम में भूले हुए हैं।

कर्म और कर्त्ता एक नहीं

२७—अठारह पाप-स्थानक चतुःस्पर्शी अजीव हैं। उनके उदय में आने पर जीव भिन्न-भिन्न अठारह प्रकार के कर्त्तव्य करता है। वे अठारहों ही कर्त्तव्य आस्रव-द्वार हैं।

आस्रव और १८ पाप-स्थानक (गा० २७-३६)

२८—जो उदय में आते हैं वे तो मोहकर्म अर्थात् अठारह पाप-स्थानक हैं और उनके उदय में आने से जो अठारह कर्त्तव्य जीव करता है, वे जीव के व्यापार हैं।

२९—पाप-स्थानकों के उदय को और उनके उदय में आने से होने वाले कर्त्तव्यों को जो भिन्न-भिन्न समझता है उसकी श्रद्धा—प्रतीति सम्यक् है। और जो इस उदय और कर्त्तव्य को एक समझते हैं उनकी श्रद्धा—प्रतीति विपरीत है।

३०—प्राणी-हिंसा को प्राणातिपात आस्रव कहते हैं। प्राणातिपात आस्रव के समय जो कर्म उदय में होता है उसे प्राणातिपात पाप-स्थानक कहते हैं यह अच्छी तरह समझ लो।

३१—झूठ बोलना मृषावाद आस्रव है और उस समय जो कर्म उदय में होता है वह मृषावाद पाप-स्थानक है। जो मिथ्या बोलता है वह जीव है तथा जो उदय में होता है वह कर्म है। इन दोनों को भिन्न-भिन्न समझो।

४०—भला भूडा परिणाम भली भूडी लेस्या, भला भूडा जोग छे तामो रे।
भला भूडा अवसाय भला भूडा ध्यान, ए जीव तणा परिणामो रे॥

४१—भला भूडा भाव जीव तणा छे, भूडा पाप रा वारणा जाणो रे।
भला भाव तो छे सवर निरजरा, पुन सहजे लागे छे आणो रे॥

४२—निरजरा री निरवद करणी करता, करम तणो खय जाणो रे।
जीव तणा परदेस चले छे, त्या सू पुन लागे छे आणो रे॥

४३—निरजरा री करणी करे तिण काले, जीव रा चले सर्व परदेसो रे।
जब सहचर नाम करम सू उदे भाव, तिण सू पुन तणो परवेसो रे॥

४४—मन वचन काया रा जोग तीनूइ, पसत्थ ने अपसत्थ चाल्या रे॥
अपसत्थ जोग तो पाप ना दुवार, पसत्थ निरजरा री करणी मे घाल्या रे॥

४५—अपसत्थ दुवार ने रूंधणा चाल्या, पसत्थ उदीरणा चाल्या रे।
रुंधता ने उदीरता निरजरा री करणी, पुन लागे तिण सू आश्रव मे घाल्या रे॥

४६—पसत्थ नें अपसत्थ जोग तीनूइ, त्यारा बासठ भेद छे ताह्यो रे।
ते सावद्य निरवद जीव री करणी, सूतर उवाइ रे माह्यो रे॥

४७—जिण कह्यो सतरे भेद असजम, असजम ते इविरत जाणो रे।
इविरत ते आसा वछा जीव तणी छे, तिणने रूडी रीत पिछाणो रे॥

४०-४१-अच्छे-बुरे परिणाम, अच्छी-बुरी लेश्या, अच्छे-बुरे योग, अच्छे-बुरे अध्यवसाय और अच्छे-बुरे ध्यान ये सब जीव के परिणाम—भाव हैं। बुरे परिणाम पाप के द्वार हैं और भले परिणाम संवर और निर्जरा रूप हैं और उनसे सहज ही पुण्य का प्रवेश होता है[१०]।

४२—निर्जरा की निरवद्य करनी करते हुए कर्मों का क्षय होता है, उस समय जीव के प्रदेशों के चलायमान होने से आत्म-प्रदेशों के पुण्य लगते हैं।

४३—निर्जरा की निरवद्य करनी करते समय जीव के सर्व प्रदेश चल—चलायमान होते हैं। उस समय सहचर नामकर्म के उदयभाव से (आत्म प्रदेशों में) पुण्य का प्रवेश होता है।

४४—मन, वचन और काय ये तीनों योग प्रशस्त (शुभ) और अप्रशस्त (अशुभ) दो तरह के कहे गये हैं। अप्रशस्त (अशुभ) योग पाप-द्वार हैं और प्रशस्त योगों को निर्जरा की करनी में समाविष्ट किया है।

४८—माठा २ किरतब ने माठी २ करणी, सर्व जीव व्यापारो रे।
वले जिण आज्ञा वारला सर्व कामा, ए सगला छे आश्रव दुवारो रे॥

४९—मोह करम उदे जीव रे च्यार सज्ञा, ते तो पाप करम ग्रहे ताणो रे।
पाप करम ने गहे ते आश्रव, ते तो लपण जीव रा जाणो रे॥

५०—उठाण कम बल वीर्य पुरषाकार प्राक्रम, यारा सावद्य जोग व्यापारो रे।
तिण सू पाप करम जीव रे लागे छें, ते जीव छें आश्रव दुवारो रे॥

५१—उठाण कम बल वीर्य पुरषाकार प्राक्रम, यारा निरवद किरतव व्यापारो रे।
त्यासू पुन करम जीव रे लागे छे, ते पिण जीव छें आश्रव दुवारो रे।

५२—सजती असजती ने सजतासजती, ते तो सवर आश्रव दुवारो रे।
ते सवर ने आश्रव दोनू इ, तिणमे सका नही छें लिगारो रे॥

५३—इम विरती अविरती ने विरताविरती, इम पचखाणी पिण जाणो रे॥
इम पिंडीया वाला ने वाल पिंडीया, जागरा सुत्ता एम पिछाणो रे॥

५४—वले सवूडा असवूडा ने सवूडा सवूडा, धमीया धमठी तामो रे।
धम्मववमाइया इमहिज जाणो, तीन-तीन बोल छे तामो रे॥

५५—ए सगला बोल छे सवर ने आश्रव, त्याने रूडी रीत पिछाणो रे।
कोइ आश्रव ने अजीव कहे छें, ते पूरा छे मूढ अयाणो रे।

आस्रव पदार्थ (ढाल : २)

४८—शुभ-अशुभ काय, शुभ-अशुभ व्यापार सब जीव के ही व्यापार हैं। ये जिन भगवान की आज्ञा के बाहर के कार्य हैं और सभी आस्रव-द्वार हैं।

४९—मोहकर्म के उदय से जीव की चार संज्ञाएँ होती हैं। ये पाप कर्मों को खींच कर उन्हें ग्रहण करती हैं। पाप कर्मों के ग्रहण की हेतु होने से संज्ञाएँ आस्रव हैं। ये जीव के लक्षण—परिणाम हैं[१०]।

५०—उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार-पराक्रम—इन सब के सावद्य व्यापार से जीव के पाप कर्म लगते हैं। ये आस्रव-द्वार भी जीव हैं।

५१—उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार-पराक्रम इनके निरवद्य व्यापार से जीव के पुण्य कर्म लगते हैं। ये आस्रव द्वार भी जीव हैं[११]।

५२—संयम, असंयम, संयमासंयम—ये क्रमशः संवर, अव्रत और संवरासंवर द्वार हैं। इसमें जरा भी शंका नहीं है।

५६—आश्रव घटीया सवर वधे छँ, सवर घटीया आश्रव वधाणों रे।
किसो दरब घटीयो ने वधीयो, इण ने रूडी रीत पिछाणो रे।

५७—इविरत उदे भाव घटीया सू, विरत वधे छे पय उपसम भावो रे।
ए जीव तणा भाव वधीया ने घटोया, आश्रव जीव कह्यो इण न्यावो रे॥

५८—सतरे भेद असजम ते इविरत आश्रव, ते आश्रव ने निश्चे जीव जाणो रे।
सतरे भेद सजम ने सवर कह्यो जिण, ए तो जीव रा लषण पिछाणो रे॥

५६—आश्रव ने जीव सरधावण काजे, जोड कीवी पाली मभारो रे।
सवत अठारे वरस पचावने आसोज सुद चवदस मगलवारो रे॥

५६—आस्रव घटने से संवर बढ़ता है, संवर घटने से आस्रव बढ़ता है। कौन द्रव्य घटता और कौन द्रव्य बढ़ता है—यह अच्छी तरह समझो।

आस्रव संवर से जीव के भावों की ही हानि-वृद्धि होती है (गा० ५६-५८)

५७—जीव के औदयिक भाव अव्रत के घटने से क्षयोपशम भाव व्रत की वृद्धि होती है। इस तरह जीव के ही भाव घटते और बढ़ते हैं, इस न्याय से आस्रव को जीव कहा है।

५८—इस तरह असंयम के जो सत्रह भेद हैं वे अविरति आस्रव हैं। इन आस्रवों को निश्चय ही जीव समझो। सत्रह प्रकार के संयम को जिन भगवान ने संवर कहा है। इन्हें भी जीव के ही लक्षण समझो[23]।

५९—आस्रव को जीव श्रद्धाने के लिए यह जोड़ पाली शहर में सं० १८५५ की आश्विन सुदी १४ मंगलवार को की है।

रचना-स्थान और समय

ओर जो यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करता है,हिंसा हो जाने पर भी उसे बन्ध नही होता[1]।"
"प्रमाद से युक्त आत्मा पहले स्वय अपने द्वारा ही अपना घात करता है उसके बाद दूसरे प्राणियो का वध हो या न हो[2]।"

यहां यह विशेष रूप से ध्यान में रखने की बात है कि जो पूर्ण सयती है उसी के विषय में उपर्युक्त वाक्य सिद्धान्त रूप है। जो हिंसा का त्यागी नहीं अथवा हिंसा का देश त्यागी है वह अप्रमत्त नहीं कहा जा सकता। यत्नाचारपूर्वक चलने पर भी उसके शरीरादि से जीव हिंसा हो जाने पर वह जीव-वध का भागी होगा।

हिंसा करना—उसमे प्रवृत्त होना प्राणातिपात आस्रव है।

४—मृषावाद आस्रव (गा० ७)

श्रीउमास्वाति के अनुसार 'असदभिधानमनृतम्[3]'—असत् बोलना अनृत है। भाष्य के अनुसार असत् के तीन अर्थ होते हैं

(१) सद्भाव-प्रतिषेध—इसके दो प्रकार हैं—(क) सद्भूतनिह्नव—जो है उसका निषेध जैसे आत्मा नही है,परलोक नहीं है। (ख) अभूतोद्भावन—जो नहीं है उसका निरूपण जैसे आत्मा श्यामाक तण्डुलमात्र है, आदित्यवर्ण है आदि।

(२)अर्थान्तर—भिन्न अर्थ को सूचित करना जैसे गाय को घोडा कहना।

(३)गर्हा—हिंसा, कठोरता, पैशुन्य आदि से युक्त वचनो का व्यवहार गर्हा है। आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं—"असत् का अर्थ —अप्रशस्त भी है। अप्रशस्त का अर्थ है प्राणी-पीडाकारी वचन। वह सत्य हो या असत्य अनृत है[4]।"

१—प्रवचनसार ३ १७ :

मरदु व जियदु जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥

२—स्वयमेवात्मनाऽऽत्मान हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्।
पूर्वं प्राण्यन्तराणान्तु पश्चात्स्याद्वा न वा वध ॥

३—तत्त्वा० ७ ९

४—तत्त्वा ७ १४ सर्वार्थसिद्धि

न सदसदप्रशस्तमिति यावत् ... .प्राणिपीडाकर यत्तदप्रशस्त विद्यमानार्थविषय वा अविद्यमानार्थविषय वा।

होने पर राग-परिणाम से युक्त स्त्री और पुरुष के जो एक दूसरे को स्पर्श करने की इच्छा होती है वह मिथुन है। इसका कार्य मैथुन कहलाता है। सर्व कार्य मैथुन नही। राग-परिणाम के निमित्त से होनेवाली चेष्टा मैथुन है। 'प्रमत्तयोगात्' की अनुवृत्ति से रति-जन्य सुख के लिए स्त्री-पुरुष की मिथुनविषयक चेष्टा मैथुन है[1]।"

श्री अकलङ्कदेव ने रतिजन्य सुख के लिए केवल स्त्री या पुरुष की चेष्टा को भी मैथुन कहा है "यहाँ एक ही व्यक्ति कामरूपी पिशाच के सम्पर्क से दो हो गए हैं। दो के कर्म को मैथुन कहने में कोई बाधा नही[2]।"

मैथुन सेवन को मैथुन आस्रव कहते है।

७—परिग्रह आस्रव (गा० १०) :

चेतन अथवा अचेतन—बाह्य अथवा आभ्यन्तर द्रव्यो में मूर्च्छाभाव को परिग्रह कहते है। इच्छा, प्रार्थना, कामाभिलाषा, काङ्क्षा, गृद्धि, मूर्च्छा ये सब एकार्थक हैं[3]। आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं—"गाय, भैंस, मणि और मोती आदि चेतन-अचेतन बाह्य उपधि का तथा रागादिरूप आभ्यन्तर उपधि का सरक्षण, अर्जन और सस्कार आदि रूप व्यापार मूर्च्छा है। यह स्पष्ट ही है कि बाह्यपरिग्रह के न रहने पर भी 'यह मेरा है' ऐसे सकल्प वाला पुरुष परिग्रह सहित है[4]।"

स्वामीजी ने एक जगह कहा है—"किसी स्थान पर हीरा, पन्ना, माणिक, मोती आदि पडे हो तो वे किसी को डूबोते नही। उनसे किसी को पाप नही लगता। उनसे

१—तत्त्वा० ७ १६ सर्वार्थसिद्धि

स्त्रीपुंसयोश्चारित्रमोहोदये सति रागपरिणामाविष्टयो परस्परस्पर्शन प्रति इच्छा मिथुनम्। मिथुनस्य कर्म मैथुनमित्युच्यते। न सर्वं कर्म. .स्त्रीपुंसयो रागपरिणाम-निमित्त चेष्टित मैथुनमिति। प्रमत्तयोगात् इत्यनुवर्तते तेन स्त्रीपुंसमिथुनविषय रतिसुखार्थं चेष्टित मैथनमिति गृह्यते, न सर्वम्।

२—तत्त्वार्थवार्तिक ७ १६ ८

एकस्य द्वितीयोपपत्तौ मैथुनत्वसिद्धे

३—तत्त्वा० ७ १२ भाष्य

४—सर्वार्थसिद्धि ७ १७

ममता करने, उनसे सावद्य कर्तव्य करने से पाप लगता है। मोहनी कर्म के उदय से कर्तव्य करने में पाप है, इन मे नही[१]।"

साधु के कल्पनीय भण्डोपकरण, वस्त्र आदि परिग्रह नहीं। उनमे मूर्च्छा परिग्रह है। गृहस्थ के पास जो कुछ होता है वह सब उसका परिग्रह है क्योंकि उसका ग्रहण मूर्च्छा-पूर्वक ही होता है। कहा है—

"निर्ग्रन्थ मुनि नमक, तैल, घृत और गुड आदि पदार्थों के सग्रह की इच्छा नहीं करता। सग्रह करना लोभ का अनुस्पर्श है। जो लवण, तैल, घी, गुड अथवा अन्य किसी भी वस्तु के सग्रह की कामना करता है वह गृहस्थ है—साधु नही।

"वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण आदि जो भी हैं उन्हें मुनि सयम की रक्षा के लिए रखते और उनका उपयोग करते हैं। त्राता महावीर ने वस्त्र, पात्र आदि को परिग्रह नही कहा है। उन्होने मूर्च्छा को परिग्रह कहा है।

"बुद्ध पुरुष अपने शरीर पर भी ममत्वभाव नही रखते[२]।"

पदार्थों का सग्रह करना अथवा मूर्च्छाभाव परिग्रह आस्रव है।

१—पांच भाव की चर्चा

२—दशवैकालिक ६ १८-२१

विडमुब्भेइम लोण, तेल्ल सप्पि च फाणिय।
न ते सन्निहिमिच्छति, नायपुत्तवओरया॥
लोभस्सेसणुफासे, मन्ने अन्नयरामपि।
जे सिया सन्निहीकामे, गिही पव्वइए न से॥
ज पि वत्थ व पाय वा, कवल पायपुछण।
त पि सजमलज्जट्ठा, धारति परिहरति य॥
न सो परिग्गहो वुत्तो नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वु महेसिणा॥
सव्वत्थुवहिणा बुद्धा, सरक्खण परिग्गहे।
अवि अप्पणो वि देहम्मि, नायरति ममाइय॥

८—पचेन्द्रिय आस्रव—(गा० ११-१३) :

इन गाथाओ मे श्रोत्रेन्द्रिय आदि पांच आस्रवो की परिभाषाएँ दी गई हैं । उनकी व्याख्याएँ नीचे दी जाती हैं

(१) श्रोत्रेन्द्रिय आस्रव

जो मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्दो को सुने वह श्रोत्रेन्द्रिय है। कान में पडते हुए मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्दो से राग-द्वेष करना विकार है। विकार और श्रोत्रेन्द्रिय एक नहीं। श्रोत्रेन्द्रिय का स्वभाव सुनने का है। वह क्षयोपशम भाव है। विकार—राग-द्वेष अशुभ परिणाम हैं।

उत्तराध्ययन (३२ ३५) मे कहा हे

सोयस्स सद्द गहण वयति, त रागहेउ तु मणुन्नमाहु।
त दोसहेउ अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो॥

शब्द श्रोत्र-ग्राह्य है। शब्द कान का विषय है। यह जो शब्द का प्रिय लगना है, उसे राग का हेतु कहा है और यह जो शब्द का अप्रिय लगना है उसे द्वेष का हेतु। जो इन दोनो में समभाव रखता है, वह वीतराग है।

शब्द के ऊपर राग-द्वेष करने का अत्याग अविरति आस्रव है। त्याग सवर है। शब्द सुनकर राग-द्वेष करना अशुभ योगास्रव है। शब्द सुनकर राग-द्वेष का टालना शुभ योग आस्रव है[1]।

(२) चक्षु इन्द्रिय आस्रव

जो अच्छे-बुरे रूपो को देखती हे वह चक्षु इन्द्रिय है। अच्छे-बुरे रूपो मे राग-द्वेष करना विकार है। विकार मोहजनित भाव है । चक्षु इन्द्रिय दर्शनावरणीय कर्म का क्षयोपशम भाव है। रूप चक्षु इन्द्रिय का विषय है उसमे राग-द्वेष अशुभ परिणाम है।

उत्तराध्ययन (३२ २२) में कहा हे

चक्खुस्स रूव गहण वयति, त रागहेउ तु मणुन्नमाहु ।
त दोसहेउ अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो॥

रूप चक्षु-ग्राह्य है। रूप चक्षु का विषय है। यह जो रूप का प्रिय लगना है, उसे राग का हेतु कहा है और यह जो रूप का अप्रिय लगना है, उसे द्वेष का हेतु। जो इन दोनो मे समभाव रखता है वह वीतराग है।

१—पांच इन्द्रियानी ओलखावण

रूप के प्रति राग-द्वेष करने का अत्याग असवर—अविरति आस्रव है। त्याग सवर है। रूप देखकर राग-द्वेष करना अशुभ योगास्रव है। राग-द्वेष का टालना शुभ योगास्रव है[1]।

(३) घ्राणेन्द्रिय आस्रव

जो सुगंध-दुर्गंध को ग्रहण करे—सूघे वह घ्राणेन्द्रिय है। सुगंध-दुर्गंध मे राग-द्वेष करना विकार है। विकार मोहजन्य भाव है। घ्राणेन्द्रिय क्षयोपशम भाव है। गध घ्राणेन्द्रिय का विषय है। उसमे राग-द्वेष अशुभ परिणाम है।

उत्तराध्ययन (३२ ४८) मे कहा है

घाणस्स गन्ध गहण वयति, त रागहेउ तु मणुन्नमाहु।
त दोसहेउ अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो॥

गध घ्राण-ग्राह्य है। गध नाक का विषय है। यह जो गधका प्रिय लगना है, उसे राग का हेतु कहा है और यह जो गध का अप्रिय लगना है, उसे द्वेष का हेतु। जो दोनो मे समभाव रखता है वह वीतराग है।

सुगध-दुर्गंध के प्रति राग-द्वेष करने का अत्याग असवर है—अविरति आस्रव है। त्याग सवर है। नाक मे गध आने पर राग-द्वेष करना अशुभ योगास्रव है। राग-द्वेष का टालना शुभ योगास्रव है[2]।

(४) रसनेन्द्रिय आस्रव

जो रस का आस्वादन करे उसे रसनेन्द्रिय कहते हैं। अच्छे-बुरे रसो मे राग-द्वेष विकार है। विकार मोहजन्य भाव है। रसनेन्द्रिय क्षयोपशम भाव है। रसास्वादन रसनेन्द्रिय का विषय है। उसमें राग-द्वेष अशुभ परिणाम है।

उत्तराध्ययन (३२ ६१) मे कहा है

जिब्भाए रस गहण वयति, त रागहेउ तु मणुन्नमाहु।
त दोसहेउ अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो॥

रस जिह्वा ग्राह्य है। रस जिह्वा का विषय है। यह जो रस का प्रिय लगना है, उसे राग का हेतु कहा है और यह जो रस का अप्रिय लगना है, उसे द्वेष का हेतु। जो दोनो मे समभाव रखता है वह वीतराग है।

१—पाच इन्द्रियानी ओलखावण
२—वही

स्वाद-अस्वाद के प्रति राग-द्वेष का अत्याग असवर है—अविरति आस्रव है। त्याग सवर है । स्वाद-अस्वाद के प्रति राग-द्वेष करना अशुभ योगास्रव है। राग-द्वेष का टालना शुभ योगास्रव है[1] ।

(५) स्पर्शनेन्द्रिय आस्रव

जो स्पर्श का अनुभव करे उसे स्पर्शनेन्द्रिय कहते हैं । अच्छे-बुरे स्पर्शों में राग-द्वेष विकार है। विकार मोह के उदय से उत्पन्न भाव है। स्पर्शनेन्द्रिय दर्शनावरणीय कर्म के क्षय से प्राप्त भाव है। स्पर्श का अनुभव करना स्पर्शनेन्द्रिय का विषय है। उसमें राग-द्वेष अशुभ परिणाम है।

उत्तराध्ययन (३२ ७४) मे कहा है

> कायस्स फास गहण वयति, त रागहेउ तु मणुन्नमाहु ।
> त दोसहेउ अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो ॥

स्पर्श काय-ग्राह्य है। स्पर्श शरीर का विषय है। यह जो स्पर्श का प्रिय लगना है, उसे राग का हेतु कहा है और यह जो स्पर्श का अप्रिय लगना है, उसे द्वेष का हेतु। जो दोनो में समभाव रखता है वह वीतराग है।

अच्छे-बुरे स्पर्श के प्रति राग-द्वेष का अत्याग असवर है—अविरति आस्रव है। त्याग सवर है। स्पर्श के प्रति राग-द्वेष करना अशुभ योगास्रव है। राग द्वेष का वर्जन शुभ योगास्रव है[2]।

कहा है—"कामभोग—शब्द, रूपादि के विषय समभाव-उपशम के हेतु नही हैं और न ये विकार के हेतु हैं। किन्तु जो उनमे परिग्रह—राग-द्वेष करता है वही मोह—राग-द्वेष के कारण विकार को उत्पन्न करता है[3]।"

६--मन योग, वचन योग और काय योग (गा० १४)

वीस आस्रवो में पाचवां आस्रव योग आस्रव है। योग के तीन भेद होते हैं—(१) मन योग (२) वचन योग और (३) काय योग। इन्ही भेदो को लेकर क्रमश १६वां,

---

१—पाच इन्द्रियानी ओलखावण

२—वही

३—उत्त० ३२ १०१

> न कामभोगा समय उवेन्ति, न यावि भोगा विगइ उवेन्ति।
> जे तप्पओसी य परिग्गही य, सो तेसु मोहा विगइ उवेइ ॥

१७वाँ और १८वाँ आस्रव है। मन की प्रवृत्ति मन योग, वचन की प्रवृत्ति वचन योग और काय की प्रवृत्ति काय योग है[1]।

स्वामीजी के सामने एक प्रश्न था—योग आस्रव मे केवल मन, वचन और काय के सावद्य योगो का ही समावेश होता है, निरवद्य योगो का नही।

जीव के पाप लगता है पर पुण्य नही लगता। पाप ही पुण्य होता है। करनी करते करते, पाप धोते-धोते पाप-कर्म दूर होने पर अवशेष पाप पुण्य हो जाते हैं। पुण्य पाप कर्म से ही उत्पन्न होता है। अशुभ योगो से पाप लगता है। शुभ योगो से पुण्य नही लगता[2]।

स्वामीजी ने विस्तृत उत्तर देते हुए जो कहा उसका अत्यन्त सक्षिप्त सार इस प्रकार है "ठाणाङ्ग में जहाँ पाँच आस्रवो का उल्लेख है—वहाँ योग आस्रव कहा है। योग शब्द में सावद्य योग, निरवद्य योग दोनो ही आते हैं। योग आस्रव की जगह यदि अशुभ योग आस्रव होता तो ही शुभ योग आस्रव का ग्रहण नही होता। परन्तु योग आस्रव कहने से शुभ योग, अशुभ योग दोनो आस्रव होते हैं। पाँच सवरो मे अयोग सवर का उल्लेख है। योग का निरोध अयोग सवर है। यदि अशुभ योग ही आस्रव होता, शुभ योग आस्रव नही होता तो अशुभ योग के निरोध को सवर कहा जाता, योग निरोध को नही। इससे भी सिद्ध होता है कि योग आस्रव में शुभ-अशुभ दोनो प्रकार के योगो का समावेश है[3]।

"सूत्र में कहा है जैसे वस्त्र के मैल का उपचय होता है वैसे ही साधु के ईर्यावही कर्म का बध होता है। जिस तरह वस्त्र मे जो मैल लगता है वह प्रत्यक्ष बाहर से आकर लगता है उसी तरह जीव के जो ईर्यावही पुण्य कर्मो का उपचय होता है वह बाहर के कर्म-पुद्गलो का ही होता है। बधे हुए पाप कर्मों का पुण्यरूप परिवर्तन नहीं। पापो के घिसते-घिसते जो बाकी रहेंगे वे पाप कर्म ही रहेंगे, पाप पुण्य कर्म कैसे होंगे? ईर्यावही कर्म का ग्रहण सपष्टत बाहर के पुद्गलो का ग्रहण है। वह उपचय रूप है। परिवर्तन रूप नहीं। यह कर्मोपचय शुभ योगो से है। केवली के भी शुभ योग आस्रव है।

१—देखिए पृ० १५८ टि० ५, पृ० २०३ टि० ४, पृ० ३७६ ५

२—टीकम डोसी की चर्चा

३—अन्य भी अनेक आगम प्रमाण स्वामीजी ने दिये हैं। विस्तार के भय से उन्हें यहां नहीं दिया जा रहा है।

निरवद्य करनी करते समय शुभ कर्मों का आगमन होता है। इसे पुण्य का बंध कहते हैं। सावद्य करनी करते समय अशुभ कर्मों का आगमन होता है। इसे पाप का बंध कहते हैं। बंधे हुए पुण्य शुभ रूप से उदय मे आते हैं और बंधे हुए पाप अशुभ रूप से। ये तीर्थङ्करो के वचन हैं।"

स्वामीजी के साथ योग सम्बन्धी विविध पहलुओ पर अनेक चर्चाएँ हुईं। प्रसगवश यहाँ कुछ चर्चाओ का सार मात्र दिया जा रहा है

(१) तीन योगों से भिन्न कार्मण योग है वही पांचवा आस्रव है

स्वामीजी के सम्मुख योग विषय में एक नया मतवाद उपस्थित हुआ। इसकी प्ररूपणा थी—"मन योग, वचन योग और काय योग के उपरान्त चौथा योग कार्मण योग होता है। यह तीनो ही योगो से अलग है। योग आस्रव में यही आता है, प्रथम तीन नहीं। यह अनादिकालीन है। इसका विरह नही पडता। यह स्वाभाविक योग है। यह मोहकर्म के उदय से है। सावद्य योग है। पाँचवां आस्रव है। यह छेदने पर भी नही छिदता। यह अनादि कालीन स्वाभाभिक सावद्य योग है। निरतर पुण्य पाप का कर्त्ता है। जीव तप सयम करता है उस समय यह सावद्य योग पुण्य ग्रहण करता है। इसे सावद्य योग कहें, चाहे अशुभ योग कहे, चाहे माठा योग कहे, चाहे अधर्म कहें, चाहे सावद्य अधर्म आस्रव कहें, चाहे पुण्य का कर्त्ता अधर्म कहें, चाहे पुण्य का कर्त्ता सावद्य कहे[1]।"

स्वामीजी ने इसका विस्तृत उत्तर दिया है। उसका सक्षिप्त सार इस प्रकार है "योग तीन ही कहे हैं। मन योग, वचन योग और काय योग। इन तीन योगा के उपरांत चौथे योग का श्रद्धान मिथ्या श्रद्धा है। तीन योग के १५ भेद किये हैं—मन के चार, वचन के चार और काया के सात। इन पद्रह योगो के सिवा सोलहवें योग की श्रद्धान सिद्धान्त के विरुद्ध है। योग किस को कहते हैं ? योग अर्थात् मन, वचन और काय का व्यापार। व्यापार या तो सावद्य होता है अथवा निरवद्य। सावद्य व्यापार पाप की करनी है और निरवद्य व्यापार निर्जरा और पुण्य की करनी है। सावद्य-निरवद्य व्यापार योग है, अन्य योग नहीं।

"पुण्य के कर्त्ता तीनों ही योग निरवद्य हैं। पाप के कर्त्ता तीनो ही योग सावद्य हैं। व्यापार जीव के प्रदेशो की चचलता—चपलता है। जब आत्मा शक्ति, बल और पराक्रम

१—टीकम डोसी की चर्चा से उनका लिखित प्रश्न

का स्फोटन करता है तब आत्म-प्रदेशो मे हलन-चलन होती है। प्रदेश आगे-पीछे चलते हैं यह नामकर्म के सयोग से होता है। यह योग आत्मा है।

"मोहकर्म के उदय से और नामकर्म के सयोग से जीव के प्रदेशो का चञ्चल होना सावद्य योग है। यह भी योग आत्मा है।

"मोहकर्म के उदय विना नामकर्म के सयोग से जीव के प्रदेशो का चञ्चल होना निरवद्य योग है। यह भी योग आत्मा है।

"मोहकर्म के विना नामकर्म के उदय से जीव के प्रदेशो का चञ्चल होना निरवद्य योग है।

"मोहकर्म के विना नामकर्म की प्रकृति को उदीर कर जीव के प्रदेशो का चलना भी निरवद्य योग है।

"मोहकर्म के उदय से नामकर्म के सयोग से जीव के प्रदेशो का चलना सावद्य योग है। उससे पाप लगता है।

"मोहकर्म के उदय से उदीर कर नामकर्म के सयोग से जीव के प्रदेशो को चलाना भी सावद्य योग है। उससे पाप लगता है।

"जीव के प्रदेशो का चलना और उदीर कर चलाना उदय भाव है। सावद्य उदय-भाव पाप का कर्त्ता है। निरवद्य उदय-भाव पुण्य का कर्त्ता है।

"सावद्य योगो से पुण्य लगता है और सावद्य योगो से ही पाप लगता है—पुण्य और पाप दोनो सावद्य से लगते हैं—यह वात नही मिलती। सावद्य योगो से पाप लगता है निरवद्य योगो से पुण्य लगता है—ऐसा ही सूत्रो मे स्थान-स्थान पर उल्लेख है।

"जो सावद्य योग से पुण्य मानते हैं उनके हिसाव से धन्ना अनगार को तैतीस सागर के पुण्य उत्पन्न हुए अत उनके सावद्य योग वर्ते। जिनके तीर्थङ्कर नामकर्म आदि वहुत पुण्य हुए उनके सावद्य योग भी वहुत वर्ते। थोडा सावद्य योग रहा है उनके थोडे पुण्य उत्पन्न हुए। यह श्रद्धान कितना विपरीत है यह स्वय स्पष्ट है[1]।"

(२) प्रवर्तन योग से निवर्तन योग अन्य है

स्वामीजी के सामने अन्य मतवाद यह आया—"मन योग, वचन योग और काय योग प्रवर्तन योग हैं। निवर्तन योग अनेक हैं, निवर्तन योग शुभयोग सवर हैं।"

स्वामीजी ने उत्तर देते हुए कहा—"वे कौन से योग हैं जो शुभयोग सवर हैं? उनके नाम क्या हैं? उनकी स्थिति वताओ। उनका स्वभाव वतलाओ। पद्रह योगो की स्थिति

१—टीकम डोसी की चर्चा।

'जोगा री चर्चा' से प्राय इसी भाव का उद्धरण पृ० ४१५ (अन्तिम अनुच्छेद)—४१६ मे दिया गया है। पाठक उसे भी देख लें।

का उल्लेख है । उनके स्वाभाव का उल्लेख है । इन निवर्तन योगो के स्वभाव, स्थिति आदि भी सूत्र से वताओ ।

"योग के व्यापार से निवृत्त होने पर योग घटना चाहिए । जो प्रवृत्ति करे उसे योग कहते हैं । जो प्रवृत्ति नहीं करते उन्हें योग नहीं कहा जा सकता ।

"एक समय में एक मन योग होता है, एक वचन योग होता है और एक काय योग होता है । एक समय मे पद्रह योग नहीं होते । पद्रह योगो की अलग-अलग स्थिति होती है । कौन-कौन-सा सवर शुभ योग है?[1]"

(३) शुभ योग सवर और चारित्र है

स्वामीजी के सामने मतवाद आया—"जो शुभ योग हैं वे ही सवर हैं । जो शुभयोग हैं वे ही चारित्र हैं । जो शुभयोग हैं वे ही सामायिक चारित्र हैं । यावत् जो शुभयोग हैं वे ही यथाख्यात चारित्र हैं । पाँचो ही चारित्र शुभयोग सवर है ।"

उत्तर में स्वामीजी ने कहा है—"यह श्रद्धान भी जिन-मार्ग का नहीं । उससे विरुद्ध, विपरीत और दूर है । शुभयोग और सवर भिन्न-भिन्न हैं । शुभयोग निरवद्य व्यापार है । चारित्र शीतलीभूत स्थिर-प्रदेशी है । योग चल प्रदेशी है । चारित्र चारित्रावरणीय कर्म के उपशम, क्षय, क्षयोपशम से उत्पन्न होता है । उसके प्रदेश स्थिरभूत हैं । योग सावद्य-निरवद्य व्यापार है । प्रदेशो का चलाचल भाव है । सावद्य-योग सावद्य-व्यापार है । निरवद्य-योग निरवद्य-व्यापार है ।"

"अतरायकर्म के क्षयोपशम से क्षायक वीर्य उत्पन्न होता है । अतरायकर्म के क्षयोपशम से क्षयोपशम वीर्य उत्पन्न होता है । उस वीर्य के प्रदेश लब्धिवीर्य हैं । वे स्थिर प्रदेश हैं । महाशक्ति बल-पराक्रम वाले हैं । नामकर्म के सयोग सहित वीर्य वीर्यात्मा है । वह सकल बल, पराक्रम को फोडती है तव प्रदेशो में हलन-चलन होती है । प्रदेश आगे-पीछे चलते हैं । उसे योग आत्मा कहा गया है । मोहकर्म के उदय मे नामकर्म के सयोग से जो जीव के प्रदेश चलते है यह भी योग आत्मा है ।

"जो शुभ योग को सवर कहते है उनसे पूछना चाहिए—कौन-सा योग शुभ है? योग पद्रह हैं उनमें से कौन-सा शुभ योग सवर है ? अथवा योग तीन हैं—मन योग, वचन योग और काय योग । उनमे से कौन-सा योग सवर है—मन योग सवर है, वचन योग सवर है या काय योग सवर है ?

"उनसे यह भी पूछना चाहिए—सामायिक चारित्र यावत् यथाख्यात चारित्र को कौन-सा शुभ योग कहना चाहिए ?

"पद्रह योगो मे कौन-सा शुभ योग सवर है ?

---

[1]—टीकम डोसी की चर्चा ।

"यदि शुभ योग संवर है तो तेरहवें गुणस्थान मे मन योग, वचन योग और काय योग को रूधने का उल्लेख है। फिर संवर को रूधने की यह बात कैसे ?

"यदि इन योगो के सिवा अन्य मन, वचन और काय के योगो की श्रद्धान है, यथाख्यात चारित्र को शुभ योग मानने की श्रद्धान है तो सोचना चाहिए—यथाख्यात चारित्र तो चौदहवें गुणस्थान मे है। यदि यथाख्यात चारित्र शुभ योग है, जो शुभ योग है वही यथाख्यात चारित्र है तो फिर चौदहवें गुणस्थान मे अयोगीत्व क्यो कहते हैं ? अपने मुह से यथाख्यात चारित्र को शुभ योग कहते हैं और साथ ही चौदहवें गुणस्थान मे अयोग संवर कहते हैं। फिर सीधा योगी केवली क्यो नही कहते ? कैसा अधेर है कि चौदहवें गुणस्थान में शुभ योग संवर कहते हैं और साथ ही अयोगीत्व भी। पुन तेरहवें गुणस्थान मे सावद्य योग कहते हैं, मोहकर्म के स्वभाव का कहते हैं। यह भी बडा अंधेर है। जिसके मोहकर्म का क्षय हो गया उसमे उसका स्वभाव कैसे रहेगा ? मनुष्य के मरने पर उसका अशमात्र भी नही रहता। साधु, तीर्थंकर काल हो जाने पर उनका स्वभाव अशमात्र भी नही रहता। उसी प्रकार मोहकर्म के सर्वथा क्षय हो जाने पर—एक प्रदेश मात्र भी बाकी न रहने पर मोहकर्म का स्वभाव फिर कहाँ से बाकी रहा ?

"वे यथाख्यात चारित्र को शुभ योग कहते है। उस योग के मिटने से यथाख्यात चारित्र मिटा या नही ? योग को यथाख्यात चारित्र कहते है उस अपेक्षा से योग ही यथाख्यात चारित्र है। योग मिटने से वह भी मिट गया। शुभ योग और यथाख्यात चारित्र दो हैं तो शुभ योग तो मिट गया और यथाख्यात चारित्र रह गया।

"यथाख्यात चारित्र को शुभ योग कहना, पाँचो ही चारित्र को शुभ योग कहना यह विपरीत श्रद्धा है [1]।"

१०—भंडोपकरण आस्रव (गा० १६) :

आगम मे इसे 'उपकरण असंवर' कहा गया है[2]। वस्त्र, पात्रादि को उपकरण कहते हैं। साधु द्वारा नियत और कल्पनीय उपकरणो का यतनापूर्वक सेवन पुण्य-आस्रव है। उसके द्वारा अनियत और अकल्पनीय उपकरणो का अयतनापूर्वक सेवन पापास्रव है। गृहस्थ के द्वारा सर्व उपकरणो का सेवन पापास्रव है।

११—सूची-कुशाग्र आस्रव (गा० १७) :

इसे आगम मे 'सूची-कुशाग्र असंवर' कहा गया है[3]। सूची-कुशाग्र उपलक्षण रूप है। ये समस्त उपग्राहिक उपकरणो के सूचक हैं। कल्पनीय सूची-कुशाग्र आदि का यतनापूर्वक

१—टीकम डोसी की चर्चा।

२—ठाणाङ्ग १० १ ७०६

३—ठाणाङ्ग १० १ ७०६

सोतिदितअसवरे जाव सूचीकुसग्गअसवरे।

सेवन पुण्यास्रव है। अयतनापूर्वक सेवन पापास्रव है। गृहस्थ द्वारा इन सबका सेवन पापास्रव है।

सूची-कुशाग्र आस्रव बीसवा आस्रव है। स्वामीजी ने मिथ्यात्व आस्रव से लेकर सूची-कुशाग्र आस्रव तक बीसो आस्रवो की परिभाषाएँ दी हैं। ये परिभाषाएँ गा० १-१७ में प्राप्त हैं। इन परिभाषाओं का विवेचन इस टिप्पणी के साथ समाप्त होता है।

उक्त गाथाओं में एक-एक आस्रव की परिभाषा देने के साथ-साथ स्वामीजी यह सिद्ध करते गये हैं कि अमुक आस्रव किस प्रकार जीव-पर्याय है और वह किस प्रकार अजीव नहीं हो सकता।

स्वामीजी की सामान्य दलील है—

"मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग, हिंसा करना, झूठ बोलना, चोरी करना, मैथुन का सेवन करना, ममता करना, पाँचो इन्द्रियो की प्रवृत्ति करना, मन योग, वचन योग, काय योग, भड-उपकरण की अयतना, सूची-कुशाग्र का सेवन—ये सब जीव के भाव हैं, जीव ही उन्हें करता है, वे जीव के ही होते हैं। मिथ्यात्व आदि आस्रव हैं। अत वे जीव-भाव हैं, जीव ही उनका सेवन करता है, वे जीव के ही होते हैं अत जीव-परिणाम हैं, जीव हैं।"

स्वामीजी ने कषाय आस्रव और योग आस्रव को जीव सिद्ध करने के लिए इस सामान्य दलील के उपरान्त आगम-प्रमाण की ओर भी सकेत किया है। आगम मे आठ आत्मा मे कषाय आत्मा का स्पष्ट उल्लेख है। आठ आत्माओ में द्रव्य आत्मा मूल है। अवशेष सात आत्माएँ भाव आत्माएँ हैं। वे द्रव्य आत्मा के लक्षण-स्वरूप, उसके पर्याय—परिणाम स्वरूप हैं। इस तरह कषाय आस्रव आगम-प्रमाण से जीव-भाव है। आगम मे जीव-परिणामो मे कषाय-परिणाम का उल्लेख है। कर्मो के उदय से जीव मे जो भाव उत्पन्न होते हैं उनमे से कषाय एक है[1]। इससे भी उपर्युक्त बात सिद्ध होती है।

कषाय आत्मा की तरह ही आगम मे योग आत्मा का भी उल्लेख है। दस जीव-परिणामो मे योग-परिणाम है। जीव के औदयिक भावो मे योग का उल्लेख है। इस तरह योग आस्रव स्पष्टत जीव-परिणाम—जीव-भाव—जीव सिद्ध होता है[2]।

१२—द्रव्य योग, भाव योग (गा० १८)

योग दो तरह के होते हैं—द्रव्य-योग और भाव-योग। मन, वचन और काय द्रव्य-योग हैं। उनके व्यापार भाव योग हैं। द्रव्य-योग रूपी हैं—वर्ण, गध, रस और स्पर्श युक्त होते हैं। भाव-योग जीव-परिणाम हैं अत अरूपी—वर्णादि रहित हैं। द्रव्य

१—देखिए पृ० ४२५ टि० २४, पृ० ४०६ टि० २६

२—वही

योगो से कर्म का आगमन नही होता। भाव-योग कर्म के हेतु होते हैं—आस्रव रूप हैं। द्रव्य-योग भाव-योग के सहचर होते हैं।

स्वामीजी ने यहाँ कही हुई बात को अन्यत्र इस प्रकार रखा है—"(ठाणाङ्ग टीका में) "तीनूं ई जोगा नै क्षयोपशम भाव कह्या छै। अने आत्म नो वीर्य कह्यो छै। आत्मा नो वीर्य तो अरूपी छै। ए तो भाव जोग छै। द्रव्य जोग तो पुद्गल छै। ते भाव जोग रे साथे हाले छै। इम द्रव्य जोग भाव जोग जाणवा। भाव जोग ते आश्रव छै। डाहा हुवे ते विचारजो।"

स्वामीजी ने ठाणाङ्ग की टीका का उल्लेख किया है। वहाँ का विवेचन नीचे दिया जाता है

"वीर्यांतराय कर्म के क्षय और क्षयोपशम से उत्पन्न लब्धिविशेष के प्रत्ययरूप और अभिसंधि और अनभिसंधि पूर्वक आत्मा का जो वीर्य है वह योग है। कहा है—'योग, वीर्य, स्थाम, उत्साह, पराक्रम, चेष्टा, शक्ति, सामर्थ्य—ये योग के पर्याय हैं[2]।' वीर्य योग दो प्रकार का है—सकरण और अकरण। अलेश्यी केवली के समस्त ज्ञेय और दृश्य पदार्थों के विषय मे केवलज्ञान और केवलदर्शन को जोडनेवाला जो अपरिस्पद रहित, प्रतिघात रहित वीर्य विशेष है वह अकरण वीर्य है। मन योग, वचन योग और काय योग से अकरण योग का अभिप्राय नहीं है। सकरण वीर्य योग है। जिससे जीव कर्म द्वारा युक्त हो वह योग है। योग वीर्यान्तराय के क्षयोपशम जनित जीव-परिणाम विशेष है। कहा है—'मन, वचन और काय से युक्त जीव का आत्मसम्बन्धी जो वीर्य परिणाम है उसे जिनेश्वरो ने योग सज्ञा से व्यक्त किया है। अग्नि के योग से जैसे रक्तता घडे का परिणाम होता है वैसे ही जीव के करणप्रयोग में वीर्य भी आत्मा का परिणाम होता है[3]।' मनकरण से युक्त जीव का योग—वीर्य पर्याय, दुर्वल को लकडी के सहारे की तरह,

---

१—२०६ बोल की हुण्डी बोल १५७

२—ठाणाङ्ग ३ १ १२४ टीका

इह वीर्यान्तरायक्षयक्षयोपशमसमुत्थलब्धिविशेषप्रत्ययमभिसन्ध्यनभिसन्धिपूर्वमात्मनो वीर्यं योग, आह च—जोगो वीरिय थामो उच्छाह परक्कमो तहा चेट्ठा।
सत्ती सामत्थन्ति य जोगस्य हवति पज्जाया॥

३—ठाणाङ्ग ३ १ १२४ टीका

युज्यते जीव कर्मभिर्येन 'कम्म जोगनिमित्त वज्भइ' त्ति वचनात् युङ्क्ते प्रयुङ्क्ते य पर्याय स योगो—वीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितो जीवपरिणामविशेष इति, आह च—

मणसा वयसा काएण वावि जुत्तस्य विरियपरिणामो।
जीवस्स अप्पणिज्जो स जोगसन्नो जिणक्खाओ॥
तओजोगेण जहा रत्तत्ताई घडस्स परिणामो।
जीवकरणप्पओए विरियमवि तहप्पपरिणामो॥

मनोयोग है। अथवा मन का योग—करना, कराना और अनुमतिरूप व्यापार योग है। इसी तरह वाक्योग और काय योग हैं[1]।"

अभयदेव सूरि ने अन्यत्र लिखा है—"मननं मन —मनन करना मन है। औदारिक आदि शरीर की प्रवृत्ति द्वारा ग्रहण किये हुए मनोद्रव्य के समुदाय की सहायता से होनेवाला जीव का मनन रूप व्यापार मनोयोग है[2]। भावरूप व्युत्पत्त्यर्थ को लेकर यह भाव-मन का कथन है।

"औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर के व्यापार द्वारा ग्रहण किये हुए भाषा-द्रव्य के समूह की सहायता से जीव का व्यापार वचनयोग है[3]।

"जिसके द्वारा इकट्ठा किया जाता है उसे काय—शरीर कहते हैं। उसके व्यापार को कायव्यायाम कहते हैं। वह औदारिकादि शरीरयुक्त आत्मा के वीर्य की परिणति विशेष है[4]।"

१३—द्रव्य योग अष्टस्पर्शी है और कर्म चतुर्स्पर्शी (गा० १६-२०)

जो द्रव्य काययोग आदि को आस्रव मानते हैं उनके अनुसार भी आस्रव कर्म नहीं। द्रव्य काययोग अष्टस्पर्शी हैं जब कि कर्म चतुर्स्पर्शी हैं। अत उनके द्वारा कहा जानेवाला द्रव्य काययोग आस्रव कर्म नहीं हो सकता।

आचार्य जवाहिरलालजी लिखते हैं—"मिथ्यात्व, कषाय, अव्रत और योग को जीवांश की मुख्यता को लेकर जीवोदय निष्पन्न कहा है। ये एकान्त जीव हैं इनमे पुद्गल

१—ठाणाङ्ग ३ १ १२४ टीका

मनसा करणेन युक्तस्य जीवस्य योगो—वीर्यपर्यायो दुर्बलस्य यष्टिकाद्रव्यवदुपष्टम्भ करो मनोयोग इति, मनसो वा योग —करणकारणअनुमतिरूपो व्यापारो मनोयोग, एवं वाग्योगोऽपि, एवं काययोगोऽपि

२—वही १ १९ की टीका

'एगे मणे' त्ति -मनन मन —औदारिकादिशरीरव्यापाराहृतमनोद्रव्यसमूहसाचिव्या-ज्जीवव्यापारो, मनोयोग इति भाव

३—वही १ २० की टीका

'एगा वइ' त्ति वचन वाक्—औदारिकवैक्रियाहारकशरीरव्यापाराहृतवाग्द्रव्यसमूह-साचिव्याज्जीवव्यापारो, वाग्योग इति भाव

४—वही १ २१ टीका

'एगे कायवायामे' त्ति चीयत इति काय —शरीर तस्य व्यायामो व्यापार कायव्यायाम औदारिकादिशरीरयुक्तस्यात्मनो वीर्यपरिणतिविशेष इति भाव

का सर्वथा अभाव है यह शास्त्र का तात्पर्य नहीं है क्योंकि कारण के अनुरूप ही कार्य होता है। मिट्टी से मिट्टी का ही घडा बनता है—सोने का नहीं बनता। आठ प्रकार की कर्म प्रकृतियो का उदय चतु स्पर्शी पौद्गलिक माना गया है इसलिए उससे उत्पन्न होनेवाले पदार्थ भी चतु स्पर्शी पौद्गलिक ही होंगे, एकांत अरूपी और एकांत अपौद्गलिक नहीं हो सकते। मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय और योग आठ प्रकार की कर्म की प्रकृतियो के उदय से उत्पन्न होते हैं। इसलिए अपने कारण के अनुसार ये रूपी और चतु स्पर्शी पौद्गलिक हैं एकांत अरूपी और अपौद्गलिक नहीं है तथापि जीवांश की मुख्यता को लेकर शास्त्र में इन्हें जीवोदय निष्पन्न कहा है [१]।"

उपर्युक्त उद्धरणमें योग को चतु स्पर्शी कहा गया है पर आचार्य जवाहिरलालजी ने उक्त अधिकार मे ही एकाधिक स्थानो मे योग को अष्टस्पर्शी स्वीकार किया है—जैसे—"आठ आत्मा में कषाय और योग क्रमश चतु स्पर्शी और अष्टस्पर्शी पुद्गल हैं [२]।" " ससारी आत्मा रूपी भी होता है इसलिए कषाय और योग के क्रमश चतु स्पर्शी और अष्टस्पर्शी रूपी होने पर भी आत्मा होने मे कोई सन्देह नहीं[३]।" "मिथ्यात्व,कषाय और योग को चतु स्पर्शी और काययोग को अष्टस्पर्शी पुद्गल माना जाता है [४]।"

टिप्पणी १२ में टीका के आधार से योग का जो विस्तृत विवेचन दिया गया है उससे स्पष्ट है कि भाव योग ही आस्रव है, द्रव्ययोग नहीं। भाव योग कदापि रूपी नहीं हो सकता।

१४—आस्रवों के सावद्य-निरवद्य का प्रश्न (गा० २१-२२)

इन गाथाओ में २० आस्रवो का सावद्य-निरवद्य की दृष्टि से विवेचन है।

स्वामीजी के मत से १६ आस्रव एकान्त सावद्य हैं। उनसे केवल पाप का आगमन होता है। योग आस्रव, मन प्रवृत्ति आस्रव, वचन प्रवृत्ति आस्रव और काय प्रवृत्ति आस्रव —ये चारो आस्रव सावद्य और निरवद्य दोनो प्रकार के हैं। योग शुभ और अशुभ दोनो प्रकार के होते हैं, यह पहले बताया जा चुका है। शुभ योग निरवद्य हैं और उनसे पुण्य का सचार होता है। अशुभ योग सावद्य हैं और उनसे पाप का सचार होता है। योग की शुभाशुभता की अपेक्षा से उक्त चारो आस्रव सावद्य-निरवद्य दोनो हैं।

१—सद्धर्ममण्डनम् आश्रवाधिकार बोल १८

२—वही बोल १५

३—वही बोल १६

४—वही बोल ५

१५—स्वाभाविक आस्रव (गा० २३-२५)

स्वामीजी ने इन गाथाओं में २० आस्रवों में स्वाभाविक कितने हैं और कर्तव्य रूप कितने हैं—इसका विवेचन किया है।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग का सामान्य रूप यह है कि ये पाँचों ही आस्रव-द्वार हैं। पाँचों ही कर्मों के कर्त्ता—हेतु—उपाय हैं। गृह के प्रवेश-द्वार की तरह आस्रव जीव-प्रदेश में कर्मों के आगमन के हेतु हैं—'शुभाशुभकर्मागमद्वार रूप आस्रव[1]।'

'आस्रवन्ति प्रविशन्ति येन कर्माण्यानीत्याश्रव कर्मबन्धहेतुरिति भाव[2]'—आदि व्याख्याएँ—इसी बात को पुष्ट करती हैं।

उपर्युक्त पाँच आस्रवों में मिथ्यात्व, अविरति, अप्रमाद और कषाय ये स्वभाव रूप हैं—आत्म की स्थिति रूप हैं। ये आत्म की अमुक प्रकार की भाव-परिणति रूप हैं—योग आस्रव इनसे कुछ भिन्न है। वह स्वभाव रूप—स्थिति रूप—परिणति रूप भी होता है और प्रवृत्ति रूप भी। प्रथम चार आस्रव प्रवृत्ति रूप—क्रिया रूप—व्यापार रूप नहीं। व्यापार रूप आस्रव केवल योग है।

बीस आस्रवों में अन्तिम पन्द्रह क्रिया रूप हैं—व्यापार रूप हैं। योग आस्रव भी व्यापार रूप है अत उक्त पन्द्रह आस्रवों का समावेश योग आस्रव में होता है। वास्तव में उक्त पन्द्रह आस्रव योगास्रव के ही भेद अथवा रूप हैं। क्योंकि हिंसा करना, झूठ बोलना यावत् सूची-कुशाग्र का सेवन करना—योग के अतिरिक्त अन्य नहीं।

१६—पापस्थानक और आस्रव (गा० २६-३६)

प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य अठारह पाप भी आस्रव हैं। स्वामीजी ने आस्रव को जीव-परिणाम कहा है। भगवती सूत्र में प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य को रूपी—वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शयुक्त कहा है[3]। स्वामीजी के सामने प्रश्न आया कि भगवती सूत्र के उक्त उल्लेख में प्राणातिपात आदि अठारहों आस्रव रूपी ठहरते हैं उन्हें अरूपी किस आधार पर कहा जा सकता है। स्वामीजी इसी शंका का समाधान यहाँ करते हैं। उनका कहना है कि भगवती में प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य-स्थानक को रूपी कहा है, प्राणातिपातादि अठारह पापों को नहीं। प्राणातिपातादि पाप आस्रव

१—तत्त्वा० ६.१ सर्वार्थसिद्धि

२—ठाणाङ्ग १.१३ टीका

३—देखिए टि० २(१) पृ० २०२

है, प्राणातिपातादि स्थानक आस्रव नहीं। अत भगवती सूत्र के उक्त उल्लेख से आस्रव रूपी नहीं ठहरता।

प्राणातिपात आदि अठारह ही अलग-अलग पाप हैं और अठारह ही आस्रव हैं। इनके आधार स्वरूप अठारह पाप-स्थानक हैं। जिस स्थानक का उदय होता है उसी के अनुरूप पाप जीव करता है। ये स्थानक अजीव हैं। चतु स्पर्शी कर्म हैं। रूपी हैं। पर इनके उदय से जीव जो कार्य करता है और जो आस्रव रूप हैं वे अरूपी होते हैं। जिनके उदय से मनुष्य हिंसा आदि पाप-कार्य करता है वे मोहकर्म हैं—अठारह पाप-स्थानक हैं और उदय से जो हिंसा आदि कर्तव्य—व्यापार जीव करता है वे योगास्रव हैं। इस तरह पाप-स्थानक और पाप दोनों भिन्न-भिन्न हैं।

प्राणातिपात—हिंसा आदि पाप जीव करता है। प्राणातिपातादि पाप-स्थानक उनके उदय से होते हैं। प्राणातिपातादि-स्थानकों के उदय से जीव जो हिंसादि सावद्य कार्य करता है वे जीव-परिणाम हैं। वे ही आस्रव हैं और अरूपी हैं। इनसे जीव-प्रदेशों में नये कर्मों का प्रवेश होता है[1]।

भगवती सूत्र में कहा है—"एवं खलु पाणाइवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले वट्टमाणे सच्चेव जीवे सच्चेव जीवाया[2]।' अर्थात् प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य पर्यन्त में वर्तमान जीव है वही जीवात्मा है। यह कथन भी प्राणातिपात आदि आस्रवों का जीव-परिणाम सिद्ध करता है।

१७—अध्यवसाय, परिणाम, लेश्या, योग और ध्यान (गा० ३७-४१)

स्वामीजी ने इन गाथाओं में जो कहा है उसका सार इस प्रकार है अध्यवसाय, परिणाम, लेश्या, योग और ध्यान दो-दो प्रकार के होते हैं—शुभ—अच्छे और अशुभ—मलीन। शुभ अध्यवसाय, परिणाम, लेश्या, योग और ध्यान पुण्य के द्वार हैं तथा अशुभ अध्यवसाय, परिणाम, लेश्या, योग और ध्यान पाप के द्वार। शुभ अशुभ दोनों ही अध्यवसाय, परिणाम, लेश्या, योग और ध्यान—जीव-परिणाम, जीव-भाव, जीव-पर्याय हैं। शुभ परिणामादि संवर निर्जरा के हेतु हैं। उनसे पुण्य का आगमन उसी

१—विस्तृत व्याख्या के लिए देखिए पृ० २६१-२६४ टि० २ (१)। इसी विषय पर श्रीमद् जयाचार्य ने जो ढाल लिखी है उसका कुछ अंश पृ० २६३ पर उद्धृत है। समूची ढाल परिशिष्ट में दी जा रही है।

२—भगवती १७.२

प्रकार सहज भाव से होता है जिस प्रकार धान के साथ पुग्राल की उत्पत्ति। अशुभ परिणाम आदि एकांत पाप के कर्त्ता हैं[1]।

लेश्या और योग के सम्बन्ध में स्वामीजी ने अन्यत्र लिखा है

"अनुयोगद्वार मे जीव उदय-निष्पन्न के ३३ बोलो मे छ भाव लेश्याओ का उल्लेख है। जो तीन भली लेश्याएँ है, वे धर्म लेश्याएँ हैं। निर्जरा की करनी हैं। पुण्य ग्रहण करती हैं उस अपेक्षा से वे उदयभाव कही गयी हैं। जो तीन अधर्म लेश्याएँ हैं, उनसे एकान्त पाप लगता है। वे प्रत्यक्षत उदयभाव हैं—अप्रशस्त कर्तव्य की अपेक्षा से।

"उदय के ३३ बोलो में सयोगी भी है। उसमें सावद्य और निरवद्य दोनो योगो का समावेश है। निरवद्य योग निर्जरा की करनी है। उनसे निर्जरा होती है, साथ-साथ पुण्य भी लगता है जिस अपेक्षा से उन्हे उदयभाव कहा है। सावद्य योग पाप का कर्त्ता है। सावद्य योग प्रत्यक्षत उदयभाव है।

"छही भाव लेश्याएँ उदयभाव हे। तीन भली लेश्या और निरवद्य योग को उदय भाव मे तीर्थंकर ने कहा है। निरवद्य योग और निरवद्य लेश्या पुण्य के कर्त्ता हैं। इसका न्याय इस प्रकार है। अन्तरायकर्म के क्षय होने से नामकर्म के सयोग से क्षायक वीर्य उत्पन्न होता है। वह वीर्य स्थिर-प्रदेश है। जो चलते हैं वे योग है। मोहकर्म के उदय से नामकर्म के सयोग से चलते है वे सावद्य योग है, पाप के कर्त्ता हैं। मोहकर्म के उदय विना नामकर्म के सयोग मे जीव के प्रदेश चलते हैं वह निरवद्य योग है। निरवद्य योग निर्जरा की करनी हैं। पुण्य के कर्त्ता हैं।

"अन्तरायकर्म के क्षय और क्षयोपशम होने से वीर्य उत्पन्न होता है। उस वीर्य का व्यापार भला योग और भली लेश्या है। निर्जरा की करनी है। पुण्य का कर्त्ता है। अनुयोगद्वार मे छही भावलेश्याओ को उदयभाव कहा है। सयोगी कहने से भले-बुरे योगो को भी उदयभाव कहा है। भली लेश्या और भले योग पुण्य ग्रहण करते हैं जिससे उन्हे उदयभाव कहा है। भले योग और भली लेश्या से कर्म कटते हैं उस अपेक्षा से उन्हे निर्जरा की करनी कहा गया है। छही लेश्याओ को कर्मों का कर्त्ता कहा है। भली लेश्या भली गति का बन्ध करती है। बुरी लेश्या बुरी गति का बन्ध करती है।

१—देखिए पृ० ४०५, ४४४-४४५

"लेश्या और योग मे एकत्व-जैसा देखा जाता है। अगर दोनो मे अन्तर है तो वह ज्ञानी ग्राह्य है। जहाँ सलेश्यी वहाँ सयोगी, जहाँ सयोगी वहाँ सलेश्यी, जहाँ अयोगी वहाँ अलेश्यी और जहाँ अलेश्यी वहाँ अयोगी देखा जाता है।

"क्षायक क्षयोपशम भाव से करनी करते समय उदयभाव भी सहचर रूप से प्रवर्तन करता है। जिससे पुण्य लगता है। यथातथ्य चलने से ईर्यावही कर्म लगते हैं। वे भी उदयभाव योग से लगते हैं[1]।"

स्वामीजी ने यहाँ लेश्या आदि के विषय मे जो कहा है उसका आगमिक और ग्रन्थान्तर आधार नीचे दिया जाता है।

एक बार गौतम ने पूछा—"भगवन्! कृष्णलेश्या के कितने वर्ण हैं?" भगवान ने उत्तर दिया—"गौतम! द्रव्य लेश्या को प्रत्याश्रित कर पाँच वर्ण यावत् आठ स्पर्श कहे गए हैं। भाव लेश्या को प्रत्याश्रित कर उन्हे अवर्ण कहा गया है। यही बात शुक्ल लेश्या तक जाननी चाहिए[2]।"

दस विध जीव-परिणाम मे लेश्या-परिणाम भी है[3]। भाव लेश्या जीव-परिणाम है[4]। द्रव्य लेश्या अष्टस्पर्शी पुद्गल है। वह जीव-परिणाम नही। जीव उदयनिष्पन्न के ३३ बोलो मे छ ही लेश्याओ को गिनाया है[5]। ये भी भाव लेश्याएँ हैं।

छ लेश्याओ मे से प्रथम तीन को अधर्म और अवशेष तीन को धर्म लेश्याएँ कहने का आधार उत्तराध्ययन की निम्न गाथा है

किण्हा नीला काऊ, तिन्नि वि एयाओ अहम्मलेसाओ।
तेऊ पम्हा सुक्का, तिन्नि वि एयाओ धम्मलेसाओ।

एक बार गौतम ने पूछा "भगवन्! छ लेश्याओ मे से कौन-कौन सी अविशुद्ध हैं और कौन-कौन-सी विशुद्ध?" भगवान ने उत्तर दिया—"गौतम! कृष्णलेश्या, नील-लेश्या और कापोतलेश्या—ये तीन लेश्याएँ अविशुद्ध हैं और तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या—ये तीन लेश्याएँ विशुद्ध हैं। हे गौतम! इसी तरह पहली तीन अप्रशस्त हैं और

१—टीकम डोसी की चर्चा

२—भगवती १२ ५

कण्हलेसा ण भते! कइवन्ना—पुच्छा गोयमा! दव्वलेस पडुच्च पचवन्ना, जाव—अट्ठफासा पण्णत्ता भावलेस पडुच्च अवन्ना ४, एव जाव सुक्कलेसा।

३—ठाणाङ्ग १० १ ७१३, मूल पाठ के लिए देखिए पृ० ४०५ टि० २४

४—देखिए पृ० ४०६ टि० २५

५—अनुयोगद्वार सू० १२६, मूल पाठ के लिए देखिए पृ० ४०६ टि० २६

बाद की तीन प्रशस्त है। पहली तीन संक्लिष्ट है और बाद की तीन असंक्लिष्ट। पहली तीन दुर्गति को ले जाने वाली है और बाद की तीन सुगति को[1]।"

दिगम्बर ग्रन्थों में वे ही छः लेश्याएँ मानी गयी हैं जो श्वेताम्बर आगमों में है[2]। शुभ-अशुभ का वर्गीकरण भी उसी रूप में है[3]।

लेश्या की परिभाषा दिगम्बर-ग्रन्थों में इस रूप में मिलती है—"जोगपउत्ती लेस्सा कसायउदयाणुरंजिया होइ[4]।" कषाय के उदय से अनुरंजित मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र और जयसेन ने भी यही परिभाषा अपनाई है[5]।

श्री नेमिचन्द्र लिखते हैं "जिस से जीव पुण्य-पाप को लगाता है अथवा उन्हें अपना करता है वह (भाव) लेश्या है[6]।

आचार्य पूज्यपाद ने स्पष्टतः लेश्या के दो भेद—द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या का उल्लेख किया है और भावलेश्या की वही परिभाषा दी है जो गोम्मटसार में प्राप्त है[7]। गोम्मटसार में कहा है "वर्णोदय से सम्पादित शरीरवर्ण द्रव्य लेश्या है। मोह के

१—प्रज्ञापना लेश्यापद १७.४.४७

एवं तओ अविसुद्धाओ, तओ विसुद्धाओ
तओ अप्पसत्थाओ, तओ पसत्थाओ
तओ संकिलिट्ठाओ, तओ असंकिलिट्ठाओ
तओ दुग्गतिगामियाओ, तओ सुगतिगामियाओ

२—गोम्मटसार जीवकाण्ड ४९२

किण्हा णीला काऊ तेऊ पम्मा य सुक्कलेस्सा य।
लेस्साणं णिद्देसा छच्चेव हवंति णियमेण॥

३—वही ४९९-५००

४—गोम्मटसार जीवकाण्ड ४९०

५—पञ्चास्तिकाय गा० ११९ टीकाएँ

(क) कषायानुरञ्जिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या
(ख) कषायोदयानुरञ्जिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या

६—गोम्मटसार जीवकाण्ड ४८९

लिंपइ अप्पीकीरइ एदीए णियअपुण्णपुण्णं च।
जीवोत्ति होदि लेस्सा लेस्सागुणजाणयक्खादा॥

७—तत्त्वार्थ० २.६ सर्वार्थसिद्धि

लेश्या द्विविधा, द्रव्यलेश्या भावलेश्या चेति। भावलेश्या कषायोदयरञ्जिता योगप्रवृत्तिरिति

उदय, क्षयोपशम, उपशम और क्षय से उत्पन्न जीवस्पन्दन भाव लेश्या है[1]।"

दिगम्बर आचार्यो ने भी छ लेश्याओ को उदयभाव कहा है[2]। इस सम्बन्ध मे सर्वार्थसिद्धि मे निम्न समाधान मिलता है

"उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगीकेवली गुणस्थान मे शुक्ललेश्या है। वहा पर कषाय का उदय नही फिर लेश्याएँ औदयिक कैसे ठहरती है?"

"जो योगप्रवृत्ति कषाय के उदय से अनुरजित है वही लेश्या है। इस प्रकार पूर्वभावप्रज्ञापन नय की अपेक्षा से उपशान्तकषाय और गुणस्थानो मे भी लेश्या को औदयिक कहा है। अयोगीकेवली के योगप्रवृत्ति नही होती इसलिए वे लेश्यारहित हैं ऐसा निश्चय होता है[3]।"

गोम्मटसार मे भी कहा है—"अयोगिस्थानमलेश्य तु" (जी० का० ५३२)—अयोगी स्थान में लेश्या नही होती। जिन गुणस्थानो मे कषाय नष्ट हो चुकी हैं उनमे लेश्या होने का कथन भूतपूर्वगति न्याय से है। अथवा योगप्रवृत्ति मुख्य होने से वहाँ लेश्या भी कही गयी है[4]।

अध्यवसाय के सम्बन्ध मे निम्न बातें जानने जैसी है

श्रीकुन्दकुन्दाचार्य ने बुद्धि, व्यवसाय, अध्यवसान, मति, विज्ञान, चित्त, भाव और परिणाम सबको एकार्थक कहा है[5]। इनकी व्याख्या क्रमश इस प्रकार है—बोधन बुद्धि, व्यवसान व्यवसाय., अध्यवसान अध्यवसाय, मनन पर्यालोचन मतिश्च, विज्ञायते अनेनेति विज्ञान, चिन्तन चित्त, भवन भाव, परिणमन परिणाम[6]।

१—गोम्मटसार जीवकाण्ड . ५३६

वण्णोदयसपादिदसरीरवण्णो दु दव्वदो लेस्सा ।
मोहुदयखओवसमोवसमखयजजीवफदणभावो ॥

२—(क) तत्त्वा० २.६

(ख) गोम्मटसार जीवकाण्ड ५५५

भावादो छल्लेस्सा ओदयिया होति अप्पबहुग तु ।

३—तत्त्वा० २.६ सर्वार्थसिद्धि

४—गोम्मटसार जीवकाण्ड ५३३

णट्ठकसाये लेस्सा उच्चदि सा भूदपुव्वगदिणाया ।
अहवा जोगपउत्ती मुक्खोत्ति तहिं हवे लेस्सा ॥

५—समयसार बध अधिकार २७१

बुद्धी ववसाओवि य अज्झवसाण मई य विण्णाण ।
एक्कट्ठमेव सव्व चित्त भावो य परिणामो ॥

६—वही २७१ की जयसेनवृत्ति

कुन्दकुन्दाचार्य लिखते है—"जीव अध्यवसान से पशु, नरक, देव, मनुष्य इन सभी पर्याय—भावो और अनेकविध पुण्य-पाप को करता है[1] ।"

ध्यान के विषय मे कुछ बातें नीचे दी जाती हैं

वाचक उमास्वाति के अनुसार—एकाग्ररूप मे चिन्ता का निरोध करना ध्यान है[2] । इसका भावार्थ है एक विषय मे चित-निरोध । आचार्य पूज्यपाद ने अपनी टीका मे लिखा है—"'अग्र' का अर्थ मुख है। जिसका एक अग्र है वह एकाग्र कहलाता है। नाना पदार्थों का अवलम्बन लेने से चिन्ता परिस्पन्दवती होती है । उसे अन्य अशेष मुखो से हटा कर एक अग्र अर्थात् एकमुख करना एकाग्रचिन्तानिरोध कहलाता है । यहाँ प्रश्न उठता है निरोध अभावरूप होने से क्या खर-शृ ग की तरह ध्यान असत् नही होगा ? इसका समाधान इस प्रकार है—अन्य चिन्ता की निवृत्ति की अपेक्षा वह असत् है और अपने विषय की प्रवृत्ति की अपेक्षा सत् । निश्चल अग्निशिखा के समान निश्चल रूप से अवभासमान ज्ञान ही ध्यान है[3] ।" चित्त के विक्षेप का त्याग करना ध्यान है[4] ।"

दु ख रूप अथवा पीडा पहुचाने रूप ध्यान को आर्तध्यान कहते हैं[5] । क्रूरता रूप ध्यान रौद्रध्यान है[6] । अहिंसा आदि भावो से युक्त ध्यान धर्मध्यान है[7] । मैल दूर हुए स्वच्छ वस्त्र की तरह शुचिगुण से युक्त ध्यान को शुक्लध्यान कहते हैं[8] ।

१—समयसार बध अधिकार २६८

सव्वे करेइ जीवो अज्झवसाणेण तिरियणेरयिए ।
देवमणुये य सव्वे पुण्ण पाप च णेयविह ॥

२—तत्त्वा० ९ २७

उत्तमसहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्

३—तत्त्वा० ९ २७ सर्वार्थसिद्धि

४—वही ९ २१ सर्वार्थसिद्धि

चित्तविक्षेपत्यागो ध्यानम्

५—वही ९ २८ सर्वार्थसिद्धि

ऋत दु खम्, अर्दनमर्तिर्वा, तत्र भवमार्तम् ।

६—वही ९ २८ सर्वार्थसिद्धि

रुद्र क्रूराशयस्तस्य कर्म तत्र भव वा रौद्रम्

७—वही ९ २८ सर्वार्थसिद्धि

धर्मादनपेत धर्म्यम्

८—वही ९ २८ सर्वार्थसिद्धि

शुचिगुणयोगाच्छुक्लम्

इनमें से प्रथम दो ध्यान अप्रशस्त हैं और अन्तिम दो प्रशस्त[1]। अप्रशस्त पापास्रव के कारण हैं और प्रशस्त कर्मों के निर्दहन करने की सामर्थ्य से युक्त[2]। प्रशस्त मोक्ष के हेतु हैं और अप्रशस्त ससार के[3]।

१८—पुण्य का आगमन सहज कैसे ? (गा० ४२-४५)

गाथा ४१ मे स्वामीजी ने शुभ अध्यवसाय, परिणाम, लेश्या, योग और ध्यान को सवर और निर्जरा रूप कहा है तथा उनसे पुण्य का आगमन सहज भाव से होता है, ऐसा लिखा है। सवर और निर्जरा की करनी से पुण्य का सहज आगमन कैसे होता है—इसी बात को स्वामीजी ने गा० ४२-४५ मे स्पष्ट किया है। इस विषय मे पहले कुछ विवेचन किया जा चुका है[4]। प्रश्न है—यथातथ्य मोक्ष मार्ग की करनी करते हुए पुण्य क्यों लगता है? इसका उत्तर स्वामीजी ने इस प्रकार दिया है—

"एक मनुष्य को गेहूँ की अत्यन्त चाह है पर पयाल की चाह नहीं। गेहूँ को उत्पन्न करने के लिए उसने गेहूँ बोये। गेहूँ उत्पन्न हुए साथ में पयाल भी उत्पन्न हुआ। जिस तरह इस मनुष्य को गेहूँ की ही चाह थी, पयाल की नहीं फिर भी पयाल साथ मे उत्पन्न हुआ उसी प्रकार निर्जरा की करनी करते हुए भले योगो की प्रवृत्ति से कर्म क्षय के साथ-साथ पुण्य सहज रूप से उत्पन्न होते हैं। गेहूँ के साथ बिना चाह पयाल होता है वैसे ही निर्जरा की करनी के साथ बिना चाह पुण्य होता है।

"धूल लगाने की इच्छा न होने पर भी राजस्थान मे गोचरी जाने पर जैसे साधु के शरीर मे धूल लग जाती है वैसे ही निर्जरा की करनी करते हुए पुण्य लग जाता है। निरवद्य योगो की प्रवृत्ति करते समय पुण्य निश्चय रूप से लगता ही है[5]।

"निरवद्य करनी करते समय जीव के प्रदेशो मे हलन-चलन होती है तब कर्म-पुद्गल आत्म-प्रदेशो मे प्रवेश करते हैं। कर्म-पुद्गलो का स्वभाव चिपकने का है। जीव के प्रदेशो

१—तत्त्वा० ९ २८ सर्वार्थसिद्धि

तदेतच्चतुर्विध ध्यान द्वैविध्यमश्नुते। कुत ? प्रशस्ताप्रशस्तभेदात्

२—वही

अप्रशस्तमपुण्यास्रवकारणत्वात्, कर्मनिर्दहनसामर्थ्यात्प्रशस्तम्

३—तत्त्वा० ९ ३०

४—पृ० १८५ अंतिम अनुच्छेद तथा पृ० २०४ टि० ४ (२)

५—टीकम डोसी की चर्चा

का स्वभाव ग्रहण करने का है। उसे मिटाने की शक्ति जीव की नहीं।

"योग प्रशस्त और अप्रशस्त दो प्रकार के होते हैं। अप्रशस्त योग का संवर और प्रशस्त योगो की उदीर्णा—प्रवृत्ति मोक्ष-मार्ग मे विहित है। संवर और उदीर्णा से कर्मों की निर्जरा होती है। संवर और उदीर्णा निर्जरा की करनी है। इस करनी से सहज रूप से पुण्य होता है अत उसे आस्रव मे डाला है। निर्जरा की करनी करते समय जीव के सर्व प्रदेशो में हलन-चलन होती है। उस समय नामकर्म के उदय से पुण्य का प्रवेश होता है[1]।"

१६—बासठ योग और सत्रह संयम (गा० ४६-४७)

यहाँ दो बातें कही गयी हैं—

१—'औपपातिक सूत्र' मे ६२ योगो का उल्लेख है। वे सावद्य और निरवद्य दोनो प्रकार के हैं। योग जीव की क्रिया-करनी है। वह जीव-परिणाम है। अत योग-आस्रव जीव है।

२—असयम के सत्रह भेद भी योग हैं।

असयम के सत्रह भेदो के नाम इस प्रकार हैं[2]

(१) **पृथ्वीकाय असयम** पृथ्वीकाय जीव (मिट्टी, लोहा, ताबा आदि) के प्रति असयम की वृत्ति। उनकी हिंसा का अत्याग।

(२) **अप्काय असयम** जलकाय जीव (ओस, कुहासा आदि) की हिंसा का अत्याग अर्थात् उनके प्रति असयम की वृत्ति।

(३) **तेजस्काय असयम** अग्निकाय जीव (अगार, दीपशिखा आदि) की हिंसा का अत्याग या उनके प्रति असयम की वृत्ति।

(४) **वायुकाय असयम** वायुकाय जीव (पवन, संवर्तक आदि) की हिंसा का अत्याग या उनके प्रति असयम की वृत्ति।

१—टीकम डोसी ने जाब

२—समवायाङ्ग ४ १७

पुढविकायअसंजमे आउकायअसंजमे तेउकायअसंजमे वाउकायअसंजमे वणस्सइ-कायअसंजमे बेइंदियअसंजमे तेइंदियअसंजमे चउरिंदियअसंजमे पंचिंदियअसंजमे अजीवकायअसंजमे पेहाअसंजमे उपेहाअसंजमे अवहट्टुअसंजमे अप्पमज्जणाअसंजमे मणअसंजमे वइअसंजमे कायअसंजमे।

(५) वनस्पतिकाय असयम वनस्पतिकाय जीव (वृक्ष, लता, आलू, मूली आदि) की हिंसा का अत्याग या उनके प्रति असयम की वृत्ति ।

(६) द्वीन्द्रिय असयम दो इन्द्रिय वाले जीव जैसे—सीप, शख आदि की हिंसा का अत्याग या उनके प्रति असयम की वृत्ति ।

(७) त्रीन्द्रिय असयम तीन इन्द्रिय वाले जीव जैसे—कुन्थु, पिपीलिका आदि की हिंसा का अत्याग या उनके प्रति असयम की वृत्ति ।

(८) चतुरिन्द्रिय असयम चार इन्द्रिय वाले जीव जैसे—मक्षिका, कीट, पतग आदि की हिंसा का अत्याग या उनके प्रति असयम की वृत्ति ।

(९) पचेन्द्रिय असयम पांच इन्द्रिय वाले जीव जैसे—मनुष्य, पशु, पक्षी आदि तिर्यञ्च की हिंसा का अत्याग या उनके प्रति असयम की वृत्ति ।

(१०) अजीवकाय असयम बहुमूल्य अजीव वस्तु जैसे—स्वर्ण, आभूषण, वस्त्र आदि का प्रचुर सग्रह और उनके भोग की वृत्ति ।

(११) प्रेक्षा असयम बिना देख-भाल किए सोना, बैठना, चलना आदि अथवा बीज, हरी घास, जीव-जन्तु युक्त जमीन पर सोना, बैठना आदि ।

(१२) उपेक्षा असयम पाप कर्म मे प्रवृत्त को उत्साहित करने की वृत्ति ।

(१३) अपहृत्य असयम मल, मूत्रादि को असावधानी पूर्वक विसर्जन करने की वृत्ति ।

(१४) अप्रमार्जन असयम स्थान, वस्त्र, पात्र आदि को बिना प्रमार्जन काम मे लाने की वृत्ति ।

(१५) मन असयम मन में ईर्ष्या, द्वेष आदि भावो के पोषण की वृत्ति ।

(१६) वचन असयम सावद्य वचनो के प्रयोग की वृत्ति।

(१७) काय असयम गमनागमन आदि क्रियाओ में असावधानी ।

असयम का अर्थ है—अविरति । अविरति को भाव शस्त्र कहा गया है[1] । अत वह स्पष्टत आत्म-परिणाम है । अविरति आस्रव है अत वह भी जीव-परिणाम—जीव है ।

१—ठाणाङ्ग १० १ ७४३

सत्थमग्गी विस लोण सिणेहो खारमबिल ।
दुप्पउत्तो मणोवायाकाया भावो त अविरती ॥

२०—चार संज्ञाएँ (गा० ४६) :

चेतना—ज्ञान का असातावेदनीय और मोहनीय कर्म के उदय से पैदा होने वाले विकार से युक्त होना संज्ञा है[1]। आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं—"आहारादि विषयों की अभिलाषा को संज्ञा कहते हैं[2]।" संज्ञाएँ चार हैं[3] :

(१) आहारसंज्ञा : आहार-ग्रहण की अभिलाषा को आहारसंज्ञा कहते हैं।

(२) भयसंज्ञा : भय मोहनीयकर्म के उदय से होनेवाला त्रासरूप परिणाम भयसंज्ञा है[4]।

(३) मैथुनसंज्ञा : वेद मोहनीयकर्म के उदय से उत्पन्न होनेवाली मैथुन अभिलाषा मैथुन-संज्ञा है[5]।

(४) परिग्रहसंज्ञा : चारित्र मोहनीय के उदय से उत्पन्न परिग्रह अभिलाषा को परिग्रह-संज्ञा कहते हैं[6]।

जीव संज्ञाओं से कर्मों को आत्म-प्रदेशों में खींचता है। इस तरह कर्म की हेतु संज्ञाएँ आस्रव हैं। संज्ञाएँ जीव-परिणाम हैं। अतः आस्रव जीव-परिणाम है—जीव है।

आस्रव रूप संज्ञाओं को भगवान ने अवर्ण कहा है[7]। अतः अन्य आस्रव भी अवर्ण—अरूपी ठहरते हैं।

भगवती सूत्र में दस संज्ञाएं कही गयी हैं[8]। एक बार गौतम ने पूछा—"भगवन्! संज्ञाएँ कितनी हैं?" भगवान महावीर ने उत्तर दिया—"संज्ञाएँ दस हैं—(१) आहार,

---

१—ठाणाङ्ग ४.४.३५६ टीका

संज्ञा—चैतन्य, तच्चासातवेदनीयमोहनीयकर्म्मोदयजन्यविकारयुक्तमाहारसंज्ञादित्वेन व्यपदिश्यते

२—तत्त्वा० २.२४ सर्वार्थसिद्धि

३—देखिए पृ० ४१० टि० ३२

४—ठाणाङ्ग ४.४.३५६ टीका

भयसंज्ञा—भयमोहनीयसम्पाद्यो जीवपरिणामो

५—वही

मैथुनसंज्ञा—वेदोदयजनितो मैथुनाभिलाषः

६—वही

परिग्रहसंज्ञा—चारित्रमोहोदयजनितः परिग्रहाभिलाषः

७—देखिए पृ० ४१० टि० ३२

८—भगवती ७.८

(२) भय, (३) मैथुन, (४) परिग्रह, (५) क्रोध, (६) मान, (७) माया, (८) लोभ, (६) लोक[1] और (१०) ओघ[2] ।"

ये सभी जीव-परिणाम हैं ।

कहा है—"चार मना, तीन लेश्या, इन्द्रियवशता, आर्तरौद्र-ध्यान और दुष्प्रयुक्त ज्ञान और दर्शनचारित्रमोहनीय कर्म के समस्त भाव पापास्रव के कारण हैं[3] ।"

२१—उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार-पराक्रम (गा० ५०-५१)

गोशालक सर्वभाव नियत मानता था । उसकी धर्म-प्रज्ञप्ति में उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम का स्थान नहीं था । भगवान महावीर की धर्म विज्ञप्ति थी—उत्थान है, कर्म है, बल है, वीर्य है, पुरुषकार-पराक्रम है, सर्वभाव नियत नहीं है[4] ।

उत्थान, बल, वीर्य आदि के व्यापार सावद्य और निरवद्य दोनों प्रकार के होते हैं ।

सावद्य उत्थान, बल, वीर्य आदि से जीव के पाप-कर्मों का संचार होता है और निरवद्य उत्थान, बल, वीर्य आदि से पुण्य-कर्म लगते हैं । इस तरह उत्थान, बल, वीर्य आदि के व्यापार आस्रव हैं ।

एक बार गौतम ने पूछा—"भगवन् ! उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार-पराक्रम, कितने वर्ण, गंध, रस और स्पर्श वाले हैं ?"

१—भगवती ७.८ टीका

एवं शब्दार्थगोचरा विशेषावबोधक्रियैव संज्ञायतेऽनयेति लोकसंज्ञा

२—भगवती ७.८ टीका

मतिज्ञानावरणक्षयोपशमाच्छब्दाद्यर्थगोचरा सामान्यावबोधक्रियैव संज्ञायते वस्त्वनयेत्योघसंज्ञा

३—पञ्चास्तिकाय २.१४०

सण्णाओ य तिलेस्सा इंदियवसदा य अत्तरुद्दाणि ।
णाणं च दुप्पउत्तं मोहो पावप्पदा होंति ॥

४—उपासकदशा ६

गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स धम्मपण्णत्ती, नत्थि उट्ठाणे इ वा कम्मे इ वा बले इ वा वीरिए इ वा पुरिसक्कारपरक्कमे इ वा, नियया सव्वभावा, मंगुली णं समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्मपण्णत्ती, अत्थि उट्ठाणे इ वा, कम्मे इ वा, बले इ वा, वीरिए इ वा पुरिसक्कारपरक्कमे इ वा, अणियया सव्वभावा ।

भगवान महावीर ने उत्तर दिया— गौतम ! वे अवर्ण, अगन्ध, अरस और अस्पर्श वाले हैं[1] ।"

इस वार्तालाप में उत्थान, कर्म आदि को स्पष्टतः अरूपी कहा है। उत्थान, कर्म आदि का व्यापार योग आस्रव है। इस तरह योग आस्रव रूपी ठहरता है।

२२—संयती, असंयती, संयतासंयती आदि त्रिक (गा० ५२-५५) :

आगमों में निम्न त्रिक अनेक स्थल और प्रसंगों में मिलते हैं

(१) विरत, अविरत और विरताविरत ।

(२) प्रत्याख्यानी, अप्रत्याख्यानी और प्रत्याख्यानी-अप्रत्याख्यानी ।

(३) संयती, असंयती और संयतासंयती ।

(४) पण्डित, बाल और बालपण्डित ।

(५) जाग्रत, सुप्त और सुप्तजाग्रत ।

(६) संवृत्त, असंवृत्त और संवृत्तासंवृत्त।

(७) धर्मी, अधर्मी और धर्माधर्मी ।

(८) धर्मस्थित, अधर्मस्थित और धर्माधर्मस्थित ।

(९) धर्मव्यवसायी, अधर्मव्यवसायी और धर्माधर्मव्यवसायी ।

नीचे इन में से प्रत्येक पर कुछ प्रकाश डाला जाता है।

(१) विरति, अविरत और विरताविरत

भगवान महावीर ने तीन तरह के मनुष्य बतलाये हैं

(क) एक प्रकार के मनुष्य महा इच्छा, महा आरम्भ और महा परिग्रह वाले होते हैं। वे अधार्मिक, अधर्मानुग, अधर्मिष्ठ, अधर्म की ही चर्चा करने वाले, अधर्म को ही देखने वाले और अधर्म में ही आसक्त होते हैं। वे अधर्ममय स्वभाव और आचरणवाले और अधर्म से ही आजीविका करने वाले होते हैं।

वे हमेशा कहते रहते हैं—मारो, काटो और भेदन करो। उनके हाथ लोहू में रंगे रहते हैं। वे चण्ड, रुद्र और क्षुद्र होते हैं। वे पाप में साहसिक होते हैं। वञ्चन, माया, कूड़-कपट में लगे रहते हैं तथा दुःशील, दुर्व्रत और असाधु होते हैं।

---

[1]—भगवती १२.५

अह भंते ! १ उट्ठाणे, २ कम्मे, ३ बले, ४ वीरिए, ५ पुरिसक्कारपरक्कमे—एस णं कतिवन्ने ? त चेव जाव-अफासे पन्नत्ते ।

वे जीवन भर सर्व प्रकार के प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य (अठारहो पापों) से निवृत्त नही होते। वे जीवन भर सर्व प्रकार के स्नान, मर्दन, वर्णक, विलेपन, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, माल्य, अलङ्कारो को नही छोडते। वे जीवन भर सर्व प्रकार के यान-वाहन, सर्व प्रकार के शय्या, आसन, भोग और भोजन के विस्तार, सर्व प्रकार के क्रय विक्रय तथा मासा, आधा-मासा आदि व्यवहार, सर्व प्रकार के सोना, चांदी आदि के सञ्चय तथा झूठे तोल और झूठ मापो से जीवन भर निवृत्त नही होते। वे सर्व प्रकार के आरम्भ और समारम्भो से, सर्व प्रकार के सावद्य व्यापारो के करने और कराने से, सर्व प्रकार के पचन और पाचन से जीवन भर निवृत्त नही होते। वे जीवन भर प्राणियो को कूटने, पीटने, धमकाने, मारने, वध करने और बांधने तथा नाना प्रकार से उन्हें क्लेश देने से तथा इसी प्रकार के अन्य सावद्य, बोधबीज का नाश करने वाले और प्राणियो को परिताप देनेवाले कर्मो से, जो अनार्यों द्वारा किये जाते हैं, निवृत्त नही होते। वे अत्यत क्रूर दण्ड देने वाले होते हैं। वे दुःख, शोक, पश्चाताप, पीडा, ताप, वध, बन्धन आदि क्लेशो से कभी निवृत्त नही होते। ऐसे मनुष्य गृहस्थ होते हैं। वे अविरत कहलाते हैं। यह अधर्म पक्ष है।

(ख) दूसरे प्रकार के मनुष्य अनारभी और अपरिग्रही होते हैं। वे धर्मी, धर्मानुग, धर्मिष्ठ यावत् धर्म से ही आजीविका करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं। वे सुशील, सुव्रती, सुप्रत्यानन्द और सुसाधु होते हैं। वे जीवन भर सर्व प्रकार के प्राणातिपात यावत् सर्व सावद्य कार्यो से निवृत्त होते हैं। वे अनगार होते हैं। ऐसे मनुष्य विरत कहलाते हैं। यह धर्म पक्ष है।

(ग) तीसरे प्रकार के मनुष्य अल्पेच्छा, अल्पारभ और अल्प-परिग्रह वाले होते हैं। वे धार्मिक यावत् धर्म से ही आजीविका करने वाले होते है। वे सुशील, सुव्रती, सुप्रत्यानन्द और साधु होते है। वे एक प्रकार के प्राणातिपात से यावज्जीवन के लिए विरत होते है और एक प्रकार के प्राणातिपात से विरत नही होते। इसी तरह यावत् अन्य सावद्य कार्यों मे से कई से निवृत्त होते है और कई से निवृत्त नहीं होते। ये श्रमणोपासक है। ऐसे मनुष्य विरताविरत कहलाते है। यह मिश्र पक्ष है।

इनमे से प्रथम स्थान जो सभी पापो से अविरति रूप है आरम्भस्थान है। वह अनार्य यावत् सर्व दुःख का नाश न करनेवाला एकान्त मिथ्या और असाधु है।

दूसरा स्थान जो सर्व पापो से विरति रूप है वह अनारम्भस्थान है। वह आर्य यावत् सर्व दुःख के नाश का मार्ग है। वह एकान्त सम्यक् और उत्तम है।

तीसरा स्थान जो कुछ पापों से निवृत्त और कुछ पापों से अनिवृत्त रूप है वह आरभ-अनारम्भ-स्थान है। वह (विरत्ति की अपेक्षा) आर्य यावत् सर्व दुःख के नाश का मार्ग है और एकात सम्यक् और उत्तम है[1]।

(२) प्रत्याख्यानी, अप्रत्याख्याती, और प्रत्याख्यानी-अप्रत्याख्यानी :

एक बार गौतम ने पूछा—"भगवन्! जीव प्रत्याख्यानी होते हैं, अप्रत्याख्यानी होते हैं अथवा प्रत्याख्यानी अप्रत्याख्यानी होते हैं?" भगवान ने उत्तर दिया—"गौतम! जीव प्रत्याख्यानी भी होते हैं, अप्रत्याख्यानी भी होते हैं और प्रत्याख्यानी अप्रत्याख्यानी भी[2]"

जो अधर्म पक्ष में बताए हुए पापों का यावज्जीवन के लिए तीन करण और तीन योग से त्याग करता है वह प्रत्याख्यानी कहलाता है। जो उनका त्याग नहीं करता वह अप्रत्याख्यानी कहलाता है। जो कुछ का त्याग करता है और कुछ का नहीं करता वह प्रत्याख्यानी-अप्रत्याख्यानी कहलाता है[3]

(३) सयती, असयती और सयतासयती

एक बार गौतम ने पूछा—"भगवन्! जीव सयत होते हैं, असयत होते हैं अथवा सयतासयत होते हैं?" भगवान ने उत्तर दिया—"जीव सयत होते हैं, असयत होते हैं और सयतासयत भी होते हैं[4]।"

जो विरत हैं वे सयत है, जो अविरत हैं वे असयत है और जो विरताविरत हैं वे सयतासयत हैं।

१—सुयगड २ २

२—भगवती ७ २

जीवा ण भंते! किं पच्चक्खाणी, अपच्चक्खाणी, पच्चक्खाणापच्चक्खाणी?

गोयमा! जीवा पच्चक्खाणी वि तिन्नि वि

३—भगवती ७ २

४—(क) भगवती ७ २

जीवा ण भंते! सजया, असजया, सजयासजया? गोयमा! जीवा सजया वि असजया वि, सजयासजया वि

(ख) प्रज्ञापना लेश्यापद १७ ४

(४) पण्डित, बाल और बालपण्डित

एक बार महावीर ने गौतम को प्रश्न के उत्तर में कहा था—"गौतम ! जीव बाल भी होते हैं, पण्डित भी होते हैं और बालपण्डित भी[1] ।"

जो सावद्य कार्यों से विरत होते हैं उन्हें पण्डित कहते हैं, जो उनसे अविरत होते हैं उन्हें बाल और जो देशत विरत और देशत अविरत होते हैं उन्हें बालपण्डित कहते हैं[2] ।

एक बार गौतम ने भगवान महावीर से कहा—"अन्ययूथिक ऐसा कहते यावत् प्ररूपणा करते हैं कि (महावीर के मत से) श्रमण पण्डित हैं, श्रमणोपासक बालपण्डित हैं और जिस जीव को एक भी जीव के वध की अविरति है वह एकान्त बाल नही कहा जा सकता। भगवन् ! ऐसा किस प्रकार से है ?"

भगवान बोले—"गौतम ! जो ऐसा कहते हैं वे मिथ्या कहते हैं। गौतम ! मैं तो ऐसा कहता यावत् प्ररूपणा करता हूँ कि श्रमण पण्डित है, श्रमणोपासक बालपण्डित ह और जिसने एक भी प्राणी के प्रति दण्ड का त्याग किया है वह एकांत बाल नही है[3] ।"

(५) जाग्रत, सुप्त और सुप्तजाग्रत

जो उक्त पहले स्थान मे होता है उसे सुप्त कहते हैं। जो दूसरे स्थान मे होता है उसे जाग्रत कहते हैं। जो मिश्र स्थान मे होता है उसे सुप्त-जाग्रत कहते ह।

इस विषय मे भगवान महावीर और जयती का निम्न सवाद बडा रसप्रद है

"हे भगवन् ! जीवो का सुप्त रहना अच्छा या जाग्रत रहना ?"

"ह जयन्ती ! कई जीवो का सुप्त रहना अच्छा और कई जीवो का जाग्रत रहना। जो जीव अधार्मिक, अधर्मप्रिय आदि हे उनका सुप्त रहना ही अच्छा है। वे सोते रहते हैं तो प्राणियो को दु ख, शोक और परिताप के कारण नही होते। अपने और दूसरे को अधार्मिक योजनाओ में सयोजित करने वाले नही होते। हे जयन्ती ! जो जीव धार्मिक, धर्माचरण करने वाले आदि हैं उनका जाग्रत रहना अच्छा है। उनका जगना अदु ख और

१—(क) भगवती १७ २

(ख) वही १ ८

२—(क) सुयागड २ २ अविरइ पडुच्च बाले आहिज्जइ विरइ पडुच्च पडिए आहिज्जइ विरयाविरइ पडुच्च बालपंडिए आहिज्जइ

(ख) भगवती १ ८

३—भगवती १७ २

अह पुण गोयमा ! एव आइक्खामि, जाव—परूवेमि—एव खलु समणा पडिया, समणोवासगा बालपडिया, जस्स ण एगपाणाए वि दडे निक्खित्ते से ण नो एगतबाले त्ति वत्तव्व सिया।

अपरिताप के लिए होता है। वे अपने और दूसरे को धार्मिक सयोजनों में जोड़ने वाले होते है[1] ।"

इस प्रसग से स्पष्ट है कि जो भाव मे जाग्रत हैं उनका जागना अच्छा है और जो भाव से सुप्त हैं उनका सोना अच्छा। जो भाव से सुप्त-जाग्रत हैं उनका भाव जागृति की अपेक्षा जागना अच्छा और भाव सुप्ति की अपेक्षा सोना अच्छा।

(६) सवृत्त, असवृत्त और सवृत्तासवृत :

जो सर्व विरत होता है उसे सवृत्त कहते है। जो अविरत होता है उसे असवृत्त कहते है। जो विरताविरत होता है वह सवृत्तासवृत्त है।

(७) धर्मी, अधर्मी और धर्माधर्मी

जो विरत होते है वे धर्मी है, जो अविरत होते है वे अधर्मी और जो विरताविरत होते है वे धर्माधर्मी।

जयन्ती ने पूछा—"जीवो का दक्ष—उद्यमी होना अच्छा या निरुद्यमी—आलसी होना अच्छा ?" भगवान ने उत्तर दिया—"धार्मिक जीवो का उद्यमी होना अच्छा क्योकि वे वैयावृत्य मे आत्मा को नियोजित करते है। अधार्मिक जीवो का निरुद्यमी होना अच्छा क्योकि वे अनेक जीवों के कष्ट के कारण होंगे[2] ।"

जयन्ती ने पुन पूछा—"भगवन् ! सबलता अच्छी या दुर्बलता ?" भगवान ने उत्तर दिया—"जयन्ती अधर्मी जीवो की दुर्बलता अच्छी क्योकि ऐसे जीव दुर्बल हो तो वे जीवो के लिए दु खादि के कारण नहीं होते। और धर्मी जीवो की सबलता अच्छी क्योकि वे जीवों के अदु ख आदि के लिए होते है और वे जीवो को धार्मिक सयोजनो मे सयोजित करते रहते हैं।"

(८) धर्मस्थित, अधर्मस्थित और धर्माधर्मस्थित

एक बार गौतम ने पूछा—"भगवन् ! क्या जीव धर्मस्थित होते है, अधर्मस्थित होते है अथवा धर्माधर्मस्थित होते हैं ?" भगवान महावीर ने उत्तर दिया—'गौतम ! जीव धर्मस्थित भी होते हैं, अधर्मस्थित भी होते हैं और धर्माधर्मस्थित भी[3] ।"

१—भगवती १२ २

२—भगवती १२ २

३—भगवती १७ २

जीवा ण भंते ! किं धम्मे ठिया, अधम्मे ठिया, धम्माधम्मे ठिया ? गोयमा ! जीवा धम्मे वि ठिया, अधम्मे वि ठिया, धम्माधम्मे वि ठिया।

जो सयत, विरत और प्रतिहतप्रत्याख्यातकर्मा हैं वे धर्म में स्थित हैं। वे धर्म को ही ग्रहण कर रहते हैं। जो असयत, अविरत और अप्रतिहतप्रत्याख्यातकर्मा हैं वे अधर्म मे स्थित हैं। वे अधर्म को ही ग्रहण कर रहते हैं। जो सयतासयत हैं वे धर्माधर्म मे स्थित हैं। वे धर्म और अधर्म दोनो को ग्रहण कर रहते हैं[1]।

(९) धर्मव्यवसायी, अधर्मव्यवसायी और धर्माधर्मव्यवसायी

ठाणाङ्ग में कहा है—व्यवसाय तीन कहे हैं—(१) धर्मव्यवसाय, (२) अधर्म-व्यवसाय और (३) धर्माधर्मव्यवसाय[2]। इनके आधार से तीन प्रकार के मनुष्य होते हैं—(१) धर्मव्यवसायी (२) अधर्मव्यवसायी और (३) धर्माधर्मव्यवसायी।

स्वामीजी के अनुसार उक्त नौ त्रिको का सार यह है कि सयम और विरति सवर हैं और असयम और अविरति आस्रव। सयम और विरति प्रशस्त हैं और असयम और अविरति अप्रशस्त।

स्वामीजी का यह कथन सूत्रो के अनेक स्थलो से प्रमाणित है

(१) भगवती सूत्र में कहा है—हिंसादि अठारह पापो से जीव शीघ्र भारी होता है। उन पापो से विरत होने से जीव शीघ्र हल्कापन प्राप्त करता है। हिंसादि अठारह पापो से विरत न होनेवाले का ससार बढता—दीर्घ होता है। ऐसा जीव ससार में भ्रमण करता है। उनमे निवृत्त होने वाले का ससार घटता—सक्षिप्त होता है और ऐसा जीव ससार-समुद्र को उल्लघ जाता है[3]।

(२) नि शील, निर्गुण, निर्मर्याद, निष्प्रत्याख्यानी मनुष्य काल समय काल प्राप्त हो प्राय नरक, तिर्यञ्च मे उत्पन्न होंगे[4]।

(३) एकांत बाल मनुष्य नैरयिक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव इन चारो की आयुष्य बाध सकता है। एकान्त पण्डित मनुष्य कदाचित आयुष्य बांधता है और कदाचित् नहीं बाधता। जब बांधता है तब देवायुष्य बांधता है। बालपण्डित देवायुष्य का बध करता है[5]।

(४) सर्व प्राणी, सर्व भूत, सर्व जीव, सर्व सत्त्वो के प्रति त्रिविधि-त्रिविध मे असयत, अविरत और अप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा—सक्रिय, असवृत्त, एकान्त दण्ड देनेवाला और

१—भगवती १७ २

हता गोयमा ! सजय-विरय० जाव—धम्माधम्मे ठिए

२—ठाणाङ्ग ३ ३ १८५

तिविहे ववसाए पं० त० धम्मिते ववसाते अधम्मिए ववसाते धम्माधम्मिए ववसाते

३—भगवती १२ २

४—वही ७ ६

५—वही १ ८

एकान्त बाल होता है। सर्व प्राणी, सर्व भूत आदि के प्रति त्रिविध-त्रिविध से सयत, विरत और प्रत्याख्यातपापकर्मा—अक्रिय, सवृत्त और एकांत पण्डित होता है[1]।

(५) ससारसमापन्नक जीव दो प्रकार के कहे गये हैं—(१) सयत और (२) असयत।

सयत जीव दो प्रकार के हैं (१) प्रमत्त सयत और (२) अप्रमत्त सयत।

अप्रमत्त सयत आत्मारंभी नही, परारंभी नहीं, तदुभयारंभी नहीं, पर अनारम्भी हैं।

प्रमत्त सयत शुभयोग की अपेक्षा से आत्मारंभी नही, परारंभी नहीं, तदुभयारंभी नही, पर अनारंभी हैं। अशुभयोग की अपेक्षा से वे आत्मारंभी भी हैं, परारंभी भी हैं, तदुभयारंभी भी हैं, पर अनारंभी नही।

असयत अविरति की अपेक्षा से आत्मारंभी भी है, परारंभी भी हे, तदुभयारंभी भी है, पर अनारम्भी नही[2]।

(६) असवृत्त अनगार, सिद्ध, बुद्ध, मुक्त और परिनिर्वात नहीं होता तथा सर्व दु खो का अन्त नही करता। सवृत्त अनगार सिद्ध, बुद्ध, मुक्त और परिनिर्वात होता है तथा सर्व दु खो का अन्त करता है[3]।

(७) असयत, अविरत, अप्रतिहतपापकर्मा, सक्रिय, असवृत्त, एकान्तदण्डी, एकांत बाल और एकान्त सुप्त जीव पापकर्मों का उपार्जन करता है[4]।

स्वामीजी कहते हैं कि सयत, विरत, प्रत्याख्यानी, पण्डित, जाग्रत, सवृत्त, धर्मी, धर्मस्थित और धर्मव्यवसायी के सयम, विरति और प्रत्याख्यान सवर है। असयत, अविरत अप्रत्याख्यानी आदि के असयम, अविरति और अप्रत्याख्यान आस्रव हैं। सयतासयत, विरताविरत और प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यानी के सयम और असयम, विरति और अविरति तथा प्रत्याख्यान और अप्रत्याख्यान क्रमश सवर और आस्रव है।

इस तरह सवर और आस्रव दोनो जीव के ही सिद्ध होते है। वे जीव परिणाम हैं। जो सवर को जीव मानते हुए भी आस्रव को अजीव कहते है उनको मिथ्या अभिनिवेश

१—(क) भगवती ७ २
   (ख) वही ८.७
२—वही १ १
३—वही १ १
४—औपपातिक सू० ३४

है। सयत, विरत, आदि के सयम, विरति आदि सवर रूप होने से जीव-परिणाम है तो फिर असयत, अविरत आदि के असयम, अविरति आदि आस्रव रूप होने से जीव-परिणाम क्यो नही होंगे ?

अनुयोगद्वार में चार प्रकार के सयोग बतलाए गए हैं

(१) द्रव्यसयोग—छत्र के सयोग से छत्री, दण्ड के सयोग से दण्डी, गाय के सयोग से गोपाल, पशु के सयोग से पशुपति हल के सयोग से हली, नाव के सयोग से नाविक आदि द्रव्यसयोग हैं।

(२) क्षेत्रसयोग—भारत के सयोगसे भारती, मगध के सयोग से मागधी आदि।

(३) कालसयोग—जैसे वर्षा के सयोग से बरसाती, वसन्त के सयोग से वासन्ती आदि।

(४) भावसयोग—यह सयोग दो प्रकार का कहा गया है। प्रशस्त और अप्रशस्त।

ज्ञान के सयोग से ज्ञानी, दर्शन के सयोग से दर्शनी, चरित्र के सयोग से चारित्री आदि प्रशस्त भाव सयोग है।

क्रोध के सयोग से क्रोधी, मान के सयोग से मानी, माया के सयोग से मायावी और लोभ के सयोग से लोभी—ये अप्रशस्त भाव सयोग हैं।

भावसयोग से सम्बन्धित पाठ इस प्रकार है

से कि त सजोगेण, सजोगेण चउव्विहे पण्णत्ते, त जहा—दव्व सजोगे, खेत्त सजोगे, काल सजोगे, भाव सजोगे

से कि त भाव सजोगे? भाव सजोगे दुविहे पण्णत्ते, त जहा पसत्थेय अपसत्थेय। से कि त पसत्थे ? पस थे णाणेण णाणी, दसणेण दसणी, चरित्तेण चरित्ती से त पसत्थे। से कि त अपसत्थे ? अपसत्थे कोहेण कोही, माणेण माणी, मायाए मायी, लोभेण लोभी से त अपसत्थे, से त भाव सजोगे, से त सजोगेण

उपरोक्त प्रसग से यह स्पष्ट है कि ज्ञानी, दर्शनी, चारित्री, क्रोधी, मानी, मायावी, लोभी आदि ज्ञान, दर्शन यावत् लोभ आदि भावो के सयोग से होते हैं। ये ज्ञानादिक भाव जीव के ही हैं जिनसे वह ज्ञानी आदि कहलाता है। क्रोध, मान, माया, लोभ भी यहाँ जीव के भाव कहे गये हैं। ये कषाय आस्रव के भेद है।

इसी तरह असयम, अविरति, अप्रत्याख्यान आदि अप्रशस्त भाव जीव के ही हैं

जिनसे वह असयत, अविरत, अप्रत्याख्यानी आदि कहलाता है। जैसे क्रोधादि भाव कषाय आस्रव हैं वैसे ही असयम, अविरति, अप्रत्याख्यान आदि भाव अविरति आस्रव हैं।

अनुयोगद्वार में कहा है—भावलाभ दो प्रकार का है—(१) आगम भावलाभ और (२) नो-आगम भावलाभ। उपयोगपूर्वक सूत्र पढना आगम भावलाभ है। नो-आगम भावलाभ दो प्रकार का है—प्रशस्त और अप्रशस्त। प्रशस्त भावलाभ तीन प्रकार का है—ज्ञानलाभ, दर्शनलाभ और चारित्रलाभ। अप्रशस्त लाभ चार प्रकार का है—क्रोधलाभ, मानलाभ, मायालाभ और लोभलाभ। मूल पाठ इस प्रकार है —

से किं त भावाए दुविहे पण्णत्ते, त जहा—आगमओय, नो आगमओय। से किं त आगमतो भावाए? आगमतो भावाए जाणए, ऊवउत्ते, से त आगमतो भावाए। से किं त नो आगमतो भावाए? नो आगमतो भावाए दुविहे पण्णत्ते, त जहा पसत्थे अप्पसत्थे। से किं त पसत्थे? पसत्थे तिविहे पण्णत्त त जहा णाणाए, दसणाए, चरित्ताए, से त पसत्थे। से किं त अप्पसत्थे? अप्पसत्थे चउव्विहे पण्णत्ते, त जहा कोहाए, माणाए, मायाए, लोभाए से त अप्पसत्थे। से त नो आगमतो भावाए, से त भावाए, से त आए।

यहाँ ज्ञान, दर्शन और चारित्र को प्रशस्त भाव में और क्रोध, मान, माया और लोभ को अप्रशस्त भाव में समाविष्ट किया है। इससे फलित है कि क्रोध आदि चारो भाव भाव-कषाय हैं। भाव कषाय कषाय आस्रव है। अत कषाय आस्रव जीव-परिणाम सिद्ध होता है।

इसी तरह अविरति, असयम आदि भी जीव के अप्रशस्त भाव हैं। जीव के ये भाव अविरति आस्रव हैं। इस तरह अविरत आस्रव जीव-परिणाम है।

२३—किस-किस तत्त्व की घट-बढ होती है? (गा० ५६-५८)

आगम मे कहा है "जो आस्रव हैं—कर्म-प्रवेश के द्वार हैं वे ही अनुन्मुक्त अवस्था मे परिस्रव हैं—कर्म-प्रवेश को रोकने के हेतु हैं। जो परिस्रव हैं—कर्म-प्रवेश को रोकने के उपाय है वे ही (उन्मुक्त अवस्था में) आस्रव हैं—कर्म-प्रवेश के द्वार है। जो अनास्रव है—कर्म-प्रवेश के कारण नही वे भी (अपनाये विना) सवर—कर्म प्रवेश के रोकने वाले नहीं होते। जो आस्रव कर्म-प्रवेश के कारण हैं—वे ही (रोकने पर) अनास्रव—सवर होते हैं[१]।"

१—आचाराङ्ग १।४।२

जे आसवा ते परिस्सवा

जे परिस्सवा ते आसवा

जे अणासवा ते अपरिस्सवा

जे अपरिस्सवा ते अणासवा

जैसे मकान के प्रवेश-द्वार को ढक देने पर वही अप्रवेश-द्वार हो जाता है वैसे ही आस्रव को रोक देने पर सवर होता है। जैसे मकान के वद द्वार को खोल देने पर अप्रवेश-द्वार ही प्रवेश-द्वार हो जाता है वैसे ही सवर को खोल देने पर वह आस्रव-द्वार हो जाता है।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग—इन आस्रवो का जैसे-जैसे निरोध होता है सवर बढता जाता है। सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषाय और अयोग जैसे-जैसे घटते हैं—आस्रव बढता जाता है।

स्वामीजी कहते हैं आस्रव जीव पर्याय है या अजीव पर्याय इसका निर्णय करने के लिए यह घट-बढ किस वस्तु की होती है यह विचारना चाहिए। अविरति उदयभाव है। इनके निरोध से विरति सवर होता है, जो क्षयोपशम भाव है। इस तरह आस्रव और सवर में जो घट-बढ होती है वह घट बढ जीव के भावो की होती है। जिस प्रकार सवर भाव-जीव है उसी प्रकार आस्रव भी भाव-जीव है।

सावद्य योग घटने से निरवद्य योग बढते हैं। स्वभाव का प्रमाद घटने से अप्रमाद सवर निरवद्य गुण बढता है। कषाय आस्रव घटने से अकषाय सवर निरवद्य गुण बढता है। अविरति घटने से विरति बढ़ती है। मिथ्यात्व घटने से सवर बढता है। ऐसी परि-स्थिति मे सवर को जीव-पर्याय मानना और आस्रव को अजीव-पर्याय मानना परस्पर सगत नही[1]। यदि सवर जीव और अरूपी है तो उसका प्रतिपक्षी आस्रव भी जीव और अरूपी है।

असयम के सत्रह प्रकारो का वर्णन पहले किया जा चुका है। वे अविरति आस्रव हैं। इन्ही के प्रतिपक्षी सत्रह प्रकार के सयम हैं। इन्हें भगवान ने सवर कहा है। सवर जीव-लक्षण—परिणाम हैं वैसे ही आस्रव जीव-लक्षण—परिणाम हैं।

यहाँ प्रश्न किया जाता है—"आगम मे आस्रव को ध्यान द्वारा क्षपण करने का उल्लेख है। यदि आस्रव जीव है तो फिर उसके क्षपण की बात कैसे? अनुयोगद्वार में कहा है—"भावक्षपण दो प्रकार का है—आगम भावक्षपण, नो-आगम भावक्षपण। समझ कर उपयोग पूर्वक सूत्र पढना—आगम भावक्षपण है। नो-आगम क्षपण दो प्रकार का है—(१) प्रशस्त और (२) अप्रशस्त। प्रशस्त चार प्रकार का है—क्रोधक्षपण, मानक्षपण,

---

१—टीकम डोसी की चर्चा

कर्मों के उदय मे आने पर ही सुख-दुःख होता है। बांधे हुए कर्म शुभ होते हैं तो उन कर्मों का विपाक—फल शुभ—सुखमय होता है। बांधे हुए कर्म अशुभ होते हैं तो उदय काल मे उन कर्मों का विपाक अशुभ—दुःखरूप होता है।

कर्म तीव्र भाव से बांधे हुए होते हैं तो उनका फल तीव्र होता है और मन्द भाव से बांधे हुए होते हैं तो फल मन्द होता है।

उदय मे आने पर कर्म अपनी मूल प्रकृति के अनुसार फल देता है। ज्ञानावरणीय कर्म अपने अनुभाव—फल देने की शक्ति के अनुसार ज्ञान का आच्छादन करता है और दर्शनावरणीय दर्शन का। इस तरह दूसरे कर्म भी अपनी-अपनी मूल प्रवृत्ति के अनुसार ही तीव्र या मन्द फल देते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञानावरणीय कर्म के उदय मे दर्शन का आच्छादन नही हो सकता और न दर्शनावरणीय कर्म से ज्ञान का। इसी तरह अन्य कर्मों के विषय मे समझना चाहिए। यह नियम मूल प्रकृतियो मे ही परस्पर लागू होता है। मूल प्रकृतियाँ फलानुभव मे परस्पर अपरिवर्तनशील हैं। पर कुछ अपवादो को छोड कर उत्तर प्रकृतियो मे यह नियम लागू नही पडता। एक कर्म की उत्तर प्रकृति उसी कर्म की अन्य उत्तर प्रकृतिरूप परिणति कर सकती है। उदाहरणस्वरूप मतिज्ञानावरणीय कर्म, श्रुतज्ञानावरणीय कर्म में बदल सकता है। और ऐसा होने पर उसका फल भी श्रुतज्ञानावरणीय रूप ही होता है।

उत्तर प्रकृतियो मे दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का संक्रम नही होता। इसी प्रकार सम्यक् वेदनीय और मिथ्यात्व वेदनीय उत्तर प्रकृतियो का भी संक्रम नही होता। आयुष्य की उत्तरप्रकृतियो का भी परस्पर संक्रम नही होता। उदाहरणस्वरूप नारक आयुष्य, तिर्यञ्च आयुष्य रूप मे संक्रम नही करता। इसी तरह अन्य आयुष्य भी परस्पर असंक्रमशील हैं[1]।

१—(क) तत्त्वा० ८ २२ भाष्य

उत्तरप्रकृतिषु सर्वासु मूलप्रकृत्यभिन्नासु न तु मूलप्रकृतिषु संक्रमो विद्यते, उत्तरप्रकृतिषु च दर्शनचारित्रमोहनीययो सम्यग्मिथ्यात्ववेदनीयस्यायुष्कस्य च [illegible]।

(ख) तत्त्वा० ८ २२ सर्वार्थसिद्धि

अनुभवो द्विधा प्रवर्तते स्वमुखेन परमुखेन च। सर्वासां मूलप्रकृतीनां स्वमुखेनैवानुभव। उत्तरप्रकृतीनां तुल्यजातीयानां परमुखेनापि भवति आयुर्दर्शनचारित्रमोहवर्जानाम्। न हि नरकायुर्मुखेन तिर्यगायुर्मनुष्यायुर्वा विपच्यते। नापि दर्शनमोहश्चारित्रमोहमुखेन, चारित्रमोहो वा दर्शनमोहमुखेन

प्रकृति-संक्रम की तरह बन्धकालीन रस मे भी बाद मे अन्तर हो सकता है। तीव्र रस मन्द और मन्द रस तीव्र हो सकता है।

एक बार गौतम ने पूछा[1]—"भगवन्! किए हुए पाप कर्मों का फल भोगे बिना उनसे मुक्ति नही होती, क्या यह सच है?" भगवान ने उत्तर दिया—"गौतम! यह सच है। नैरयिक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव—सर्व जीव किए हुए पाप कर्मों का फल भोगे बिना उनसे मुक्त नही होते। गौतम! मैंने दो प्रकार के कर्म बतलाये हैं—प्रदेश कर्म[2] और अनुभाग-कर्म[3]। जो प्रदेश-कर्म हैं, वे नियमत भोगे जाते हैं। जो अनुभाग-कर्म हैं, वे कुछ भोगे जाते हैं, कुछ नही भोगे जाते।"

एक बार गौतम ने पूछा—"भगवन्! अन्ययूथिक कहते हैं—सब जीव एवभूत-वेदना (जैसा कर्म बाधा है वैसे ही) भोगते हैं, यह कैसे है?" भगवान बोले—"गौतम! अन्य-यूथिक जो ऐसा कहते हैं, वह मिथ्या कहते हैं। मैं तो ऐसा कहता हूँ—कई जीव एव-भूत वेदना भोगते हैं और कई अन् एवभूत वेदना भी भोगते हैं। जो जीव किए हुए कर्मों के अनुसार ही वेदना भोगते हैं, वे एवभूत वेदना भोगते हैं और जो जीव किए हुए कर्मों से अन्यथा भी वेदना भोगते हैं, वे अन्-एवभूत वेदना भोगते हैं[4]।"

आगम मे कहा है—"एक कर्म शुभ होता है और उसका विपाक भी शुभ होता है। एक कर्म शुभ होता है और उसका विपाक अशुभ होता है। एक कर्म अशुभ होता है और उसका विपाक शुभ होता है। एक कर्म अशुभ होता है और उसका विपाक भी अशुभ होता है[5]।"

१—भगवती १ ४

हता गोयमा! नेरइयस्स वा तिरिक्खमणुदेवस्स वा जे कडे पावे कम्मे नत्थि तस्स अवेइत्ता मोक्खो एव खलु मए गोयमा! दुविहे कम्मे पन्नत्ते त जहा—पएसकम्मे य अणुभागकम्मे य। तत्थ ण ज त पएसकम्म त नियमा वेएइ, तत्थ ण ज त अणुभागकम्म त अत्थेगइय वेएइ अत्थेगइय नो वेएइ

२—भगवती १ ४ वृत्ति

प्रदेशा कर्मपुद्गला जीवप्रदेशेष्वोतप्रोता तद्रूप कर्म प्रदेशकर्म।

३—भगवती १ ४ वृत्ति

अनुभाग तेषामेव कर्मप्रदेशाना संवेद्यमानताविषयो रस तद्रूप कर्मानुभागकर्म

४—भगवती ५ ५

५—ठाणाङ्ग ४ ४ ३१२

प्रश्न हो सकता है इन सबका कारण क्या है?

आगम के अनुसार बंधे हुए कर्मों में निम्न स्थितियाँ घट सकती हैं (१) अपवर्तना (२) उद्वर्तना, (३) उदीरणा और (४) संक्रमण। इनका अर्थ संक्षेप में इस प्रकार है:

(१) अपवर्तना : स्थिति-घात और रस-घात। कर्म-स्थिति का घटना और रस का मन्द होना।

(२) उद्वर्तना स्थिति-वृद्धि और रस-वृद्धि। कर्म की स्थिति का दीर्घ होना और रस का तीव्र होना।

(३) उदीरणा लम्बे समय के बाद तीव्र भाव से उदय में आनेवाले कर्मों का तत्काल और मन्द भाव से उदय में आना।

(४) संक्रमण कर्मों की उत्तर प्रकृतियों का परस्पर संक्रमण। "जिस अध्यवसाय से जीव कर्म-प्रकृति का बन्ध करता है, उसकी तीव्रता के कारण वह पूर्व बद्ध सजातीय प्रकृति के दलिकों को बध्यमान प्रकृति के दलिकों के साथ संक्रान्त कर देता है, परिणत या परिवर्तित कर देता है—यह संक्रमण है। संक्रमण के चार प्रकार हैं—(१) प्रकृति संक्रम, (२) स्थिति-संक्रम, (३) अनुभाव-संक्रम और (४) प्रदेश-संक्रम (ठाणाङ्ग ४.२ २९६)। प्रकृति-संक्रम से पहले बन्धी हुई प्रकृति वर्तमान में बंधनेवाली प्रकृति के रूप में बदल जाती है। इसी प्रकार स्थिति, अनुभाव और प्रदेश का परिवर्तन होता है[१]।"

कर्मों की उद्वर्तना आदि स्थितियाँ उत्थान, कर्म, बल, वीर्य तथा पुरुषकार और पराक्रम से होती हैं।

१२—प्रदेशबंध (गा० २३-२६) :

लोक में अनन्त पुद्गल वर्गणाएँ हैं। उनमें औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, भाषा, श्वासोच्छ्वास, मन और कार्मण ये आठ वर्गणाएँ मुख्य हैं। इनमें से जीव कार्मण वर्गणा में से अनन्तानन्त प्रदेशों के बने हुए कर्मदलों को ग्रहण करता है। ये कर्मदल बहुत ही सूक्ष्म होते हैं। स्थूल-बादर नहीं होते। इनमें स्निग्ध, रूक्ष, शीत, और गर्म ये चार स्पर्श होते हैं। लघु, गुरु, मृदु, और कर्कश—ये स्पर्श नहीं होते। इस तरह कर्मदल चतुःस्पर्शी होता है। तथा उसमें पाँच वर्ण, दो गन्ध और पाँच रस रहते हैं। इस तरह प्रत्येक कर्म-स्कन्ध में १६ गुण रहते हैं।

१—जैनधर्म और दर्शन पृ० २००

जैसे कोई तालाब पानी से भरा हो, उसी तरह जीव के प्रदेश कर्म स्कंधो से व्याप्त—परिपूर्ण रहते हैं। जीव के असंख्यात प्रदेशो मे से प्रत्येक प्रदेश इसी तरह कर्म-दलो से भरा रहता है। जीव अपने प्रत्येक प्रदेश द्वारा कर्म स्कंधो को ग्रहण करता है। जीव के प्रत्येक प्रदेश द्वारा अनन्तानन्त कर्म स्कंधो का ग्रहण होता है। आगम मे कहा है

"हे भगवन् ? क्या जीव और पुद्गल अन्योन्य—एक दूसरे मे बद्ध, एक दूसरे में स्पृष्ट, एक दूसरे में अवगाढ, एक दूसरे मे स्नेह-प्रतिबद्ध हैं और एक दूसरे मे घट-समुदाय होकर रहते हैं।"

"हाँ, हे गौतम।"

"हे भगवन्। ऐसा किस हेतु से कहते हैं ?"

"हे गौतम। जैसे एक ह्रद हो जल से पूर्ण, जल से किनारे तक भरा हुआ, जल से छाया हुआ, जल से ऊपर उठा हुआ और भरे हुए घडे की तरह स्थित। अब यदि कोई पुरुष उस ह्रद में एक महा सौ आस्रव-द्वार वाली, सौ छिद्रवाली नाव छोडे तो हे गौतम। वह नाव उन आस्रव-द्वारो—छिद्रो से भराती-भराती जल से पूर्ण, किनारे तक भरी हुई, बढते हुए जल से ढकी हुई होकर भरे हुए घडे की तरह होगी या नहीं ?"

"होगी हे भगवन्।"

"उसी हेतु से गौतम। मैं कहता हूँ कि जीव और पुद्गल परस्पर बद्ध, स्पृष्ट, अवगाढ और स्नेह-प्रतिबद्ध हैं और परस्पर घट-समुदाय होकर रहते हैं।"

आत्म-प्रदेश और कर्म-पुद्गलो का यह सम्बन्ध ही प्रदेश बंध है।

नीर की तरह अथवा लोह अग्नि की तरह उन कर्म-वर्गणा के स्कंधो के साथ मिल जाता है। कर्म दलिको की इन आठ भागो की कल्पना अष्टविध कर्मबंधक की अपेक्षा समझनी चाहिए। छह और एकविध बंधक के विषय में उतने-उतने ही भाग की कल्पना कर लेनी चाहिए[1]।" यहाँ यह ध्यान मे रखने की बात है कि प्रत्येक कर्म के दलिको का विभाग उसकी स्थिति-मर्यादा के अनुपात मे होता है अर्थात् अधिक स्थिति वाले कर्म का दल अधिक और कम स्थिति वाले का दल कम होता है। परन्तु वेदनीय कर्म के सम्बन्ध में ऐसा नहीं है। उसकी स्थिति कम होने पर उसके हिस्सेका भाग सबसे अधिक होता है। इसका कारण इस प्रकार बतलाया गया है—"यदि वेदनीय के हिस्से में कम भाग आवे तो लोक मे सुख-दुःख का पता ही न चले। लोक में सुख-दुःख प्रगट मालूम पडते हैं इसलिए वेदनीय के हिस्से में कर्मदल सबसे अधिक आता है[2]"

उत्तराध्ययन मे कहा है—

(१) आठो कर्मो के अनन्त पुद्गल हैं। वे सब मिलकर संसार के अभव्य जीवो से अनन्त गुण होते हैं और अनन्त सिद्धो से अनन्तवें भाग जितने होते हैं।

(२) सब जीवो के कर्म सम्पूर्ण लोक की अपेक्षा से छओ दिशाओ में सर्व आत्म प्रदेशो से सब प्रकार से बंधते रहते हैं।

आचाराङ्ग मे कहा है :—

"ऊर्ध्व स्रोत है, अधः स्रोत है, तिर्यक् दिशा मे भी स्रोत है। देख ! पाप-द्वारो को ही स्रोत कहा गया है जिनसे आत्मा के कर्मों का सम्बन्ध होता है[3]।"

उपर में जो अवतरण दिए गये हैं उनसे प्रदेशबंध के सम्बन्ध मे निम्न लिखित प्रकाश पडता है

१—(क) नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह · देवानन्दसूरिकृत सप्ततत्त्वप्रकरण अ० ४

(ख) वही अव० वृत्त्यादिसमेत नवतत्त्वप्रकरणम् गा० ६०-६२

२—देखो नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह · अव० वृत्त्यादिसमेत नवतत्त्वप्रकरणम् गा० ६२ तथा उसकी अवचूरी :

विग्घावरणे मोहे, सव्वोपरि वेअणीइ जेणप्पे ।
तस्स फुडत्तं न हवइ, ठिईविसेसेण सेसाणं ॥

३—आचारांग श्रु० १,५,६

उड्ढं सोया अहे सोया तिरियं सोया वियाहिया। एए सोया विअक्खाया जेहिं संगंति पासहा।

(१) आत्मा के साथ बंधे हुए कर्मदल—स्कंधों का अलग-अलग प्रकृतियो में बँटवारा होता है। यह भाग बँटवारा कर्मो की स्थिति-मर्यादा के अनुपात से होता है। केवल वेदनीय के सम्बन्ध मे यह नियम लागू नही है।

(२) जीव सर्व आत्म-प्रदेशो से कर्म ग्रहण करता है। छओ दिशाओ के आत्म-प्रदेशो द्वारा कर्म ग्रहण होते हैं।

(३) जीव द्वारा ग्रहण किए हुए कर्मदल बहुत सूक्ष्म होते हैं—स्थूल नही होते। औदारिक, वैक्रिय आदि वर्गणाओं में से सूक्ष्म परिणति प्राप्त आठवी कार्मण वर्गणा ही बंध योग्य है।

(४) जिस क्षेत्र मे आत्म-प्रदेश रहते हैं उसी प्रदेश मे रहे हुए कर्मदल का बंध होता है। उस क्षेत्र से बाहर के कर्म-स्कंधो का बंध नही होता। यही एक क्षेत्रावगाढता है।

(५) प्रत्येक कर्म के अनन्त स्कंध सभी आत्मप्रदेशो के बंधते हैं अर्थात् एक-एक कर्म के अनन्त स्कंध आत्मा के एक-एक प्रदेश से बंधते हैं। आत्म के एक-एक प्रदेश पर सभी कर्मो के अनन्त-अनन्त स्कंध रहते हैं।

(६) एक-एक कर्म-स्कंध अनन्तानन्त परमाणुओ का बना होता है। कोई संख्यात, असंख्यात या अनन्त परमाणुओ का बना नही होता। प्रत्येक स्कंध अभव्यो से अनन्तगुण प्रदेशो के दल से बने होते हैं।

१३—बंधन-मुक्ति (गा० २७-२६) :

उपर्युक्त गाथाओ मे बंधे हुए कर्मो से छुटकारा पाने का रास्ता बतलाया गया है। इस संसार मे जीव अपने से विभिन्न जातीय पदार्थ से सदा संयोजित रहता है परन्तु जिस तरह एकाकार हुए दूध और जल को अग्नि आदि प्रयोगो द्वारा पृथक् किया जा सकता है, उसी तरह चेतन और जड के संयोग का भी आत्यन्तिक—सदा सर्वदा के लिए पृथक्करण—वियोग किया जा सकता है। जीव और कर्म का सम्बन्ध ऐसा नहीं है कि उसका अन्त ही न हो सके, कारण आत्मा और जड पदार्थ पुद्गल दोनो अनादि काल से दूध-पानी की तरह एक क्षेत्रावगाही—ओत-प्रोत होने पर भी अपने-अपने स्वभाव को लिए हुए हैं, उसे छोड़ा नहीं है। केवल जड के प्रभाव से चेतन अपने सहज ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य के गुणो को प्रकट करने में असमर्थ है। जिस तरह जल के मिले होने पर दूध का मिठास मंद पड जाता है, उसी प्रकार पुद्गल के प्रभाव से आत्म-गुणो का आवरण—विकार हो जाता है। परन्तु इस जड पुद्गल को चेतन आत्मा से दूर

करने का उपाय है । इस तथ्य को यहाँ तालाव के उदाहरण द्वारा समझाया गया है।

जिस तरह जल से भरे हुए तालाव को रिक्त करने के लिए दो वातो की आवश्यकता होती है—एक नए आते हुए जल के प्रवेश को रोकना और दूसरे तालाव में रहे हुए जल को वाहर निकालना। ठीक उसी तरह आत्मा के प्रदेशो को भौतिक सुख-दु ख के कारण कर्मों से मुक्त—शून्य करने के लिए भी दो उपाय हैं—एक तो कर्मों के प्रवेश (आस्रव) को रोकना, दूसरे प्रविष्ट कर्मों का नाश करना। पहला कार्य सवर—सयम से सिद्ध होता है। सवरयुक्त आत्मा के तप करने से दूसरा कार्य सिद्ध होता है। सवर के साधन से आत्म-प्रदेशो में शीतलता आकर उनकी चचलता, कपनशीलता मिट जाती है जिससे नए कर्मों का ग्रहण नहीं होता। तप द्वारा आत्म-प्रदेश रूक्ष होने से लगे हुए कर्म झड पडते हैं। सर्व कर्मों के आत्यन्तिक क्षय से आत्मा अपने सहज निर्मल स्वभाव मे प्रकट होता है। जन्म-मरण और व्याधि के चक्र से उसका छुटकारा हो जाता है और वह शाश्वत पद को प्राप्त करता है। उसके ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य के स्वाभाविक गुण सम्पूर्ण तेज के साथ प्रकट हो जाते हैं। इस स्वरूप का प्रकट होना ही परमात्म दशा है, यही मोक्ष है।

मोख पदारथ

दुहा

१—मोख पदार्थ नवमो कह्यो, ते सगला माहे श्रीकार।
सर्व गुणा करी सहीत छे, त्याग मुखा रो छेह न पार॥

२—करमा सू मूकाणा ते मोख छे, त्यारा छे नाम विशेप।
परमपद निरवाण ते मोख छे, सिद्ध सिव आदि छे नाम अनेक॥

३—परमपद उत्कष्टो पद पामीयो, तिण सू परमपद त्यारो नाम।
करम दावानल मिट सीतल थया, तिण सू निरवाण नाम छे ताम॥

४—र्व कार्य सिधा छे तेहना, तिण सू सिघ कह्या छे ताम।
उपद्रव करे ने रहीत हुआ, तिण सू सिव कहिजे त्यारो नाम॥

५—इग अनुमारे जाणजो, मोख रा गुण परमाणे नाम।
हिवे मोख तणा सुख वरणव, ते सुणजो राखे चित्त ठाम॥

ढाल

(पाखड वधसी आरे पाच मे)

१—मोख पदार्थ ना सुख सासता रे, तिण सुखा रो कदेय न आवे अत रे।
ते सुख अमोल्क निज गुण जीव रा रे, अनत सुख भाप्या छे भगवत रे॥
मोख पदार्थ छे सारा सिरे रे* ॥

---

*यह ऑक्टी प्रत्येक गाथा के अन्त मे समझनी चाहिए।

: ९ :

मोक्ष पदार्थ

दोहा

१—मोक्ष नवाँ पदार्थ कहा गया है। यह पदार्थों में सर्वोत्तम है[१]। इसमें सब गुणों का वास है। मोक्ष के सुखों का कोई छोर या पार नहीं है।

नवाँ पदार्थ : मोक्ष

२—जीव का कर्मों से मुक्त होना ही उसका मोक्ष है। मुक्त जीवों के अनेक नाम हैं जिनमें 'परमपद', 'निर्वाण', 'सिद्ध' और 'शिव' आदि प्रमुख हैं।

मुक्त जीव के कुछ अभिवचन (दो० २-५)

३-४—सर्वोत्कृष्ट पद प्राप्त कर चुकने से जीव 'परमपद' प्राप्त, कर्मरूपी दावानल को शान्त कर शीतल हो चुकने से 'निर्वाण' प्राप्त, सर्व कार्य-सिद्ध कर चुकने से 'सिद्ध' और सर्व—जन्म-जरा-व्याधि रूप उपद्रवों से रहित हो चुकने से 'शिव' कहलाता है।

५—ये मोक्ष के गुणानुसार नाम हैं[२]। आगे मोक्ष के सुखों का वर्णन करता हूँ स्थिर चित्त हो कर सुनो।

ढाल

१—मोक्ष के सुख शाश्वत हैं। इन सुखों का कभी अन्त नहीं आता। वीर भगवान ने इन अमूल्य अनन्त सुखों को जीव का स्वाभाविक गुण बतलाया है।

मोक्ष-सुख (गा० १-५)

२—तीन काल रा सुख देवा तणा रे, ते सुख इवका घणा अयाग रे।
ते सगलाइ सुख एकण सिध ने रे, तुले नावे अनतमे भाग रे॥

३—ससार ना सुख तो छे पुदगल तणा रे, ते तो सुख निश्चे रोगीला जाण रे।
ते करमां वस गमता लागे जीव ने रे, त्या सुखा री वुधिवत करो पिछाण रे॥

४—पाव रोगीलो हुवे छे तेहनें रे, अतत मीठी लागें छे खाज रे।
एहवा सुख रोगीला छे पुन तणा रे, तिण सू कदेय न सीझे आतम काज रे॥

५—एहवा सुखा सू जीव राजी हुवें रे, तिणरे लागे छे पाप करम रा पूर रे।
पछे दुःख भोगवे छें नरक निगोद मे रे, मुगति सुखा सू पडीयो दूर रे॥

६—छूटा जनम मरण दावानल तेह थी रे, ते तो छे मोष सिध भगवत रे।
त्यां आठोइ करमा ने अलगा कीया रे, जब आठोइ गुण नीपना अनत रे॥

७—ते मोख सिध भगवत तो इहा हिज हुआ रे, पछे एक समा मे उचा गया छे थेट रे।
सिध रहिवा नो खेतर छे तिहा जाए रह्या रे, अलोक सू जाए अड्या नेट रे॥

८—अनतो ग्यांन ने दरसण तेहनो रे, वले आतमीक सुख अनतो जाण रे।
पायक समकत छे सिव वीतराग तेहने रे, वले अवगाहणा अटल छे निरवाण रे॥

९—अमूरतीपणो त्यारो परगट हूवो रे, हलको भारी न लागे मूल लिगार रे।
तिण सू अगुरुलघु ने अमूरती कह्या रे, ए पिण गुण त्यामे श्रीकार रे॥

१०—अतराय करम सु तो रहीत छे रे, त्यारे पुदगल सुख चाहीजे नाय रे।
ते निज गुण सुखा माहे झिले रह्या रे, काइ उणारत रही न दीसे काय रे॥

२—देवों के सुख अति अधिक और अपरिमित होते हैं। परन्तु तीनों काल के देव-सुख एक सिद्ध भगवान के सुख के अनन्तवें भाग की भी बराबरी नहीं कर सकते।

३-४—ये सांसारिक सुख पौद्गलिक और निश्चय ही रोगोत्पन्न हैं। जिस तरह पाव-रोगी को खाज अत्यन्त मीठी लगती है, उसी प्रकार पुण्य से प्राप्त ये सांसारिक सुख कर्मों से लिप्त जीव को अच्छे लगते हैं। ऐसे रोगोत्पन्न सुखों से कभी आत्मा का कार्य सिद्ध नहीं होता।

५—जो जीव ऐसे सुखों से प्रसन्न होता है उसके अतीव पाप कर्मों का संचय होता है। ऐसा प्राणी मोक्ष के सुखों से बहुत दूर हो जाता है और बाद में नरक और निगोद के दुःखों का भागी होता है।

आठ गुणों की प्राप्ति

६—जिन का कर्मों से मोक्ष हो जाता है—वे सिद्ध भगवान जन्म-मरणरूपी दावानल से मुक्त हो जाते हैं। वे आठों ही कर्मों को दूर कर देते हैं जिससे उनके अनन्त आठ गुणों की प्राप्ति होती है।

जीव सिद्ध कहाँ होता है ?

७—जीव का मोक्ष तो इस लोक में ही हो जाता है। वह यहीं सिद्ध भगवान बन जाता है। फिर एक ही समय में जीव सीधा सिद्धों के वास-स्थान—लोक के अन्त को पहुंच—अलोक को स्पर्श करता हुआ स्थिर होता है।

सिद्धों के आठ गुण (गा० ८-१०)

८-१०—वीतराग सिद्ध भगवान के (१) अनन्त ज्ञान, (२) अनन्त दर्शन और (३) अनन्त आत्मिक सुख होता है। भगवान के (४) क्षायिक सम्यक्त्व और (५) अटल अवगाहना होती है। उनमें (६) अमूर्तित्व और (७) अगुरुलघुत्व ये श्रेष्ठ गुण भी होते हैं। उनके अमूर्तिभाव प्रगट हो जाता है और हल्का या भारीपन मालूम नहीं देता, इसलिए वे अमूर्त और अगुरुलघु कहलाते हैं। वे अंतराय कर्म से रहित होते हैं इसलिए उनके (८) अनन्त वीर्य होता है। उनको पौद्गलिक सुखों की कामना नहीं होती, वे तो अपने स्वाभाविक गुण—सहज आनन्द में रमते रहते हैं। उनके कोई कमी नहीं दीखती[३]।

११—छूटा कलकलीभूत ससार थी रे, आठोइ करमा तणो कर सोप रे।
ते अनता सुख पाम्या सिव-रमणी तणा रे, त्याने कहिजें अविचल मोख रे॥

१२—त्यारा सुखा नें नही काई ओपमा रे, तीनूइ लोक ससार मझार रे।
एक धारा त्यारा सुख सासता रे, ओछा इधका सुख कदेय न हुवे लिगार रे॥

१३—तीरथ सिधा ते तीरथ मा सू सिध हुआ रे, अतीरथ सिधा ते विण तीरथ सिध थाय रे॥
तीथकर सिधा ते तीरथ थापने रे, अतीथकर सिधा ते विना तीथकर ताय रे॥

१४—सयबुधी सिधा ते पोते समझने रे, प्रतेक बुधी सिधा ते कायक वस्तू देख रे।
बुघबोही सिधा ते समझे ओरा कनें रे, उपदेस सुणें ने ग्यान विशेष रे॥

१५—स्वलिंगी सिधा साधा रा भेष मे रे, अनलिंगी सिधा ते अनलिंगी माय रे।
ग्रहलिंगी सिधा ग्रहस्थरा लिंग थका रे, अस्त्रीलिंग सिधा अस्त्रीलिग मे ताय रे॥

१६—पुरषलिंग सिधा ते पुरष ना लिंग छता रे, निपुसक सिधा ते निपुसक लिंग मे सोय रे।
एक सिधा ते एक समे एक हीज सिध हूआरे, अनेक सिधा ते एक समे अनेक सिध होय रे॥

१७—ग्यान दरसण ने चारित तप थकी रे, सारा हूआ छे सिध निरवाण रे।
या च्यारा विना कोई सिध हूओ नही रे, ए च्यारुंई मोष रा मारग जाण रे॥

१८—ग्यान थी जाणे लेवे सर्व भाव ने रे, दरसण सू सरध लेवे सयमेव रे।
चारित सू करम रोके छे आवता रे, तपसा सू करमा ने दीया खेव रे॥

१९—ए पनरेइ भेदे सिध हूआ तके रे, सगला री करणी जाणो एक रे।
वले मोष मे सुख सगला रा सारिपा रे, ते सिध छें अनत भेदें अनेक रे॥

२०—मोष पदार्थ ने ओलखायवा रे, जोड कीधी छें नाथदुवारा मझार रे।
समत अठारें ने वरस छपने रे, चेत सुद चोथ ने सनीसर वार रे॥

१७—ये सब ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप से सिद्ध होते और सब सिद्धों ने
निर्वाण प्राप्त करते हैं। इन चारों के बिना कोई सिद्ध नहीं
हुआ। मोक्ष प्राप्ति के ये चार ही मार्ग हैं।

१८—ज्ञान से जीव सर्व भावों को जानता है। दर्शन से उनकी
यथार्थ प्रतीति करता है। चारित्र से कर्मों का आना
रुकता है और तप से जीव कर्मों को बिखेर देता है।

१९—इन पन्द्रह भेदों से जो भी सिद्ध हुए हैं उन सब की करनी
एक सरीखी समझो। तथा मोक्ष में उन सब का सुख भी
समान ही है। इन पन्द्रह भेदों से अनन्त सिद्ध हुए हैं।

२०—मोक्ष पदार्थ को समझाने के लिए यह ढाल श्रीजीद्वार
में सं० १८५६ की चैत्र शुक्ला ४ वार शनिवार को
की है।

टिप्पणियाँ

१—मोक्ष नवाँ पदार्थ है (दो० १) .

पदार्थों की सख्या नौ मानी हो अथवा सात, सब ने मोक्ष पदार्थ को अन्त में रखा है। इस तरह मोक्ष पदार्थ नवाँ अथवा सातवाँ पदार्थ ठहरता है। "ऐसी सज्ञा मत करो कि मोक्ष नही है पर ऐसी सज्ञा करो कि मोक्ष है[1] ।"—यह उपदेश मोक्ष के स्वतत्र अस्तित्व को घोषित करता है। द्विपदावतारो मे[2] तथा अन्यत्र अनेक स्थलो पर मोक्ष को बध का प्रतिपक्षी तत्त्व कहा गया है। जैसे कारावास शब्द स्वय ही स्वतत्रता के अस्तित्व का सूचक होता है वैसे ही जब बन्ध सद्‌भाव पदार्थ है तो उसका प्रतिपक्षी पदार्थ मोक्ष भी सद्भाव पदार्थ है, यह स्वय सिद्ध है। बन्ध कर्म-सश्लेष है और मोक्ष कर्म का कृत्स्न-क्षय। मोक्ष की परिभाषा देते हुए आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं—"कृत्स्नकर्म-वियोगलक्षणो मोक्ष[3] "—मोक्ष का लक्षण सपूर्ण कर्म-वियोग है।

स्वामीजी लिखते हैं .

सर्व कर्मों से मुक्ति मोक्ष है। उसे पहचानने के लिए तीन दृष्टान्त हैं

१—घानी आदि के उपाय से तेल खलरहित होता है, वैसे ही तप-सयम के द्वारा जीव का कर्म-रहित होना मोक्ष है।

२—मथनी आदि के उपाय से घृत छाछ रहित होता है, वैसे ही तप-सयम के द्वारा जीव का कर्म-रहित होना मोक्ष है।

३—अग्नि आदि के उपाय से धातु और मिट्टी अलग होते हैं, वैसे ही तप-सयम के द्वारा जीव का कर्म-रहित होना मोक्ष है[4] ।

कर्मो के सम्पूर्ण क्षय का क्रम आगम में इस प्रकार मिलता है—

"प्रेम, द्वेष और मिथ्यादर्शन के विजय से जीव ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना मे तत्पर होता है। फिर आठ प्रकार के कर्मो का ग्रन्थि-भेद आरभ होता है। उसमे

१—सुयगड २ ५ १५

२—ठाणाङ्ग २ ५७

३—तत्त्वा० १ ४ सर्वार्थसिद्धि

४—तेराद्वार दृष्टान्त द्वार

पहले मोहनीयकर्म की अठाइस प्रकृतियों का क्षय होता है, फिर पांच प्रकार के ज्ञानावरणीय, नौ प्रकार के दर्शनावरणीय और पांच प्रकार के अन्तराय कर्म—इन तीनों का एक साथ क्षय होता है। उसके बाद प्रधान, अनन्त, सम्पूर्ण, परिपूर्ण, आवरण-रहित, अज्ञानतिमिर-रहित, विशुद्ध और लोकालोक प्रकाशक प्रधान केवलज्ञान और केवलदर्शन उत्पन्न होते हैं।

"केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त होते ही जीव के ज्ञानावरणीय आदि चार घनघाती कर्मों का नाश हो जाता है और सिर्फ वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र—ये कर्म अवशेष रहते हैं। इसके बाद आयु शेष होने से जब अन्तर्मुहूर्त (दो घड़ी) जितना काल बाकी रहता है तब केवली मन, वचन और काय के व्यापार का निरोध कर, शुक्लध्यान की तीसरी श्रेणी में स्थित होता है, फिर वह मनोव्यापार को रोकता है, फिर वचन व्यापार को और फिर कायव्यापार को। फिर श्वास-प्रश्वास को रोकता है, फिर पाँच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण करने में जितना समय लगता है उतने समय तक शैलेशी अवस्था में रहकर शुक्लध्यान की चौथी श्रेणी में स्थित होता है। वहाँ स्थित होते ही अवशेष वेदनीय, आयुष्य, नाम तथा गोत्र कर्म एक साथ नाश को प्राप्त होते हैं। सर्व कर्मों के नाश के साथ ही औदारिक, कार्मण और तैजस—इन शरीरों से भी सदा के लिए छुटकारा हो जाता है। इस प्रकार इस संसार में रहते-रहते ही वह सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है एवं सर्व दुःख का अन्त कर देता है[1]।"

मोक्ष सर्व पदार्थों में श्रेष्ठ है। मोक्ष साध्य है और संवर निर्जरा साधन। साधक की सारी चेष्टाएँ मोक्ष के लिए ही होती हैं। मोक्ष पदार्थ में सर्व गुण होते हैं। उसके सुख अनन्त हैं। परमपद, निर्वाण, सिद्ध, शिव आदि उसके अनेक नाम हैं। मोक्ष के ये नाम गुणनिष्पन्न हैं। मोक्ष के गुणों के सूचक हैं। मोक्ष से ऊंचा कोई पद नहीं, अतः वह 'परमपद' है। कर्म-रूपी दावानल शान्त हो जाने से उसका नाम 'निर्वाण' होता है। सम्पूर्ण कृतकृत्य होने से उसका नाम 'सिद्ध' है। किसी प्रकार का उपद्रव नहीं, इससे मोक्ष का नाम 'शिव' है।

२—मोक्ष के अभिवचन (दो० २-५) :

मोक्ष का अर्थ—जहाँ मुक्त आत्माएँ रहती हैं, वह स्थान—ऐसा नहीं है। "मोचनं कर्मपाशवियोजनमात्मनो मोक्षः"—कर्म-पाश का विमोचन—उसका वियोजन मोक्ष है।

१—उत्त० २६ ७१-७२

बेडी आदि से छूटना द्रव्य मोक्ष है। कर्म-बेडी से छूटना भाव मोक्ष है। यहाँ मोक्ष का अभिप्राय भाव मोक्ष से है। धातु और कचन का सयोग अनादि है पर क्रिया विशेष से उनके सम्बन्ध का वियोग होता है, उसी तरह जीव और कर्म के अनादि सयोग का भी सदुपाय से वियोग होता है। जीव और कर्म का यह वियोग ही मोक्ष है। मोक्ष पुण्य और पाप दोनो प्रकार के कर्मों के क्षय से होता है[1]।

सर्व कर्म विरहित आत्मा के अनेक अभिवचन हैं। उनमें से कुछ नीचे दिये जाते हैं

१—सिद्ध जो कृतार्थ हो चुके, वे सिद्ध हैं अथवा जो लोकाग्र में स्थित हुए हैं और जिनके पुनरागमन नही है, वे सिद्ध हैं अथवा जिनके कर्म ध्वस्त हो चुके हैं—जो कर्म-प्रपच से मुक्त हो चुके हैं, वे सिद्ध हैं[2]।

२—बुद्ध जिनके कृत्स्न ज्ञान और कृत्स्न दर्शन हैं—जो सकल कर्म क्षय के साथ इनसे सयुक्त हैं।

३—मुक्त . जिनके कोई बधन अवशेष नही रहा।

४—परिनिवृत्त सर्वथा सकल कर्मकृत विकार से रहित होकर स्वस्थ होना परि-निर्वाण है। परिनिर्वाण धर्मयोग से कर्मक्षय कर जो सिद्ध होता, वह परिनिवृत्त है[3]।

५—सर्वदु खप्रहीण जो सर्व दु खो का अन्त कर चुका, वह सर्वदु खप्रहीण है।

६—अन्तकृत जिसने पुर्नभव का अन्त कर दिया।

७—पारगत : जो अनादि, अनन्त, दीर्घ, चारगतिरूप ससारारण्य को पार कर चुका, वह पारगत है।

८—परिनिर्वृत्त सर्व प्रकार के शारीरिक मानसिक अस्वास्थ्य से रहित[4]।

३—सिद्ध और उनके आठ गुण (गा० ६-१०)

उत्तराध्ययन मे कहा है

"वेदनीय आदि चार अघाति कर्म और औदारिक आदि शरीरो से छुटकारा पाते ही जीव ऋजु श्रेणि को प्राप्त हो अस्पर्शमानगति और अविग्रह से एक समय मे

१—ठाणाङ्ग १ १० टीका
२—वही १.४६ टीका
३—वही १.४६ टीका
४—वही

ऊर्ध्व सिद्ध स्थान को पहुच साकार ज्ञानोपयोग युक्त सिद्ध, बुद्ध आदि होकर अनन्त दुःखो का अन्त करता है[1]।"

इसी आगम में अन्यत्र कहा है "सिद्ध कहाँ जाकर रुकते हैं, कहाँ ठहरते हैं? शरीर का त्याग कहाँ करते हैं? और कहाँ जाकर सिद्ध होते हैं —ये प्रश्न हैं? सिद्ध अलोक की सीमा पर रुकते हैं और लोक के अग्रभाग पर प्रतिष्ठित हैं। यहाँ शरीर छोड़ कर लोकाग्र पर जाकर सिद्ध होते हैं। महाभाग सिद्ध भव-प्रपञ्च से मुक्त हो श्रेष्ठ सिद्ध गति को प्राप्त हो लोक के अग्रभाग पर स्थित होते हैं। ये सिद्ध जीव अरूपी और जीवघन हैं। ज्ञान और दर्शन इनका स्वरूप है। जिनकी उपमा नहीं ऐसे अतुल सुख से वे सयुक्त होते हैं[2]। सर्व सिद्ध ज्ञान और दर्शन से सयुक्त होते हैं और ससार से निस्तीर्ण हो सिद्धि गति को पा लोक के एक देश में रहते हैं[2]।"

यहाँ प्रश्न उठते हैं—सिद्धि-स्थान क्या है? कर्म-मुक्त जीव ऊर्ध्वगति क्यो करते हैं? लोकाग्र पर जाकर क्यो ठहर जाते हैं? उनकी अवगाहना क्या होती है? इनका उत्तर नीचे दिया जाता है। सिद्ध स्थान का वर्णन आगमो में इस प्रकार मिलता है

"सर्वार्थ सिद्ध नाम के विमान से बारह योजन ऊपर छत्र के आकार की ईषत्प्राग्भार नाम की एक पृथ्वी है। वह ४५ लाख योजन आयाम (लम्बी) और उतनी ही विस्तीर्ण है। उसकी परिधि इससे तीन गुनी से कुछ अधिक है। यह पृथ्वी मध्य में आठ योजन मोटी है। फिर धीरे-धीरे पतली होती-होती अन्त में मक्खी की पाँख से भी पतली है। यह पृथ्वी स्वभाव से ही निर्मल, श्वेत सुवर्णमय तथा उत्तान छत्र के आकार की है। यह शख, अक नामक रत्न और कुद पुष्प जैसी पांडुर, निर्मल और सुहावनी है। उस सीता नाम की पृथ्वी से एक योजन ऊपर लोकांत है। इस योजन का जो अन्तिम कोस है उसके छट्ठे भाग में सिद्ध रहे हुए हैं[3]।"

वेदनीय आदि कर्मों और औदारिक आदि शरीरो से छुटकारा पाते ही जीव ऊर्ध्वगति से समश्रेणी मे (सरल-सीधी रेखा में) तथा अवक्र गति से मोक्षस्थान को जाता है। रास्ते में वह कहीं भी नही अटकता और सीधा लोक के अग्रभाग पर जाकर स्थित हो जाता है। वहाँ पहुचने में जीव को एक समय लगता है।

१—उत्त० २९.७३

२—उत्त० ३६ ५६-५७,६४,६७-८

३—उत्त० ३६.५८-६३

सिद्ध जीवो की ऊर्ध्वगति क्यो होती है इस सम्बन्ध मे निम्न वार्तालाप बडा वोधप्रद है

"हे भगवन् कर्म-रहित जीव के गति मानी गई है क्या ?"

"मानी गई है, गौतम !"

"हे भगवन् ! कर्म-रहित जीव के गति कैसे मानी गई है ?"

"हे गौतम ! निस्सगता से, निरागता से, गति परिणाम से, बन्धन-छेद से, निरींधनता से और पूर्व-प्रयोग से कर्म-रहित जीव के गति मानी गई है।"

"सो कैसे ? भगवन् !"

"यदि कोई पुरुष एक सूखे छिद्ररहित सम्पूर्ण तूँबे को अनुक्रम से सस्कारित कर दाम और कुश द्वारा कस कर उस पर मिट्टी का लेप करे और धूप मे सुखाकर दुबारा लेप करे और इस तरह आठ बार मिट्टी का लेप करके उस बार-बार सुखाये हुए तूबे को, तिरे न जा सके, ऐसे पुरुष प्रमाण अथाह जल में डाले तो हे गौतम ! वैसे आठ मिट्टी के लेपो से गुरु, भारी और वजनदार बना तूबा जल के तल को छेद कर अध धरणी पर प्रतिष्ठित होगा या नही ?"

"होगा, हे भगवन् !"

"हे गौतम ! जल में डूबे हुए तूबे के आठ मिट्टी के लेपो के एक-एक कर क्षय होने पर धरती तल से क्रमश ऊपर उठता हुआ तूबा जल के ऊपरी सतह पर प्रतिष्ठित होगा या नहीं ?"

"होगा, हे भगवन् !"

"इसी तरह हे गौतम ! निश्चय ही निसगता से, निरागता से, गति-परिणाम से कर्म-रहित जीव के गति कही गई है।"

"हे गौतम ! जैसे कलाय-मटर की फली, मूग की फली, माष (उडद) की फली, शिम्बिका की फली, एरड का फल धूप मे सुखाया जाय तो सूखने पर फटने से उनके बीज एक ओर जाकर गिरते हैं, उसी तरह हे गौतम ! बन्धन-छेद के कारण कर्म-रहित जीव के गति होती है।"

"हे गौतम ! ईधन से छूटे हुए धुएँ की गति जैसे स्वाभाविक निराबाध रूप से ऊपर की ओर होती है, उसी तरह हे गौतम ! निश्चय से निरिन्धन (कर्मरूपी ईन्धन से मुक्त) होने से कर्म रहित जीव की ऊर्ध्व गति होती[1] ।"

१—भगवती १ ३

सिद्ध जीव लोकाग्र पर जाकर क्यों रुक जाता है—इसके आगम में चार कारण बतलाए हैं—पहला गति-अभाव, दूसरा निरुपग्रह, तीसरा रूक्षता और चौथा लोकानुभाव—लोकस्वभाव[1] ।

जीव और पुद्गल का ऐसा ही स्वभाव है कि वे लोक के सिवा अलोक मे गति नही कर सकते । जिस तरह दीपशिखा नीचे की ओर गति नहीं करती उसी प्रकार ये लोकान्त के ऊपर अलोक मे गति नही करते ।

जीव और पुद्गल दोनो ही गतिशील हैं पर वे धर्मास्तिकाय के सहाय से ही गति कर सकते हैं । लोक के बाहर धर्मास्तिकाय नही होता अत. वे लोक के बाहर अलोक में गति नही कर सकते ।

बालू की तरह रुखे लोकान्त मे पुद्गलो का ऐसा रूक्ष परिणमन होता है कि वे आगे बढने में समर्थ नही होते । कर्म-पुद्गलो की वैसी स्थिति होने पर कर्म-सहित जीव भी आगे नही बढ सकते । कर्ममुक्त जीव धर्मास्तिकाय के सहाय के अभाव मे आगे गति नही कर सकते ।

लोक की मर्यादा ही ऐसी है कि गति उसके अन्दर ही हो सकती है । जिस प्रकार सूर्य की गति अपने मण्डल में ही होती है उसी प्रकार जीव और पुद्गल लोक मे ही गति कर सकते हैं उसके बाहर नही ।

जीव की अवगाहना उसके शरीर के बराबर होती है । जैसे दीपक को बडे घर मे रखने से उसका प्रकाश उस घर जितना फैल जाता है और छोटे आले में रखने से वह छोटे आले जितना हो जाता है , उसी प्रकार जीव कर्म-वश छोटा या बडा शरीर जैसा प्राप्त करता है उस समूचे शरीर को अपने प्रदेशो से व्याप्त—सचित्त कर देता है । हाथी का जीव हाथी के शरीर को व्याप्त किए होता है—उतनी ही अवगाहना—फैलाव—कद वाला होता है और चींटी का जीव चींटी के शरीर को व्याप्त किए रहता है—उतनी ही अवगाहना—फैलाव—कदवाला होता है ।

१—ठाणाङ्ग ४ ३ ३३७

चउहिं ठाणेहिं जीवा य पोग्गला य णो सचातति बहिया लोगता गमणताते, त० गतिअभावेण णिरुवग्गहताते लुक्खताते लोगाणुभावेण ।

सिद्ध जीव की अवगाहना उसके अन्तिम शरीर की अवगाहना से त्रिभाग हीन होती है अर्थात् मुक्त आत्मा के सघन प्रदेश अन्तिम शरीर से त्रिभाग कम क्षेत्र मे व्याप्त होते हैं[1]।

आगम में सिद्धो के ३१ गुण बतलाये गए हैं। वे इस प्रकार हैं—आभिनिबोधिक-ज्ञानावरण का क्षय (२) श्रुतज्ञानावरण का क्षय (३) अवधिज्ञानावरण का क्षय (४) मन पर्यायज्ञानावरण का क्षय (५) केवलज्ञानावरण का क्षय (६) चक्षुदर्शनावरण का क्षय (७) अचक्षुदर्शनावरण का क्षय (८) अवधिदर्शनावरण का क्षय (९) केवल-दर्शनावरण का क्षय (१०) निद्रा का क्षय (११) निद्रानिद्रा का क्षय (१२) प्रचला का क्षय (१३) प्रचलाप्रचला का क्षय (१४) स्त्यानर्द्धि का क्षय (१५) सातावेदनीय का क्षय (१६) असातावेदनीय का क्षय (१७) दर्शनमोहनीय का क्षय (१८) चारित्र मोहनीय का क्षय (१९) नरकायु का क्षय (२०) तिर्यगायु का क्षय (२१) मनुष्यायु का क्षय (२२) देवायु का क्षय (२३) उच्च गोत्र का क्षय (२४) नीच गोत्र का क्षय (२५) शुभनाम का क्षय (२६) अशुभनाम का क्षय (२७) दानांतराय का क्षय (२८) लाभांतराय का क्षय (२९) भोगांतराय का क्षय (३०) उपभोगांतराय का क्षय और (३१) वीर्यान्तराय कर्म का क्षय[2]।

सक्षेप मे आठो मूल कर्म और उनकी सर्व उत्तर प्रकृतियो का क्षय सिद्धो में पाया जाता है।

कर्मों के क्षय से सिद्धो मे आठ विशेषताएँ प्रकट होती है। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से केवलज्ञान उत्पन्न होता है। दर्शनावरणीय कर्म के क्षय से केवलदर्शन उत्पन्न होता है। वेदनीय कर्म के क्षय से आत्मिक सुख—अनन्त सुख प्रकट होता है। मोहनीय कर्म के क्षय से क्षायक सम्यकत्व प्रकट होता है। आयुष्य कर्म के क्षय से अटल अवगाहना—शाश्वत स्थिरता प्रकट होती है। नाम कर्म के क्षय से अमूर्तिकपन प्रकट होता है।

१—उत्त० ३६ ६४

उस्सेहो जस्स जो होइ, भवम्मि चरिमम्मि उ।
तिभागहीणो तत्तो य, सिद्धाणोगाहणा भवे॥

२—समवायाङ्ग सम० ३१। उत्तराध्ययन (३१ २०) मे सिद्धों के ३१ गुणों का सकेत है। देखिए उक्त स्थल की टीका

नव दरिसणम्मि चत्तारि आउए पच आइमे अते।
सेसे दो दो भेया, खीणभिलावेण इगतीस॥

गोत्र कर्म के क्षय से अगुरुलघुपन—न छोटापन न बड़ापन प्रकट होता है। और अन्तराय कर्म के क्षय से लब्धि प्रकट होती है।

केवल ज्ञान, केवल दर्शन, आत्मिक सुख, क्षायक सम्यक्त्व, अटल अवगाहन, अमूर्तिपन, अगुरुलघुपन और लब्धि—ये आठ सब आत्माओ के स्वाभाविक गुण हैं। कर्म उन गुणो को दबाते रहते हैं, उन्हे प्रकट नही होते। कर्म-क्षय से ये सब गुण प्रकट हो जाते हैं। सब सिद्धो मे ये गुण होते हैं।

४—सासारिक सुख और मोक्ष सुखों की तुलना (गा० १-५,११-१२) :

पुण्य की प्रथम ढाल मे पौद्गलिक सुख और मोक्ष-सुखो की तुलना आई है[1] और प्रसगवश प्राय उन्ही शब्दो में यहाँ पुनरुक्त हुई है। पूर्व-स्थलो पर दोनो प्रकार के सुखो का पार्थक्य विस्तृत टिप्पणियो द्वारा दिखाया जा चुका है[2]।

मोक्ष के सुख शाश्वत है, अनन्त है, निरपेक्ष है, स्वाभाविक है। सर्व काल के सर्व देवो के सुखो को मिला लिया जाय तो भी वे एक सिद्ध के सुख के अनन्तवे भाग के भी तुल्य नही होते।

सांसारिक सुख पौद्गलिक हैं। वे वास्तव मे सुख नही पर कर्म-रूपी पाँव रोग से ग्रस्त होने के कारण खुजली की तरह मधुर लगते है। सासारिक सुखो से आत्मा का कार्य सिद्ध नही होता। जो सासारिक सुखो से प्रसन्न होता है, उसके अति मात्रा मे पाप कर्मों का बन्ध होता है जिससे उसे नरक और निगोद के दु खो को भोगना पडता है।

श्री उमास्वाति ने लिखा है—

"मुक्तात्माओ के सुख विषयो मे अतीत, अव्यय और अव्याबाध है। ससार के सुख विषयो की पूर्ति, वेदना के अभाव, पुण्य कर्मो के इष्ट फलरूप हैं जब कि मोक्ष के सुख कर्मक्लेश के क्षय से उत्पन्न परम सुखरूप। सारे लोक में ऐसा कोई पदार्थ नही जिसकी उपमा सिद्धो के सुख से दी जा सके। वे निरूपम है। वे प्रमाण, अनुमान और उपमान के विषय नहीं, इसलिए भी निरूपम है। वे अर्हत् भगवान के ही प्रत्यक्ष है और उन्ही के द्वारा वाणी का विषय हो सकते है। अन्य विद्वान उन्ही के कहे अनुसार

१—देखिए दो० २-४ तथा गा० ४६-५१

२—(क) देखिए पृ० १५१-२ टिप्पणी १ (३), १ (५)

(ख) देखिए पृ० १७१-१७३ टि० १३

उसका ग्रहण करते और उसके अस्तित्व को स्वीकार करते ह। मोक्ष-सुख छद्मस्थों की परीक्षा का विषय नही होता[1]।

औपपातिक सूत्र मे सिद्धो के सुखो का वर्णन इस प्रकार मिलता है

"सिद्ध अशरीर—शरीर रहित होते हैं। वे चेतन्यघन और केवलज्ञान, केवलदर्शन से सयुक्त होते है। साकार और अनाकार उपयोग उनके लक्षण हैं। सिद्ध केवलज्ञान से सयुक्त होने पर सर्वभाव, गुणपर्याय को जानते है और अपनी अनन्त केवल दृष्टि से सर्वभाव देखते है। न मनुष्य को ऐसा सुख होता है और न सब देवो को जैसा कि अव्याबाध गुण को प्राप्त सिद्धो को होता है। जैसे कोई म्लेच्छ नगर की अनेक विध विशेषता को देख चुकने पर भी उपमा न मिलने से उनका वर्णन नही कर सकता, उसी तरह सिद्धो का सुख अनुपम होता है। उसकी तुलना नहीं हो सकती। जिस प्रकार सर्व प्रकार के पाँचो इन्द्रियो के भोग को प्राप्त हुआ मनुष्य भोजन कर, क्षुधा और प्यास से रहित हो अमृत पीकर तृप्त हुए मनुष्य की तरह होता है, उसी तरह अतुल निर्वाण प्राप्त सिद्ध सदाकाल तृप्त होते हैं। वे शाश्वत सुखो को प्राप्त कर अव्याबाधित सुखी होते हैं। सर्व कार्य सिद्ध कर चुके होने से वे सिद्ध ह। सर्व तत्त्व के पारगामी होने से बुद्ध है। ससार समुद्र को पार कर चुके अत पारगत हैं, हमेशा सिद्ध रहेंगे, इसलिए परम्परागत है। सिद्ध सब दु खो को छेद चुके होते हैं। वे जन्म, जरा और मरण के बधन से मुक्त होते हैं। वे अव्याबाध सुख का अनुभव करते हैं और शाश्वत सिद्ध होते है। वे अतुल सुखसागर को प्राप्त होते हैं। अनुपम अव्याबाध सुखो को प्राप्त हुए होते है। अनन्त सुखो को प्राप्त हुए वे अनन्त सुखी वर्तमान अनागत सभी काल मे वैसे ही सुखी रहते हैं[2]।"

उत्तराध्ययन मे सिद्ध-स्थान के सुखो के विषय मे निम्न वार्तालाप मिलता है

"हे मुने! सांसारिक प्राणी शारीरिक और मानसिक दु खो से पीडित हो रहे हैं उनके लिए क्षेम, शिव, अव्याबाध स्थान कौन-सा है?"

"लोक के अग्र भाग पर एक ध्रुव स्थान है, जहा जरा मृत्यु, व्याधि और वेदना नहीं हैं पर वह दुरारोह है।"

"वह स्थान कौन-सा है?"

१—तत्त्वा० उपसहार गा० २३-३२

२—औपपातिक सू० १०८-१८६

"उस स्थान का नाम निर्वाण, अव्याबाध, सिद्धि, लोकाग्र, क्षेम, शिव और अनाबाध है। उसे महर्षि प्राप्त करते है"

"मुने। वह स्थान शाश्वत निवासरूप है, वह लोकाग्र पर है। वह दुरारोह है पर जिसने भव का अन्त कर उसे पा लिया उसके कोई शोच-फिकर नही रहती[1]।" "लोगग्गभावमुवगए परमसुही भवई[2]" —लोक के अग्र भाव पर पहुँचकर जीव परम सुखी होता है।

आचारांग में लिखा है

"उस दशा का वर्णन करने मे सारे शब्द निवृत्त हो जाते—समाप्त हो जाते है। वहां तर्क की पहुंच नही और न बुद्धि उसे ग्रहण कर पाती है। कर्म-मल रहित केवल चैतन्य ही उस दशा का ज्ञाता होता है।

"मुक्त आत्मा न दीर्घ है, न ह्रस्व, न वृत्त—गोल। वह न त्रिकोण है, न चौरस, न मण्डलाकार। वह न कृष्ण है, न नील, न लाल, न पीला और न शुक्ल ही। वह न सुगन्धिवाला है, न दुर्गन्धिवाला है। वह न तिक्त है, न कड़ुआ, न कषैला, न खट्टा और न मधुर। वह न कर्कश है, न मृदु। वह न भारी है, न हल्का। वह न शीत है, न उष्ण। वह न स्निग्ध है, न रूक्ष। वह न शरीरधारी है, न पुनर्जन्मा, न आसक्त। वह न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुसक।

"वह ज्ञाता है, वह परिज्ञाता है, उसके लिए कोई उपमा नही। वह अरूपी सत्ता है। वह अपद है। वचन अगोचर के लिए कोई पद—वाचक शब्द नही। वह शब्दरूप नही, गन्धरूप नहीं, रसरूप नही, स्पर्श रूप नहीं। वह ऐसा कुछ भी नहीं। ऐसा मैं कहता हूँ[3]।"

१—उत्त० २३ ८०-८४

२उत्त० २९-३८

३—आचाराङ्ग श्रु० १ अ० ५ उ० ६

सव्वे सरा नियट्टन्ति। तक्का जत्थ न विज्जइ। मइ तत्थ न गाहिया। ओए अप्पइट्ठाणस्स खेयन्ने। से न दीहे न हस्से न वट्टे। न तंसे न चउरंसे न परिमंडले। न कीण्हे न नीले न लोहिए न हालिद्दे न सुक्किले। न सुरभिगंधे न दुरभिगंधे। न तित्ते न कडुए न कसाए न अंबिले न महुरे न कक्खडे। न मउए न गरुए न लहुए। न सिए न उण्हे न निद्धे न लुक्खे। न काऊ न रुहे न सगे। न इत्थी न पुरिसे न अन्नहा। परिन्ने सन्ने उवमा न विज्जए। अरूवी सत्ता। अपयस्स पय नत्थि। से न सद्दे न रूवे न गन्धे न रसे न फासे इच्चेव त्ति बेमि।

५—पन्द्रह प्रकार के सिद्ध (गा० १३-१६) :

स्वामीजी ने इन गाथाओ मे सिद्धो के पद्रह भेदो का वर्णन किया है। उनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है

१—तीर्थ सिद्ध तीर्थङ्कर के तीर्थ स्थापन के वाद जो सिद्ध हुए उन्हें तीर्थ सिद्ध कहते हैं, जसे गणधर गौतम आदि।

२—अतीर्थ सिद्ध तीर्थ स्थापन के पहले अथवा तीर्थ का विच्छेद होने के वाद सिद्ध हुए अतीर्थ सिद्ध कहलाते है। जैसे मरुदेवी आदि।

३—तीर्थङ्कर सिद्ध : जो तीर्थङ्कर होकर साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका रूप तीर्थ की स्थापना करने के वाद सिद्ध हुए है वे तीर्थङ्कर सिद्ध कहलाते हैं। जैसे तीर्थङ्कर ऋषभदेव यावत् महावीर।

४—अतीर्थङ्कर सिद्ध · जो सामान्य केवली होकर सिद्ध हुए है उन्हे अतीर्थङ्कर सिद्ध कहते हैं। जैसे गणधर गौतम आदि।

५—स्वयबुद्ध सिद्ध जो स्वय जातिस्मरणादि ज्ञान से तत्त्व जानकर सिद्ध हुए हैं उन्हे स्वयबुद्ध सिद्ध कहते हैं। जैसे मृगापुत्र।

६—प्रत्येकबुद्धि सिद्ध जो वाह्य निमित से—जैसे किसी वस्तु को देखकर वोध प्राप्त कर सिद्ध हुए हैं वे प्रत्येकबुद्ध सिद्ध कहलाते हैं [१]।

७—बुद्धबोधित सिद्ध जो धर्माचार्य आदि से वोध प्राप्त कर सिद्ध हुए हैं उन्हे बुद्धबोधित सिद्ध कहते हैं। जैसे मेघकुमार।

८—स्वलिङ्गी सिद्ध : जो मुनि लिङ्ग मे सिद्ध हुए हैं उन्हे स्वलिङ्गी सिद्ध कहते हैं। जैसे आदिनाथ भगवान के दस हजार मुनि।

९—अन्यलिङ्गी सिद्ध · जो अन्यमती-सन्यासी आदि के लिङ्ग से सिद्ध हुऐ है, उन्हे अन्यलिङ्ग सिद्ध कहते है। जैसे शिवराजर्षि।

१—टीका (ठाणाङ्ग १ ५१) मे स्वयबुद्ध और और प्रत्येकबुद्ध सिद्ध का अतर इस प्रकार बताया है—स्वयबुद्धो को वाह्य निमित्ति विना ही वोधि प्राप्त होती है जबकि प्रत्येकबुद्धो को वाह्य निमित्त की अपेक्षा होती है। स्वयबुद्धों के पात्रादि बारह उपधि होती है। प्रत्येकबुद्धो को तीन प्राच्छादक-वस्त्र के सिवा नव उपधि होती है। स्वयबुद्धो के पूर्वभव मे श्रुत अध्ययन होता है और नहीं भी होता। प्रत्येकबुद्ध के नियम से होता है। स्वयबुद्धो को आचार्यादि के समीप हो लिङ्ग-ग्रहण होता है जबकि प्रत्येकबुद्धो को देव ही लिङ्ग धारण कराते है।

१०—गृहलिङ्गी सिद्ध : जो गृहस्थ के लिङ्ग से सिद्ध हुए हैं उन्हें गृहलिङ्ग सिद्ध कहते हैं। जैसे सुमति के छोटे भाई नागिल आदि।

११—स्त्रीलिङ्गी सिद्ध जो स्त्री-शरीर से सिद्ध हुए हैं उन्हें स्त्री-लिङ्ग सिद्ध कहते हैं। जैसे चन्दनवाला।

१२—पुरुषलिङ्गी सिद्ध : जो पुरुष-शरीर से सिद्ध हुए हैं उन्हें पुरुषलिङ्ग सिद्ध कहते हैं। जैसे गणधर आदि।

१३—नपुसकलिङ्ग सिद्ध : जो नपुसक शरीर से सिद्ध हुए हैं उन्हें नपुसकलिङ्ग सिद्ध कहते हैं। जैसे गाङ्गेय अनगार आदि।

१४—एकसमय सिद्ध जो एक समय में अकेले सिद्ध हुए हैं उन्हें एक समयसिद्ध कहते हैं। जैसे महावीर।

१५—अनेकसमय सिद्ध . जो एक समय मे अनेक सिद्ध हुए हैं उन्हें अनेक सिद्ध कहते हैं। एक समय मे दो से लेकर १०८ सिद्ध तक हो सकते हैं।

स्वामीजी के इस वर्णन का आधार ठाणाङ्ग सूत्र है [1]।

उत्तराध्ययन में सिद्धो का वर्णन इस प्रकार मिलता है "सिद्ध अनेक प्रकार के हैं—स्त्रीलिङ्ग सिद्ध, पुरुषलिङ्ग सिद्ध, नपुंसकलिङ्ग सिद्ध, स्वलिङ्ग सिद्ध, अन्यलिङ्ग सिद्ध और गृहलिङ्ग सिद्ध आदि। सिद्ध जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट अवगाहना से हो सकते हैं। ऊर्ध्व, अधो और तिर्यग् लोक से हो सकते हैं। समुद्र और जलाशय से भी सिद्ध हो सकते हैं। एक समय मे नपुसकलिङ्गी दस, स्त्रीलिङ्गी वीस और पुरुषलिङ्गी एकसौ आठ सिद्ध हो सकते हैं। गृहलिङ्ग में चार, अन्यलिंग मे दस, स्वलिंग में एकसौ आठ सिद्ध एक समय में हो सकते हैं। एक समय में जघन्य अवगाहना से चार, उत्कृष्ट अवगाहना से दो और मध्यम अवगाहना से एकसौ आठ सिद्ध हो सकते हैं। एक समय में ऊर्ध्व लोक में चार, समुद्र में दो, नदी में तीन, अधोलोक मे से वीस और तिर्यक् लोक में एकसौ आठ सिद्ध हो सकते हैं [2]।"

१—ठाणाङ्ग १ ५१

२—उत्त० ३६ ५०-५५

६—मोक्ष-मार्ग और सिद्धो की समानता (गा० १७-१९) :

उत्तराध्ययन में कहा है "वस्तु स्वरूप स्वरूप को जाननेवाले—परमदर्शी जिनो ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—इस चतुष्टय को मोक्ष-मार्ग कहा है। इस मार्ग को प्राप्त हुए जीव सुगति को पाते हैं। सर्व द्रव्य, उनके सर्व गुण और उनकी सर्व पर्यायों के यथार्थ ज्ञान को ही ज्ञानी भगवान ने 'ज्ञान' कहा है। स्वय— अपने आप या उपदेश से तो तथ्य भावो (नव पदार्थो) के अस्तित्व में आन्तरिक श्रद्धा—विश्वास होना सम्यक्त्व है। सच्ची श्रद्धा बिना चारित्र सभव नही, श्रद्धा होने से चारित्र होता है।"

यहाँ इन गाथाओ मे दो बातें कही गयी हैं (१) ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—यह मुक्ति-मार्ग है और (२) सर्व सिद्धो के सुख समान है।

इन पर नीचे क्रमश प्रकाश डाला जाता है

(१) ज्ञान, दर्शन चारित्र और तप मोक्ष-मार्ग है

आगम मे कहा है

"सम्यक्त्व और चारित्र युगपत् होते हैं, वहाँ पहले सम्यक्त्व होता है। जिसके श्रद्धा नही है, उसके सच्चा ज्ञान नही होता। सच्चे ज्ञान बिना चारित्रगुण नही होते। चारित्रगुणो के बिना कर्म-मुक्ति नही होती। कर्म-मुक्ति बिना निर्वाण नही होता। ज्ञान से जीव पदार्थों को जानता है, दर्शन से श्रद्धा करता है, चारित्र से आस्रव का निरोध करता है और तप से कर्मों की निर्जरा कर शुद्ध होता है। सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र तप और उपयोग—ये मोक्षार्थी जीव के लक्षण हैं[१]।"

स्वामीजी कहते हैं—जितने भी सिद्ध हुए हैं वे इसी मार्ग से सिद्ध हुए हैं। अन्य मार्ग नही जो जीव को ससार से मुक्त कर सके। पन्द्रह प्रकार के जो सिद्ध बतलाये हैं, उन सब का यही मार्ग रहा। सम्यक् ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप का मार्ग ही सबदाय का मार्ग है। सिद्धि का कोइ दूसरा मार्ग नहीं।

सम्यक् ज्ञान-दर्शन-चारित्र और तप से सिद्धि-क्रम किस प्रकार बनता है। इसके तीन वर्णन आगमो में मिलते हैं। इन्हें सक्षेप में नीचे दिया जाता है।

पहला वर्णन इस प्रकार है

"जब मनुष्य जीव और अजीव को अच्छी तरह जान लेता है, तब सब जीवो की बहुविध गतियो को भी जान लेता है। जब सर्व जीवो की बहुविध गतियों को जान लेता है,

१—उत्त० २८ २-३,५,१५, २९-३०,३५,११

तब पुण्य, पाप, बन्ध और मोक्ष को भी जान लेता है। जब मनुष्य इनको जान लेता है, तब देवो और मनुष्यो के कामभोगो को जान कर उनमे विरक्त हो जाता है। जब मनुष्य भोगो से विरक्त होता है, तब अन्दर और बाहर के सम्बन्धो को छोड देता है। जब इन सम्बन्धो को छोड देता है, तब मुण्ड हो अनगारवृत्ति को धारण करता है। अनगारवृत्ति को ग्रहण करने से वह उत्कृष्ट सयम और अनुत्तर धर्म का स्पर्श करता है। ऐसा करने से अज्ञान मे सचित की हुई कलुषित कर्मरज को धुन डालता है। कर्मरज को धुन डालने से वह सर्वगामी केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है। अब वह जिन केवली लोकालोक को जान लेता है। इन्हे जान लेने से वह योगो का निरोध कर शैलेशी अवस्था को प्राप्त करता है। जब ऐसी अवस्था को प्राप्त करता है, तब कर्मों का क्षय कर निरज सिद्धि को प्राप्त करता है। जब वह निरज सिद्धि को प्राप्त करता है, तब वह लोक के मस्तक पर स्थित हो शाश्वत सिद्ध होता है[१]।"

दूसरा वर्णन इस प्रकार है

"राग-द्वेष रहित निर्मल चित्तवृत्ति को धारण करने से जीव धर्मध्यान को प्राप्त करता है। जो शङ्का रहित मन से धर्म में स्थित होता है, वह निर्वाण-पद की प्राप्ति करता है। ऐसा मनुष्य सज्ञी-ज्ञान से अपने उत्तम स्थान को जान लेता है। सवृतात्मा शीघ्र ही यथातथ्य स्वप्न को देखता है। जो सर्वकाम से विरक्त होता है, जो भय-भैरव को सहन करता है, उस सयमी और तपस्वी मुनि के अवधिज्ञान उत्पन्न होता है। जो तप से अशुभ लेश्याओ को दूर हटा देता है, उसका अवधिदर्शन विशुद्ध—निर्मल हो जाता है। फिर वह ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यक्लोक के जीवादि सर्व पदार्थों को सब तरह से देखने लगता है। जो साधु भली प्रकार स्थापित शुभ लेश्याओ को धारण करनेवाला होता है, जिसका चित्त तर्क-वितर्क से चञ्चल नही होता, इस तरह वह सर्व प्रकार से विमुक्त होता है उसकी आत्मा मन के पर्यवो को जान लेती है—उसे मन पर्यव ज्ञान उत्पन्न होता है। जिस समय उस मुनि का ज्ञानावरणीय कर्म सर्व प्रकार से क्षय-गत हो जाता है, उस समय वह केवलज्ञानी और जिन हो लोक-अलोक को देखने लगता है। जब प्रतिमाओ के विशुद्ध आराधन से मोहनीयकर्म क्षय-गत होता है, तब सुसमाहित आत्मा अशेष—सम्पूर्ण—लोक और अलोक को देखने लगता है। जिस तरह अग्रभाग का छेदन करने से ताड का गाछ भूमिपर गिर पडता है, उसी प्रकार मोहनीयकर्म के क्षय-गत होने से सर्व कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। केवली भगवान इस शरीर को छोडकर तथा नाम, गोत्र, आयु और वेदनीयकर्म का छेदन कर रज से सर्वथा रहित हो जाते हैं[२]।'

१—दश० ४ १४-२५

२—दशाश्रुतस्कध—५ १-३,५-११,१६

तीसरा वर्णन इस प्रकार है :

"भगवन् ! तथारूप श्रमण-ब्राह्मण की पर्युपासन का क्या फल है ?"

"गौतम ! उसका फल श्रवण है।"

"भगवन् ! श्रवण का क्या फल है ?"

"गौतम ! उसका फल ज्ञान है।"

"भगवन् ! ज्ञान का क्या फल है ?"

"गौतम ! ज्ञान का फल विज्ञान है।"

"भगवन् ! विज्ञान का क्या फल है ?"

"गौतम ! विज्ञान का फल प्रत्याख्यान त्याग है।"

"भगवन् ! प्रत्याख्यान का क्या फल है ?"

"गौतम ! प्रत्याख्यान का फल सयम है ?"

"भगवन् ! सयम का क्या फल है ?"

"गौतम ! सयम का फल अनास्रव है।"

"भगवन् ! अनास्रव का क्या फल है ?"

"गौतम ! अनास्रव का फल तप है।"

"भगवन् ! तप का क्या फल है ?"

"गौतम ! तप का फल व्यवदान—कर्मों का निर्जरण है।"

"भगवन् ! व्यवदान का क्या फल है ?"

"गौतम ! व्यवदान से अक्रिया होती है।"

"भगवन् ! अक्रिया से क्या होता है ?"

"गौतम ! अक्रिया से निर्वाण होता है।"

"भगवन् ! निर्वाण से क्या फल होता है ?"

"गौतम ! पर्यवसान फलरूप—अन्तिम प्रयोजनरूप सिद्ध गति में गमन होता है[1]।"

(२) सर्व सिद्धों के सुख समान है

अनेक भेदो से अनन्त सिद्ध हुए हैं पर उन सब के सुख तुल्य हैं। सब सिद्धो के सुखो को अनन्त कहा है। उन सुखो मे अन्तर नही होता।

सिद्ध जीवो में परस्पर भेद नहीं होता। सिद्धो के पन्द्रह भेद उनके अन्तिम जन्म की अपेक्षा से हैं। ससारी जीवो की विभिन्नता कर्मों की विचित्रता से है। मुक्त जीवो के किसी प्रकार का कर्म बध न रहने से उनमें विचित्रता भी नही। सब सिद्ध जीव एकान्त आत्मिक सुख मे रम रहे हैं।

: १० :

जीव अजीव

दुहा

१—केइ भेपधारया रा घट मभे, जीव अजीव री खबर न काय ।
ते पिण गोला फेंके गाला तणा, ते पिण सुध न दीसे काय ॥

२—नव पदार्थ रो त्यारे निरणो नही, छ दरवारो निरणो नाय ।
न्याय निरणा विना बक बोकरे, तिरणो सोच नही मन माय ॥

३—जीव अजीव दोनूं जिण कह्या, तीजी वस्त न काय ।
जे जे वस्त छे लोक मे, ते दोया मे सर्व समाय ॥

४—नव ही पदार्थ जिण कह्या, याने दोया मे घाले नाय ।
त्यारे अधकार घट मे घणो, ते तो भूल गया भर्म माय ॥

५—उधी २ करे छे परूपणा, ते भोला ने खबर न काय ।
तिण स नव पदार्थ रो निरणो कहू, ते सुणजो चित्त ल्याय ॥

ढाल

(मेघ कुवर हाथी रा भवमा)

१—जीव ते चेतन अजीव अचेतन, याने बादर पणे तो ओलखणा सोग ।
त्यारा भेदन भेद जूआजूआ करता, जब तो ओलखणा छे अति ही दोरा ॥
जीव अजीव सुणा न सरधे मिथ्याती ॥

: १० :

जीव अजीव

दोहा

१—कई वेषधारियों के घट में जीव-अजीव की पहचान नहीं होती। ऐसे अज्ञानी भी वाणी के गोले फेंकते हैं। उनमें कुछ भी सुध-बुध नहीं दिखाई देती।

जीव अजीव का अज्ञान
(दो० १-२)

२—उनके नौ पदार्थों और षट् द्रव्यों का विनिश्चय नहीं होता। बिना न्याय-निर्णय के वे बकते रहते हैं। इसका उनके मन में जरा भी विचार नहीं होता।

३—जिन भगवान ने जीव और अजीव दो वस्तुएँ कही हैं। तीसरी कोई वस्तु नहीं। लोक में जो भी वस्तुएँ हैं, वे इन दो में समा जाती हैं।

नौ पदार्थ दो राशियों में समाते हैं।
(दो० ३-४)

४—जिन भगवान ने नौ पदार्थ कहे हैं, । जो इन नौ पदार्थों को दो पदार्थों में नहीं डालते, उनके हृदय में अत्यंत अन्धकार है। वे भ्रमवश भूले हुए हैं।

५—वे विपरीत-विपरीत प्ररूपणा करते हैं। भोले मनुष्यों को इसका पता नहीं चलता। अतः नौ पदार्थों का निर्णय करता हूँ। चित्त लगाकर सुनो।

ढाल

१—जीव चेतन पदार्थ है। अजीव अचेतन पदार्थ। इन्हें स्थूल रूप में पहचानना तो सरल है। पर उनके भेदानुभेद करने में उन्हें पहचानना अत्यन्त कठिन होता है।

पदार्थों को पहचानने की कठिनाई

२—जीव अजीव टाले ने सात पदार्थ, त्याने जीव अजीव सरधे छें दोनूइ ।
एहवी उधी सरधा रा छे मूढ मिथ्याती, त्या साधू रो भेप ले आतम विगोइ ॥
जीव अजीव सूधा न सरधे मिथ्याती ॥

३—पुन पाप ने बंध ए तीनूइ करम, करम ते निश्चेइ पुदगल जाणो ।
पुदगल छे ते निश्चेइ अजीव, तिण माहे सका मूल म आणो ॥
पुन पाप ने अजीव न सरधे मिथ्याती ॥

४—आठ करमा ने रूपी कह्या छे जिणेसर, त्यामे पाचूइ वर्ण ने गंध छे दोय ।
वले पाचूइ रस नें च्यार फरस छे, ए सोले बोल पुदगल अजीव छे सोय ॥
पुन पाप ने अजीव न सरधे मिथ्याती ॥

५—पुन पाप वेइ नें ग्रहे आश्रव, पुन पाप ग्रहे ते निश्चे जीव जाणो ।
निरवद जोगा सू पुन ग्रहे छे, सावद्य जोगा सू पाप लागे छे आणो ॥
आश्रव ने जीव न सरधे मिथ्याती ॥

६—करमा ना दुवार आश्रव जीव रा भाव, तिण आश्रव ना बीसोइ बोल पिछाण ।
ते बीसोइ बोल छें करमा रा करता, करमा रा करता नेश्चेइ जीव जाणो ॥
आश्रव ने जीव न सरधे मिथ्याती ।

७—आतमा नें वस करे ते सवर, आतमा वस करे ते निश्चेइ जीव ।
ते तो उपसम खायक खयउपसम भाव, ए तो जीव रा भाव छे निरमल अतीव ॥
सवर ने जीव न सरधे मिथ्याती ॥

२—कई जीव और अजीव इन दो पदार्थों के अतिरिक्त अवशेप सप्त पदार्थों को जीव अजीव दोनो मानते हे। जो मूढ ऐसी विपरीत श्रद्धान रखते है, उन्होने साधु-वेप ग्रहण कर आत्मा को डूबा दिया।

सात पदार्थों का जीवाजीव मानना मिथ्यात्व है

३—पुण्य, पाप और बध—ये तीनो कर्म हैं। कर्मों को निश्चय ही पुद्गल जानो। जो पुद्गल है, वे निश्चय ही अजीव हे। इसमें जरा भी शङ्का मत करो।

पुण्य, पाप, बध तीनो मजीव हैं (गा० ३-४)

४—जिन भगवान ने आठ कर्मों को रूपी कहा है। उनमें पाँचों वर्ण, दो गन्ध, पाँचों रस और चार स्पर्श हैं। ये सोलह बोल जिसमे है, वह पुद्गल अजीव है।

५—पुण्य-पाप दोनों को आस्रव ग्रहण करता है। जो पुण्य और पाप को ग्रहण करता है, उसे निश्चय ही जीव जानो। जीव निरवद्य योगों से पुण्य को ग्रहण करता है और सावद्य योगो से उसके पाप लगते हैं।

आस्रव जीव है (गा० ५-६)

६—आस्रव कर्मों के द्वार हैं। वे जीव के भाव हैं। आस्रव के वीसों बोलों की पहचान करो। वीसों ही आस्रव कर्मों के कर्त्ता हे। जो कर्मों के कर्त्ता हैं, उन्हें निश्चय से जीव जानो।

७—आत्मा को वश में करना सवर है। जो आत्मा को वश करता हे, वह निश्चय ही जीव है। सवर उपशम, क्षायक, क्षयोपशम भाव है। ये जीव के ही अति निर्मल भाव है।

सवर जीव है (गा० ७-८)

८—सवर ते आवता करमा ने रोके, आवता करम रोकें ते निश्चेइ जीव ।
तिण सवर ने जीव न सरधे अग्यानी, तिणरे नरक निगोद री लागी छेनीव ॥
तिण सवर ने जीव न सरधे मिथ्याती ॥

६—देस थकी करमा ने तोडे, जव देस थकी जाव उजलो होय ।
जीव उजलो हूओ छे तेहिज निरजरा, निरजरा जीव छे तिणमे सका न कोय ॥
इण निरजरा ने जीव न सरधे मिथ्याती ॥

१०—करमा ने तोडे ते निश्चेइ जीव, करम तूटा थका उजलो हुवो जीव ।
उजला जीव ने निरजरा कही जिण, जीव रा गुण छे उजल अत ही अतीव ॥
इण निरजरा ने जीव न सरधे मिथ्याती ॥

११—समसत करम थकी मूकावे, ते करम रहीत आतमा मोख ।
इण ससार दुख थी छूट पडया छे, ते तो सीतली भूत थया निरदोप ॥
तिण मोप ने जीव न सरधे मिथ्याती ॥

१२—करमा थकी मूकावे ते मोप, तिण मोष नें कहिजे सिव भगवान ।
वले मोप ने परमपद निरवाण कहिजे, ते तो निश्चेइ निरमल जीव सुध मान ॥
तिण मोष नें जीव न सरधे मिथ्याती ॥

१३—पुन पाप ने वध ए तीनूइ अजीव, त्याने जीव ने अजीव सरधे दोनूइ ।
एहवी उंधी सरधा रा छे मूड मिथ्यानी, त्या सान रा भेप मे आतम विगोइ ॥
पुन पाप वध ने अजीव न सरधे मिथ्याती ॥

८—सवर आते हुए कर्मों को रोकता है। जो आते हुए कर्मों को रोकता है, वह निश्चय ही जीव है। जो अज्ञानी सवर को जीव नही मानता, उसके नरक-निगोद की नींव लग चुकी।

९—देशतः कर्मों को तोडने से जीव देशत निर्मल होता है। जीव का देशत उज्ज्वल होना ही निर्जरा है। निर्जरा जीव है, इसमें जरा भी शङ्का नहीं।

निर्जरा जीव है (गा० ९-१०)

१०—जो कर्मों को तोड़ता है, वह निश्चय ही जीव है। कर्मों के टूटने से जीव उज्ज्वल होता है। जिनेश्वर भगवान ने उज्ज्वल जीव को ही निर्जरा कहा है। निर्जरा जीव का अति उज्ज्वल गुण है।

११—जो समस्त कर्मों से रहित होती है, वह कर्मरहित आत्मा ही मोक्ष है। मुक्त जीव इस ससार रूपी दु ख से अलग हो चुके हैं। वे निर्दोप और शीतलभूत है।

मोक्ष जीव है (गा० ११-१२)

१२—कर्मों से मुक्त होना मोक्ष है। मोक्ष को सिद्ध भगवान कहा जाता है। मोक्ष को ही परमपद और निर्वाण कहा जाता है। मोक्ष को निश्चय ही शुद्ध निर्मल जीव मानो।

१३—पुण्य, पाप और बन्ध—ये तीनों अजीव हैं। कई इनका जीव-अजीव दोनों मानते है। जो मूढ मिथ्यात्वी ऐसी उल्टी श्रद्धा रखते है, उन्होने साधु-वेप ग्रहण कर अपनी आत्मा को डूबा दिया।

पाँच जीव चार अजीव (गा० १३-१५)

१४—आश्रव सवर निरजरा ने मोप, ए निमाइ निश्चे जीव च्यारुइ ।
त्याने जीव अजीव दोनूइ सरधे, तिण उधी सरधा सू आतम विगोइ ॥
या च्यारा ने जीव न सरधे मिथ्याती ॥

१५—नव पदार्थ मे पाच जीव कह्या जिण, च्यार पदार्थ अजीव कह्या भगवान ।
ए नव पदार्थ रो निरणो करसी, तेहिज समकत छे सुध मान ॥
जीव अजीव ने सुध न सरधे मिथ्याती ॥

१६—जीव अजीव ओलखावण काजे, जोड कीधी पुर सहर मभार ।
समत अठारे सत्तावने वरपे, भादरवा सुद पूनम ने बुधवार ॥
जीव अजीव ने सुध न सरधे मिथ्याती ॥

१४—आस्रव, सवर, निर्जरा और मोक्ष—ये चारों नियमत निश्चय ही जीव है। इनको जो जीव-अजीव दोनो मानता है, उसने विपरीत श्रद्धा से अपनी आत्मा को डूबा दिया ।

१५—जिन भगवान ने नौ पदार्थों मे पांच जीव और चार अजीव कहे हैं। नौ पदार्थों का इस प्रकार निर्णय करना ही शुद्ध सम्यक्त्व है, ऐसा मानो[१] ।

१६—जीव-अजीव की पहचान कराने के लिए यह जोड़ पुर शहर में स० १८५७ की भाद्र-शुक्ला पूर्णिमा बुधवार के दिन रची है।

१४—आश्रव सवर निरजरा ने मोप, ए निमाइ निश्चे जीव च्यारुइ ।
त्याने जीव अजीव दोनूइ सरधें, तिण उघी सरधा सू आतम विगोइ ॥
या च्यारा ने जीव न सरधे मिथ्याती ॥

१५—नव पदार्थ मे पाच जीव कह्या जिण, च्यार पदार्थ अजीव कह्या भगवान ।
ए नव पदार्थ रो निरणो करसी, तेहिज समकत छे सुध मान ॥
जीव अजीव ने सुध न सरधें मिथ्याती ॥

१६—जीव अजीव ओलखावण काजे, जोड कीधी पुर सहर मझार ।
समत अठारे सत्तावने वरपे, भादरवा सुद पूनम ने बुधवार ॥
जीव अजीव ने सुध न सरधें मिथ्याती ॥

१४—आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये चारों नियमतः निश्चय ही जीव है। इनको जो जीव-अजीव दोनों मानता है, उसने विपरीत श्रद्धा से अपनी आत्मा को डूबा दिया।

१५—जिन भगवान ने नौ पदार्थों में पाँच जीव और चार अजीव कहे हैं। नौ पदार्थों का इस प्रकार निर्णय करना ही शुद्ध सम्यक्त्व है, ऐसा मानो[1]।

१६—जीव-अजीव की पहचान कराने के लिए यह जोड़ पुर शहर में सं० १८५७ की भाद्र-शुक्ला पूर्णिमा बुधवार के दिन रची है।

दूमरे मत के अनुसार जीव जीव है, अजीव अजीव और शेप सात जीवाजीव।

स्वामीजी का मत इन दोनो ही अभिप्रायो से भिन्न है। स्वामीजी ने आस्रव की ढालो मे आगम के आधार से आस्रव को जीव सिद्ध किया है। उनके अभिप्राय से जीव, आस्रव, सवर, निर्जरा और मोक्ष—ये पांच जीव हैं और अजीव, पुण्य, पाप और बंध—ये चार अजीव।

जीव और अजीव के सिवा अवशेप सात पदार्थ जीवाजीव हैं, इस बात से भी स्वामीजी सहमत नही। आगम मे जब दो ही पदार्थ बताये गये हैं तो फिर मिश्र पदार्थ की कल्पना नहीं की जा सकती। अवशेप सात पदार्थों मे से प्रत्येक या तो जीव कोटि में आयेगा अथवा अजीव कोटि मे। वे जीवाजीव कोटि के नही कहे जा सकते क्योकि ऐसी कोटि होती ही नही। स्वामीजी के मत से पुण्य, पाप और बन्ध अजीव कोटि के हैं और आस्रव, सवर, निर्जरा और मोक्ष जीव कोटि के। उसका कारण स्वामीजी ने सक्षेप मे प्रस्तुत ढाल मे ही बतला दिया है।

यहा 'पाना की चर्चा' से कुछ प्रश्नोत्तरो को उद्धृत किया जाता है, जिससे स्वामीजी का मन्तव्य स्पष्ट होता है :

प्रश्नोत्तर—१

१—जीव जीव है या अजीव? जीव। किस न्याय से? सदाकाल जीव जीव ही रहता है, कभी अजीव नहीं होता।

२—अजीव जीव है या अजीव? अजीव। किस न्याय से? अजीव सदाकाल अजीव ही रहता है, कभी जीव नहीं होता।

३—पुण्य जीव है या अजीव? अजीव। किस न्याय से? शुभ कर्म पुण्य पुद्गल है। पुद्गल अजीव है।

४—पाप जीव है या अजीव? अजीव। किस न्याय से? पाप अशुभ कर्म है। कर्म पुद्गल है। पुद्गल अजीव है।

५—आस्रव जीव है या अजीव? जीव है। किस न्याय से? शुभ-अशुभ कर्मों को ग्रहण करनेवाला आस्रव है। वह जीव है।

६—सवर जीव है या अजीव? जीव है। किस न्याय से? कर्मों को जो रोकता है, वह सवर जीव है।

७—निर्जरा जीव है या अजीव? जीव है। किस न्याय से? कर्म को तोड़ता है, वह जीव है।

८—बन्ध जीव है या अजीव? अजीव है। किस न्याय से? शुभ-अशुभ कर्म का बंध अजीव है।

९—मोक्ष जीव है या अजीव? जीव है। किस न्याय से? समस्त कर्मों को दूर करनेवाला मोक्ष जीव है।

प्रश्नोत्तर—२

१—जीव रूपी है या अरूपी? अरूपी है। किस न्याय से? पांच वर्ण आदि नहीं पाये जाते, इस न्याय से।

२—अजीव रूपी है या अरूपी? रूपी-अरूपी दोनो ही है। किस न्याय से? धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल—ये चार अरूपी हैं और एक पुद्गलास्तिकाय रूपी है।

३—पुण्य रूपी है या अरूपी? रूपी है। किस न्याय से? पुण्य-शुभ कर्म है। कर्म पुद्गल है, रूपी है।

४—पाप रूपी है या अरूपी? रूपी है। किस न्याय से? पाप अशुभ कर्म है। कर्म पुद्गल है। वह रूपी है।

५—आस्रव रूपी है या अरूपी? अरूपी। किस न्याय से? आस्रव जीव का परिणाम है। जीव का परिणाम जीव है। जीव अरूपी है क्योंकि उसमें पांच वर्ण आदि नहीं पाए जाते।

प्रश्नोत्तर—३

१—नव पदार्थों मे जीव कितने हैं अजीव कितने हैं ? जीव, आस्रव, सवर, निर्जरा और मोक्ष —ये पाँच जीव हैं और अजीव, पुण्य, पाप और वन्ध—ये चार अजीव हैं।

२—नव पदार्थों में रूपी कितने हैं और अरूपी कितने ? जीव, आस्रव सवर, निर्जरा और मोक्ष—ये पाँच अरूपी हैं, अजीव रूपी-अरूपी दोनो है। पुण्य, पाप और वन्ध रूपी हैं।

ज्ञेय-अज्ञेय, हेय-उपादेय के विषय मे स्वामीजी के विचार नीचे दिये जाते हैं। उन्होने कहा है

१—नवो ही पदार्थ ज्ञेय हैं। जीव को जीव जानो। अजीव को अजीव जानो। पुण्य को पुण्य जानो। पाप को पाप जानो। आस्रव को आस्रव जानो। सवर को सवर जानो। निर्जरा को निर्जरा जानो। वन्ध को वन्ध जानो। मोक्ष को मोक्ष जानो। उनके अनुसार केवल जीव और अजीव पदार्थ ही ज्ञेय नही जैसा कि यत्र में कहा है।

२—नौ पदार्थों मे तीन आदरणीय हैं—(१) सवर, (२) निर्जरा और (३) मोक्ष और शेष छोडने योग्य हैं। इस विषय मे निम्न प्रश्नोत्तर प्राप्त हैं

(१) जीव छोडने योग्य है या आदर-योग्य ? छोडने योग्य। किस न्याय से ? जीव स्वयं का भाजन करे अर्थात् आत्म-रमण करे। अन्य जीव पर ममत्व न करे।

(२) अजीव छोडने योग्य है या आदर-योग्य ? छोडने-योग्य। किस न्याय से ? अजीव है इसलिए।

(३) पुण्य छोडने-योग्य है या आदर-योग्य ? छोडने-योग्य। किस न्याय से ? पुण्य शुभ कर्म है। कर्म पुद्गल हैं, वह छोडने-योग्य है।

(४) पाप छोडने-योग्य है या आदर-योग्य है ? छोडने योग्य है। किस न्याय से ? पाप अशुभ कर्म है, पुद्गल है, जीव को दु खदायी है ? अत छोडने-योग्य है।

(५) आस्रव छोडने-योग्य है अथवा आदर-योग्य है ? छोडने-योग्य। किस न्याय से ? आस्रवद्वार मे जीव के कर्म लगते हैं। आस्रव कर्म आने के द्वार हैं, अतः छोडने-योग्य हैं।

(६) सवर छोडने-योग्य है अथवा आदर-योग्य ? आदर-योग्य। किस न्याय से ? सवर कर्मो को रोकता है, अत आदर-योग्य है।

(७) निर्जरा छोडने योग्य है अथवा आदर-योग्य ? आदर-योग्य। किस न्याय से ? देशत कर्म तोडकर जीव का देशत उज्ज्वल होना निर्जरा है। अत वह आदर योग्य है।

(८) बध छोडने-योग्य है अथवा आदर-योग्य ? छोडने-योग्य। किस न्याय से ? चूकि शुभ-अशुभ कर्म का बन्ध छोडने-योग्य है।

(९) मोक्ष छोडने-योग्य है अथवा आदर-योग्य ? आदर-योग्य। किस न्याय से ? सकल कर्मो का क्षयकर जीव निर्मल होता है, सिद्ध होता है, अत आदर-योग्य है।

परिशिष्ट

उद्धृत, उल्लिखित अथवा अवलोकित ग्रन्थों की तालिका

ग्रन्थ नाम	प्रकाशक या लेखक
१—अनुयोगद्वार सूत्र	शाह वेणीचंद्र सुरचंद, बम्बई
२—अष्ट प्रकरण (श्री हरिभद्रसूरि)	श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई
३—अष्ट प्रकरण "	श्री भीमसिंह माणेक, बम्बई
४—अनुत्तरोपपातिकदशा सूत्रम्	जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर
५—अंगुत्तर निकाय (हिन्दी अनुवाद)	महाबोधि सभा, कलकत्ता
५-क—अर्हत्‌दर्शन दीपिका	श्री हीरालाल रसिकलाल कापडिया
६—आचाराङ्ग सूत्र	जैन साहित्य संशोधक समिति, पूना,
७— "	जैन साहित्य समिति, उज्जैन
८—आचाराङ्ग सूत्र दीपिका	श्री मणिविजय गणिवर ग्रन्थमाला, भावनगर
९—आवश्यक सूत्र	श्री श्वे०स्था० जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट
१०—आत्म सिद्धि (श्रीमद् राजचन्द्र)	मनसुखलाल रवजीभाई, बम्बई
११—उत्तराध्ययन सूत्र	Dr Jarl Charpentier
१२—उत्त० सूत्र की नेमिचन्द्रीय टीका	शाह फूलचंद खीमचंद, वलाद
१३—उपासकदशाङ्ग सूत्रम्	श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन संघ, कराची
१४—ओववाइय सुत्त	प्रो० एन० जी० सुरु
१५—औपपातिक सूत्र	श्री भूरालाल कालीलाल, सूरत
१६—कर्म ग्रन्थ भा० १-४ (हिन्दी)	आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचार मण्डल, आगरा
१७—कर्म ग्रन्थ टीका	
१८—गणधरवाद	गुजरात विद्या सभा, अहमदाबाद
१९—गोम्मटसार	दी सेन्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ
२०—चन्द्रप्रभ चरितम्	
२१—जैनागम तत्त्व-दीपिका	श्री श्वे० साधुमार्गी जैन हितकारिणी संस्था, बीकानेर
२१-क—जैन तत्त्व प्रकाश (भाग १-२)	श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता

२२—जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व — मोतीलाल बेगानी चेरिटेबल ट्रस्ट, (आदर्श साहित्य संघ), कलकत्ता

२३—जैन धर्म और दर्शन — सेठ मन्नालाल सुराणा मेमोरियल ट्रस्ट, (आदर्श साहित्य संघ), कलकत्ता

२४—जीवा री चर्चा — आचार्य भीखणजी (अप्रकाशित)

२५—जीव-अजीव — श्री जैन श्वे० तेरापंथी सभा, श्री डूंगरगढ़

२६—नीगी चर्चा — श्रीमज्जयाचार्य (निजी संग्रह की हस्तलिखित प्रति)

२७—टीकम डोसी की चर्चा — आचार्य भीखणजी (अप्रकाशित)

२८—तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् (सिद्धसेन वृत्ति) — जीवनचन्द साकरचन्द जवेरी, बम्बई

२९—तत्त्वार्थसूत्र सभाष्य — श्री परमश्रुत प्रभावक जैन मण्डल, बम्बई

३०— „ सर्वार्थ सिद्धि — भारतीय ज्ञान पीठ, काशी

३१— „ राजवार्तिक — „ „

३२— „ श्रुतसागरीय वृत्ति — „ „

५०—नवतत्त्व प्रकरण	श्री जैन श्रेयस्कर मण्डल, मेहसाना
५१—नवतत्त्व स्तवन	श्री विवेक विजय जी
५२—नवसद्भाव पदार्थ निर्णय	श्री धनसुखदास हीरालाल आंचलिया, गंगाशहर
५३—नन्दी सूत्र	रायबहादुर मोतीलाल मुथा, सतारा सिटी
५४—नायाधम्मकहाओ	प्रो० एन० व्ही० वैद्य, पूना
५५—पञ्चास्तिकाय (द्वि० आ०)	श्री परमश्रुत प्रभावक जैन मण्डल, बम्बई
५६— ,, (तत्त्वप्रदीपिका वृत्ति)	श्री अमृतचन्द्राचार्य
५७— ,, (तात्पर्य वृत्ति)	श्री जयसेनाचार्य
५८—परमात्म प्रकाश	सेठ मणीलाल रेवाशंकर जौहरी, बम्बई
५९—पचीस बोल	
६०—पण्णवणा	आगमोदय समिति, मेहसाना
६१—प्रज्ञापना सूत्र (अनु०)	जैन सोसायटी, अहमदाबाद
६२—प्रज्ञापना सूत्र टीका	जैन सोसायटी, अहमदाबाद
६३—प्रवचन सार	श्री परमश्रुत प्रभावक जैन मण्डल, बम्बई
६४—प्रश्नव्याकरण सूत्र	श्री हस्तिमल्लजी सुराणा, पाली, राजस्थान
६५—प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध	श्री धनसुखदास हीरालाल आंचलिया, गंगाशहर
६६—पांच भाव की चर्चा	आचार्य भीषणजी (अप्रकाशित)
६७—पांच इन्द्रिया नी ओलखावण	,, ,,
६८—बावन बोल को थोकडो	,,
६९—भगवती सूत्र	श्री मनसुखलाल रवजीभाई मेहता, बम्बई
७०—भगवती सार (गुज०)	श्री जैन साहित्य प्रकाशन समिति, अहमदाबाद
७१—भगवती सूत्र (अभयदेव टीका)	आगमोदय समिति, मेहसाना
७२—भगवती सूत्र की टीका	श्री दानशेखर सूरि
७३—भगवती सूत्र के थोकडे	श्री अगरचन्द भैरोदान सेठिया, बीकानेर
७४—भगवती नी जोड	श्री जयाचार्य (अप्रकाशित)
७५—भगवत् गीता	गीता प्रेस, गोरखपुर
७६—भाव सग्रहादि	हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर, बम्बई
७७—भ्रमविध्वंसनम्	श्री ईसरचन्द चोपडा, बीकानेर
७८—भिक्षु-ग्रंथ रत्नाकर (खंड १-२)	श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता
७९—योगशास्त्र	श्री जैन साहित्य प्रकाशन समिति, अहमदाबाद
८०—विशेषावश्यक भाष्य	आगमोदय समिति, मेहसाना

८१—स्थानाङ्ग (ठाणाङ्ग) (द्वि० संस्करण) — शेठ माणेकलाल चुन्नीलाल, अहमदाबाद

८२—स्थानांग-समवायांग (गुज०) — गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद

८३—समवायाङ्ग सूत्र — आगमोदय समिति, मेहसाना

८४—समीचीन धर्मशास्त्र — वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली

८५—समयसार — श्री परमश्रुत प्रभावक जैन मण्डल, बम्बई

८६—सागारधर्मामृत — सरल प्रज्ञा पुस्तकमाला, मडावरा, झांसी

८७—सद्धर्ममण्डनम् — श्रीतनसुखदास फूसराज दूगड, सरदारशहर

८८—सूयगडाग सूत्र — श्री विजयदेव सूरि संघ, बम्बई

८९—संयम प्रकाश — आ० श्रुतसागर दिगम्बर जैन ग्रंथमाला समिति, जयपुर

९०—सुत्तागमे — सूत्रागम प्रकाशक समिति, गुड़गांव कैन्ट

९१—शान्त सुधारस — श्री विनय विजय जी

९२—ज्ञाताधर्म कथा टीका — श्री सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, सूरत

९३—आचार्य कुन्दकुन्दना त्रिरत्नो — श्री जैन साहित्य प्रकाशन समिति अहमदाबाद

९४—A Text Book of Inorganic Chemistry — J R Partington, M B E, D Sc

९५— do — G S Newth, F I C, F C S

९६— do — Prof L M Mitra, M Sc, B L

९७— The Doctrine of Karman in Jain Philosophy — Dr Helmuth Von Glasenapp

९८— Foundamental concepts of Inorganic chemistry — Esmarch S Gilreath

शब्द-सूची

अगुल—६२
अगोपाग—१६४
अघकार १०६, ११२
अकण्डूयक तप—६४६, ६५१
अकर्कशवेदनीय कर्म के बघ-हेतु—२२२
अकलङ्कदेव—४०५, ४४७, ४५०, ५१४,
५१६, ६८८, ६८६
अकल्याणकारी कर्म के बघ-हेतु—२२२-
२३
अकषाय सवर—५२४, ५२६, ५३०
अकात शब्द—११२
अकाम निर्जरा—६०६, ६११, ६१४-१५
अकुशल मन—४१६-२०
अक्ष—६२
अक्षर सबद्ध शब्द—१११
अगुरुलघुत्व—११४
अगुरूलघु नामकर्म—१६६, ३३३
अग्नि—६८८
अघाति कर्म—२६८-३०१, ३२६
अचक्षुदर्शन—३०७
अचक्षुदर्शनावरणीय कर्म—३०७, ३१०
अजीवकाय असयम—४७३
अजीव गुणप्रमाण—५४६
अजीव द्रव्य—६८, ८३
अजीव पदार्थ—२४, ४७-१३२, ६६,
१३२, ३६६, ७६४
अजीव शब्द—११०
अज्ञात चर्या—६४२
अज्ञान—५७७-८०
अज्ञान परीषह—५२३
अज्ञानिक मिथ्यादर्शन—३७५
अज्ञानी—४२३
अठारह पाप—२६२, ४४८
अडड—६१
अडडाग—६१
अतिथि-सवभिाग व्रत—२३७
अतीत काल—८६
अतीर्थ सिद्ध—७५०
अतीर्थङ्कर सिद्ध—७५०
अर्थनिपूर—६१
अर्थनिपूराग—६१
अदत्तादान आस्रव—३८१, ४४६
अदत्तादान विरमण सवर—५२५
अदर्शन परीषह—५२३
अद्धाकाल—६१
अदृष्टलाभ चर्या—६४२
अधर्म—७२, ७४, ७६
अधर्म व्यवसायी—४८१
अधर्म-स्थित—४८०-८१
अधर्मी—४८०-८१
अधर्मास्तिकाय—२७, १२७

अधर्मास्तिकाय का क्षेत्रप्रमाण—७२
अधर्मा० के लक्षग और पर्याय—७७-७९
अधर्मा० विस्तीर्ण और निष्क्रिय द्रव्य—७४-७६
अधर्मा० शाश्वत द्रव्य—७३
अधर्मा० स्वतत्र द्रव्य—७३
अध्यवसाय—२७७, ४१०-१,४६५-६९
अध्यवसाय आस्रव है—४१०-११
अनन्त—९२, ३२६
अनन्तवृत्तितानुप्रेक्षा—६७१
अनन्तानुबन्धी कपाय—३१८
अनन्तानुबन्धी क्रोध—३१३
अनन्तानुबन्धी मान—३१३
अनन्तानुबन्धी माया—३१३
अनन्तानुबन्धी लोभ—३१३
अनभिगृहीत मिथ्यात्व—३७४
अनवकल्प—९१
अनवस्याप्यार्ह प्रायश्चित्त तप—६५८
अनशन के भेद—६२६-३३
अनाकार उपयोग—५७९
अनाकॉक्षा क्रिया आस्रव—३८५
अनागत काल—८६
अनात्त शब्द—११२
अनात्मा—६७
अनाभोग क्रिया आस्रव—३८४
अनाभोगिक मिथ्यात्व—३७४
अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व—३७४
अनाशातना विनय—६५९-६६०
अनित्य अनुप्रेक्षा—५२०, ६७०
अनिदान—२३२
अनिष्ट शब्द—११२
अनिष्ठिवक तप—६५१
अनिर्हारिम अनशन—६३२-३३
अनुग्रह—२३७
अनुदीर्ण—६७४-७५
अनुपम निर्जरा—६११
अनुप्रेक्षा—५२०-२१, ६८३
अनुप्रेक्षा स्वाध्याय तप—६६७
अनुभाग कर्म—७२५
अनुभाव—३१०,३१८,३२६,३४१-४२
अनुभूति—५८८, ६२२
अनृत—४४८-४९
अनेकसमय सिद्ध—७५१
अन्-एवभूत वेदना—७२५
अन्त आहार—६४७
अन्तक्रिया—४१८
अन्तकृत—७४२
अन्तरात्मा—३६
अन्तराय कर्म—३२४-२७
अन्तराय कर्म-व्युत्सर्ग—६७२
अन्तर्मुहूर्त—३२६
अन्नग्लायकचरकत्व चर्या—६४३
अन्नपानादि द्रव्य—२३७
अन्न पुण्य—२००, २०२, २३२-३५,
अन्यतीर्थिक—२९१
अन्यत्व अनुप्रेक्षा—५२०

अन्यलिङ्ग सिद्ध—७५०, ७५१
अपनीत चर्या—६४१
अपनीतोपनीत चर्या—६४२
अपरिकर्म अनशन—६३२
अपर्याप्त नामकर्म—३३८
अपवर्तना—७२६
अपहृत्य असयम—४७३
अपायानुप्रेक्षा—६७१
अपार्श्वस्थता—२३२
अपूर्वज्ञान-ग्रहण—२१८
अपृष्टलाभचर्या—६४२
अप्काय असयम—४७२
अप्रत्याख्यानी—४७८
अप्रत्याख्यान क्रिया आस्रव—२८६
अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध—३१३
अप्रत्याख्यानावरणीय मान—३१३
अप्रत्याख्यानावरणीय माया—३१३
अप्रत्याख्यानावरणीय लोभ—३१३
अप्रत्याख्यानी कपाय—३१८
अप्रतिहतप्रत्याख्यात कर्मा ५२८, ५२६
अप्रमत्त सयत—४८२
अप्रमाद सवर ५११, ५२४ ५२६-३०
अप्रमार्जन असयम—४७३
अप्रशस्त कायविनय—६६२
अप्रशस्त ध्यान—४७०-७१
अप्रशस्त भाव—२४५
अप्रशस्त मनविनय—६६१
अप्रशस्त वचनविनय—६६२
अप्रशस्त विहायोगतिनामकर्म—३३८
अप्रावृतक तप—६५१
अप्रिय शब्द—११२
अबाधाकाल—७२२-२३
अबुद्धिपूर्वक निर्जरा—६०६
अब्रह्म—४८६
अभयकुमार—६८६
अभयदेवसूरि—२९८, ३८६, ४०८ ४६१,
५०८, ६६२, ७०७
अभिक्षालाभ चर्या—६४२
अभीक्ष्णज्ञानोपयोग—२१५
अभिग्रह—६४०-४१, ६४५
अभिगृहीत मिथ्यात्व— ३७४
अभ्याख्यान – २६०
अमनआम शब्द—११२
अमनोज्ञ शब्द—११२
अमात्सर्य—२२५
अमायाविता—२३२
अमृतचन्द्राचार्य—३६६
अमूर्त्त—४०, २७९, २८३, ४१४
अयन—९१
अयुत—९१
अयुताग—९१
अयशकीर्तिनाम कर्म—३३९
अयोग सवर—५११, ५२४, ५२९-५३१
अरति—२९२
अरति परीपह—५२२
अरति मोहनीय कर्म—३१६

अरसाहार—६४७
अरिहंत वत्सलता—२१४
अरूपी—४०, ६८, ८३, २८२, ४१०, ४७४, ७६६
अर्द्धनाराचसहन नामकर्म—३३२, ३३७
अर्द्धपर्यंक आसन—६५०
अर्द्धपेटा विधि—६३७
अलाभ परीषह—५२२
अलोक—७८-७९, १३०
अलोकाकाश—७८-७९
अलोक-लोक का विभाजन—१३०-३१
अल्पकालिक अनशन—६२६
अल्पायुष्यकर्म के बंध-हेतु—२०९
अल्पलेपा एषणा—६४३
अवधिज्ञान—५७६
अवधिज्ञान विनय—६५४
अवधिज्ञानावरणीय कर्म—३०४
अवधिदर्शनावरणीय कर्म—३०७, ३१०
अवमोदरिका तप—६३४-३८
अवर्णवाद—३१९
अवव—९१
अववाग—९१
अवसर्पिणीकाल—८८, ९२
अवस्था—३६
अवश्रावणगत सिक्थ भोजन—६४७
अविपाकजा निर्जरा—६१०
अविरत—४७६-७८, ५२८, ५२९
अविरति आस्रव—३७२, ३७३, ३९६, ३८२
अशरण अनुप्रेक्षा—५२०, ६७०
अशुचि अनुप्रेक्षा—५२०
अशुभ आयुष्यकर्म—३२९-३०
अशुभ आयुष्यकर्म का बंध—२११
अशुभ कर्म—१५३, २२७
अशुभ दीर्घायुष्यकर्म के बंध-हेतु—२१०-११
अशुभ नामकर्म—३३१, ३३६, ३३९
अशुभ नामकर्म के अनुभाव—२४०
अशुभ नामकर्म के बंध-हेतु—२२७
अशुभ योग—२४४, ३०१, ३२०
अशुभ रस नामकर्म—३३८
अशुभ वर्ण नामकर्म—३३७
अशुभ स्पर्श नामकर्म—३३८
अशुभानुप्रेक्षा—६७१
असंख्यात—९१
असंख्येय—९१
असंयत—४७८, ४८२ ५२८-२९
असंयम—४७२-७३
असंवृत्त अनगार—४८२
असंसृष्टचर्या—६४२
असंसृष्टा एषणा—६४३
असातावेदनीय कर्म—२२०-२१, २२८, ३२७-२८
असातावेदनीय कर्म के बंध हेतु—२२०-२१, २२८
असोच्चा केवली—६७८
अस्तिकाय—२७, ४१, ६९-७२
अस्थिर नाम कर्म—३३९

अहोरात्र—६१
आकाश—७२-७४, ७६, ७८, ४१३
आकाशास्तिकाय—२७, १२७
आकाशा० का क्षेत्र-प्रमाण—७२
आकाशा० के भेद—७८
आकाश० के लक्षण और पर्याय—७६-७९
आकाश० विस्तीर्ण और निष्क्रिय द्रव्य—७४-७६
आकाश० शाश्वत और स्वतंत्र द्रव्य—७३-७४
आकिञ्चन्य—५१९
आक्रोश परीषह—५२२
आगम भावक्षपण—४८५
आगम भावलाभ—४८४
आचाम्ल—६४६
आचार्य आत्मारामजी—६२९
आचार्य जवाहरलालजी—४२२, ४६२
आच्छादित दर्शनवाला—३१०
आतप—१०९, ११३
आतापक तप—६५०
आतोद्य शब्द—१११
आत्त शब्द—११२
आत्मशुद्ध्यर्थ तप किस के होता है?—६७६-८०
आत्मशुद्ध्यर्थ तप और कर्मक्षय—६७३-७६
आत्मा—२५, २७, ३२, ३५, ४०५, ४०७, ४१३, ५०५, ५१७, ५४५
आत्माओ के स्वाभाविक आठ गुण—७४७
आदरणीय पदार्थ—७६७-६८
आदाननिक्षेपण समिति—५१६
आदिभूत प्रमाण—६२
आधिकरणिकी क्रिया आस्रव—३८३
आध्यात्मिक वीर—४६
आनुपूर्वी—१६३, ३३९
आनुपूर्वी नामकर्म—३३८
आभिग्रहिक मिथ्यात्व—३७४
आभिनिवोधिक ज्ञान—५७५-७६
आभिनिबोधिक ज्ञानविनय—६५४
आभिनिबोधिक ज्ञानावरणीय कर्म—३०४
आभिनिवेशिक मिथ्यात्व—३७४
आभ्यन्तर तप—६५४-५५
आभ्यन्तर शम्बूकावर्त्त—६४४
आयतगत्वाप्रत्यागता—६३७
आयुष्य—३८-३९, ३२९-३०, ३३९
आयुष्य कर्म—३२९-३०
आयुष्य व्युत्सर्ग—६७२
आरा—९२, ९३
आराधना—५४८
आर्जव—५१८
आर्तध्यान—४११, ६६८
आलोचनार्ह प्रायश्चित्त तप—६५७
आवलिका—८८, ९१
आवश्यक—२१६
आस्रव—४५, २९३, ३२०-२१, ३२७, ३६८-६९, ३८६, ४२३, ४८६-८६, ७६५-६७

आस्रव अनुप्रेक्षा—५२०
आस्रव एव सवर का सामान्य स्वरूप—३८
आस्रव और अध्यवसाय—४१०-११
आस्रव और अविरति अशुभ लेश्या के परिणाम— ४०९
आस्रव और कर्म मे वैभिन्य—३६९
आस्रव और जीव-प्रदेशो की चचलता—४१३-१६
आस्रव और तालाब का दृष्टान्त—३८८-८९
आस्रव और नौका का दृष्टान्त—३९३
आस्रव और पापस्थानक—४६४-६५
आस्रव और प्रतिक्रमण—३९२
आस्रव और प्रत्याख्यान--३८८
आस्रव और जीव-प्रदेश—४१७-१९
आस्रव और भले-बुरे परिणाम—३७०
आस्रव और भावलेश्या--४०६
आस्रव और सज्ञाएँ—४१०
आस्रव और शुभाशुभ परिणाम—३७०
आस्रव कर्मद्वार—३६९
आस्रव कर्मों का उपाय—३८७
आस्रव कर्मों का कर्त्ता—३८७
आस्रव कर्मों का हेतु—३८७
आस्रव के बयालिस भेद—३७२,३८२-८६
आस्रव के बीस भेद—३७२-३८१
आस्रव को अजीव मानना मिथ्यात्व—४१२
आस्रव जीव-अजीव दोनो का परिणाम नही—४०७-८
आस्रव जीव कैसे—४१२-१३, ३७१
आस्रव जीव-परिणाम—३७०, ४०१
आस्रव जीव-परिणाम है अतः जीव है—४०१
आस्रव जीव या अजीव—३९७-४००
आस्रव-द्वार और प्रश्नव्याकरण सूत्र—३९१
आस्रव-निरोध—३८९
आस्रव पदार्थ—३४५-४८६
आस्रव पाँचवाँ पदार्थ—३६८-६९
आस्रव रूपी नही, अरूपी—४२५-२७
आस्रव विषयक सदर्भ—३९४-९६
आस्रव सख्या—३७२-७३
आस्रवो की परिभाषा—३७३
आशय और योग—२९६-९८
आहारक वर्गणा—२८२, ७२६
आहार सज्ञा—४७४
आहारक शरीर— ३५, १०८, १६३
इगिनीमरण अनशन—६३०
इत्वरिक अनशन के १४ भेद—६२६
इन्द्र—६९०
इन्द्रिय—५८०
इन्द्रिय आस्रव—३८२
इन्द्रियप्रतिसलीनता तप—६५२
इन्द्रिय-परिणाम—५७२
इष्ट शब्द—११२

इहलोक—६१५
ईर्यापथक्रिया आस्रव—३८३
ईर्या समिति—५१५
उक्षिप्तचर्या—६४१
उक्षिप्तनिक्षिप्त चर्या—६४१
उच्चगोत्र कर्म—१६७-६८
उच्चगोत्र कर्म के उपभेद—३४२-४३
उच्चगोत्र कर्म के बध हेतु—२२८
उच्छ्लक्ष्णश्लक्ष्णिका—९२
उज्झितधर्मा एषणा—६४३
उत्कटुकासनिक तप—६४९
उत्तरकुरु—९२
उत्तर प्रकृतियाँ—१६०,३३१-३५,७२०-२१, ७२४
उत्थान—४७५-७६
उत्पल—९१
उत्पलाङ्ग—९१
उत्सर्ग समिति—५१६
उत्सर्पिणी काल—९३
उदय—३९,४०२, ४०६, ४२५, ५८८, ६७४
उदयनिष्पन्न भाव—४०६
उदीरक—६७५
उदीरणा—६७४-७६
उद्गृहीता एषणा—६४३
उद्धृता एषणा—६४३
उद्योत—१०९, ११२
उद्वर्तना—७२६
उपकरण अवमोदरिका तप—६३५
उपघातनाम कर्म—३३८
उपनीत चर्या—६४१
उपनीतापनीतचर्या—६४२
उपभोग अन्तरायकर्म—३२४
उपयोग—४०, २०८, ४०२, ५७९-८०
उपयोग- परिणाम—५७२
उपवास—६२६-२७
उपशम—३९, ५८६, ५८८
उपादेय पदार्थ—७६७-७६८
उपेक्षा असयम—४७३
उमास्वाति—४२०, ४४७,४४८, ४७०, ५१३, ५१४, ५१७,५१८, ५६८, ६०९, ६१३,६३९, ६४७, ६७६, ६८०,६८१, ६८३,,७०६, ७४७
उष्ण परीषह—५२१
ऊर्ध्वरेणु—९२
ऊनोदरिका तप—६३४-३८
ऋषभ नाराचसहनन नामकर्म—३३६
एकत्व—११३
एकत्व अनुप्रेक्षा—५२०
एकसमय सिद्ध—७५१
एकाग्र—४७०
एकान्त मिथ्यादर्शन—३७५
एकेन्द्रियजाति नामकर्म—३३६
एवभूत वेदना—७२५
एषणा—६४३
एषणा समिति—५१५
ऐरवत—९२

औदयिकभाव अवस्थाएँ—५७३
औदारिक वर्गणा—२८२, ७१८, ७२६
औदारिक शरीर—१०७-८
औपनिहित चर्या—६४३
औपमिक काल—६१-६२
औपशमिक चारित्र—५३९-४०
करण —६७५
कर्कशवेदनीयकर्म के वध-हेतु—२२२
कर्त्ता—३३, ४०२-३, ४२२-२३
कर्तृत्व—६७४
कर्म—३४, ३८, ३९, १०७, १५३, १५५-५६, १६०, १६८-६९, २०१, २२२, २२९, २३१, २७७, २९०-९१, २९४, २९८-९९, ३७८, ४०३, ४२३, ४७५-७६, ५७०
कर्म और क्षयोपशम —३९
कर्म की प्रकृति—७२०-२१
कर्म-ग्रहण—४१३, ४१७
कर्मदल—७२७-२९
कर्मद्रव्य—५०६
कर्मभेद—६७५-७६, ७२५
कर्मरहित जीव की गति—७४४
कर्मस्कन्ध के १६ गुण—७२६
कर्म स्थिति—७२१-२२
कर्महेतु—२९४-९५, २९८
कर्मों (आठ) का स्वरूप—१५५
कर्मों के नाम गुणनिष्पन्न हैं—१६८
कल्पनीय—२३७-३८
कल्याणकारी कर्म-बन्ध के दस बोल—२३१-३२
कल्याणकारी कर्मों के बंध-हेतु—२२२-२३
कषाय—३१२-१६, ३१८, ३२०, ३७८, ४८४, ५३०, ७०९-११
कषाय आस्रव—३७८-७९
कषाय प्रतिसंलीनता तप—६५२-५३
कष्ट—६१३-१४
काकली शब्द—११०
कान्त शब्द—११२
कान्ति शब्द—१०९
कामभोग—१५१, १७७, २४८, २५१
काय असयम—४७३
काय आस्रव—३८१
कायक्लेश तप—६४८-५१
कायगुप्ति—५१४
काय पुण्य —२००
काय योग—४५४-५६
काय विनय तप—६६२
काय सवर—५२६
कायिकीक्रिया आस्रव—३८३
कारण—२८२, ४०३-४, ४१४
कार्तिकेय—६०९, ६१२, ६७६
कार्मण योग एव आस्रव—४५६-५७
कार्मण वर्गणा—२८२, ७२६
कार्मण शरीर—१०८
कार्य—२८२, ४०३
कार्य (सासारिक) जीव परिणाम हैं—४२१-२२

काल—७२२-२३
काल द्रव्य—२७,८३-८५, ९४
काल अरूपी अजीव द्रव्य—८३ ८४
काल अस्तिकाय नही है—९०
काल (वर्तमान) एक समय रूप है—८६
काल और समय—९०
काल के स्कन्धादि भेद नही—८९-९१
काल का क्षेत्र—८७-८९
काल का क्षेत्र-प्रमाण—९३
काल की अनन्त पर्याएँ—९४
काल की निरन्तर उत्पति—८५-८६
काल के अनन्त द्रव्य —८५
काल के अनन्त समय — ९४-५
काल के तीन भाग—८९
काल के भेद—९१-९३
काल द्रव्य का स्वरूप—८३-८६
काल द्रव्य शाश्वताशाश्वत कैसे— ८६
कालसयोग—४८३
कालनामा द्रव्य—९०
कालाणु—८९
कालाभिग्रह चर्या—६४१
कालास्यवेपि पुत्र—५४७
कालोदायी—१५७
किंकिणीश्वर शब्द—११०
क्रिया—४०४, ४१८, ४२१, ५३१
क्रियावन्त—७५
कीलिकासहनन नामकर्म—३३७
कुन्दकुन्दाचार्य—१३१, २०७, ४०२, ४२७, ४६९, ४७०, ५१२
कुब्जसस्थान नामकर्म—३३७
कुल—६६५
कुशल मन—४१९-२०
कुशलमूलनिर्जरा—६०९
कुशील निर्ग्रन्थ—५३७
कृष्ण—३७
कृष्णलेश्या—४०९-१०
केवलज्ञान—३९६, ५७७, ७४१
केवलज्ञानावरणीय कर्म— ३०४-५
केवलदर्शनावरणीय कर्म—३०७, ३१०
केवली—३१९, ४१५
केशी— ३९५-९६
कोष्टक द्वारा जीवाजीव का ज्ञान—७६४
क्रोध—३१५
क्रोध आस्रव—३८२
क्षणलव सवेग—२१६
क्षपण—४८५-६
क्षमा—५१७
क्षयोपशम—३९, ५३८-३९
क्षान्ति क्षमणना—२३२
क्षुधा परीपह—५२१
क्षेत्र-सयोग—४८३
क्षेत्राभिग्रह चर्या—६४१
खूबचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री—६१२
गण—६६५
गणधर गौतम—२१-२२
गति—११४, ७४५
गघ—४५३
गर्व—६९२

गाङ्गेय अनगार—७५१
गिलरीथ, इ० एस०—१२४
गुण—२७
गुण-प्रमाण—५४६-४७
गुप्ति—५१३-१५, ६८४
गुणस्थान—५२७
गुरुत्व भाव—२६४
गुरुवत्सलता—२१५
गृहलिङ्गी सिद्ध—७५१
गृहस्थ—४५१
गोचरी—६४४
गोमूत्रिका—६३७
गोशालक—४७५
गोत्रकर्म—३६,१०७,१५५,१६७,२२८-२६, ३४१-४३, ६६१, ७१६, ७१७
गोतम—४१५, ४२५, ४२६, ४६६, ४७४-७५, ४७६, ५३८, ५४३, ५४४, ५४७-४८, ५७६, ६२२, ६२३, ६७४, ७१०, ७२५, ७२७, ७५४
ग्लान—६६५
घट-बढ (किस भाव या तत्व की)—४८४ ८६
घन तप—६२८
घन शब्द—१११
घातिकर्म—२६८-३००, ५७४,
घ्राणेन्द्रिय आस्रव—३८१, ४५३
घ्राणेन्द्रिय संवर—५२५
घ्राणेन्द्रिय-बल प्राण—३०
चक्षुदर्शनावरणीय कर्म—३०७, ३१०
चक्षुरिन्द्रिय आस्रव—३८१, ४५२
चक्षुरिन्द्रिय सवर—५२५
चक्षुरिन्द्रिय-बल प्राण—३०
चतुरिन्द्रिय असयम—४७३
चतुर्थभक्त अनशन—६२६
चतुरिन्द्रियजाति नामकर्म—३३६
चन्दनबाला—७५१
चरक—६७६
चर्या परीषह—५२२
चारित्र—५२३, ५४१-४२, ५८१, ७५२
चारित्र पर्यव—५४२-४३
चारित्र-मोहनीय कर्म—३१३, ३२०, ५८६
चारित्र विनय तप—६६१
चित्त चक्रवर्त्ती—२५०
चेतन—१४, ४०, १५३, ३०३, ७०६
चेता—३१
चैतन्य—७४६
छाया—१०६, ११२
छेदार्ह प्रायश्चित तप—६५८
छेदोपस्थापनीय चारित्र—५२३
छेदोपस्थापनीय सयम—५३६
जघन्य स्थिति—३१०
जगत्—३५
जड—३३,३४,१५३,७०६

जड पदार्थ—१२१-२३,१२६
जन्तु—३५
जयन्ती —४८०
जयाचार्य—५२७,५२६-३१, ५३७, ५४६,५८६-८७, ६१४, ६१७
जर्जरित शब्द—११०
जल्ल परीषह—५२२
जाग्रत—४७६-८०
जितेन्द्रिय—६८२
जितेन्द्रियता—२३२
जीव—३७१,३६८-६६,४२२-२४
जीव अच्छेद्य द्रव्य—४२
जीव उत्पाद-व्यय-ध्रव्य युक्त—४१
जीव और कंपन—४१३-१६,४१७-६
जीव और कर्म-ग्रहण—४१७
जीव और गति—११५
जीव और दुःख—३२८-६
जीव और प्रदेशबंध—७२६-७२६
जीव और भय—३२८-६
जीव और योगास्रव—४०५
जीव और विलय—४३
जीव और शैलेशी अवस्था—४१५
जीव कर्मकर्त्ता—४०४-५
जीव का अस्तित्व—२५-२७
जीव का पारिणामिक और उदयभाव—योग—४१६-२१
जीव की अवगाहना—७४५
जीव के उदयनिष्पन्न भाव—मिथ्यात्वादि—४०६-७
जीव के २३ नाम—२६-३६
जीव के लक्षण जीव—४१०
जीव गुणप्रमाण—५४६-४७
जीव-द्रव्य अरूपी है—४०
जीव-द्रव्य अस्तिकाय है—४१
जीव-द्रव्य की संख्या—४३
जीव-द्रव्य चेतन पदार्थ है—४०
जीव-द्रव्य शाश्वत पदार्थ—४१
जीवनशक्तियाँ—३०
जीव पदार्थ (द्रव्य)—१-४६, २४,२५-२७,२६,३५,३६,३६, ४०,४१, ४३, ४५-४६, ६६, ८३,११५,१२८-२६, २६४-६५,३०३,३६६, ३६७,३६८, ३६६, ४०१-३ ४१३-१५, ४४६, ४६०, ४८२, ५४५-६ ५७०-७१, ७०६, ७६४-६८
जीव-परिणाम—आस्रव—४०१
जीव-परिणाम—ध्यान—४११
जीव-परिणाम—सांसारिक कार्य—४२१-२२
जीव-परिणाम—योग-लेश्यादि—४०७
जीव-भाव, द्रव्य—३६-३७, ४०-४४
जीव शब्द—११०
जीव शाश्वत-अशाश्वत कैसे?—४४
जीवाजीव आदि विभाग-यंत्र—७६४

जीवाजीव आदि प्रश्नोत्तर (नवतत्त्वो पर)—७६५-६८
जीवास्तिकाय—२७,२६,१२७
जेता—३२
ज्ञान—३०३-४,३०६,५७५-७७, ५७६-८०, ७५२
ज्ञान-निह्नव—३०६
ज्ञान-प्रत्यनीकता—३०६
ज्ञान-प्रद्वेश—३०६
ज्ञानविनय तप-६५६
ज्ञान-विसवादन-योग—३०६
ज्ञानान्तराय—३०६
ज्ञानावरणीय कर्म—३८,३६,१०७-१५५ ३०३-६, ५७५,५७८-७६, ७१६
ज्ञानावरणीय कर्म के दस अनुभाव—३०५
ज्ञानावरणीय कर्म के वंध-हेतु—२२६,३०६
ज्ञानाशातना—३०६
ज्ञेय पदार्थ—७६७
ड्युरेन्ट—१२०–२१
डाल्टन और परमाणुवाद—१२०-२१
डोक्लस, एम्नी—११८
डोसी, टीकम—५२७
तज्जातसंसृष्ट चर्या—६८२
तप शब्द—१११
तत्वो की घट-वड—४८४-६
तदुभयार्ह प्रायश्चित्त तप—६५७
तप—१७६, २१६, २३८, २३६,२५२, २५३, ५१६, ५६६, ५७०, ६०८, ६०६, ६१०, ६१२, ६१३, ६१४, ६१५, ६२१, ६२६-७२, ६७५
तप और लक्ष्य—६१५, ६१६, ६२१,
तप का फल—निश्रेयस या अभ्युदय—६८८
तप की महिमा—६८८-६१
तप के भेद—६१४, ६२१-२, ६५४-६, ६७३,६७६ ८८
तप के लक्ष्य पर स्वामीजी—६१५-६
तप के लक्ष्य पर जयाचार्य—६१७ १६
तप (सकाम) कर्म-क्षय की प्रक्रिया—६७३-७६
तप (सकाम) किसके होता है—६७६-८०
तप सवर का हेतु है या निर्जरा का—६८०-६८८
तपस्वी-वत्सलता—२१५
तपार्ह प्रायश्चित्त तप-६५८
तामली तापस—६७६,६६०
तामल्य—६७६
ताल शब्द—१११
तिर्यञ्चगति नामकर्म—३३६
तिर्यञ्चानुपूर्वी नामकर्म—३३८
तिर्यञ्चायुष्यकर्म—३३०
तिर्यञ्चायुष्य के वंध-हेतु—२२५
तीर्थ सिद्ध—७५०, ७५४

तीर्थङ्कर सिद्ध—७५०, ७५४
तीर्थङ्कर गोत्रकर्म—६९१
तीर्थङ्कर नामकर्म के बंध-हेतु—२१३-२९
तृणस्पर्श परीषह—५२२
तेजस्काय असयम—४७२
तैजस् वर्गणा—२८२, ७२६
तैजस् शरीर—१०८
त्याग—२१७, ५१९, ६७८
त्याग से निर्जरा—१७७-७९
त्याज्य पदार्थ—७६७-६८
त्रिक—४७६-८१
त्रीन्द्रिय असयम—४७३
त्रीन्द्रियजाति नामकर्म—३३६
धन्ना अनगार—४५७
धर्म—१७६-७, २४९-५१, ३७६-७, ५१७, ५२१, ६१९, ६८०, ६९०
धर्मकथा से निर्जरा और पुण्य—२१२
धर्मकथा स्वाध्याय तप—६६७
धर्म ध्यान तप—६६८, ६६९, ६७१
धर्मध्यान तप का अनुप्रेक्षाएँ—६७०
धर्म बनाम कर्म—१७६-७
धर्मव्यवसायी—४८१
धर्मस्थित—४८०-८१
धर्माधर्म व्यवसायी—४८१
धर्माधर्मस्थित—४८०-८१
धर्माधर्मी—४८०
धर्मास्तिकाय—२७, ७५, ७२-७६, ८१, ८२ १२७, १२८, ७४५
धर्मास्तिकाय के स्कंधादि भेद—७९-८१
धर्मी—४८०
धूप—१०९, ११३
ध्यान—४७०-७१
ध्यान—जीव-परिणाम—४११
ध्यान तप—६६८-७१
दडायतिक तप—६५०
दशमशक परीषह—५२१
दर्शन—३०७, ३१०, ३११, ३७५, ५७९-८१
दर्शन क्रिया आस्रव—३८३
दर्शन मोहनीयकर्म—३११, ३२०, ५८६
दर्शनमोहनीय कर्म और मिथ्यात्व आस्रव—४२५
दर्शनविनय तप—६५९-६१
दर्शन-विशुद्धि—२१५
दर्शनावरणीय कर्म—३८, ३९, १०७, १५५, ३०७, ३१०, ५८०, ७१६
दर्शनावरणीय कर्म के बन्ध-हेतु—२२९, ३१०
दलिक कर्म—६७५-६
दस धर्म—५१७-२०
दश-विकृतियाँ—११४
दान—२०२, २१९-२०, २३३-३९, २४६, ३२४
दान अन्तराय कर्म—३२४
दीनता—३४३

दीर्घ शब्द—११०
दीर्घायुष्य कर्म के बंध-हेतु—२०९-११
दु ख—२४८, २७५, २८१, २८८,२९०, ३२८-२९, ३९१, ७२४
दुरभिगंध नामकर्म—३३८
दुर्गति—६१५
दुर्भगनाम कर्म—३३९
दुर्लभ—२५२
दुःस्वर नामकर्म—३३९
दृष्टलाभचर्या—६४२
दृष्टि—५८२
दृष्टिसम्पन्नता—२३२
देवगति—३१५
देवानन्द सूरि—७२७
देवायुष्य कर्म—३३०
देवायुष्य के बंध-हेतु—२२६
देवेन्द्रसूरि—४२०, ५१२, ५१५, ६०८
देश—७९, ३०९
देशघाती—३०४, ३१२
देश आराधक—६७७, ६७९
द्रव्य—२७-२८, ३७, ४१, ४३, ६७, ६८,७३, ७४, ११८, १२७-२८, ४०१
द्रव्याभिग्रहचर्या—६४१
द्रव्य का अस्तित्व—६८-६९
द्रव्य जीव के गुणादि भावजीव हैं—४४
द्रव्य जीव के भाव—३७
द्रव्य जीव का स्वरूप—४०-४४
द्रव्य बन्ध—७०७
द्रव्य मन—४२०
द्रव्य योग—२७७, ४६०-६३
द्रव्य योग बनाम कर्म—४६२-६३
द्रव्य लेश्या—४६८
द्रव्य वैधर्म्य—१२९
द्रव्यव्युत्सर्ग तप—६७१-७२
द्रव्य सयोग—४८३
द्रव्य साधर्म्य—१२९
द्रव्यो का सामान्य लक्षण—३३
द्वीन्द्रिय असयम—४७३
द्वीन्द्रियजातिनाम कर्म—३३६
द्वेष—७१०-११
नथमल, मुनि श्री—६१९
नपुसक लिङ्गी—७५१, ७५४
नपुसकवेद—३१७-१८
नमस्कार पुण्य—२००, २३३-४
नरकगति नामकर्म—३३६
नरकानुपूर्वी नामकर्म—३३८
नरकायुष्य कर्म—३३०
नरकायुष्य के बंध-हेतु—२२४
नव पदार्थ—२२-२३
नव पदार्थों मे जीवाजीव—४५, ७६१ ७६८
नाग्न्य परीषह—५२१
नामकर्म (अशुभ)—३३१-४०
नामकर्म—३९, १०७, १५५, ७१६, ७१७
नामकर्म (शुभ)—१६२-६
नामकर्म की उत्तर प्रकृतियाँ और उपभेद—१६२-६, ३३२-३५

नाम कर्म की पाप प्रकृतियो का विवेचन—३६६-४०
नामकर्म की शुभ-प्रकृतियो का विवेचन —१६२-६
नायक—३५-६६
नाराचसहनन नामकर्म—३३६
निःश्रेयस— ६८६
निकाचित कर्म—६७५-७६
निक्षिप्त चर्या—६४१
निक्षिप्तउक्षिप्त चर्या—६४१
निर्ग्रन्थ—३६०, ४१८, ४५१,५३७-८
निद्रा—३०७, ३१०
निद्रानिद्रा—३०७, ३१०
निद्रा पचक—३०८
निरवद्य आस्रव—४६३–६४
निरवद्य और सावद्य कार्य—४५,
निरवद्ययोग—१५८-९, २५३, ४१६, ५४५
निरवद्य-सावद्य कार्य का आधार—२३९–४६
निरवद्य सुपात्रदान से मनुष्यायुष्य २१९-२०
निराकार उपयोग—५७९-८०, ५८१
निरास्रवी—३८९
निरुपक्रम कर्म—६७५-७६
निर्जरा—४५, १७७, २०१, २१२, २१३, २३६, २४७, ३९८,
निर्जरा पदार्थ—५४९-६९२
निर्जरा—
अकाम—६०९, ६११, ६१४,६१५-६१७, ६२०, ६२१
अनुपम—६११
अप्रयत्नमूला—६१०
अबुद्धिपूर्वक—६०९
अविपाकजा—६१०, ६१३
इच्छाकृत—६११
उपक्रमकृत—६१०
कर्मभोगजन्य—६०९
कालकृत—६१०
कुशलमूल—६०९-६१३
तपकृत—६०९
निरनुबन्धक—६१३
प्रयत्नमूला— ६११
प्रयोगजा—६०८, ६११
यथाकालजा—६१०, ६१२
विपाकजा—६१०
सकाम—६०९, ६११,६१२, ६१४, ६१८, ६२०
सविपाक—६१२
सहज—६१०, ६११
स्वकाल-प्राप्त—६०९
स्वयभूत—६१०
शुभानुबन्धक—६१३
निर्जरा—अकाम किसके होती है ?—६०९, ६१०, ६११, ६१२
निर्जरा और अनादि कर्मबन्ध—५७०-७२

निष्ठा—२३
नीचगोत्र कर्म के उपभेद—३४२-४३
नीचगोत्र के बंध-हेतु—२२८
नीचगोत्र नामकर्म—३४१
नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती—१३१, ७०७
नैसर्गिक मिथ्यात्व—३७४
नैषधिक तप—६५०
नैषेधिकी परीषह—५२२
नोअक्षर संबद्ध शब्द—१११
नो-आगम भावक्षमण—४८५
नो-आगम भाव लाभ—४८४
नोआतोद्य शब्द—१११
नोभाषा शब्द—१११
नोभूषण शब्द—१११
नौ पुण्य —२००-१,२४७
न्यग्रोध-परिमण्डल-संस्थान नामकर्म—३३७
न्यायागत—२३७
पंच परमेष्ठि—२०७
पंचास्रव संवृत्त—३९०
पंचेन्द्रिय असंयम—४७३
पंचेन्द्रिय आस्रव—४५२
पण्डित—४७९
पतंगवीथिका—६३७
पदार्थ—६६, १५०, २७८, २८२, ३०३, ३६८
पदार्थ राशि—६६
परमाणु—३४, ८१-१००
परमाणु का माप—१००
परमाणु की विशेषता—१००-१
परलोक—६१५
परिग्रह—४५० ५१
परिग्रह आस्रव—३८१, ४५०-५१
परिग्रह विरमण संवर—५२५
परिग्रह संज्ञा—४७४
परिणमन—३९, २९८
परिणाम—११६, १७५, २७९, २८२, २८६, ३७०, ४०३, ४१८-१९, ४६५-६७,४६९, ४७५, ५७२
परिनिर्वृत्त—५२९, ७४२
परिपाक—२२३
परिमितपिण्डपात चर्या—६४३
परिवर्तना स्वाध्याय तप—६६७
परिवेष्यमाण चर्या—६४१
परिव्राजक—६७९
परिस्पन्दन—४१३-१४
परिहारविशुद्धि चारित्र—५२३
परिहारविशुद्धिक संयत—५३६
परीषह—५२१-२३
परीषह-जय—६८१, ६८३
परोपदेशपूर्वक मिथ्यात्व—३७४
पर्याय—३६, ४१, ७३, ७६, ६४, १५४
पल्योपम काल—९२

निर्जरा और अन्तराय कर्म का—
क्षयोपशम—५८३-८६
निर्जरा और उदय आदि भाव—
५७२-७५
निर्जरा और उसकी प्रक्रिया—
६२१-२५
निर्जरा और क्षायिक भाव—५८६-८८
निर्जरा और जयाचार्य—६१४, ६१७-
६१६
निर्जरा और ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयो-
पशम—५७५
निर्जरा और त्याग—१७७-७६
निर्जरा और दर्शनावरणीय कर्म का
क्षयोपशम—५८०-१
निर्जरा और धोबी का रूपक—६२४-
२५
निर्जरा निरवद्य—६६१-६२
निर्जरा और निर्जरा की करनी दोनो
निरवद्य—६६१-६२
निर्जरा और निर्जरा की करनी
भिन्न-भिन्न—६६१-६२
निर्जरा और पुण्य की करनी एक है—
२८७
निर्जरा और मोक्ष मे अन्तर—५७५
निर्जरा और मोहनीय कर्म का
उपशम—५८६
निर्जरा और मोहनीय कर्म का क्षयो-
पशम—५८१-८३
निर्जरा का स्वरूप—५२७,५७०,६२४,
६७८
निर्जरा की एकान्त शुद्ध करनी—६२५
निर्जरा की करनी—५२७,६२४
निर्जरा की चार परिभाषाएँ—६२२-
२४
निर्जरा कैसे होती है ?—६०८-२१
निर्जरा के भेदो का आधार—६२१-२२
निर्जरा बनाम वेदना—५६८
निर्जरा—सकाम किसके होती है ?—
६०८, ६०६, ६१०, ६११, ६१२
निर्जरा सातवाँ पदार्थ—५६८-७०
निर्जरा सावद्य करनी से भी—६१३
निर्जरा—सावद्य करनी से होनेवाली
से पाप-बंध— ६१३
निर्जरा—सावद्य कार्य से नही—६१४
निर्जरा शुभ योग से—६८३-६८८
निर्मल भाव—५८८-८६
निवर्तन योग—४५७-५८
निर्वाण—२३, ५६६-७०
निर्विकृति—६४५-४६
निर्व्याघात अनशन—६३१ २
निर्हारिम अनशन—६३२-३३
निर्हारी शब्द—११०
निसर्ग क्रिया आस्रव—३८४
निषेक—६७४
निषेक काल—७२२-२३
निष्कप सकप—४१५-४१६
निष्क्रिय द्रव्य—७५

निष्ठा—२३
नीचगोत्र कर्म के उपभेद—३४२-४३
नीचगोत्र के वध-हेतु—२२८
नीचगोत्र नामकर्म—३४१
नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती—१३१, ७०७
नैसर्गिक मिथ्यात्व—३७४
नैपद्यिक तप—६५०
नैपेधिकी परीपह—५२२
नोअक्षर सवद्ध शब्द—१११
नो-आगम भावक्षमण—४८५
नो-आगम भाव लाभ—४८४
नोआतोद्य शब्द—१११
नोभापा शब्द—१११
नोभूपण शब्द—१११
नौ पुण्य —२००-१,२४७
न्यग्रोध-परिमण्डल-सस्थान नामकर्म—३३७
न्यायागत—२३७
पच परमेष्ठि—२०७
पचास्रव सवृत्त—३९०
पंचेन्द्रिय असयम—४७३
पचेन्द्रिय आस्रव—४५२
पण्डित—४७९
पतगवीथिका—६३७
पदार्थ—६६, १५०, २७४, २८२, ३०३, ३६८
पदार्थ राशि—६६
परमाणु—३४, ८१-१००
परमाणु का माप—१००
परमाणु की विशेपता—१००-१
परलोक—६१५
परिग्रह—४५० ५१
परिग्रह आस्रव—३८१, ४५०-५१
परिग्रह विरमण सवर—५२५
परिग्रह सज्ञा—४७४
परिणमन— ३६, २६८
परिणाम—११६, १७५, २७९, २८२, २८६, ३७०, ४०३, ४१८-१९, ४६५-६७,४६९, ४७५, ५७२
परिनिर्वृत्त—५२९, ७४२
परिपाक—२२३
परिमितपिण्डपात चर्या—६४३
परिवर्तना स्वाध्याय तप—६६७
परिवेष्यमाण चर्या—६४१
परिव्राजक—६७९
परिस्पन्दन—४१३-१४
परिहारविशुद्धि चारित्र—५२३
परिहारविशुद्धिक सयत—५३६
परीपह—५२१-२३
परीपह-जय—६८१, ६८३
परोपदेशपूर्वक मिथ्यात्व—३७४
पर्याय—३६, ४१, ७३, ७६, ९४, १५४
पल्योपम काल—९२

पाँच निर्ग्रन्थ—५३७
पाँच समिति—५१५
पाउर्लिग, लिनस—१२२-२३
पाक—उपाय से—६११
„ स्वत.—६११
पादोपगमन अनशन—६३०
पान पुण्य—२००
पाप—२४, ४२४, ४५५, ४६३-६५,
५२८, ७०६, ७६४-६५
पाप कर्म—२८२, २९१-९२, ३०२
पाप कर्म की परिभाषा—२८०-८१
पाप-कर्म स्वयकृत—२८४-८७
पाप की करनी—२९१-९६
पाप चतुर्स्पर्शी रूपी पदार्थ—२८२
पाप चौथा पदार्थ—२७४-८०
पाप पदार्थ—२५५-३४८
पाप प्रकृतियाँ—३३२-३४, ३३६-३९
पाप स्थानक—२९२-३, ४६४-६५
पापस्थानक और आस्रव—४६४-६५
पापास्रव—२८४
पापास्रव के हेतु—अशुभकार्य—२८४-
८६
पापोत्पन्न दु ख और
समभाव—२८७-९१
पारगत—७४२
पाराचिनकार्ह प्रायश्चित तप—६५८
पारिग्राहिकी-क्रिया आस्रव—३८५
पारिणामिक भाव— ३८-३९, ५७२
पारितापिकी क्रिया आस्रव—३८३
पार्टिगटन—१२१
पार्श्वनाथ—५४७
पिण्डिम शब्द—११०
पिपासा परीषह—५२१
पिहितास्रव के पाप-बन्ध-
का अभाव—३८९
पुण्य—२४, १३३-२५४, २७४-८४,
४२१, ४५५, ४६५, ४७१ २,
७०९, ७६४-६७
पुण्य और निर्जरा—२०४-५
पुण्य और मोक्ष—२०७ ८
पुण्य और शुभ योग—२०३-५
पुण्य कर्म (चार)—१५५-६
पुण्य कर्म के फल—१६९-७१
पुण्य का भोग—२००-१, २४७-८
पुण्य काम्य क्यो नही—१५३, १७६-७
पुण्य का सहज आगमन—४७१-७२
पुण्य की अनन्त पर्यायें—१५७
पुण्य की करनी और जिनाज्ञा—२०५-८
पुण्य की वाञ्छा . काम-भोगा
की वाञ्छा—२४८
पुण्य की वाञ्छा से
पाप बन्ध—१७३
पुण्य के नौ बोल—२००-१, २३२
पुण्य के नौ बोलो की
समझ और अपेक्षा—२३३-३९
पुण्य केवल सुखोत्पन्न
करते हैं—१५६-७
पुण्य के नौ हेतु—२००-१

पुण्य-जनित कामभोग
विप-तुल्य—१५१-२
पुण्य तीसरा पदार्थ—१५०-५१
पुण्य निरवद्य योग—१५८-६
पुण्य सावद्य करनी से नहा—२०५, २०६-३२
पुण्य से काम-भोगों की प्राप्ति—१५१
पुण्य पुद्गल की पर्याय है—१५४
पुण्य-प्रकृति (तीर्थंकर) से भिन्न पुण्य-प्रकृति का वन्ध—२०२-३
पुण्य-वन्ध की प्रक्रिया—२०३-८
पुण्य-वन्ध के हेतु—१७३-७६
पुण्य शुभकर्म—१५४
पुण्योत्पन्न सुख पौद्गलिक और विनाशशील—१५२
पुद्गल—३२-३३, ३४, ७१,६५ १२७, १५४, २८१,२८२, ३६८, ४०१
पुद्गल (भाव) के उदाहरण—१०६-१४
पुद्गलास्तिकाय—२७, १२७
पुद्गल और लोक—१०४-५
पुद्गल का अविभागी अश परमाणु—६६
पुद्गल का चौथा भेद परमाणु—६८
पुद्गल का उत्कृष्ट और जघन्य स्कन्ध—१०२-३
पुद्गल का स्वभाव—१०५
पुद्गल के गुण और शब्द—६७
पुद्गल के चार भेद—६८, ११६-१७
पुद्गल के भेदो की स्थिति—१०४-५
पुद्गल के लक्षण—१०६
पुद्गल द्रव्यत. अनन्त हैं—६७
पुद्गल परिणामो का स्वरूप—१०६
पुद्गल रूपी द्रव्य है—६५-६७
पुद्गल वर्गणाएँ—२८२, ७१८, ७२६
पुरिमाकर्धचर्या—६४४
पुरुपकार पराक्रम—३२०,३४०,४७५-७६
पुरुपलिङ्गी सिद्ध—७५१, ७५४
पुरुपवेद—३१७, ३१८
पुलाक निर्ग्रन्थ—५३७
पूजन—२३५, २३६, २४१
पूज्यपाद—४१५, ४४७, ४५०, ४६८-६६,५१६-१८, ६४७, ६८०, ६८८, ७०८,७४०
पृथक्त्व—११३
पृथक्त्व शब्द—११०
पृथिवी—२१
पृथ्वीकाय असयम—४८२
पृथ्वी इपत्प्राग्भार—७४३
पृष्टलाभ चर्या—६४२
पेटा भिक्षाटन—६३७
पौद्गलिक वस्तुएं विनाशशील हैं—१०५-६
पौद्गलिक सुखो का वास्तविक स्वरूप—१७१-७२

प्रकीर्ण तप—६२८
प्रकृतिबन्ध—७१७, ७१८, ७१९
प्रकृतियाँ (कर्मों की)—१५५-६, १६०-१
१६२-६, १६७-८, २०२-३,
२४७-४८, ३०३-४, ३०७-८,
३११, ३१३-१७, ३२४-२५,
३२७, ३२८, ३३०, ३३१-९,
३४२, ३४४, ५८०, ५८२,
७१९-२१
प्रगृहीता एषणा—६४३
प्रचला—३०८, ३१०
प्रचला-प्रचला—३०८, ३१०
प्रज्ञा परीषह—५२२
प्रणीतरस परित्याग—६४६
प्रतर तप—६२८
प्रतिक्रमण—३८७-८, ३९२
प्रतिक्रमण और आस्रव—३८७-८८
प्रतिक्रमणार्ह प्रायश्चित तप—६५७
प्रतिपृच्छा स्वाध्याय तप—६६७
प्रतिमास्थायी तप—६४९
प्रतिसलीनता तप—६५१-४
प्रत्याख्यान—३८८, ५३४ ५, ५४७
प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध-मान-माया-
लोभ—३१३
प्रत्याख्यानी—४७८
प्रत्याख्यानी-अप्रत्याख्यानी—४७८
प्रत्येक बुद्धि—७५०, ७५४
प्रदेश—२९, ७९-८१, ८२, ८९, ९०,
९७, ९८, ९९, १०२, १०३,
१०४, १०५, ४१७, ७१८, ७१९
७२७-२८
प्रदेश (स्थिर-अस्थिर) और
आस्रव—४१७-१९
प्रदेश और परमाणु की तुल्यता—९९
प्रदेश-कर्म—७२५
प्रदेश बंध—७१८, ७१९, ७२८-९
प्रभा—१०९, ११२
प्रमत्त—४४७
प्रमत्त योग—४४७
प्रमत्त संयत—४८२
प्रमाद—२१६, २९६, ३२०, ३२९,
३७६, ३७७, ३८०, ४१२, ४१८
प्रमाद आस्रव—३७२, ३७३, ३७६-८
४२७, ४८५
प्रयत्न—४१३ ४
प्रयोग-क्रिया आस्रव—३८२
प्रवचन उद्भावनता—२३२
प्रवचन-प्रभावना—२१८
प्रवचन वत्सलता—२१८, २३२
प्रवर्तन योग—४५७-५८
प्रवृत्ति—२४४
प्रशस्त भाव—२४५, २९६
प्रशस्त भावलाभ—४८४
प्राण—३०

प्राणातिपात आस्रव—३८१, ४४६-४८
प्राणातिपात-विरमण सवर—५२५
प्राणातिपातिकी क्रिया आस्रव—३८३
प्राणी—३०
प्रात्ययिकी क्रिया आस्रव—३२४
प्रादोपिकी क्रिया आस्रव—३८३
प्रान्त्य आहार—६४७
प्रायश्चित तप—६५६-५८
प्रायोगिक शब्द—११०
प्रारम्भ क्रिया आस्रव—३८५
प्रिय शब्द—११२
प्रेक्षा असयम—४७३
फल—७५४
वव—१७७, ३९८-९९, ७१४-५, ७६६-६८
वन्ध की परिभाषा—७१५, ७२३
वध के भेद—७१५,७१६
वधन (ससार)—२९९
वध पदार्थ—६९३-७३०
वधे हुये कर्मों की स्थितियाँ—७२६
वध-हेतु—३८०, ७१०-१२
वल—३०, ३२०, ३४०, ४७५-६
वहिर्शम्बूकावर्त्त—६४४
वहुश्रुत-वत्सलता—२१५
वाईस परीषह—५२१-२३
वाल—४७९
वालपण्डित—४७९
वाह्य और आभ्यन्तर तप—६५४-५६
वुद्ध—७४२
वुद्धवोधित सिद्ध—७५०, ७५४
व्रह्मचर्य—५१९
भडोपकरण आस्रव—३८१, ४५९
भडोपकरण सवर—५२६
भक्तप्रत्याख्यान अनशन—६३१
भक्तपरिज्ञा अनशन—६३१
भक्तपान अवमोदरिका तप—६३५-३८
भक्ति—२१४-१५, २१८
भगवती सूत्र मे पुण्य-पाप की करनी—२३१
भय—३२८
भय-मोहनीय कर्म—३१७
भय सज्ञा—४७४
भाव—३८, ४०२-३, ४१३, ४१८, ४१९, ४८४ ५८७,५८८,
भाव अवमोदरिया तप—६३९
भाव-क्षपण—४८५-८६
भाव-जीव—२७,३६-३७,३९, ४४, ४५
भाव-जीव—आस्रव—४५
भाव-जीव—निरवद्य कार्य—४५
भाव-जीव—निर्जरा—४५
भाव-जीव—मोक्ष—४५
भाव-जीव—वीर—४६
भाव-जीव—सवर—४५
भाव-जीव—सावद्य-निरवद्य कार्य—४५
भाव वन्ध—७०७
भाव मन—४२०

भाव योग—२७७, ४१६,४६०-६२
भाव लाभ—४८४
भाव लेश्या—४१०, ४६८,४६६
भाव लेश्या आस्रव है—४०६
भाव-व्युत्सर्ग तप—६७२
भाव सयोग—४८३
भावाभिग्रहचर्या तप—६४१
भापा—११०,११२, ७२६
भापा समिति—५१५
भापा शब्द—१११
भिक्षाचर्या तप—६४०-४५
भिक्षु—३६०
भिन्न शब्द—११०
भिन्नपिण्डपातचर्या तप—६४४
भूत—३०-३१
भूपण शब्द—१११
भोक्ता—४०२, ४१३
भोग-अन्तराय कर्म—३२४
भोग और कर्म बन्ध—१७७-७६
मडिक गणधर—४१३
मडितपुत्र—३६३, ४१७ १८
मति अज्ञान—५७७
मति ज्ञान—५७५-७६
मन:पर्यवज्ञान—५७५-७७
मन:पर्यवज्ञानावरणीय कर्म—३०४
मन—४१६-२०,
मन असयम—४७३
मन आस्रव—३८२
मन पुण्य—२००
मन-बल प्राण—३०
मन योग—४५४-५६
मनयोग प्रतिसलीनता-तप—४१६,६५३
मन वर्गणा—२८२
मनविनय तप—६६१-६२
मन सवर—५२६
मनआम शब्द—११२
मनुष्य (तीन तरह के)—४७६-७८
मनुष्यायुष्य कर्म—३३०
मनुष्यायुष्य के बन्ध हेतु—२२५
मनुष्य गति—३१५
मनोगुप्ति—५१४
मनोज्ञ—शब्द—११२
मान—३१५
मान आस्रव—३८२
मानव—३३
माया—३१५
माया आस्रव—३८२
मायाक्रिया आस्रव—३८५
मार्दव—५१७
मित्रा, एल० एम०—१२०, १२३
मिथ्यात्व—३७४, ४०६, ४१३
मिथ्यात्व आस्रव—३७३-५, ४०६
मिथ्यात्व आस्रव और दर्शन मोहनीय कर्म—४२५
मिथ्यात्वादि जीव के नाम हैं—४०९-१०
मिथ्यात्व के भेद—३७१-७५

मिथ्यात्वक्रिया आस्रव—३८२
मिथ्यात्व मोहनीय कर्म—३११-१२
मिथ्यात्वी के भी सकाम निर्जरा—६७७-६८०
मिथ्यादर्शनक्रिया आस्रव—३८५
मिथ्या दृष्टि—५८२
मिश्र शब्द—११०
मुक्त—५६६, ५७२, ७४२,७५२
मुक्त आत्मा—७४६
मुक्ति—५६६,५८८,७२५
मुक्ति एव योग-निरोध—३९०-९१
मुक्तिमार्ग—२३, १३२,५६६-७०, ७४०-४१
मुक्ति बनाम पुण्य की वाञ्छा—२५२-५४
मूर्च्छा—४५०-५१
मूर्त—२७९,२८३,
मूल प्रकृतियाँ (कर्मों की)—७२१,७२४
मूलार्ह प्रायश्चित तप—६५८
मृपावाद आस्रव—३८१, ४४८-९
मृपावाद विरमण सवर—५२५
मैथुन—४४९-५०
मैथुन आस्रव—३८१, ४५०
मैथुन विरमण सवर—५२५
मैथुन-सज्ञा—६७४
मोक्ष—४५, २०७, २५२,३९८, ४११, ५०८, ५६६, ५७३,५७५,५८८, ५८६, ६१२, ६१३, ६७७,६८०, ६९१, ६९२,७०६,७३०, ७३१-७५४, ७६४,७६५,७६६,७६७, ७६८
मोक्ष का अर्थ—७४१-२
मोक्ष नवा पदार्थ —७४०
मोक्ष का लक्षण—७४०-४१
मोक्ष के अपर नाम—७४१
मोक्ष के अभिवचन—७४०-४१
मोक्ष मार्ग मे द्रव्यो का विवेचन क्यो ?—१३२
मोक्षार्थी जीव के लक्षण—७५२
मोहनीय कर्म—३८, ३९, १०७,१५५, ३११-२३,४२५,४६५, ५६६, ७१६
मोहनीय कर्म और उपशम—५८६
मोहनीय कर्म के अनुभाव—३१८-९
मोहनीय कर्म के उपशम से उत्पन्न भाव—५८६
मोहनीय कर्म के बन्ध-हेतु—२३०, ३१९-२०,३२१-३
मौन चर्या—६४२
यथाख्यात चारित्र—५२३,५४०-४१
यथाख्यात चारित्र की उत्पत्ति—५४१-४२
यथाख्यात सयत—५३६
यमी—६९१
याचना परीषह—५२२
यावत्कथिक (यावज्जीवन) अनशन—६२६

योग—१५८, २०३, २०४, २०५, २५३, २९१, २९६, ३०१, ४०४, ४१५, ४१८, ४५४, ४५५-५६, ४६०-६३ ४६५-६८, ४७२, ५१७, ६७५, ७११
योग आस्रव—३७९-८०, ३८२, ४२४-५
योग जीव है—४०५, ४१९-२१
योग और सयम—४७२-७३
योग-निरोध और फल—५४५
योग-प्रतिसलीनता तप—६५३
योगवाहिता—२३२
योग सवर का हेतु है या निर्जरा का ?— ६८०-६८८
योगसत्य—४२६
याजन—९२
योनि—३५
रगण—३२
रतिमोहनीय कर्म—३१६
रत्नसूरि—६७६
रस—११३, ४५३
रस नामकर्म—३३५
रसनेन्द्रिय आस्रव—३८१, ४५३-५४
रसनेन्द्रिय-बल प्राण—३०
रस परित्याग—६४५-४८
रस बन्ध—७१८ १९
राग—७१०
राजचन्द्र—४२३
रानी धारिणी—६८९
रासायनिक तत्व—१२०
राशि—७६४
रूक्ष शब्द—११०
रूपी—६८, ४२५
रूपी-अरूपी सम्बन्धी प्रश्नोत्तर—७३३
रोग परीषह—५२२
रौद्रध्यान—४११, ६६८-९
लक्षण (द्रव्य जीव के)—४२७
लघुत्व कैसे प्राप्त होता है—२९४
लगडशायी तप—६५०
लत्तिका शब्द—१११
लब्धि—५८३, ५८४, ५८५, ५८६
लयन-पुण्य—२००
लाभ अन्तराय कर्म—३२४
लूक्षाहार—६४७
लेवोजियर—११८
लेश्या—४०६, ४१०, ४६३, ४६९
लोक—१३०, १३१
लोक अलोक का विभाजन—१३०-३१
लोकाकाश—७८-८९
लोकाग—४४९
लोकोपचार विनय तप—६६३-६४
लोभ—३१३, ३१५, ३१६
लोभ आस्रव—३८२
लौकिक वीर—४३
वकुश निर्ग्रन्थ—५३७

वचन असयम—४७३
वचन आस्रव—३८१
वचन-बल प्राण—३०
वचन पुण्य—२००
वचन योग—४५४, ४५६
वचन वर्गणा—२८२
वचनविनय तप—६६२
वचन सवर—५२६
वज्रऋषभनाराच सहनन नामकर्म—१६४
वध परीषह—५२२
वनस्पतिकाय असयम—४७३
वन्दना—२११-१२
वन्दना से निर्जरा और पुण्य—२११-१२
वर्गणाएँ (पुद्गल की)—२८२
वर्गतप—६२८
वर्ग वर्गतप—६२८
वर्ण और सस्थान—११३
वर्णनाम—३३५
वर्तमान काल—८६
वसुभूति—२१
वस्तु—३५
वस्तुओ की कोटियाँ—७६४
वस्त्र—७५, ८६
वस्त्र-पुण्य—२००
वाक् गुप्ति—५१४
वाचना—६६६
वाचना स्वाध्याय तप—६६७
वामन सस्थान नामकर्म—३३७
वायुकाय असयम—४७२
विकर्त्ता—३४
विकार—४५२ ५४
विकृत्तियाँ—११४
विज्ञ—३१
वितत शब्द—१११
विदारण क्रिया आस्रव—३८४
विनय—२१६
विनय तप—६५९-६४
विपर्यय मिथ्यादर्शन—३७५
विपाक अनुभाग—६०९
विभगज्ञान—५७८
विभाग—११३, ११४
विरत—४७६-७८
विरताविरत—४७६ ७८
विरति सवर—५२४, ५४७
विरमण—५४७
विरसाहार—६४७
विवक्त शयनासन सेवनता तप—६५४
विवेक—५४७
विवेकार्ह प्रायश्चित तप—५५
विषय (इन्द्रियो के)—१५१
विशिष्टता—३४२
वीर—४६
वीरप्रभु—२०-२१
वीरासनिक तप—६४९

वीर्य—३२०, ३२५, ३४०, ४१५-१६, ४७५-७६ ५८३, ५८५-६
वीर्य अन्तराय कर्म—३२५
वृत्तिपरिसंख्यान तप—६४०
वृत्तिसंक्षेप तप—६४०
वेद—३१
वेदना—५६८, ६२२-२३, ६७४
वेदनीयकर्म—३८, १०७, १५५, २३० ७१६
वैक्रिय—७१८, ७२६
वैक्रिय कर्ण—२८२
वैक्रिय शरीर—१०८
वैनयिक मिथ्यादर्श—३७५
वैयावृत्य तप—३१३, २१७, ६६४-६५
वैयावृत्त से निर्जरा और पुण्य—२१३
वैराग्य—पूर्वक)—६७८
वैश्रसिक शब्द—११०
व्यवसायी—४८१
व्याघात अनशन—६३१
व्युत्सर्ग तप—६७१-७२
शनूकावर्त्त तप—६३७
शक्ति—१२०-२४
शब्द—११०-१४, ४५२
शयन पुण्य—२००
शय्या परीषह—५२२
शरीर—३६, १०७-६, ३२०
श[illegible]—६६२
शीत परीषह—५२१
शीलव्रतानतिचार—२१६
शुक्ल ध्यान तप—६७०-७१
शुक्ल ध्यान तप की अनुप्रेक्षाएँ—६७१
शुक्ल लेश्या—४६७
शुद्ध योग—३६१
शुद्धैषणा चर्या—६४३
शुभ अगुरु-लघु नामकर्म—१६६
शुभ आतप नामकर्म—१६६
शुभ आदेय नामकर्म—१६६
शुभ आयुष्य कर्म और उसकी उत्तर प्रकृतियाँ—१६०-६२
शुभ आहारक अङ्गोपाग नामकर्म—१६४
शुभ आहारक शरीर नामकर्म—१६३
शुभ उद्योत नामकर्म—१६६
शुभ औदारिक अङ्गोपाग नामकर्म—१६४
शुभ औदारिक शरीर नामकर्म—१६३
शुभ कर्म—१५३, २७७
शुभ कार्मण शरीर नामकर्म—१६४
शुभ गंध नामकर्म—१६५
शुभ तीर्थङ्कर नामकर्म—१६६
शुभ तैजस शरीर नामकर्म—१६४
शुभ त्रस नामकर्म—१६५
शुभ दीर्घायुष्य के बंध-हेतु—२०८-१०
शुभ देवगति नामकर्म—१६३
शुभ देवानुपूर्वी नामकर्म—१६३
शुभ नामकर्म—१६२-६६

शुभ नामकर्म और उसकी उत्तर प्रकृतियाँ—१६२-६६
शुभ नामकर्म के बंध-हेतु—२२७-८
शुभ निर्माण नामकर्म—१६६
शुभ पचेन्द्रिय नामकर्म—१६३
शुभ पराघात नामकर्म—१६६
शुभ प्रत्येक शरीर नामकर्म—१६५
शुभ पर्याप्त नामकर्म—१६५
शुभ वादर नामकर्म—१६५
शुभ मनुष्यगति नामकर्म—१६२
शुभ मनुष्यानुपूर्वी नामकर्म—१६२
शुभ यशकीर्ति नामकर्म—१६६
शुभ योग—२०३,२०४,२४४-५, ४२०, ४५८-५९
शुभयोग से निर्जरा और पुण्य—२०४
शुभ रस नामकर्म—१६५
शुभ वज्रऋषभनाराच नामकर्म—१६४
शुभ वर्ण नामकर्म—१६५
शुभ (विहायो) गति नामकर्म—१६६
शुभ वैक्रिय शरीर अङ्गोपाग नामकर्म—१६४
शुभ वैक्रिय शरीर नामकर्म—१६३
शुभ समचतुरस्र सस्थान नामकर्म—१६४
शुभ सौभाग्य नामकर्म—१६५
शुभ स्पर्श नामकर्म—१६५
शुभ स्थिर नामकर्म—१६५
शुभ सुस्वर नामकर्म—१६५
शुभ श्वासोच्छ्वास नामकर्म—१६६
शुषिर शब्द—१११
शैक्ष—६६५
शोक मोहनीयकर्म—३१७
श्वासोच्छ्वास वर्गणा—२८२, ७२६
श्वासोश्वास-बल प्राण—३०
श्रद्धा—२३
श्रुतज्ञान—५७६
श्रुतअज्ञान—५७७
श्रुतज्ञानावरणीय कर्म—३०४
श्रुतिभक्ति—२१८
श्रेणितप—६२७
श्रोत्रेन्द्रिय आस्रव—३८१, ४१२
श्रोत्रेन्द्रिय सवर—५२५
श्रोत्रेन्द्रिय-बल प्राण—३०
षट्-रस—६४७
षट् वस्तुएँ (द्रव्य,—२७, १२७
सक्रमण— ७२६
सख्या—११३
सख्यादत्ति चर्या—६४३
सघ—३१९, ६६५
सज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभ— ३१३
सज्ञा—४७४-७५
सतवाल—६२९
सभूत—२५०
सयत—४७८, ५३६, ५४२-४३
सयत जीव—२३८, ४७८, ४८२
सयतासयती—४७८

सयम—३७७, ५१६, ५३६, ५४२, ५४३, ५४७, ६८२, ६८३
सयम और बासठ योग—४७२-७३
सयम-स्थान—५४२ ४३
सयम स्थान और चरित्र-पर्यंत्र—५४२-४४
सयोग—११३, ४८३
सवर—४५, ३८६, ३९१, ३९३, ३९५, ५०४,५३३-३४,५४५-६,५४७, ६८३, ७६४
सवर (अप्रमादादि) और शका-समाधान—५३४-३५
सवर आस्रव द्वार का अवरोधक पदार्थ—५०५-७
सवर अनुप्रेक्षा—५२०
सवर एव आस्रव का सामान्य स्वरूप—३८६
सवर और आत्म-निग्रह—५०७
सवर और निर्जरा का सम्बन्ध—६८०-८८
सवर और निर्जरा के हेतु—६८०-८८
सवर और प्रदेश—४१७-१९
सवर और पॉच चारित्र—५३६
सवर और मोक्षमार्ग—५०८
सवर का अर्थ—५०७
सवर के भेद—५०८-२७
सवर के बीस भेद एव उनकी परिभाषा—५२६-२६
सवर छठा पदार्थ है—५०५-५
सवर सख्या एव उसकी परम्परा—५१०-१३
सवर सख्या की परम्परा—५१०-१२
सवर सयम से—६८३-८८
ससार—२४, ३१२,५०८, ६९१
ससार अनुप्रेक्षा—५२०
ससार का अन्त कब होता है—६९१-६९२
ससृष्ट चर्या—६४२
ससृष्टा एषणा—६४३
सस्थान—११३
सशयित मिथ्यात्व—३७४
सशय मिथ्यादर्शन—३७७
सह्रियमाण चर्या—६४१
सकप-निष्कप—४१३-१६, ४१८
सकाम निर्जरा—६०९, ६११, ६१२, ६१४
सकाम तप—क्या अभ्युदय का कारण है ?—६८९-६९१
सत्कार-पुरस्कार परीषह—५२२
सत्य—५१८
सत्व—३१
सपरिकर्म अनशन—६३२
समकित—२४-२५
समचतुरस्त्र सस्थान—१६५-६५
समन्तानुपात क्रिया आस्रव—३८५
समय—८३, ९०, ९५
समय अनन्त कैसे ?—९२ ९३

समय प्रमाण—६१
समादानक्रिया आस्रव—३८३
समाधि—२१८, २५२, ६३१
समिति—५१५-१६, ५१८
सम्यक्त्व – २४-२५, ७५२
सम्यक्त्वक्रिया आस्रव—३८२
सम्यक्त्वमोहनीय कर्म—३११
सम्यक्त्वादि पाँच सवर और
प्रत्याख्यान का सम्बन्ध—५२७-३३
सम्यक्त्व सवर है—३७५, ५२४, ५२७
सम्यक् दर्शन—३१४, ३७५
सम्यक् दृष्टि—५८२
सम्यक्मिथ्या दृष्टि—५८२
सम्यक्मिथ्यात्व मोहनीयकर्म—३११-२
सविचार अनशन—६३१
सर्वगात्र-प्रतिकर्म-विभूषाविप्रमुक्त—६५१
सर्वघाती—३०४, ३१२
सर्वदु खप्रहीण—७४२
सर्वभाव नियत—४७८
सर्वविरति चारित्र का उत्पत्ति—५४१-२
सर्व विरति सवर—५२८-२६
सर्व सिद्धो के सुख समान हैं—७५४
सशरीरी—३५
सहज निर्जरा—५६०, ५६१, ६१०, ६११
सासारिक सुख और मोक्ष सुखो की तुलना—७४७
साकार उपयोग—५७६-८०
सागरोपम काल—६२
सातावेदनीय कर्म—१५६, २२०-२१, २२४
सातावेदनीय कर्म के बध-हेतु—२२०-२१, २२४
सातासाता वेदनीय कर्म के बन्ध-हेतु—२२४
सादिसस्थान नामकर्म—३३७
साधर्मिक—६६५
साधारणशरीर नामकर्म—३३८
सामायिक—५४७
सामायिक चारित्र—५२३, ५३८, ५३६
सामायिक चारित्र की उत्पत्ति—५३६
सावद्य—४५, २३६
सावद्य आस्रव—४६३
सावद्य कार्य और योगास्रव—४५, ४२४
सावद्य कार्य का आधार—२३६, ४६६
सावद्य योग—१५८, २५३, ४१६, ५४५
सिद्ध—७२८, ७४२, ७४८, ७५० ५१ ७५२, ७५४
सिद्धजीव का लोकाग्र पर रुकने का कारण—७४५
सिद्ध-वत्सलता—२१८
सिद्धसेन गणि—३६७
सिद्धि-स्थान—७४३, ७४८
सिद्धो के ३१ गुण—७४६
सिद्धो के गुण—७४३

सिद्धो के १५ भेद—७५०-५१
सिद्धो के सुख—७४८
सिद्धो मे प्राप्य आठ विशेपताएं—७४६-४७
सुख—१५२, १७१, २४८, २८१, २८३, २८६-९०, ६८६, ७२४, ७५४
सुखलाल, पडित—६८६, ७१८
सुखशय्या—३२६
सुप्त—४७६
सुप्तजाग्रत—४७६
सुश्रामण्य—२३२
सूक्ष्मत्व स्थूलत्व—११४
सूक्ष्म नामकर्म—३३८
सूक्ष्मसम्पराय चारित्र—५२३
सूक्ष्मसम्पराय सयत—५३६
सूची-कुशाग्र आस्रव—३८१, ४५९-६०
सूची कुशाग्र सवर—५२६
सूर्य सागर, मुनि—६१२
सेवा—२१७
सेवार्तसहनन नामकर्म—३३७
सोपक्रम कर्म—६७५-७६
सोमिल ब्राह्मण—२२
स्कन्ध—७५, ७६, ११७
स्पर्शनेन्द्रिय-बल प्राण—३०
स्त्यानर्धि (स्त्यानगृद्धि)—३०८, ३१०
स्तेन—४४६
स्त्री परीषह—५२२
स्त्रीलिङ्गी सिद्ध—७५१, ७५४
स्त्री वेद—३१७-१८
स्थविर—६६५
स्थविर-वत्सलता—२१५
स्थानायतिक तप—६४६
स्थावर नामकर्म—३३८
स्नातक निर्ग्रन्थ—५३७
स्पर्श—४५४
स्पर्शनक्रिया आस्रव—३८३
स्पर्श नामकर्म—३३३, ३३५
स्पर्शनेन्द्रिय आस्रव—३८१, ४५४
स्पर्शनेन्द्रिय सवर—५२६
स्वभाव—२७६
स्वयबुद्ध सिद्ध—७५०, ७५४
स्वयभूत—३५
स्वलिङ्गी सिद्ध—७५०, ७५४
स्वहस्तक्रिया आस्रव—३८४
स्वाध्याय तप—६६६-६७
स्वाभाविक आस्रव—४६४
स्थितिया (कर्मों की)—७२१-७२३, ७२६
स्थिति बन्ध—७१७, ७१८, ७१९
हास्य मोहनीयकर्म—३१६
हिडुक—२
हिसा—२४३, ४४६-४८
ह्रस्व शब्द—११०
हुड-सस्थान नामकर्म—३३७
हेतु (तीन)—२१४-१८
हेमचन्द्राचार्य—५०४-६, ५३४, ६११, ६६१, ७०७, ७०८
हेय पदार्थ—७३७